गृहस्थावस्थासे दो भाई बड़े हैं और दो महाराजसे छोटे हैं। श्रीमान् लाला मिट्ठनलालजी तथा सम्माननीय धर्म-रत्न श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्री उनसे बड़े हैं तथा श्रीमान् पं० मक्खनलालजी शास्त्री और श्रीमान् बाबू श्रीलालजी जौहरी, ये दोनों भाई महाराजसे छोटे हैं।

श्रीमान् लाला मिट्ठनलालजी घरपर रहकर व्यवसाय करते हैं। इन्होंने स्व० पं० छेदालालजी अलीगढ़वालों से संस्कृतका अध्ययन किया था, इसलिये ये भी संस्कृतके ज्ञाता एवं अतीव धर्मात्मा जिनेन्द्र-भक्त सत्पुरुष हैं।

---

## धर्म-रत्न पं० लालारामजी शास्त्री

इनसे छोटे भाई श्रीमान् श्रद्धेय धर्म-रत्न पं० लालारामजी शास्त्री हैं। इन्होंने करीब ५० बड़े-बड़े संस्कृत ग्रन्थोंका भावपूर्ण सरल हिन्दी भाषामें उत्तम अनुवादकर हिन्दी-भाषा-भाषी स्वाध्यायप्रिय पुरुषोंको बहुत ही उपकृत बनाया है। उन ग्रन्थोंमें कुछ ग्रन्थोंके नाम इसप्रकार हैं:—

आदिपुराण, उत्तरपुराण, शान्तिपुराण, सागरधर्मामृत, धर्मप्रश्नोत्तर श्रावकाचार, तत्त्वानुशासन, चारित्रसार, आचारसार, गौतम चरित्र, दशलक्षिणीजयमाला, क्रिया मञ्जरी, प्रश्नोत्तर मालिका, संशयवदनविदारण, लाटीसंहिता, सुभौम चरित्र, जिनशतक, पात्रकेसरी स्तोत्र, सूक्तिमुक्तावली, आलाप पद्धति, मूलाचारप्रदीप, प्राकृत निर्वाण भक्ति, बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, लघीयस्त्रय, सार समुच्चय, द्रव्यसंग्रह, मोक्ष शास्त्र, प्रबोधसार, चतुर्विंशतिसन्धान, इष्टोपदेश, वैराग्य-मणिमाला, द्वादशानुप्रेक्षा, षोडशसंस्कार, दशभक्ति, आदि।

जिस समय जैन-धर्मसे विचलित मनवाले कुछ महाशयों द्वारा श्रीआदिपुराण ग्रन्थकी मिथ्या समीक्षा की गई थी, उस समय आपने "आदिपुराण समीक्षाकी परीक्षा" इस नामसे दो विशाल ट्रैक्ट लिखे, जिनमें उस समीक्षाका अनेक सद्युक्तियों और प्रमाणों द्वारा समुचित एवं अकाट्य उत्तर दिया गया है। ये दोनों ट्रैक्ट प्रथम-और द्वितीय भागके नामसे छप चुके हैं। समाजमें आपकी विद्वत्तापूर्ण इस कृतिका बहुत आदर हुआ है।

श्रीमान् धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्रीने संस्कृतमें कई स्वतन्त्र रचनाएँ भी की हैं। आपकी संस्कृत रचनाओं में "भक्तामरशतद्वयी" ग्रन्थ विद्वत्समाजमें बहुत आदरणीय एवं महात्त्वास्पद सिद्ध हुआ है। भक्तामर काव्यके प्रत्येक

श्लोकका एक चरण लेकर बाकी तीन चरण माननीय शास्त्रीजीने स्वयं रचे हैं। कहीं-कहींपर दो चरण भक्तामरके और दो चरण आपने रचकर श्लोककी पूर्ति की है और उसका अर्थ चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति रूपमें घटित किया है। इसप्रकार संस्कृत श्लोकोंकी रचना २०० दोसौ हो गई है, जिसमें भक्तामरकाव्यके ४८ श्लोक भी गर्भित हैं। यह रचना प्रासादगुणयुक्त और भावपूर्ण हुई है। इसके सिवा आचार्य शान्तिसागर महाराजकी संस्कृत पूजा आदि स्वतन्त्र संस्कृत रचनायें भी आपकी ठोस विद्वत्ताका परिचय देती हैं।

आपकी विद्वत्ताका ही यह परिणाम है कि भा० दि० जैन शास्त्रिपरिषद्ने कानपुर अधिवेशनमें आपको सभापति बनाया था। दूरदर्शिता, व्यवहार-कुशलता आदि आपके गुणोंको देखकर उक्त शास्त्रि परिषद्ने आपको अपना "संरक्षक" बनाया है। भा० दि० जैन महासभाके आप स० महामन्त्री हैं। उक्त महासभाके मुखपत्र जैन-गजटके बहुत समय तक यशस्वी सम्पादक रहे हैं। महासभाने आपके धर्म-प्रवर्तक कार्योंसे प्रसन्न होकर आपको धर्मरत्न इस महत्त्वशाली पद से विभूषित किया है। विद्वत्समाजमें धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्री एक प्रौढ एवं उद्भट गणनीय विद्वान् तथा सुविचारचेता धार्मिक नेता समझे जाते हैं।

इस समय आप यू० पी० प्रान्तके मैनपुरी शहरमें सपरिवार रहते हैं और स्वतन्त्र व्यवसाय करते हैं। वहाँ आपकी सराफे की दूकान है। आपके एक पुत्र चि० राजेन्द्रकुमार है।

---

## विद्यावारिधि पं० मक्खनलालजी शास्त्री

जिसप्रकार परम पूज्य महाराज सुधर्मसागरजीसे बड़े भाई धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्री समाजप्रख्यात विद्वान् हैं, उसीप्रकार महाराजसे छोटे श्रीमान् पं० मक्खतलालजी शास्त्री भी समाज प्रख्यात उद्भट विद्वान् हैं। आपकी विद्वत्ता और धर्मप्रभावना किसीसे अविदित नहीं है। सनानन धर्मावलम्बी व आर्यसमाजके साथ आपने कई बार शास्त्रार्थ कर जैनधर्मकी विजयपताका फहराई है। देहलीमें लगातार छह दिन तक शास्त्रार्थ हुआ था, जिसमें भारतके सब प्रदेशोंके विद्वान् और श्रीमान् इकट्ठे हुए थे, उस शास्त्रार्थमें विजय पानेसे आपको देहली पंचायत और बाहरकी इकट्ठी हुए समाजने मिलकर आपको "वादीभकेसरी" इस महत्त्वशाली पदवीसे सम्मानित किया था। इसीप्रकार

आपकी विद्वत्ता और समाज-सेवाके उपलक्ष्यमें "विद्यावारिधि" "न्यायालङ्कार" "काव्यसूरि" ये गौरवपूर्ण पद आपको प्राप्त हुए हैं। भा० दि० जैन महासभाके मुखपत्र-जैनगजटके आप बहुत वर्षों तक सम्पादक रहे हैं, आपके गम्भीर, समाजहितकारी एवं निर्भीक प्रभावक लेखोंसे धार्मिक समाजका बहुत कुछ हित हुआ है। महासभाके परीक्षा विभागके मन्त्रित्वका कार्य भी आपने अतीव दक्षतासे नियमानुकूल चलाया था, महासभाने आपकी धार्मिक सेवासे प्रसन्न होकर आपको "धर्मवीर" के पदसे विभूषित किया है। इस समय समाजप्रसिद्ध विशाल संस्था "श्रीगोपाल दि० जैन सिद्धान्त विद्यालय, मोरेना"का कार्यभार आपपर निर्भर है। उक्त संस्थाके आप सुयोग्य प्रिंसिपल हैं। आपके संचालनमें विद्यालय पढ़ाई व प्रवन्धकी दृष्टिसे उत्तम रूपसे कार्य कर रहा है। आपके द्वारा पढ़ाये हुए अनेक शास्त्री व न्यायतीर्थ विद्वान् तैयार हुए हैं। कई न्यायतीर्थ परीक्षोत्तीर्ण विद्वान् छात्र श्लोकवार्तिक, पञ्चाध्यायी आदि ग्रन्थ पढ़नेके लिये आपके पास आते हैं।

दि० जैन संस्कृत शास्त्रोंमें पञ्चाध्यायी एक महान् ग्रन्थराज है, उसकी "सुबोधनी" टीका लिखकर आपने हिन्दी-साहित्य-संसारका बहुत बड़ा उपकार किया है। उक्त ग्रन्थके मार्मिक स्थलोंको सुलझाकर उसके अपूर्व तत्त्वका रसास्वाद जिज्ञासु स्वाध्यायियोंको करा दिया है। इसीप्रकार श्रीराजवार्तिक तत्त्वार्थालङ्कार और पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थोंकी सरल और विस्तृत टीकाएं आपने की हैं, जो विद्वत्समाजमें बहुत आदरणीय हुई हैं।

समय २ पर जैन-धर्मसे विपरीत मति रखनेवाले व्यक्तियों द्वारा जब कभी धर्मसिद्धान्तपर आक्रमण हुए हैं, तब उनके वारणार्थ आपने तात्त्विक लेख व उपयोगी ट्रैक्ट् भी लिखे हैं। धार्मिक समाजमें बहुत सम्मान्य एवं महासभाके कर्णधारोंमें आप समझे जाते हैं। भा० दि० जैन शास्त्रिपरिषद्ने सिवनी व जयपुर अधिवेशनोंका आपको सभापति बनाया था और आपके सभापतित्वमें दोनोंही अधिवेशन शास्त्रिपरिषद्के इतिहासमें बहुत महत्त्वशाली समझे गये हैं।

संस्कृत और हिन्दीकी पद्यरचनाएं भी आपकी भावपूर्ण व मनोहारी होती हैं। संस्कृतमें आपने आचार्य शान्तिसागर महाराज एवं अन्य साधुजनोंकी स्तुति अनेक भिन्न-भिन्न पद्योंमें रची हैं।

माननीय शास्त्रीजी जैन-समाजमें तो इने-गिने उद्भट विद्वानोंमें एक लब्धप्रतिष्ठ समझे ही जाते हैं, साथ ही आप राजमान्य भी हैं। गुणग्राही ग्वालियर गवर्नमेंटने आपकी न्याय-नीति एवं विशिष्ट प्रतिभाको देखकर ऑ० मजिस्ट्रेट

॥ ४ ॥

का महत्त्वपूर्ण पद दिया है। आपको सैकेण्ड क्लासके अधिकार हैं अर्थात् ६ महीनाकी सज़ा देने और २००) रु० जुर्माना करनेका आपको अधिकार है। ग्वालियर सरकारकी ओरसे आप ओकाफ-कमेटीके मेम्बर भी चुने गये हैं, जिससे धर्मायतन-मन्दिरों आदिकी सम्पत्ति एवं उनकी व्यवस्थाके विषयमें आपकी सम्मति सरकारमें मान्य होती है। इसप्रकार माननीय विद्यावारिधि पं० मक्खनलालजी शास्त्री लोकमान्य और राजमान्य भी हैं। ऐसे विद्वानोंसे जैन-समाज अपना गौरव समझता है।

श्रीमान् बाबू श्रीलालजी जौहरी जो कि सबोंसे छोटे भाई हैं, जयपुरमें सकुटुम्ब रहते हैं, वहाँ आप जवाहरातका स्वतन्त्र व्यवसाय करते हैं। जवाहरातके परखनेमें अच्छे २ जौहरी आपकी निगाहको बहुत अच्छी समझते हैं। अन्य सब भाइयोंके समान आप भी कट्टर धार्मिक हैं। धर्मगुरुओंकी निन्दा एवं और भी धर्मविरुद्ध कोई भी बात आप सुनना भी पसन्द नहीं करते हैं। आप प्रतिवर्ष कम से कम एक वार परमपूज्य आचार्य शान्तिसागरजी और परमपूज्य मुनिराज सुधर्मसागरजी आदि मुनि-सङ्घकी वन्दनाके लिये अवश्य जाते हैं और पात्रदानका उत्तम लाभ लेकर लौटते हैं। आपकी गुरुभक्ति सराहनीय है। आपने बनारसमें रहकर संस्कृत व अंग्रेजीका अभ्यास किया था। बाबू श्रीलाल जौहरीके भी इस समय चि० अभयकुमार और चि० ललितकुमार नामके दो सुपुत्र हैं।

---

## श्री १०८ श्रीमुनिराज सुधर्मसागरजी महाराजका परिचय

श्रीमान् धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्रीसे छोटे भाई विद्यावारिधि पं० मक्खनलालजी शास्त्रीसे बड़े भाई श्रीमान् श्रद्धेय पं० नन्दनलालजी शास्त्री हैं, जिनका कि मुनिपदमें परमपूज्य 'सुधर्मसागर'जी यह दीक्षित नाम रक्खा गया है। आपका जन्म वि० सं० १९४२ भादों सुदी दशमी को हुआ था। आपने प्रारम्भमें गाँवके सरकारी स्कूलमें कुछ वर्ष अध्ययन किया था। पीछे 'दि० जैनमहाविद्यालय, मथुरा' और 'सेठ हीराचन्द गुमानजी जैनबोर्डिंग बम्बई' में रहकर शास्त्रीतक सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, साहित्य, संस्कृत ग्रन्थोंका अध्ययन किया था। तथा भा० दि० जैन महासभाश्रित परीक्षालयसे और बम्बई परीक्षालयसे नियमानुसार 'शास्त्री' पद प्राप्त किया है। इसलिये आप संस्कृत शास्त्रोंके एक उच्चतम प्रौढ विद्वान् हैं। गोमट्टसारादि सिद्धान्त ग्रंथोंका अध्ययन आपने कुछ वर्ष मोरेना ( ग्वालियर ) में रहकर स्याद्वा-

दुवारिधि न्यायवाचस्पति वादिगजकेसरी स्वर्गीय पं० गोपालदासजी वरैयासे किया था। इसलिये आप सिद्धान्त-शास्त्रोंके भी मर्मज्ञ विद्वान् हैं। अंग्रेजीका अभ्यास भी आपने साधारण रूपसे किया है। गुजराती और महाराष्ट्र भाषाके भी आप अच्छे ज्ञाता हैं। आयुर्वेद (वैद्यक) शास्त्रोंके भी आप उत्तम विद्वान् हैं, आपका वैद्यक अनुभव बहुत अच्छा माना जाता है। आप प्रसिद्ध व्याख्याता भी हैं, किसी भी विषयका प्रतिपादन दो-दो, तीन-तीन घण्टे तक धारावाही बोलते हुये गहरे विवेचन पूर्वक करते हैं। जैसे आप व्याख्याता हैं, उसीप्रकार गद्य मान्य सुलेखक भी हैं। आपके लेख गृहस्थावस्थामें 'जैनगजट' आदि पत्रोंमें सदैव निकलते रहे हैं। इसके सिवाय आपने धार्मिक एवं सामाजिक विषयोंपर अत्युपयोगी कई ट्रेक्ट भी लिखे हैं।

संस्कृत रचनाके सिवाय हिन्दी कविता भी आप पिङ्गल छन्दःशास्त्रके अनुसार बहुत मधुर और अतिशीघ्र बनाते हैं। आपकी हिन्दी कविताका परिचय पाठकोंको आपकी बनाई हुई पूजनों आदिसे होगा। चौबीस भगवान्की पूजन, नारक्षापूजन, दीपावली महावीर स्वामीकी पूजन आदि कई भावपूर्ण और भक्तिरससे समन्वित, हिन्दी भाषामें पूजनोंकी आपने रचना की है। इनमें कतिपय पूजन मुद्रित भी हो चुकी हैं।

आप बचपनसे ही उदारचेता, अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्मोत्साही हैं। विक्रम सं० १९७५ में आपकी सौ० सहधर्मिणीका स्वर्गवास हो गया था। आपके एक सुपुत्र हैं; जिनका नाम चि० जयकुमार है। वे इस समय करीब २४ वर्षके हैं। इनका विवाह हो चुका है। कुछ वर्ष मोरेना विद्यालयमें संस्कृत और सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययनकर कलकत्ता-के आयुर्वेद कालेजमें ५ वर्ष अध्ययनकर अब ये आयुर्वेदाचार्य हो गये हैं। साथमें सर्जरीकी शिक्षा भी आपने पाई है। अंग्रेजी और बंगलाके भी आप विद्वान् हैं। सुयोग्य पिताके सुयोग्य पुत्ररत्न होनेके कारण आप भी बहुत धार्मिक हैं। इस समय आपने कलकत्तामें स्वतन्त्र औषधालय खोल रक्खा है।

कुछ वर्ष श्रीमान् पण्डित नन्दनलालजी शास्त्री ईडर और बम्बईमें रहे। ईडरमें रहकर आपने दो कार्य मुख्य रूपसे किये थे। एक तो वहांके शास्त्र-भण्डारकी सम्हाल और अवलोकन, तथा दूसरा कार्य—गुजरात प्रान्तके भाइयोंमें धार्मिक जागृतिका सञ्चार।

इसके सिवाय ईडरमें ही आपने परमपूज्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज छांणीवालोंको उनकी ब्रह्मचारी अवस्थामें अध्ययन भी कराया था और आत्मोन्नति मार्गमें आगे बढ़नेके लिये उन्हें प्रेरित भी किया था। तथा परमपूज्य

आचार्य शान्तिसागरजी छांणीवालोंके साथ आपने अनेक भीलोंसे मद्य, मांस एवं हिंसाका त्याग कराया था और भूखियाके ठाकुर क्रूरसिंहजी राजाको जैनी बनवाया था, एवं उनसे एक दि० जैनमन्दिर भी बनवाया था। यह कार्य आपका बहुत प्रभावक और महान् हुआ है।

ईडर रहकर और भी आपने बहुत-से छोटे-मोटे कार्य किये थे। जैसेः—वहांके पहाड़ी स्थानोंमें जगह २ दिगम्बर जैन प्रतिमाओंका अन्वेषण करना आदि। इस समय ईडरमें और अन्यत्र भी अनेक विशालकाय मनोज्ञ प्रतिमाएँ विराजमान हैं वे आपके ही मुख्य उद्योगसे पृथ्वीतलसे बाहर लाई गई थीं। ऐसी ही विशाल एवं अत्यन्त मनोहर दो खड्गासन प्रतिमाएं अपने ही उद्योगसे आपने तारङ्गा सिद्धक्षेत्रके दोनों पर्वतों पर विराजमान कराई हैं।

बम्बईमें रहकर भी आपने अनेक धार्मिक कार्योंमें समय-समयपर सहायता पहुंचाई थी। आप भा० दि० जैन महासभा जैसी धार्मिक संस्थाओंके सदैवसे सहायक रहे हैं और उनमें आप एक मुख्य अङ्गके नाते सदैव भाग लेते रहे हैं।

बम्बईमें रहकर आपने सबसे बड़ा और स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित करने योग्य यह काम किया था कि वहांके प्रसिद्ध धर्मात्मा सङ्घभक्त शिरोमणि समाजरत्न सेठ पूनमचन्दजी घासीलालजी जव्हेरी तथा उनके तीनों सुपुत्र-सं० भ० शि० समाजरत्न सेठ गेंदमलजी, सेठ दाड़िमचन्दजी व सेठ मोतीलालजी जव्हेरीको इस महान् और असाधारण कार्यके लिये प्रेरित एवं तैयार किया कि वे परमपूज्य १०८ आचार्य श्रीशान्तिसागरजी महाराजके सङ्घको दक्षिणसे उत्तर भारतमें लावें। उत्तर प्रान्तके जैन समुदायके असीम कल्याणकी आपकी बड़ी प्रबल भावना और प्रेरणाका प्रभाव उक्त जव्हेरी कुटुम्ब-पर बहुत पड़ा और परिणामस्वरूप उन्होंने इस महत्पुण्य-सम्पादक एवं जैनधर्मप्रभावक कार्यको करनेका विचार दृढ़ बना लिया।

परन्तु जबतक परमपूज्य आचार्य श्री १०८ महाराजकी इच्छा दक्षिण प्रान्तसे उत्तर प्रान्तमें आनेको नहीं हो, तबतक ४-५ लाख रुपये खर्चकर सङ्घको लाने एवं प्रतिष्ठा आदि महान् कार्य करानेके विचार भी कार्यकारी नहीं हो सकते, इसलिये श्रीमान् पूज्य पं० नन्दनलालजी शास्त्री (वर्तमान मुनिराज १०८ श्रीसुधर्मसागरजी महाराज) स्वयं कई बार दक्षिणमें परम पूज्य आचार्य महाराज एवं सङ्घके दर्शनार्थ गये और वहां बड़ी भक्ति और नम्रतासे उनके चरणों

में उत्तर प्रान्तके उद्धारकी भावना उन्होंने प्रकट की, तथा उसका सबसे बड़ा अमोघ उपाय परम पूज्य आचार्य महाराजका उत्तर भारतमें विहार होना आवश्यक बताया, परन्तु निर्ग्रन्थ वीतराग तपस्वी आचार्य महाराजने उत्तर प्रान्तके जैनियोंके उद्धारकी भावनाको उत्तम समझते हुये भी उससमय उधर विहार करनेके लिये निषेध कर दिया। उन्होंने उन्हीं दक्षिणकी एकान्त निर्जन पहाड़ी गुहा, मठ आदि स्थानोंको आत्मसिद्धिका अधिक साधन समझा और "फिर देखा जायगा", ऐसा कुछ आशाकी झलक दिलानेवाला उत्तर दे दिया। हमारे पूज्य शास्त्रीजी और उक्त जव्हेरीजी उस समय निराश होकर—किन्तु कुछ आशाकी झलकका बीज बोकर बम्बई लौट आये, भावनाने दूसरी वर्ष पुनः प्रेरित किया। शास्त्रीजी तथा जव्हेरीजी पुनः आचार्य-चरणोंमें निवेदन करनेके लिये दक्षिण गये और वहींपर शास्त्रीजीने परमपूज्य आचार्य महाराजसे द्वितीय प्रतिमाके व्रत ग्रहण किये। उसी समय आचार्य महाराजने कहा था कि सङ्घमें तुम्हारे जैसे व्रती विद्वान्‌की बहुत जरूरत है। उस समय जैनगजटके सम्पादकके नाते बलगांव-केश चलनेके निमित्तसे परमपूज्य आचार्य महाराजके दर्शनार्थ श्रीमान् पं० लालारामजी शास्त्री भी वहां पहुंचे थे और श्रीमान् पं० मक्खनलालजी शास्त्री भी आपके साथ थे।

इसप्रकार जव्हेरीजी और शास्त्रीजी द्वारा वार-वार प्रार्थना करनेके पश्चात् श्रीसम्मेदशिखर आदि सिद्ध क्षेत्रोंकी वन्दना और उत्तर प्रान्तके जैनियोंके उद्धारकी भावना रखकर परमपूज्य आचार्य महाराजका संघ दक्षिणके उत्तर प्रान्तमें विहार करने लगा। संघके विहारसे वि० सं० १९८४में श्रीसम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्रपर जो संघभक्त शिरोमणि सेठ पूनमचन्द घासीलालजी जव्हेरीजी द्वारा श्रीपञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी, उस समय वहाँ सिद्धक्षेत्रकी वन्दना, पञ्चकल्याणकोंका दर्शन और परमपूज्य वीतराग ऋषि आचार्य संघकी वन्दनाके लिये करीब सवा लक्ष दि० जैन-समुदाय इकट्ठा हुआ था। वह उत्सव भी एक अभूतपूर्व उत्सव हुआ।

## सप्तम प्रतिमा दीक्षा

उसी परम पावन श्रीसम्मेदशिखर सिद्धक्षेत्रपर फाल्गुन सुदी १३ वि० सं० १९८४ के शुभ मुहूर्तमें परमपूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजसे उक्त श्रीयुत पं० नन्दनलालजी शास्त्रीने गृहस्थाश्रमसे विरक्त होकर सप्तम प्रतिमाके व्रत

लिये थे। उस समय परम गुरु आचार्य महाराजने उनका दीक्षित नाम "ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्र" रक्खा था। उसी शास्त्रिपरिषद्की बैठकमें पूज्य "ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्रजी" महाराजने करीब दो घण्टा तक शास्त्रियोंके कर्तव्य और जैनधर्मके रहस्यपर मर्मस्पर्शी तात्त्विक विवेचन किया था। आपके भाषणका प्रभाव उपस्थित सभी शास्त्री विद्वानोंपर बहुत पड़ा था। वहीं दि० जैन शास्त्रिपरिषद्ने अत्यन्त हर्ष प्रकट करते हुए एक उद्भट शास्त्री विद्वान्के आदर्श त्यागी होनेपर गौरवाधायक प्रस्ताव पास किया था।

जिस समय श्री आचार्य संघ मोरेना ( ग्वालियर स्टेट ) में पहुँचा था, उस समय वहाँपर होनेवाले भा० दि० शास्त्रि-परिषद्के अधिवेशनके पूज्य सप्तम प्रतिमाधारी "ब्र० ज्ञानचन्द्रजी महाराज" सभापति चुने गये थे। सभाध्यक्षके नाते आपका भाषण अत्यन्त महत्त्वशाली एवं शास्त्रीय-गवेषणापूर्ण हुआ था। उक्त भाषण मुद्रित हो चुका है।

सप्तम प्रतिमा धारण करनेके पश्चात् पूज्य "ब्रह्मचारी ज्ञानचन्द्रजी" श्रीसम्मेदशिखरसे लेकर सदैव परमपूज्य आचार्य महाराजके चरणोंके निकट संघके साथ ही भ्रमण करते रहे। आपकी वैराग्य भावना और भी बढ़ती गई और एक ही वर्ष पीछे कुण्डलपुर क्षेत्रमें आपने दशमी प्रतिमा ले ली। फिर दूसरे वर्षमें ही अलीगढ़में आपने आचार्य महाराजसे क्षुल्लक दीक्षा ले ली। उस समय महाराजने आपका नाम "ज्ञानसागर" रक्खा। परमपूज्य श्री १०५ क्षुल्लक "ज्ञानसागरजी" महाराज क्षुल्लक अवस्थामें रहते हुए स्वात्मोन्नतिमें तो निमग्न रहे ही, साथमें उन्होंने अनेक महत्त्वशाली कार्य किये। पुरुषार्थानुशासन, रयणसार, प्रतिक्रमण, पट्कर्मोपदेशरत्नमाला, उमास्वामि कृत श्रावकाचार, परमार्थोपदेश गुणभूषण श्रावकाचार आदि संस्कृत ग्रन्थोंकी आपने टीकाएँ की हैं। गुजराती भाषामें भी कई ग्रन्थ लिखे हैं, कई स्वतन्त्र ट्रैक्ट भी लिखे हैं। जैसे—जीवविचार, कर्मविचार, दानविचार आदि कई अत्युपयोगी ट्रैक्ट आपने लिखे हैं। आपका बनाया हुआ 'यज्ञोपवीत संस्कार' ट्रैक्ट दो भागोंमें छपा है, जो कि बहुत बड़ा है। आपके रचे हुए ट्रैक्टोंका समाजने बहुत ही आदर किया है और उनसे बहुत लाभ उठाया है। भा० दि० जैन महासभाने भी उन्हें छपाकर सर्वत्र वितरण कराया है।

आपके ही आदेशसे अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु; इन पाँचों परमेष्ठियोंकी पाँच प्रतिमाएँ—परमेष्ठियोंका भिन्न-भिन्न स्वरूप प्रकट करनेवाली ३-३ फीट ऊँची शुक्ल पाषाणकी अत्यन्त मनोज्ञ-चित्ताकर्षक श्रीगजपन्थ सिद्धक्षेत्रपर उनके सब सहोदर भाइयोंने विराजमान कराई हैं। श्री वीर नि० संवत् २४६० में जब शोलापुरके प्रसिद्ध सेठ पूज्य

ब्रह्मचारी जीवराजजी गौतमचन्दजी दोशीने वहाँपर नवीन मन्दिरका निर्माण और श्रीपञ्चकल्याणक महोत्सव कराया था, उसीमें ये पाँचों प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित हुई थीं। तथा उस क्षेत्रके सुयोग्य सभापति उक्त सेठ जीवराज भाई व वहाँकी माननीय सदस्य महानुभावोंकी धार्मिक स्नेहपूर्ण अनुमतिसे गजपन्थ क्षेत्रके पहाड़पर केन्द्रीभूत मध्य गुहामें ये पाँचों प्रतिविम्ब विराजमान हैं, जो बहुत ही मनोज्ञ एवं चित्ताकर्षक हैं।

इसी प्रकार देहलीके धर्मपुराके मन्दिरजीमें अष्टप्रातिहार्यसहित अतीव रमणीक ३ फीट ऊंची प्रतिमा उन्हीं भाइयोंने विराजमान कराई है, ये सब महत्पुण्य-फलप्रद बृहत्कार्य परम पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक "ज्ञानसागरजी" महाराजके जिनेन्द्र-भक्ति-सूचक आदेशसे ही हुए हैं।

आपने गृहस्थावस्थामें भी एक चाँदीकी सुन्दर खड्गासन प्रतिमा बनवाई थी, जो कि आपके गृह-विरत होनेपर मोरेनाके पञ्चायतीमें विराजमान कर दी गई थी। अस्तु।

## संघमें रहकर सबसे बड़ा कार्य।

परम पूज्य क्षुल्लक ज्ञानसागरजी महाराजने संघमें रहकर सबसे बड़ा काम यह किया है कि संघके समस्त परमपूज्य मुनिराजों एवं क्षुल्लकोंको संस्कृतका अध्ययन कराया। उसका परिणाम बहुत जल्दी सिद्ध हुआ। कुछ ही वर्षमें परमपूज्य श्री १०८ मुनिराज नेमिसागरजी, मुनिराज वीरसागरजी, मुनिराज कुन्थुसागरजी, मुनिराज चन्द्रसागरजी तथा क्षुल्लक यशोधरजी, क्षुल्लक पार्श्वकीर्तिजी आदि सभी संस्कृत, व्याकरण और साहित्यके बहुत उत्तम ज्ञाता बन गये हैं। संघमें उक्त सभी मुनिराज और क्षुल्लक यशोधरजी संस्कृतमें खूब भाषण करते हैं। वे सभी संस्कृतके उत्तम विद्वान् बन गये हैं। यह वीतराग-तपस्विता-जनित विशुद्ध वृत्ति क्षयोपशमका ही परिणाम है।

परम पूज्य क्षुल्लक "ज्ञानसागरजी"ने संस्कृतके अध्यापनके कार्यको एक उपाध्याय परमेष्ठीके समान किया है। परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज कहा भी करते थे कि संघमें एक शास्त्री विद्वान्के आ जानेसे उपाध्यायका कार्य होने लगा है। वर्तमानमें परम पूज्य तपोनिधि मुनिराज कुन्थुसागरजीने संस्कृतमें चौवीस भगवानोंका स्तवन और गुरु-स्तवन तथा बोधामृतसारग्रंथ भी बनाया है। आप भाषण देते हुए चट संस्कृत श्लोक बना डालते हैं,

इसी प्रकार परम पूज्य प्रतिवादिभयङ्कर तपस्वी मुनि चन्द्रसागरजी, शास्त्राध्ययनरत-मुनिराज वीरसागरजी, आसन-
योगी मुनिराज नेमीसागरजी आदि सभी साधु गण संस्कृतके प्रभावक विद्वान् हो गये हैं। इस परमाश्यक महान् आदर्श
कामको उद्भट विद्वान् परम पूज्य क्षुल्लक ज्ञानसागरजी (वर्तमान परम पूज्य मुनिराज सुधर्मसागरजी महाराज)ने कराया है।

इसके सिवा आचार्य महाराजकी सेवा करना, समस्त संघस्थ मुनिराजोंकी वैय्यावृत्य करना, एक उत्तम
अनुभवी वैद्य होनेके कारण संघके तपस्वियोंकी समय-समयपर प्रकृतियोंको सम्हालना, गृहस्थोंसे उनकी समयोचित
वैयावृत्य कराना, विशिष्ट धर्मकार्योंकी सिद्धिके लिये, संघका विहार करानेके लिये श्रावकोंको अनुमति देना, इसके सिवा
जैन तथा जैनेतर विद्वानोंकी शङ्काओंका समाधान करना एवं भाषणों द्वारा जनताको धर्मलाभ एवं धर्ममें दृढ़ता उत्पन्न
कराना आदि अनेक महत्त्वपूर्ण काय, महाराज "क्षुल्लक ज्ञानसागरजी"ने किये हैं।

## मुनिदीक्षा-समारम्भ

जो पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा संघभक्त-शिरोमणि सेठ पूनमचन्द घासीलालजी जौहरीने प्रतापगढ़में कराई थी,
उसी प्रतिष्ठामें केवलज्ञान कल्याणकके समय फाल्गुन सुदी १३ वीर नि० सं० २४६० में क्षुल्लक "श्रीज्ञानसागरजी"ने परम
पूज्य श्री१०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज परम गुरुसे मुक्तिदायिनी मुनिदीक्षा धारण की थी। आचार्य महाराजने
उस समय आपका मुनि-अवस्थाका नाम 'सुधर्मसागर' घोषित कर दिया था। यहींपर परमपूज्य क्षुल्लक नेमिकीर्तिजी
और ब्र० सालिकरामजीने क्रमसे मुनिदीक्षा और क्षुल्लकदीक्षा आचार्य महाराजसे ग्रहण की थी। उस समय आचार्य
महाराजने उनका नाम क्रमसे "मुनि आदिसागर" और "क्षुल्लक अजितकीर्ति" घोषित किया था। उस समय उपस्थित
करीब ४०००० चालीस हजार जनतामें बहुत भारी प्रभावना हुई थी। अस्तु। बढ़ी हुई वैराग्य-वृत्ति तथा व्रताभ्यासोंके
कारण श्री १०८ वीतराग तपस्वी परमपूज्य मुनिराज "सुधर्मसागरजी" महाराज अनेक उपवास, नीरस आहार, बहुत
कालतक ध्यान आदि कठिन तपश्चरण करते हैं। साधुपदोचित शास्त्रोक्त अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करते हैं।
ध्यानातिरिक्त समयमें शास्त्र-स्वाध्याय एवं शास्त्र-निर्माण आदि वीतराग कार्योंमें ही समयको लगाते हैं।

## गुरुतर कार्य-भार

उदयपुर चातुर्मासके समय परम पूज्य आचार्य महाराजने शिक्षा-दीक्षा देने आदिका अपना आचार्योचित कार्य-
भार भी परम पूज्य मुनिराज सुधर्मसागरजी महाराजको सौंप दिया था। यद्यपि महाराज सुधर्मसागरजीने इस गुरुतर

कार्य-भारको लेनेसे बहुत निषेध किया था और परमपूज्य आचार्य महाराजके चरणोंमें नम्र प्रार्थना की थी कि स्वामिन् ! आप ही इस महान् कार्यके सम्हालनेमें समर्थ हैं, उस प्रकारकी पूर्ण सामर्थ्य मुझमें नहीं है। इसलिये आप ही शिक्षा-दीक्षा देने आदि कार्योंको पूर्ववत् करते रहें। विशेष कार्योंके लिये हमें आज्ञापित करें, आपको हम न तो कोई कष्ट होने देंगे और न आपके स्वतन्त्र धर्म-साधनमें कोई बाधा आने देंगे' आदि ।

जब आचार्य महाराजने मुनिराज सुधर्मसागरजीको कार्य-भार सम्हालनेके लिये पुनः बाध्य किया और आज्ञा दे दी, तब उन्हें उक्त कार्य सम्हालना ही पड़ा। यद्यपि मुनिराज सुधर्मसारजीकी यह उत्कट इच्छा थी कि यदि अपना कार्य आचार्य महाराज सौंपते ही हैं तो श्री १०८ मुनिराज नेमिसागरजी, मुनिराज वीरसागरजी, मुनिराज कुन्थुसागरजी, इनमेंसे किन्हींको सौंप देवें। उक्त तीनों ही महाराज प्रभावक तपस्वी, पूर्ण विद्वान् और इस कार्यके सम्हालनेके लिये सब प्रकारसे योग्य हैं; परन्तु उक्त मुनिराजोंके भी निषेध करनेपर और परमपूज्य आचार्य महाराजकी आज्ञा होनेपर परम-पूज्य मुनिराज सुधर्मसागरजी महाराज ही दीक्षा-प्रदानादि कार्योंको सम्हालते रहे, परन्तु परमगुरु आचार्य महाराजकी अनुमति एवं उनकी आज्ञा लेना प्रत्येक कार्यमें आवश्यक समझते रहे। संघका पृथक्-पृथक् विहार होनेसे आचार्य-चरणोंमें निवेदनकर मुनिराज सुधर्मसागरजीने यह कार्य-भार छोड़ भी दिया है। अस्तु।

इस प्रकार पूज्य श्री १०८ मुनिराज सुधर्मसागरजी महाराजने परमाराध्य एवं स्वात्म-चरमोन्नति-साधक मुनिपद-को धारणकर अपना तो परम हित किया है, साथ ही आपके द्वारा धर्म एवं समाजका भी बहुत भारी हित हुआ है। जिस पद्मावतीपुरवाल पवित्र सज्जातिमें महाराजने जन्म लिया है, उसे तो विभूषित किया ही है, साथ ही सप्त परम-स्थानोंमें पारिव्राज्य ( मुनिदीक्षा ) परम स्थानको धारणकर अपने विशुद्ध कुलको भी आदर्श एवं मुनिवंशके पवित्र नामसे प्रख्यात कर दिया है।

परम पूज्य लोक-हितकर दिगम्बर वीतराग तपस्वी मुनिश्रेष्ठ श्री १०८ सुधर्मसागरजी महाराजका जीवन परम पवित्र और वीतरागी त्यागियोंके लिये भी उच्चादर्श है। अपने नियमित षडावश्यक कर्म तथा सामयिक स्वाध्यायसे बचे हुए समयमें मुनि महाराजने यह महान् ग्रन्थ—"सुधर्मध्यानप्रदीप" संस्कृत श्लोकोंमें बनाया है। इस ग्रन्थकी रचनासे वीतरागी महर्षियों, विद्वानों एवं श्रावकोंका बहुत बड़ा कल्याण होगा। इस पञ्चम कालमें ऐसे सर्वोच्च उद्भट विद्वान् महर्षि

है कि आप इसी तरह धर्मका उद्योत करते हुये चिरकाल तक जीवित रहें, आपने इस ग्रन्थके उद्धारमें भी २००) रु० लगाये हैं, इसके लिये आपको बहुत-बहुत धन्यवाद है।

### ३—ग्रन्थ मुद्रणके दूसरे सहायक

## श्रीयुत मा० सेठ जगजीवनदासजी कस्तूरचन्दजी शाह

आपने इस ग्रन्थके छपानेमें भाई शंकरलालजी गांधीके २००) रु० को छोड़ कर बाकी करीब ५००) रुपया लगाया है। आप बम्बईमें काटन ब्रोकर और कमीशन एजेंट हैं तथा रुईके अच्छे व्यापारी हैं। हमने प्रकाशित करनेके लिये आपका विशेष परिचय पूछा था, परन्तु आपने देनेसे इन्कार कर दिया है, आपने इस महाग्रन्थका मुद्रण अपनी पूज्य मातु श्रीबाई मोतन शाह कस्तूरचन्द जूठाभाईके स्मरणार्थ और उनके ज्ञानावरण कर्मके क्षयार्थ कराया है। तथा उन्हींकी ओरसे साधर्मी दिगम्बर जैन भाइयोंकी भेंटमें समर्पण किया है। इससे सिद्ध होता है कि आप अच्छे गुरुभक्त हैं और ठोस धार्मिक हैं। हमारी भावना है कि आप इसी प्रकार धार्मिक कार्योंमें सहयोग देते हुए तथा जिन धर्मकी प्रभावना करते हुए चिरकाल तक जीवित रहें और लोक-परलोककी उन्नति करते हुए यशस्वी बनें। आपने इस ग्रन्थके उद्धारमें जो अच्छी रकम लगाई है, उसके लिये आपको बहुत-बहुत धन्यवाद है।

अन्तमें महावीर प्रेस ( आगरा ) के प्रोप्राइटर बाबू कपूरचन्दजी जैन महोदयको मैं अनेक धन्यवाद देता हूं, जिन्होंने बड़ी तत्परतासे इस पुस्तकको शीघ्र छापनेकी उदारतापूर्ण सहायता की है।

सबसे अन्तमें मैं पाठक-वृन्दसे सविनय प्रार्थना करता हूं कि यदि इस महान् ग्रन्थके संशोधनमें मेरे मानव-सुलभ दृष्टि-दोषवश या प्रेस सम्बन्धी दोषवश कोई अशुद्धि रह गई हो तो क्षीरनीरग्राही हंसके समान विद्वान् महाशय शुद्धकर पढ़नेका कष्ट करके क्षमा-प्रदान करनेकी दया करें।

श्री गो० दि० जैन सिद्धान्त विद्यालय,
मोरेना ( ग्वालियर स्टेट )
अनन्त १४ वि० संम्वत् १९९४

विबुध-चरण सेवी—
श्रीहरगोविन्द शास्त्री।

# ग्रन्थ-प्रशस्ति ।

## ग्रन्थकारकी प्रतिभा और ग्रन्थकी अपूर्वता तथा गुरुता

यह "सुधर्मध्यान-प्रदीप" ग्रन्थ इस युगका एक महान् संस्कृत-शास्त्र है। इस महान् एवं गम्भीर शास्त्रकी रचना कर विद्वद्वंद्यपाद आचार्य-कल्प निर्ग्रन्थ वीतराग महर्षि परमपूज्य श्री १०८ सुधर्मसागर महाराजने संसार-विरक्त एवं स्वात्म-कल्याण जिज्ञासु जगत्का महान् उपकार किया है। इस ग्रन्थकी रचनासे पुरातन महर्षियोंकी कृति—आचार्यवर्य शुभचन्द्र के बनाये हुए ज्ञानार्णव शास्त्रकी तुलना सहज हो जाती है, अथवा उत ग्रन्थके अंशोंको विशद रूपसे पूरा किया गया है, ऐसा कहा जाय तो भी ठीक है। इसलिये यह कहना भी युक्तिसंगत और प्रमाणसिद्ध है कि यह "सुधर्मध्यानप्रदीप" एक अपूर्व नवीन ग्रन्थ होनेपर भी प्राचीन आचार्योंके कथनकी ही पुष्टि करनेवाला है, जो सिद्धान्त पूर्वाचार्योंने अनेक शास्त्रों-में वर्णित किया है, वही सिद्धान्त इस ग्रन्थमें हैं। विशेषता यह है कि जो विषय लिखा गया है, वह बहुत विशद एवं नवीन शैलीसे लिखा गया है।

ग्रन्थकर्त्ता मुनिराज सुधर्मसागरजीकी इस ग्रन्थ-रचनामें यह बात सर्वत्र मिलेगी कि जिस बातका वे वर्णन करते हैं उसका खुलासा अनेक युक्तियों और दृष्टान्तोंसे वहाँ तक करते जाते हैं, जहाँ तक कि साधारण बुद्धिवाला श्रोता भी उस विषयके रहस्यको पूर्ण रूपसे हृदयंगम कर सके। इस शैलीको देखकर आचार्य प्रवर अमृतचन्द्र सूरि रचित पञ्चाध्यायीका स्मरण हो जाता है। उसमें भी यही बात है; जिस विषयको उठाया गया है उसका खुलासा अनेक श्लोकोंमें अन्वय रूपसे, व्यतिरेक रूपसे, भिन्न-भिन्न युक्तियोंसे एवं सामुदायिक रूपसे अथवा सखण्ड कल्पनासे अनेक भङ्गियोंसे किया गया है। ठीक यही बात इस ग्रन्थमें भी है।

यह ग्रन्थ सूरिकल्प महर्षि सुधर्मसागरजीने श्रीसिद्धक्षेत्र तारंगा पर पूर्ण किया है। उन्होंने बड़ी भक्तिसे परम पूज्य मुनिराज वरदत्तादि साढ़े तीन करोड़ महर्षियोंको नमस्कार किया है और जहाँसे उन महर्षियोंने सिद्ध पद प्राप्त किया है; उसी पवित्र तारङ्गा क्षेत्रपर जिस समय अपने वीतराग मुनि आदिके संघसहित परम दिगम्बर जैनाचार्य परम पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज उस सिद्धक्षेत्रकी वन्दनाके लिये पहुँचे हैं, उस समय बड़ी भारी प्रस्तावनाके साथ श्रीतारङ्गा नामके दुर्गमें भगवान् ऋषभदेवके मनोहर चैत्यालयमें वीर नि० सं० २४६२ तथा विक्रम् सं० १९९२ शुभ मिति मार्गशीर्ष कृष्णा त्रयोदशी शनिवारको यह सर्वकल्याणकारी विद्वानों एवं मुनियोंके लिये आदरणीय इस महान् ग्रन्थ "सुधर्मध्यान प्रदीप" को मुनिश्रेष्ठ "सुधर्मसागरजी" महाराजने पूर्ण किया है।

इसमें सन्देह नहीं है कि मुनिराज सुधर्मसागरजीका विशुद्ध पाण्डित्य, प्रकाण्ड विद्वत्ता और तपःप्रभावजनित विशुद्ध क्षयोपशम एवं स्वानुभवका वृद्धिंगत महात्म्य इस युगमें भी मुनिमार्गको सर्वोच्च आदर्श पर विठानेवाला है।

इस ग्रन्थके पूर्व मुनिराज सुधर्मसागरजीने चतुर्विंशतिका स्तुति, केसरियानाथ स्तोत्र, शान्तिपौर्णिमा, मंगलाष्टक अर्थात् नवदेवता स्तवन आदि रचनाएं भी संस्कृतमें की है, जो कि संस्कृत मूलभाषामें मुद्रित सुधर्मध्यानप्रदीपके साथ उसीके अन्तमें जोड़ दिये गये हैं। चतुर्विंशतिका स्तुतिमें प्रत्येक भगवान्की स्तुतिमें १०-१२ श्लोक महाराजने वनाये हैं। महावीर स्वामीकी स्तुतिमें तो उन्होंने ५१ श्लोकोंकी रचना कर डाली हैं। इस स्तुतिमें मुनिराजने जैन-सिद्धान्तका सर्वाङ्गीण दिग्दर्शन करा दिया है। यह चतुर्विंशतिका स्तुति भी विद्वानोंके लिये बहुत लाभकारी और चित्ताकर्षक ग्रन्थ है।

इस समय मुनिराज सुधर्मसागरजीने इस सुधर्मध्यानप्रदीपकी रचनाके पीछे एक नवीन ग्रन्थ—"श्रावकाचार" नामका और बनाया है। उसकी रचना भी उन्होंने संस्कृत श्लोकोंमें की है। जिसमें करीब दो-ढाई हजार श्लोक संख्या होगी, वह अभी छपा नहीं है; छपने पर वह ग्रन्थ भी स्वाध्यायप्रेमी और स्वात्महिताकांक्षी श्रावकोंके लिये बड़े महत्व-की वस्तु होगी।

इस सुधर्मध्यानप्रदीप ग्रन्थकी संस्कृत मूल श्लोक संख्या भी करीब दो हजार है। इन महान् दो संस्कृत ग्रन्थोंकी रचना करनेपर भी मुनिराज सुधर्मसागरजीने अपनी लघुता इन शब्दोंमें प्रकट की है:—

"ध्यानवार्ता न जानमि शब्दशास्त्रं न शासनम् ।
केवलं स्वहितार्थाय शब्दाः संयोजिता मया ॥
प्रमादादल्पज्ञानत्वाद्विरुद्धं यज्जिनागमात् ।
ग्रंथेऽस्मिन् यच्च संजातं शोधयन्तु मुनीश्वराः ॥"

अर्थात् मुनि सुधर्मसागरजी लिखते हैं कि "मैं यद्यपि ध्यानकी बात भी नहीं जानता और न जिनशासनको जानता हूँ, तो भी केवल आत्माका कल्याण करनेके लिये मैंने इधर-उधरसे लेकर शब्द जोड़ दिये हैं। मेरे प्रमादसे अथवा मेरे अल्प ज्ञानसे इसमें जो कुछ जिनागमके विरुद्ध लिखा गया हो, उसको मुनिगण शुद्ध कर लेवें।"

इन उद्‌गारोंसे यह स्पष्ट हुए विना नहीं रहता है कि मुनिराज सुधर्मसागरजी कितने सरल, निरभिमानी और पूर्व महर्षियोंके अनुगामी हैं। उद्भट विद्वत्ता होनेपर भी वे अपने लिये उक्त शब्द लिख रहे हैं, इससे सिद्ध होता है कि पूर्वाचार्य-प्रणीत आगमपथ ही उनका लक्ष्यविन्दु है।

आचार्योंकी पट्टावलीसे यह निर्णीत है कि प्रसिद्ध आचार्य पूज्यपाद स्वामी, जिन्होंने सर्वार्थसिद्धि आदि गम्भीर शास्त्रोंकी रचना की है। विशुद्ध पद्मावती पुरवाल जातिमें उत्पन्न हुए थे; आज उसी पवित्र जातिमें साधुपदोचित अट्ठाईस मूल गुणधारी, उत्कृष्ट-तपश्चरण एवं ध्यानयाध्ययनरत वीतराग नग्न दिगम्बर मुनिराज परम पूज्य श्री १०८ सुधर्मसागरजी भी उत्पन्न हुए हैं। यह उक्त सज्जातिके लिये बड़े गौरवकी बात है। तथा मुनि महाराज हमारे विशुद्ध कुलमें उत्पन्न हुए हैं, इसलिये हमारा वंश भी मुनिवंशके नामसे प्रख्यात एवं विशेष गौरवशाली बन गया है। अन्तमें हम लोकोद्धारक, जगद्धितैपी प्रातःस्मरणीय वन्दनीयचरण तपोमूर्ति परम पूज्य आचार्यवर्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराजके चरणोंमें बड़ी भक्ति और श्रद्धासे नमोऽस्तु ३ करते हैं, कारण कि यह सब कृति उन्हींके चरणकमलका सर्वहितकारी समधुर फल है। आचार्य महाराज—जैसे मिथ्यात्व तमोहर सूर्योदयके ओजस्वी प्रकाशसम प्रखर किरणस्वरूप प्रातःस्मरणीय एवं वन्दनीयचरण परम पूज्य मुनिराज "सुधर्मसागरजी" आचार्य महाराजके पट्ट शिष्य हैं और गुरुप्रसादमय प्रतिमा ही इस महान् ग्रन्थ-रचनामें कारण है।

इस ग्रन्थकी हिन्दी भाषाटीका विद्वद्वर धर्मरत्न श्रद्धेय पं० लालारामजी शास्त्रीने की है। जिन महानुभावने पचासों संस्कृत महान् ग्रन्थोंकी टीकाएंकर हिन्दीभाषा-भाषियोंका बहुत भारी उपकार किया है, उनके लिये महती श्रद्धा प्रकट करना अपना कर्त्तव्य है। उनकी टीकाएँ अत्यन्त सरल, प्रासाद गुणयुक्त और ग्रंथकी ग्रंथियोंके सुलझाने-वाली होती हैं।

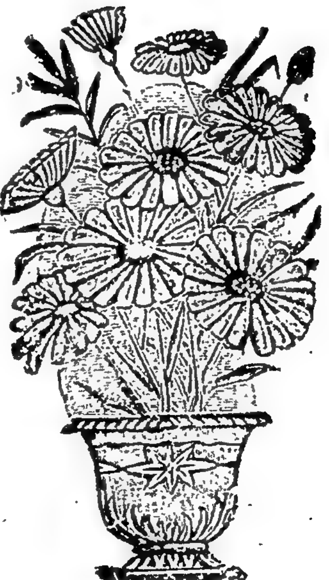
इस ग्रन्थका प्रकाशन और संशोधन श्रीमान् पं० हरगोविन्दजी शास्त्री व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, रिसर्चस्कालर महोदय, व्याकरण-साहित्य-प्रधानाध्यापक गो० दि० जैन-सिद्धान्त विद्यालय मोरेनाने किया है। आपने पाणिनीयशिक्षाके 'प्रकाश' व्याख्यापर सं० में टिप्पणी की है और अमरकोषकी बहुत विशद "मणिप्रभा" नामकी हिन्दी टीका और "अमरकौमुदी" नामकी संस्कृत टिप्पणी लिखी है, जो "हरिदास सं० सीरीज बनारस" से हालहीमें प्रकाशित हुई है; इसके अतिरिक्त अन्य कई ग्रन्थोंके संशोधन और सम्पादन आपके द्वारा हुए हैं। ऐसे विशिष्ट एवं निरीह धुरन्धर विद्वान् महोदयने इस ग्रन्थका संशोधनकर हमें बहुत उपकृत किया है। इसके लिये हम उन्हें भूरि-भूरि धन्यवाद देते हैं।

श्रीमान् पूज्य ब्र० ज्ञानसागरजी (श्रीलखमीचन्दजी गोरल) ने सङ्घमें रहकर समय-समयपर परम पूज्य सुधर्मसागरजी महाराजकी अस्वस्थ अवस्थामें उनकी वैयावृत्य की है। इस कारण महाराज अस्वस्थ अवस्थामें भी इस ग्रन्थके लिखनेमें समर्थ रहे हैं। इस महत्पुण्यसञ्चयकारक साधु वैयावृत्य-जैसी पवित्र धर्म-सेवाके लिये मैं उन सप्तम प्रतिमाधारी पूज्य ब्र० ज्ञानसागरजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ और ऐसे साधुसेवी सत्पुरुषोंके पवित्र कार्योंकी हृदयसे सराहना करता हूँ।

मुनिचरण-कमल-रजश्चञ्चरीक—
मक्खनलालशास्त्री

मोरेना (गवालियर)
अनन्त चौदश, वीरनिर्वाण संवत् २४६२

---



# समर्पण

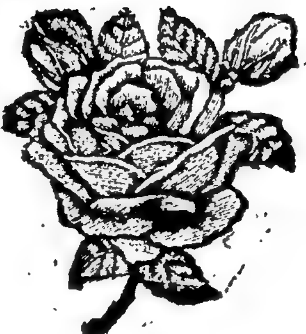
विश्वभारतमें जिन-धर्मका उद्धार करनेवाले कलिकाल-तीर्थङ्कर, श्रीमदाचार्य, पूज्यपाद गुरुवर्य श्री शान्तिसागरजी महाराजके पवित्र चरणकमलोंमें आचार्यभक्ति एवं कायोत्सर्ग, शुद्धभावनासे त्रिकाल नमोऽस्तु ३ करता हुआ मैं यह विनम्र निवेदन करता हूँ—

भगवन् !

आपहीकी पूर्ण कृपासे मैंने निर्ग्रन्थ वीतराग एवं रत्नत्रयात्मक यह विशुद्ध स्वरूप प्राप्त किया है और आपकी भक्तिके प्रसादका ही परिणाम यह ध्यानपुष्पस्तवक है, इसलिये आपके ही पुनीत करकमलोंमें इसे सादर समर्पित करता हूँ कि जिसका यह पुष्प है वह भक्तिवल्लरी मेरे हृदय-मन्दिरमें सदैव पुष्पाङ्कित बनी रहे।

श्रीआचार्यपादेन्दुचकोर—

मुनि 'सुधर्मसागर'



# विषय-सूची

नोटः—जहां श्लोक संख्या नहीं लिखी गई हैं, वहां पूरे अध्यायमें उसी विषयका वर्णन है।



## पुस्तक मिलनेके पते—



१—श्रीहरगोविन्दशास्त्री, व्या० सा० आचार्य, साहित्यरत्न,
मोरेना, ( गवालियर स्टेट )।

२—सेठ जगजीवन कस्तूरचन्दजी,
पटवर चाल, सराफबाजार, बम्बई नं० २।

३—सेठ शंकरलालजी गांधी,
ठिकाना—विश्वम्भरलाल कन्हैयालाल,
१८८ अम्बाला बिल्डिंग-चौथामाला
कालबादेवीरोड, बम्बई।

वीतराग तपोमूर्ति श्री१०८ 'सुधर्मसागर'मुनिविरचित



# सुधर्मध्यानप्रदीपः ।

अनुवादकः—धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्री



तपोनिधि, विबुधवन्द्य, आचार्यवर्य श्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज।

महावीर प्रेस, आगरा।



ग्रन्थकर्ता—

वीतराग तपोमूर्ति मुनिवरेण्य श्री १०८ सुधर्मसागरजी महाराज ।

महावीर प्रेस, आगरा ।

# योगसारकी विषय सूची।



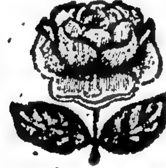


# प्रस्तावना

जिसप्रकार सुवर्ण और सुवर्णपाषाणकी सत्ता अनादि है इसीप्रकार लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान भी अनादि हैं यह नहिं कहा जासकता कि पहिले लौकिक ज्ञान था वा पारमार्थिक । हां इतना अवश्य कहसक्ते हैं कि किसी समयमें लौकिक और पारमार्थिक दोनों ज्ञान समानरूपसे आदरणीय हो जाते हैं तो किसीसमय अध्यात्मज्ञान अधिकरूपसे आदरणीय गिनाजाता है और किसीसमय लौकिकज्ञान ही परम आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है । जब हम वर्तमान संसारकी ओर दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट मालूम पडजाता है कि इससमय लौकिक ज्ञानका अमान सम्मान है । जो महानुभाव कुछ भी लौकिकज्ञान रखता है वह आदरकी दृष्टिसे देखाजाता है । उससे भी अधिक लौकिकज्ञानकी पुस्तक लिखनेवाला देखाजाता है तथा जो पुरुष किसीप्रकारका नया आविष्कार निकाल देता है वह तो प्रमाणस्वरूप ही समझा जाता है अधिक कहांतक कहाजाय लौकिकज्ञानको विज्ञानके नामसे भी भूषित करडाला है । परंतु पूर्वकालमें पारमार्थिक ज्ञानकी ही विशेष चर्चा थी । उसके उपदेशका, उसके वास्तविकस्वरूपके निदर्शक शास्त्रोंके निर्माण करनेवालोंका ही परम आदर था जिसके कि प्रमाणस्वरूप अगणित ग्रंथ वर्तमानमें दृष्टिगोचर हो रहे हैं क्योंकि यह सबहीके स्वानुभवगोचर है कि हमारेलिये जैसा अविनाशीक अध्यात्मज्ञान परमसुखदायी है वैसा विनाशीक लौकिकज्ञान नहीं । उससमयमें प्राथमिक शिक्षामें ही पारमार्थिक ज्ञानकी उपयोगिता लोगोंके हृदयमें कूट २ कर भरदी जाती थी इसलिये वे पारमार्थिकज्ञानको उपादेयतम समझते थे और जबतक उसकी प्राप्तिके मार्गका अवलंबन नहिं करते थे तबतक अपनेको घोर पातकी मानते थे ।

पाठक ! उसीसमयके निदर्शक अनुपम पारमार्थिकज्ञानके उपायस्वरूप आज हम पुनः एक अपूर्व ग्रंथको आपकी भेंट करनेके लिये उपस्थित हुये हैं इसका नाम श्रीयोगसार है । इसमें जीवाधिकार अजीवाधिकार आदि नौ अधिकारोंका बडी विद्वत्तासे वर्णन कियागया हैं । यद्यपि जीव आदि अधिकारोंमें जीव आदिके स्वरूपका ग्रंथकारने वर्णन किया है परंतु उनका लक्ष्य प्रत्येक अधिकार और समस्तग्रंथमें यही रहा है कि शुद्ध आत्मा उपादेय है और सब पदार्थ हेय हैं एवं स्वस्वरूपका ध्यानही योगसार है इसीलिये इसका नाम भी योगसार रक्खा है तथा यह ग्रंथ अत्यंत गहन है हमारा विश्वास है ज्यों २ इसका मनन परिशीलन किया जायगा त्यों त्यों इसमें वचनागोचर गंभीरता प्रकट होती जायगी और आत्मस्वरूपके खोजियोंके हृदयमें एक विलक्षण ही शांतिका स्रोत प्रवाहित होने लगेगा ।

प्रकाशकः—
न्या० सा० आचार्य, साहित्यरत्न, रिसर्चस्कालर,
पण्डित श्रीहरगोविन्दजीशास्त्री,
मोरेना ( गवालियर स्टेट )।



मुद्रकः—
कपूरचन्द जैन,
महावीर प्रेस, किनारी बाजार,
आगरा।

* श्रीवर्द्धमानाय नमः *

परमपूज्य वीतराग तपोमूर्ति मुनिवरेण्य श्री १०८ 'सुधर्मसागर' विरचित

# सुधर्मध्यानप्रदीपः

अनुवादकः—

**धर्मरत्न पण्डित लालारामजी शास्त्री,**

चावली ( आगरा )।

संशोधक और प्रकाशकः—

व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, रिसर्चस्कालर,

**पण्डित हरगोविन्दशास्त्री**

श्रीगोपाल दिगम्बर जैन सिद्धान्त विद्यालय, मोरेना ( ग्वालियर स्टेट )

—:*:—

विक्रम संवत् १९९४ ]

प्रथमावृत्तिः

[ मूल्य १।) मात्र

श्रीः

* श्रीवीतरागाय नमः *

मुनिराजश्रीसुधर्मसागरविरचितः

# सुधर्मध्यान-प्रदीपः

भाषाटीकासहितः ।

वंदौं वृषभ जिनेशके, चरण-सरोज उदार ।
धर्म-ध्यान-प्रदीपकी, करूं वचनिका सार ॥

ज्ञानात्मरूपाय निरञ्जनाय मोहाद्दिदोषप्रविघातकाय । शिवाय शान्ताय शिवप्रदाय स्वानन्दकन्दाय नमो जिनाय ॥१॥
शुद्धाय बुद्धाय गुणान्विताय कर्मव्यतीताय चिदात्मकाय । नित्याय जन्मान्तकभेदकाय सिद्धाय पूज्याय नमो नमोऽस्तु ॥२॥
वृत्तप्रवीणं समितीद्धमुद्धमाचारवन्तं समयज्ञकं च । स्वात्मानमेवात्मनि भावयन्तं सूरिं प्रवन्दे जिनभावलीनम् ॥३॥

---

जो भगवान् जिनेन्द्रदेव ज्ञानस्वरूप हैं, रागद्वेषादिकसे रहित हैं, मोहनीय आदि समस्त दोषोंको नाश करनेवाले हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं, अत्यन्त शान्त हैं, मोक्षके देनेवाले हैं और आनन्दस्वरूप हैं; ऐसे भगवान् जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, अनन्त गुणोंको धारण करनेवाले हैं, कर्मरहित हैं, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप हैं, नित्य हैं, जन्म-मरणको नाश करनेवाले हैं और पूज्य हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीको मैं बार बार नमस्कार करता हूं ॥२॥ जो आचार्यचारित्र पालन करनेमें निपुण हैं, समितियों-का पालन करते हैं, पंचाचारका पालन करते हैं, समय वा शास्त्रोंके जानकार हैं, अपने आत्मामें जो अपने

सिद्धान्तविद्याप्तकुशाग्रबुद्धिं भावश्रुतं चात्मनि भावयन्तम् । स्वात्मानमेवानिशमुद्वहन्तं तं पाठकं साधुवरं नमामि ॥४॥ आरम्भसङ्गादिकषायदोषं त्यक्त्वा प्रपञ्चं च निजात्मलीनम् । योगीश्वरं सद्व्रतधारकं च दैगम्बरं साधुगणं नमामि ॥५॥ एकान्तमिथ्यामतवादगर्वान् प्रगाढदुर्बुद्धिसमुद्धतांस्तान् । स्याद्वादमुद्रापविना प्रहन्त्रीं भक्त्या प्रवन्दे च सरस्वतीं ताम् ॥६॥ दैगम्बरीं नग्नयथार्थमुद्रां धृत्वा परं ध्यानमलं चकार । तप्त्वा तपो घोरतरं स सूरिः श्रीशान्तिसिंधुर्जयतात्त्रलोके ॥७॥ दयामयः शान्तिकरः प्रशान्तः उद्धारको जीवगणस्य यो वा । भवाब्धितः कर्मकलंकहर्ता जैनेन्द्रधर्मो हि सदा स जीयात् ॥८॥ स्वाभाविकीं चेतनदिव्यशक्तिं स्वां स्वानुभूत्या च विकाशमानाम् । लब्ध्वा च जातः परमात्मवेदी स्वात्मा स जीयाद्भुवनस्य भर्ता ॥९॥ विमोचणात्कर्मकदंबकानां शुद्धो भवेत्केवलबोधभागी । नैर्मल्यरूपो विमलो विशुद्धो निरंजनः स्वात्ममयो विरागी

---

ही आत्माका ध्यान करते हैं और जो भगवान जिनेन्द्रदेवके भावोंमें लीन हैं; ऐसे आचार्य परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥३॥ सिद्धांत शास्त्रके मुख्य भागमें जिनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण है, जो अपने आत्मा में भाव श्रुतज्ञानका चिंतवन करते रहते हैं और जो सदा अपने शुद्ध आत्माको ही धारण करते रहते हैं ऐसे श्रेष्ठ मुनि उपाध्यायको मैं नमस्कार करता हूँ ॥४॥ जो आरंभ परिग्रह आदि कषायजन्म दोषोंको तथा छल कपटको छोड़कर अपने आत्मामें लीन रहते हैं जो योगियों के स्वामी हैं और श्रेष्ठ व्रतोंको धारण करते हैं ऐसे दिगम्बर समस्त साधुओंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥५॥ जो एकांत मिथ्यात्वके वादसे अभिमानी हो रहे हैं और गाढ मिथ्या बुद्धिके कारण उद्धत हो रहे हैं ऐसे परवादियोंको जो स्याद्वादमुद्रारूपी वज्रसे नाश कर देनेवाली है अर्थात् उनके मिथ्यात्वको दूर कर देनेवाली है ऐसी सरस्वती देवीको मैं भक्तिपूर्वक वंदना करता हूँ ॥६॥ जिन आचार्य शांतिसागरने यथार्थ दिगम्बर नग्न मुद्रा धारण कर तथा अत्यंत घोर तपश्चरण धारण कर उत्कृष्ट ध्यान धारण किया है ऐसे आचार्य शांतिसागर तीनों लोकोंमें सदा जयशील हों ॥७॥ जो जिनधर्म दयामय है, शांतिको करनेवाला है, शांतिरूप है, समस्त जीवोंको संसाररूपी समुद्रसे सदा उद्धार करनेवाला है और कर्मरूपी कलङ्कको हरण करनेवाला है ऐसा यह जैनधर्म सदा जयशील हो ॥८॥ जो अपनी आत्मा स्वानुभूतिके द्वारा विकसित होनेवाली स्वाभाविक चैतन्यरूपी दिव्य शक्तिको पाकर परमात्माका जानकार बन गया है और तीनों लोकोंका स्वामी बन गया है ऐसी आत्मा सदा जयशील हो ॥९॥

॥१०॥ अस्तीह चात्मा ह्युपयोगरूपो ज्ञाता सुद्रष्टा स्वशरीरकल्पः । कर्ता च भोक्ता स्वयमेव शुद्धो मूर्तोऽप्यमूर्तः प्रकृतिस्वरूपः
॥११॥ अनादितः कर्मगणैः प्रबद्धो मिथ्यात्वयोगैश्च करोति बन्धम् । बन्धस्य पाकेन नवीनजन्म गृह्णाति संसारवने
शरीरी ॥१२॥ स बीजवृक्षवत्तत्राप्यशुद्धः कर्मयोगतः । अनादिकालतो भ्राम्यन् देहे देहे नवे नवे ॥१३॥ जन्ममृत्यु-
जराकीर्णे क्षुधातृष्णाकदर्थिते । आधिव्याधिस्वरूपे हि देहे देहे वसत्ययम् ॥१४॥ उपयोगो हि जीवस्य लक्षणं कथितं
जिनैः । द्विधा द्वादशधा प्रोक्तो ज्ञानदर्शनभेदतः ॥१५॥ मतिज्ञानादिकं वात्राशुद्धजीवस्य लक्षणम् । कुमतिकुश्रुतज्ञानं
मिथ्याज्ञानं भ्रमात्मकम् ॥१६॥ शुद्धचैतन्यभावाः स्युः शुद्धदृग्ज्ञानलक्षणाः । शुद्धनिश्चयतो ज्ञेयं शुद्धजीवस्य लक्ष-
णम् ॥१७॥ सर्वकर्ममलातीतं विशुद्धज्ञानदर्शनम् । आत्मभावमयं वात्र विशुद्धजीवलक्षणम् ॥१८॥ आत्मोत्थमिन्द्रि-

---

यही आत्मा कर्मोंके समूहके नाश होजानेपर शुद्ध होजाता है, केवल ज्ञानी होजाता है, निर्मल, विमल, विशुद्ध और निरंजन होजाता है तथा स्वात्ममय और परम उदासीनरूप होजाता है ॥१०॥ यही आत्मा उपयोग-रूप है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, संसार अवस्थामें अपने शरीरके प्रमाणके समान है, कर्ता है, भोक्ता है, अमूर्त होने पर भी शरीर धारण करनेके कारण मूर्त होजाता है तथापि स्वाभावसे स्वयमेव शुद्ध बना रहता है ॥११॥ यह शरीरको धारण करनेवाला संसारी आत्मा अनादि कालसे कर्मोंसे बंध रहा है और मिथ्यात्वके निमित्तसे नवीन नवीन कर्मोंका बंध करता है तथा उन कर्मोंके उदय होनेपर यह संसारी आत्मा संसाररूपी वनमें जन्म-मरण करता रहता है ॥१२॥ अनादि कालसे नवीन नवीन शरीरोंको धारण कर परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मके ही निमित्तसे बीज-वृक्षके समान अशुद्ध होरहा है, तथा जन्म-मरण बुढ़ापा आदिसे भरे हुए भूख प्यास आदि दोषोंसे कदर्थित और अनेक रोगोंसे परिपूर्ण ऐसे शरीरोंमें निवास करता चला आरहा है ॥१३–१४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने इस जीवका लक्षण उपयोगरूप बतलाया है वह उपयोग ज्ञान दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है तथा आठ प्रकारका ज्ञान और चार प्रकारके दर्शनके भेदसे बारह प्रकारका भी है ॥१५॥ उनमेंसे मतिज्ञानादिक अशुद्ध जीवका लक्षण है तथा कुमतिज्ञान कुश्रुतज्ञान भ्रम उत्पन्न करनेवाले मिथ्या-ज्ञान हैं और व्यवहारसे ये भी अशुद्ध जीवके लक्षण हैं ॥१६॥ शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञानरूप शुद्ध चैतन्य परिणाम शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध जीवके लक्षण हैं ॥१७॥ समस्त कर्मोंसे रहित शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञानमय

यातीतं निराबाधं निराकुलम्। कर्मक्षयेण संभूतं सुखं जीवस्य लक्षणम् ॥१९॥ निष्प्रकम्पं निराबाधं निर्विकारं च शाश्वतम्। चिज्ज्योतिश्चास्ति जीवस्य लक्षणं सहजं शुभम् ॥२०॥ द्रव्यप्राणमयैर्यो हि भावप्राणैश्च जीवितः। जीविष्यति स जीवोऽस्ति त्रिकालेऽसौ स जीवति ॥२१॥ मनोवाक्काययोगैश्च आयुः पंचेन्द्रियाणि च। उच्छ्वासाश्च दश प्राणा जीवस्य कथिता जिनैः ॥२२॥ क्षायोपशमिका भावा भावप्राणा मता जिनैः। सन्त्यसाधारणा भावा जीवस्यैवात्र पंच च ॥२३॥ शुद्धक्षायिकभावास्ते सन्ति शुद्धनयेन वा। शुद्धचैतन्यरूपः स शुद्धजीवस्य लक्षणम् ॥२४॥ शुद्धोपयोगतोऽभिन्नो नास्ति भिन्नः स्वद्रव्यतः। परमार्थेन जीवस्य लक्षणं नास्त्यवाच्यतः ॥२५॥ मतिश्रुतावधिज्ञानं मनःपर्ययमेव च। केवलमपरं ज्ञानं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम् ॥२६॥ मिथ्यादर्शनपूर्वत्वान्मतिश्रुतावधि त्रयम्। मिथ्याज्ञानं जिनैः प्रोक्तं ज्ञानमस्तीह

---

आत्माके शुद्ध भाव शुद्ध जीवका लक्षण समझना चाहिये ॥१८॥ जो सुख केवल आत्मासे प्रगट होता है, जो इन्द्रियोंसे रहित है बाधारहित है आकुलतारहित है और कर्मोंके क्षय होनेपर प्रकट होता है ऐसा अनन्त सुख भी शुद्ध जीवका लक्षण है ॥१९॥ जो शुद्ध चैतन्यमय ज्योति निष्प्रकम्प है, निराबाध है, निर्विकार है और सदा रहनेवाली है ऐसी शुद्ध चैतन्यमय ज्योति भी जीवका स्वाभाविक शुद्ध लक्षण है ॥२०॥ जो द्रव्यप्राणोंसे तथा भावप्राणोंसे अब तक जीवित रहा है आगे जीवित रहेगा और अब जीवित रहता है, इस प्रकार तीनों कालोंमें जो जीवित रहता है उसको जीव कहते हैं ॥२१॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने मन वचन काय आयु पांचों इन्द्रियां और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण बतलाये हैं ॥२२॥ भगवान जिनेन्द्र देवने क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले भाव भावप्राण बतलाये हैं तथा जीवके असाधारण भाव पांच प्रकार के बतलाये हैं ॥२३॥ शुद्ध नयसे क्षायिक शुद्ध भाव शुद्ध जीवका लक्षण है अथवा शुद्ध चेतना शुद्ध जीवका लक्षण है ॥२४॥ यह जीव शुद्धोपयोगसे अभिन्न है और न आत्म द्रव्यसे भिन्न है। परमार्थसे देखा जाय तो जीवका स्वरूप अवाच्य है इसलिए उसका कुछ लक्षण हो ही नहीं सकता है ॥२५॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पांच प्रकारके ज्ञान कहे जाते हैं ॥२६॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान यदि ये तीनों ही ज्ञान मिथ्यात्वपूर्वक हों तो भगवान जिनेन्द्रदेव उन ज्ञानोंको मिथ्याज्ञान कहते हैं। इस प्रकार पांच ज्ञान और तीन मिथ्याज्ञान ये आठ ज्ञान कहलाते हैं ॥२७॥ जो ज्ञान सम्यग्दर्शन-

चाष्टधा ॥२७॥ सम्यग्दर्शनपूर्वत्वात्सत्स्वरूपं भवत्यदः। भ्रांत्यादिरहितं तच्च प्रमाणं वस्तुभापकम् ॥२८॥ प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विविधं ज्ञानमिष्यते। ज्ञानं प्रमाणमेवाहुः स्वपराभासकं ननु ॥२९॥ स्पष्टं हि विशदज्ञानं स्वपरनिश्चयात्मकम्। इन्द्रियविषयातीतं प्रत्यक्षमात्मसंगतम् ॥३०॥ घातिकर्मक्षयोद्भूतं सर्ववस्तुप्रकाशकम्। त्रिकालगोचरं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वस्वभावजम् ॥३१॥ निरावरणमेकं हि शुद्धचैतन्यरूपकम्। अनन्तकेवलज्ञानं प्रत्यक्षं सकलं मतम् ॥३२॥ अनन्तानन्तपर्यायं द्रव्यं त्रैकाल्यगोचरम्। स्पष्टं यद्युगपद्वेत्ति यज्ज्ञानं केवलं मतम् ॥३३॥ पर्यायस्यैकदेशं हि स्पष्टं वेत्ति विसंशयम्। देशप्रत्यक्षकं चाहुः ज्ञानं श्रीमज्जिनेश्वराः ॥३४॥ मनःपर्ययकं ज्ञानं द्वेधर्जुविपुलादिभाक्। द्वेधा तदवधिज्ञानं भवप्रत्ययमादिमम् ॥३५॥ क्षायोपशमिकं षोढावधिः स्यात्तपसाथवा। आद्यं नारकदेवानां भवेत्तीर्थकरस्य च ॥३६॥ तद्भव एव चोत्पादकारणं हि मतं जिनैः। अनुगाम्यादिभेदेन षोढा स्यादवधिः पुनः ॥३७॥ मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यं प्रत्यक्षं

---

पूर्वक होते हैं वे संशय विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित होते हैं वस्तुके यथार्थ स्वरूपको कहनेवाले होते हैं और इसीलिये वे प्रमाण मानें जाते हैं ॥२८॥ इन सब ज्ञानोंके प्रत्यक्ष परोक्षके भेदसे दो भेद होते हैं ऐसा स्व और पर पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है ॥२९॥ जो ज्ञान स्पष्ट होता है विशद होता है, स्व और परका निश्चायक होता है, इंद्रियोंके विषयोंसे रहित होता है और केवल आत्मासे उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं ॥३०॥ जो ज्ञान घातिया कर्मोंके क्षय होनेपर उत्पन्न होता है भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालोंके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला होता है और आत्माके स्वभाव भावोंसे उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं ॥३१॥ जो ज्ञान आवरणरहित है एक है शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और अनंत केवलज्ञान रूप है उसको सकलप्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं ॥३२॥ तीनों कालोंके समस्त द्रव्योंको तथा उनकी अनन्तानंत पर्यायोंको जो एक साथ स्पष्ट जानता है उस ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ॥३३॥ जो ज्ञान पर्यायके एक देशको स्पष्ट और संशयरहित जानता है उस ज्ञानको भगवान जिनेन्द्रदेव देशप्रत्यक्ष कहते हैं ॥३४॥ मनःपर्यय ज्ञानके दो भेद हैं एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। इसी प्रकार सम्यग् अवधिज्ञानके भी दो भेद हैं पहला भवप्रत्यक्ष और दूसरा तपश्चरणसे होनेवाला छह प्रकारका क्षायोपशमिक अवधिज्ञान। पहला भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी और तीर्थकरोंके होता है ॥३५-३६॥ देव नारकी और तीर्थकरोंके जन्मसे ही

हि करोति यत् । आत्मनैव स्वयंचात्मा मनोक्षविषयातिगम् ॥३८॥ अथवावधिपूर्वं हि नियतं देवनारके। जिनोक्तमवधिज्ञानं देशप्रत्यक्षकं तथा ॥३६॥ ज्ञानं परोक्षमस्पष्टं सहायसहितं परम् । मनोक्षविषयोद्भूतं मतिश्रुतादिकं तथा ॥४०॥ सांव्यवहारिकं ज्ञानं प्रत्यक्षं तदपि स्फुटम् । तत्त्वतस्तु परोक्षं हि मनोक्षविषयत्वतः ॥४१॥ नानाभेदं परोक्षं हि मतिस्मृत्यादिकं तथा । मतिस्मृतिस्तथा संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधकम् ॥४२॥ मतिज्ञानस्य भेदाः स्युः साधारणा इमे मताः । भेदा अवग्रहेहावायधारणास्तथैव च ॥४३॥ बहुबहुविधाक्षिप्रनिसृतोक्तध्रुवादयः । इतरेण युताः सर्वे भेदा द्वादशधा परे ॥४४॥ इन्द्रियानिन्द्रियाभ्यां तु मतिज्ञानं च जायते । पदार्थभेदतो भेदाः स्युर्मतिज्ञानगोचराः ॥४५॥ व्यंजनार्थस्य चेहादि-

अवधिज्ञान होता है इसीलिये उस अवधिज्ञानको भवप्रत्यय कहते हैं। क्षायोपशमिक अवधिज्ञानके "अनुगामी अननुगामी दीपमान वर्द्धमान अवस्थित अनवस्थित" ऐसे छह भेद हैं ॥३७॥ जो आत्मा इंद्रिय और मनकी सहायताके विना केवल आत्माके द्वारा मूर्त पुद्गल द्रव्यको प्रत्यक्ष जानता है उसको अवधिज्ञान कहते हैं। अथवा देव नारकियोंके जो मर्यादापूर्वक नियत ज्ञान है उसको भगवान जिन्द्रदेवने अवधिज्ञान कहा है यह अवधिज्ञान भी देशप्रत्यक्ष है ॥३८-३९॥ मतिज्ञान श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष ज्ञान हैं ये दोनों ज्ञान पदार्थोंको प्रत्यक्ष वा स्पष्ट नहीं जानते, इन्द्रिय वा मनसे उत्पन्न होते हैं तथा इंद्रिय मनके सिवाय अन्य सहायताकी भी अपेक्षा रखते हैं ॥४०॥ ये दोनों ज्ञान सांव्यवहारिककी अपेक्षासे प्रत्यक्ष भी कहलाते हैं परंतु वास्तवमें देखा जाय तो इंद्रिय और मनके विषयोंसे उत्पन्न होते हैं इसलिये परोक्ष ही कहलाते हैं ॥४१॥ मति स्मृति संज्ञा चिंता अभिनिबोध आदिके भेदसे परोक्ष ज्ञानके अनेक भेद होते हैं ॥४२॥ इनके सिवाय मतिज्ञानके साधारण भेद और भी हैं यथा अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार भेद होते हैं। ये चारों ही ज्ञान बहु बहुविध क्षिप्र अनिःसृत अनुक्त ध्रुव और इनसे विपरीत एक एकविध अक्षिप्र निःसृत उक्त अध्रुव इन बारह प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करते हैं इसलिये अड़तालीस भेद होजाते हैं । मतिज्ञानके ये सब भेद पांचों इंद्रियोंसे तथा मनसे उत्पन्न होते हैं इसलिये दो सौ अठासी भेद होजाते हैं ये सब पदार्थोंके भेदसे अर्थावग्रहके भेद कहलाते हैं ॥४३-४५॥ व्यंजनावग्रह अव्यक्तरूप होता है इसलिये उसके न तो ईहादिक भेद ही होते हैं और न वह चक्षु तथा मनसे उत्पन्न होता है। इसलिये वह चारो इंद्रियोंसे बहु बहुविध आदि बारह

ज्ञानं नाव्यक्तरूपतः । चक्षुरनिन्द्रियाभ्यां चेहादिज्ञानं न जायते ॥४६॥ एकमवग्रहज्ञानं तस्य वह्वादिकं तथा । षट्त्रिंशत्रिशतं भेदा मतिज्ञानस्य गोचराः ॥४७॥ अन्येपि बहवो भेदाश्चार्थभेदाद्भवन्ति च । ते तु चागमतो ज्ञेया श्रद्धया तत्त्ववेदिभिः ॥४८॥ कुमति कुश्रुतज्ञानं जायते हि कुदृष्टिनाम् । सुमति सुश्रुतज्ञानं जायते हि सुदृष्टिनाम् ॥४९॥ विभंगज्ञानमप्यस्ति पुण्यतो हि कुदृष्टिनाम् । सम्यगवधिविज्ञानं तपसा हि सुदृष्टिनाम् ॥५०॥ उपयोगमयोप्यैवं जीवः सिद्धः स्वरूपतः । जीवोऽनन्तगुणाधारः सिद्धांते कथितो जिनैः ॥५१॥ अनादिकालतो मूर्तः कर्मनोकर्मभिर्वृतः । स यावत्कर्म संयोगस्तावन्मूर्त इतीष्यते ॥५२॥ कर्मबन्धनसंयोगात्सशरीरी यतो जिनैः । ततो मूर्तो हि संसारे व्यवहारनयादसौ ॥५३॥ बंधो यतो हि मूर्तस्य नामूर्तस्य भवेत्कचित् । बंधाभावे कथं मूर्तः कर्मनोकर्मवान् कथम् ॥५४॥ स्पर्शा अष्टौ रसाः पंच द्वौ गंधौ

प्रकारके पदार्थोंको ग्रहण करनेके कारण अड़तालीस भेदरूप होता है । इसप्रकार मतिज्ञानके सब मिलाकर तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥४६-४७॥ पदार्थोंके भेदसे इस मतिज्ञानके और भी अनेक भेद हो जाते हैं वे सब तत्त्वोंके जाननेवालोंको श्रद्धापूर्वक आगमसे जान लेना चाहिये ॥४८॥ कुमतिज्ञान और कुश्रुतज्ञान मिथ्यादृष्टियों के होते हैं तथा सम्यक् मतिज्ञान और सम्यक् श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टियोंके होते हैं ॥४९॥ किसी पुण्यके उदयसे मिथ्यादृष्टियोंको मिथ्या अवधिज्ञान भी हो जाता है । तथा सम्यक् अवधिज्ञान तपश्चरणके द्वारा सम्यग्दृष्टियोंको ही होता है ॥५०॥ इस प्रकार यह जीव स्वरूपसे उपयोगरूप सिद्ध है तथा भगवान जिनेन्द्रदेवने सिद्धांत शास्त्रोंमें इस जीवको अनंत गुणोंका आधार बतलाया है ॥५१॥ यह जीव अनादिकालसे कर्म नोकर्मोंसे मिला हुआ है इसलिये मूर्त भी कहलाता है परंतु जब तक कर्मोंका संबंध रहता है तभी तक व्यवहार दृष्टिसे मूर्त कहलाता है ॥५२॥ कर्मबन्धके निमित्तसे यही जीव सशरीरी कहलाता है और इसीलिये व्यवहारनयसे संसार अवस्थामें यह जीव मूर्त कहलाता है ॥५३॥ इसका भी कारण यह है कि बंध मूर्तका ही होता है अमूर्त पदार्थका कभी बंध नहीं हो सकता । तथा बंधके अभावमें वह मूर्त भी कैसे हो सकता है और कर्मनोकर्मवान् भी कैसे हो सकता है ॥५४॥ निश्चय नयसे देखा जाय तो इस जीवमें न तो आठ स्पर्श हैं न पांच रस हैं न पांच वर्ण हैं और न दोनों गंध हैं। इसीलिये भगवान जिनेन्द्रदेवने इस जीवको अमूर्त बतलाया है ॥५५॥ वास्तवमें देखा जाय तो एक पुद्गल तत्त्व ही मूर्त है क्योंकि स्पर्श रस वर्ण और गंध

पंच वर्णकाः। न सन्ति निश्चयाज्जीवे ततोऽमूर्तो जिनैर्मतः ॥५५॥ तत्त्वतः पुद्गलो मूर्तः स्पर्शादिसहितो यतः। तत्साहचर्यतो जीवो मूर्तिमान् कथितो जिनैः ॥५६॥ कर्मनोकर्मणां कर्ता व्यवहारनयेन सः। अशुद्धव्यवहारेण घटादीनामपीष्यते ॥५७॥ रागादीनां तथा कर्ता वाशुद्धनयतो यतः। स शुद्धनिश्चयाज्जीवः शुद्धदृग्ज्ञानकर्तृकः ॥५८॥ कर्ता स्रष्टा न जीवोऽस्ति शुद्धद्रव्यनयेन सः। रागभावो हि यत्रास्ति कर्तृत्वमुपयुज्यते ॥५९॥ व्यवहारेण तत्रैव रागाभावान्न कर्तृकः। रागादिकमतो मुक्तो वीतरागी निरंजनः॥६०॥ अमूर्तः परमात्मा हि सृष्टेः स्रष्टा कथं भवेत्। ईश्वरः कृतकृत्योऽस्ति मोहमायादिदूरगः॥६१॥ मोहाभावात्कथं कर्ता भवतीतो यतो हि सः। तस्मादनादितो जीवो बद्धकर्मफलेन सः ॥६२॥ नानायोनौ हि सृष्टेस्तु स्वयं सृजति नश्यति। द्रव्यस्य सर्वथा नाशो नास्ति कचित्कदापि वा ॥६३॥ किन्तु पर्यायरूपेण व्ययोत्पादो भवेत्सदा। कर्मोदयात्स संसारे नानायोनौ भ्रमन् सदा ॥६४॥ सृजति व्येति पर्यायान स्वयं कर्ता यतो मतः। यो हि कर्ता स एवात्र

---

उसीके गुण हैं। उसीके संबंधसे इस जीवको भी भगवान जिनेन्द्रदेवने मूर्त कह दिया है ॥५६॥ व्यवहार नयसे यह जीव कर्म नोकर्मोंका कर्ता है और अशुद्ध व्यवहारसे घटादिकका भी कर्ता है ॥५७॥ यही जीव अशुद्ध नयसे रागद्वेषादिकका कर्ता है और शुद्ध निश्चय नयसे शुद्ध दर्शन और शुद्ध ज्ञानका कर्ता है ॥५८॥ शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे न तो यह जीव कर्ता है और न स्रष्टा है क्योंकि जहां रागभाव होता है वहींपर व्यवहारनयसे कर्तृत्वका उपयोग हो सकता है जहांपर रागका अभाव है वहांपर कर्तृत्वका अभाव भी अवश्य मानना पड़ता है। जो जीव रागादिक कर्मसे रहित है वह वीतरागी है, निरंजन है, अमूर्त है, और परमात्मा है। ऐसा जीव इस सृष्टिका स्रष्टा कैसे हो सकता है। जो ईश्वर होता है वह कृतकृत्य होता है और मोह-मायासे रहित होता है। तथा जो जीव मोहसे रहित होता है वह कर्ता कभी नहीं हो सकता क्योंकि वह संसारसे रहित होता है। इसलिये अनादि कालसे यह जीव बंधे हुए कर्मोंके फलसे अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ इस सृष्टिका स्रष्टा कहलाता है और स्वयं नाशको प्राप्त होता है। यह भी निश्चित है कि कभी किसी कालमें भी द्रव्यका नाश नहीं होता। केवल पर्यायरूपसे ही उत्पन्न और नाश होता रहता है। कर्मके उदयसे यह जीव संसारकी अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ पर्यायोंको स्वयं उत्पन्न करता रहता है और नष्ट करता रहता है इसीलिये यह जीव कर्ता कहलाता है। तथा जो कर्ता होता है वही सुनिश्चित प्रमाणसे भोक्ता होता है ॥५९-६५॥ इसलिये कहना चाहिये कि किये हुए

मोक्ता जीवः प्रमाणतः ॥६५॥ सुखदुःखादिकार्याणां कृतकर्मफलात्मनाम् । भोक्ता जीवोस्ति संसारे व्यवहारनयेन सः ॥६६॥ कर्मनोकर्मणां भोक्ता रागादीनां तथैव च । भोक्ता जीवोस्ति वाशुद्धद्रव्यार्थिकनयेन सः ॥६७॥ कर्मणां सर्वथा भावे भोक्ता जीवः कदापि न । शुद्धद्रव्यार्थिकेनात्मा कर्ता भोक्ता न संभवः ॥६८॥ किन्तु स स्वस्वरूपेण स्वात्मन्येव प्रतिष्ठितः । कृतकर्मफलेनात्र प्राप्तदेहप्रमाणकः ॥६९॥ समुद्घातं विहायासौ व्यवहारनयेन सः । समुद्घाते तु जीवोस्ति व्यापको लोकगः खलु ॥७०॥ असंख्यातप्रदेशात्मा जीवोस्तीह स्वभावतः । ससंहारविसर्पाभ्यां स्वभावाभ्यां प्रदीपवत् ॥७१॥ स्थूलसूक्ष्मो भवेज्जीवो व्यवहारनयेन सः । कर्मणां सर्वथाभावे स्वस्वरूपे प्रतिष्ठितः ॥७२॥ न स्थूलो नापि सूक्ष्मो हि न विभुर्न भ्रमात्मकः । चरमदेहतः किंचिन्न्यूनः शुद्धनयेन सः ॥७३॥ कृत्स्नकर्मक्षयाज्जीवो रूपातीतो निरंजनः । अमूर्तः शुद्धचैतन्यः स्वस्वरूपमयोथवा ॥७४॥ कृत्स्नकर्मक्षयाज्जीवः स्वस्वरूपोपलब्धितः । ऊर्ध्वं व्रजति लोकान्तं धर्मद्रव्य-

---

कर्मोंके फल-स्वरूप सुख दुःख आदि कार्योंका भोक्ता यही जीव इस संसारमें व्यवहार दृष्टिसे माना जाता है ॥६६॥ यह जीव कर्म नोकर्मके फलोंका भोक्ता है और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे रागादिक भावोंका भोक्ता है ॥६७॥ जब कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तब यह जीव उनका भोक्ता भी नहीं रहता । इसलिये कहना चाहिये कि यह जीव शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे न कर्ता है और न भोक्ता है । किन्तु उस समय अपने स्वरूपसे अपने ही आत्मामें निश्चल रहता है । इसके सिवाय यह जीव जो कर्म करता है उसके फलसे व्यवहार नयसे समुद्घातको छोड़कर प्राप्त हुए शरीरका प्रमाण रहता है। तथा केवलि समुद्घात अवस्थामें लोकाकाशमें सब जगह व्यापक हो जाता है ॥६८–७०॥ यद्यपि जीव स्वभावसे ही असंख्यात प्रदेशी है तथापि दीपकके प्रकाशके समान संकोच विस्तार स्वभाव होनेसे व्यवहारनयसे शरीरके प्रमाणके समान स्थूल सूक्ष्म हो जाता है । जब कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है तब वह अपने स्वरूपमें निश्चल हो जाता है ॥७१–७२॥ कर्मोंके अभावमें शुद्ध निश्चय नयसे यह जीव न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न व्यापक है और न भ्रमण करनेवाला है, किंतु अंतिम शरीरसे कुछ कम आकाररूप विराजमान रहता है ॥७३॥ समस्त कर्मोंके क्षय होनेसे यह जीव रूपरहित निरंजन, अमूर्त शुद्ध चैतन्यस्वरूप और स्वस्वभावमय रहता है ॥७४॥ समस्त कर्मोंके नाश हो जानेसे इस जीवको अपने स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । और इसलिये यह जीव धर्मद्रव्यके निमित्तसे

वशादसौ ॥७५॥ धर्मोस्ति कायकाभावान्न गमनं ततो भवेत् । अनन्तसुखसम्पन्नो नित्यं तत्रैव तिष्ठति ॥७६॥ सर्वकर्मप्रहाणाच्च कारणाभावतस्तथा । पुनर्जन्म न गृह्णाति कदापि दग्धबीजवत् ॥७७॥ कल्पकालशतेनापि नात्ययस्तत्सुखस्य च । न विकारो न लेपः स्यात्कर्मणां कापि सर्वदा ॥७८॥ द्रव्यस्वरूपतः शुद्धो जन्ममृत्युविदूरगः । अचलः सर्वथा नित्यो विगतिः स्यादतीन्द्रियः ॥७९॥ कूटस्थोपि व्ययोत्पादं स्वतः स्वस्मिन् करोति च । जलकल्लोलवत्तत्र स्वस्वरूपे हि संततम् ॥८०॥ लोकालोकविलोकज्ञः सर्वद्वन्द्वमलापहः । निराबाधो निरौपम्यः शान्तः शुद्धश्च निष्कलः ॥८१॥ शुद्धदर्शनसम्पन्नः शुद्धज्ञानविराजितः । शुद्धसम्यक्त्वसंयुक्तः अव्याबाधसमन्वितः ॥८२॥ अनन्तवीर्यसूक्ष्मत्वावगाहनगुणान्वितः । एतादृशो हि सिद्धात्मा सिद्धालये च तिष्ठति ॥८३॥ शुद्धाशुद्धप्रभेदेन द्विधा जीवा हि वर्णिताः । शुद्धा मुक्ता भवातीताः कर्मकलंकदूरगाः ॥८४॥ कर्मबद्धा अशुद्धास्ते संसारिणो जिनैर्मताः । संसारिणो द्विधा ज्ञेया

---

लोकके अन्ततक ऊर्ध्वगमन करता है ॥७५॥ लोकाकाशके आगे धर्मद्रव्यका अभाव है इसलिये लोकाकाशसे आगे यह जीव गमन नहीं कर सकता। तथा अनंत सुखसहित सदा काल वहीं विराजमान रहता है ॥७६॥ जिस प्रकार जले हुए बीजसे वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार समस्त कर्मोंके नाश होनेपर और इसी कारणके अभाव होनेसे फिर यह जीव कभी भी दूसरा जन्म ग्रहण नहीं करता ॥७७॥ सैकड़ों कल्प काल बीत जानेपर भी फिर उस सुखका कभी नाश नहीं होता, न उस आत्मामें कोई रागादिक विकार होता है और न कर्मोंका कभी संबंध होता है ॥७८॥ उस समय वह जीव स्वाभावसे ही शुद्ध, जन्म-मरणसे रहित, निश्चल, सर्वथा नित्य, चारों गतियोंसे रहित और अतीन्द्रिय होजाता है ॥७९॥ यद्यपि उस समय वह कूटस्थ रहता है तथापि जलकी लहरोंके समान अपने ही आत्मामें अपने ही स्वरूपमें अपने आप उत्पाद व्यय अवस्थाको धारण करता रहता है ॥८०॥ उस समय यह जीव लोक आलोकको जानेवाला, समस्त उपद्रव और मलोंसे रहित, बाधाओंसे रहित, उपमाओंसे रहित, शांत, शुद्ध, शरीररहित होजाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शन शुद्ध ज्ञान और शुद्ध दर्शनसे सुशोभित होजाता है—अव्याबाध अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व और आवगाहन गुणविशिष्ट होजाता है। इस प्रकारका वह सिद्धात्मा सदा सिद्धालयमें ही विराजमान रहता है ॥८१–८३॥ जीवोंके दो भेद हैं शुद्ध और अशुद्ध, जो जीव मुक्त हैं, संसारसे रहित हैं, और कर्ममलसे रहित हैं ऐसे सिद्ध

सूक्ष्मस्थावरभेदतः ॥८५॥ स्थावरा द्विविधाः प्रोक्ताः सूक्ष्मवादरभेदतः। तेपि पंचविधा ज्ञेयाः पृथिवीकायिकादयः ॥८६॥ एकेन्द्रिया हि ते सर्वे स्थावरकर्मपाकतः । द्वयक्षादयो हि पंचाक्षान्तास्त्रसाः कर्मविपाकतः ॥८७॥ संज्ञ्यसंज्ञिप्रभेदेन पंचाक्षा द्विविधा मताः । अपर्याप्ताश्च पर्याप्ताः स्थावराश्च त्रसास्तथा ॥८८॥ एवं संसारिणो जीवा सर्वे तेऽनेकधा मताः। तेषां भेदाः प्रभेदाश्च ज्ञेया आगमतो बुधैः ॥८६॥ अनादिकालतो वद्धाः पुद्गलकर्मणा सह । कनकोपलवत्सर्वे शुध्यन्ति ध्यानवह्निना ॥६०॥ कर्मणैव प्रकुर्वन्ति जन्म मृत्युं पुनः पुनः । नानायौनौ प्रगच्छन्ति देहं धृत्वा नवं नवम् ॥६१॥ यत्र हि कर्मयोगेन नानायोनावनन्तशः । जीवा भ्राम्यन्ति संसारो जन्ममृत्युप्रदायकः ॥६२॥ संसारः पंचधा ज्ञेयो द्रव्यक्षेत्रादिभेदतः। मिथ्यात्वमोहभावेन जीवः संसरति स्वयम् ॥६३॥ न कोपि कस्य दुःखं वा सुखं वात्र ददाति सः।

---

जीव शुद्ध कहलाते हैं तथा कर्मसहित संसारी जीव अशुद्ध कहलाते हैं। इन संसारी जीवोंके त्रस स्थावरके भेदसे दो भेद हैं ॥८४–८५॥ उनमें ये स्थूल सूक्ष्मके भेदसे स्थावरोंके भी दो भेद हैं तथा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिकके भेदसे प्रत्येक स्थावरके पांच पांच भेद हैं ॥८६॥ ये सब जीव एकेन्द्रिय होते हैं और स्थावरनामा नामकर्मके उदयसे स्थावर कहलाते हैं । तथा त्रसनामा नामकर्मके उदयसे होनेवाले दो इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव त्रस कहलाते हैं ॥८७॥ इनमें भी सेनी असेनीके भेदसे पंचेन्द्रियके भी दो भेद हैं तथा त्रस और स्थावर सभी जीव पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे दो प्रकारके कहलाते हैं ॥८८॥ इस प्रकार संसारी जीवोंके अनेक भेद हैं बुद्धिमानोंको उन सबका भेद प्रभेद आगमसे जान लेना चाहिये ॥८९॥ ये सब संसारी जीव पुद्गल कर्मोंके साथ अनादिकालसे बंध रहे हैं। जिस प्रकार सुवर्ण पाषाणमें सोना अनादि कालसे मिल रहा है उसी प्रकार जीव कर्मोंसे मिल रहे हैं और फिर वे ध्यानरूपी वह्निसे ही शुद्ध होते हैं ॥९०॥ ये जीव कर्मके ही निमित्तसे बार बार जन्म-मरण धारण करते हैं और नवीन नवीन शरीर धारण कर अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥९१॥ जहांपर कर्मके निमित्तसे ये जीव अनेक योनियोंमें अनंत बार परिभ्रमण करते रहते हैं उसीको संसार कहते हैं। यही संसार समस्त जीवोंको जन्ममरण उत्पन्न करानेवाला है ॥९२॥ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावके भेदसे यह संसार पांच प्रकार है। इसी संसारमें मिथ्यात्व और मोहरूप परिमाणोंसे यह जीव स्वयं परिभ्रमण किया करता है ॥९३॥

स्वकृतकर्मणा किन्तु सुखं दुःखं समश्नुते ॥९४॥ अत्यंतदुःखदे भीमे जन्ममृत्युसमाकुले । घोरापदां हि संस्थाने संसारेऽत्र च कः सुखी ॥९५॥ देवानां पतनं यत्र विपत्तिः चक्रवर्तिनाम् । अन्येषां का कथा तत्र विपुण्यानां मलीमसाम् ॥९६॥ संसारे यदि वा किंचित्सुखलेशं निराकुलम् । अस्ति चेत्तर्हि तीर्थेशाः पूज्या मुञ्चन्ति तं कथम् ॥९७॥ अन्तं नास्तीह दुःखस्य संसारे भयदेऽशुभे । मोहात्सुखं विजानाति दुःखदे परवस्तुनि ॥९८॥ तस्मान्मोहं परित्यज्य दीक्षां धृत्वा निरम्बराम् । सद्ध्यानं कुरु हे धीमन् संसारो येन नश्यति ॥९९॥ कुरु कुरु कुरु शुद्धं ध्यानमात्मस्वरूपं हन हन हन शीघ्रं कर्मजालं प्रगाढ़म् । भज भज हि सुधर्मं श्रीजिनेन्द्रैः प्रणीतं नय नय शिवमार्गं मोक्षसौख्यं त्वयात्मन् ॥१००॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारे जीवतत्त्ववर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः ॥१॥

---

इस संसारमें कोई ऐसा जीव नहीं है जो किसीको सुख वा दुःख दे सके । यह जीव अपने किये हुए कर्मोंके निमित्तसे स्वयं सुख वा दुःखोंको प्राप्त होता रहता है ॥९४॥ यह संसार अत्यन्त दुःख देनेवाला है, अत्यंत भयानक है, जन्ममरणसे भरा हुआ है और अनेक आपत्तियोंका स्थान है ऐसे इस संसारमें भला कौन सुखी हो सकता है ? ॥९५॥ जहांपर देवोंका भी पतन होता है और चक्रवर्तियोंको भी आपत्तियां आ जाती हैं वहांपर भला पुण्यरहित मलिन आत्माओंकी क्या कथा कहनी चाहिये ? ॥९६॥ यदि इस संसारमें निराकुलरूप सुखकी एक मात्रा भी होती तो फिर पूज्य तीर्थंङ्कर ही इसका त्याग क्यों करते ? ॥९७॥ अत्यन्त अशुभ और भय उत्पन्न करनेवाले इस संसारमें दुःखका कहीं अन्त नहीं है । यह जीव मोहनीय कर्मके उदयसे दुःख देनेवाले परपदार्थोंमें सुख मान लेता है ॥९८॥ इसलिये हे बुद्धिमन् ! तू मोहको छोड़कर और जैनेश्वरी दीक्षा धारणकर श्रेष्ठ ध्यान कर, जिससे कि यह जन्ममरणरूप संसार नष्ट हो जाय ॥९९॥ हे आत्मन् ! तू आत्मास्वरूप शुद्ध ध्यानको सदा कर, सदा कर, सदा कर और अत्यन्त गाढ़ कर्मोंके जालको शीघ्र ही नाश कर, नाश कर, नाश कर । तथा भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सुधर्मको वा श्रेष्ठ धर्मको सेवन कर, सेवन कर और मोक्षके मार्गको तथा मोक्षके सुखको प्राप्त कर, प्राप्त कर ॥१००॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें जीवतत्त्वको
वर्णन करनेवाला यह प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ।

---

# द्वितीयोधिकारः ।



ध्यायन्ति योगिनो यं हि नमन्ति नृसुरासुराः । पूजयन्ति गणाधीशाः श्रीवृषभं नमाम्यहम् ॥१॥ एवं मूलोपि चात्मा स शुद्धकेवलबोधभाक् । अनादिकर्मबद्धत्वाद्देहे देहेऽवतिष्ठति ॥२॥ देहस्थो देहरूपोऽसावशुद्धो मूर्तिमान्ननु । अदृश्योस्ति तथाप्येषः अतीन्द्रियः स्वबोधभाक् ॥३॥ देहतः सर्वथा भिन्नमभिन्नं चित्स्वरूपतः । रत्नत्रयाच्च भिन्नं न स्वात्मानं विद्धि तत्त्वतः ॥४॥ काष्ठादौ हि यथा वह्निः पयसि वा यथा घृतम् । ताम्रादौ वा जले विद्युत्तिष्ठति चावरोधतः ॥५॥ अयमात्मा तथा देहे तिष्ठति कर्मयोगतः । तथापि स्वस्वभावं न जहाति स कदापि वा ॥६॥ अव्यक्ता हि गुणास्तस्य मोहादिकर्मयोगतः । वैभाविकगुणा व्यक्ताः कर्मणां गहना गतिः ॥७॥ द्रव्यतः शुद्धचिद्रूपः लोकालोकप्रकाशकः । सर्वशक्ति-

---

योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं, सुर असुर और मनुष्य सब जिनको नमस्कार करते हैं और गणधरदेव जिनकी पूजा करते हैं ऐसे भगवान वृषभदेवको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ऊपर लिखे अनुसार यह आत्मा यद्यपि शुद्ध केवल ज्ञान से सुशोभित है तथापि अनादिकालसे कर्मबद्ध होनेके कारण यह आत्मा अनेक शरीरोंमें निवास कर रहा है ॥२॥ यद्यपि यह संसारी आत्मा शरीरमें रहता है, शरीररूप है, अशुद्ध है, मूर्तिमान् हैं, तथापि वह अदृश्य है, अतींद्रिय है और आत्मज्ञानको धारण करनेवाला है ॥३॥ वह आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है और चैतन्यस्वरूपसे अभिन्न है तथा रत्नत्रयसे भी वह भिन्न नहीं है ऐसे आत्माको अपनी आत्मा समझो ॥४॥ जिस प्रकार लकड़ीमें अग्नि रहती है, दूधमें घी रहता है और रोकनेपर तांबे वा जलमें बिजली रहती है उसी प्रकार कर्मके निमित्तसे यह आत्मा यद्यपि शरीरमें रहता है तथापि वह अपने स्वभावको कभी नहीं छोड़ता है ॥५–६॥ मोहनीय आदि कर्मके निमित्तसे उसके ज्ञानादिक गुण सब अव्यक्त हो जाते हैं

धरः स्वस्मिन् स्वस्वभावमयोस्ति सः ॥८॥ यो ज्ञातुं शक्यते नैव बाह्येन्द्रियादिभिः सदा । स्वानुभूत्या च यो गम्यः परमात्मा स एव च ॥९॥ अज्ञानिनो हि तं ज्ञातुं शक्नुवन्ति कदापि न । सुदृष्टिभिः सदा गम्यः चिदानन्दमयो हि सः ॥१०॥ योगिनां ध्यानगम्यः स सुदृशां ज्ञानचक्षुषाम् । स्वदेहे एव संलीनोप्यमूर्तो हि स्वद्रव्यतः ॥११॥ यद्यपि योगिगम्योस्ति ध्यानगम्योस्ति वा ननु । स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्तथापि भवति स्वयम् ॥१२॥ निर्विकल्पं निराबाधं चिन्मूर्तं सुखसागरम् । स्वात्मानं हि सुभावेन पश्यन्तु स्वानुभूतितः ॥१३॥ ज्ञातेस्मिन्निखिलं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं जगत्त्रयम् । तं दृग्ज्ञानमयं शुद्धं पश्यन्तु शुद्धभावतः ॥१४॥ आराधनामयं योगी चैकान्ते निर्जने वने । मनोवाक्कायं संरुध्य मौनी चिंतयति स्फुटम् ॥१५॥ यद्ध्यानवज्रघातेन हत्वा कर्मकदंबकान् । स्वात्मीयां सिद्धिमात्मैव लभते नात्र संशयः ॥१६॥ एतादृशं हि चात्मानं स्वसंवेदनगो-

---

और वैभाविक गुण प्रगट हो जाते हैं सो ठीक ही है कर्मोंकी गति भी बड़ी ही गहन होती है ॥७॥ द्रव्यार्थिक नयसे यह आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, अनंतशक्तिको धारण करनेवाला है और अपने स्वभावमें लीन रहनेवाला है ॥८॥ जो बाह्य इन्द्रियोंसे कभी नहीं जाना जा सकता और जो स्वानुभूतिसे ही जाना जाता है वही आत्मा परमात्मा कहलाता है ॥९॥ अज्ञानी पुरुष उस परमात्माको जाननेमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकते । वह चिदानन्दमय आत्मा सम्यग्दृष्टियोंके द्वारा ही जाना जा सकता है ॥१०॥ यद्यपि यह जीव अपने शरीरमें रहता है तथापि द्रव्यार्थिक नयसे अमूर्त है और ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि योगियोंके ध्यानके द्वारा जाना जा सकता है ॥११॥ यद्यपि यह आत्मा योगियोंके द्वारा जाना जाता है तथापि वह स्वयं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होता है अर्थात् अपने आत्मज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है ॥१२॥ यह आत्मा विकल्परहित है, निराबाध है, चैतन्यस्वरूप है और सुखका समुद्र है ऐसे अपने आत्माको श्रेष्ठ भावोंसे स्वानुभूतिके द्वारा देखना चाहिये ॥१३॥ इस आत्माके जान लेनेपर समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, और इसको देख लेनेपर तीनों लोक दिखाई पड़ जाते हैं । ऐसे दर्शन और ज्ञानमय शुद्ध आत्माको शुद्ध भावोंसे ही देखना चाहिये ॥१४॥ ऐसे आराधनास्वरूप शुद्ध आत्माको मौन धारण करनेवाले योगी किसी एकांत निर्जन वनमें मन, वचन और कायको रोककर चिंतवन करते हैं ॥१५॥ यही आत्मा ध्यानरूपी वज्रके घातसे समस्त कर्मोंका नाशकर अपने आत्माकी सिद्धिको

चरम् । जानाति सुखसिद्ध्यर्थं परमात्मानमश्नुते ॥१७॥ तस्माद्धि सर्वसंकल्पं त्यक्त्वा श्रद्धान्वितो जनाः । स्वानुभूत्या प्रपश्यन्तु स्वात्मानं शुद्धरूपकम् ॥१८॥ अमूर्ते परमाह्लादे विशुद्धे परमात्मके । प्रतीतिरात्मनि सात्र स्वानुभूतिर्मता जिनैः ॥१९॥ आत्मीयपरमाल्हादसुखस्य विमलस्य या । प्रतीतिः सात्र विज्ञेया स्वानुभूतिः शुभावहा ॥२०॥ विशुद्धानां हि सिद्धानां विशुद्धज्ञानशालिनाम् । अनंतसुखरूपस्य प्रतीतिः स्वेऽनुभूतिका ॥२१॥ अमूर्ते चेतनारूपे विशुद्धे त्यंतनिर्मले । स्वात्मद्रव्ये प्रतीतिर्या स्वानुभूतिर्मता बुधैः ॥२२॥ शुद्धोपयोगभावेषु शुद्धज्ञानमयेषु च । प्रतीतिः सात्र विज्ञेया स्वानुभूतिः सुखप्रदा ॥२३॥ स्वानुभूत्या हि स्वात्मानं वेत्त्यात्मा विमलं शुभम् । सर्वद्वन्द्वातिगं शुद्धं शुद्धचैतन्यलक्षणम् ॥२४॥ सम्यक्त्वशालिजीवानां स्वानुभूतिर्भवेदिह । स्वात्मबोधो हि तेषां तु नान्येषां च कुदृष्टिनाम् ॥२५॥ सम्यग्ज्ञानस्य पर्यायः स्वानुभूतिर्जिनागमे । कथिता जिननाथेन सर्वज्ञेन महात्मना ॥२६॥ सम्यक्त्वपूर्वकं ज्ञानं सम्यग्ज्ञान-

---

प्राप्त हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१६॥ स्वसंवेदनगोचर ऐसे आत्माको जो सुखप्राप्तिके लिये जान लेता है वही आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥१७॥ इसलिये श्रद्धालु मनुष्योंको समस्त संकल्पोंको छोड़कर अपनी स्वानुभूतिके द्वारा शुद्धस्वरूप अपने आत्माको देखना चाहिये ॥१८॥ अमूर्त, परमाल्हादरूप विशुद्ध और परमात्मस्वरूप अपने आत्मामें श्रद्धा रखनेको भगवान् जिनेन्द्रदेव स्वानुभूति कहते हैं ॥१९॥ अपने आत्मासे उत्पन्न हुए परमाल्हादरूप निर्मल सुखके विश्वास करनेको शुभ स्वानुभूति समझना चाहिये ॥२०॥ अत्यन्त विशुद्ध ज्ञानको धारण करनेवाले विशुद्ध सिद्धोंके अनन्त सुखका अपने आत्मामें विश्वास करना स्वानुभूति कहलाती है ॥२१॥ अमूर्त चैतन्यस्वरूप विशुद्ध और अत्यन्त निर्मल ऐसे अपने आत्मद्रव्यमें श्रद्धा न करनेको बुद्धिमान् लोग स्वानुभूति कहते हैं ॥२२॥ अत्यन्त शुद्ध ज्ञानमय शुद्धोपयोगरूप अपने आत्माके परिणामोंमें श्रद्धा न करनेको सुख देनेवाली स्वानुभूति कहते हैं ॥२३॥ यह आत्मा इसी स्वानुभूतिसे अत्यन्त निर्मल, शुभ, समस्त उपद्रवोंसे रहित शुद्ध और शुद्ध चैतन्यस्वरूप अपने आत्माको जान लेता है ॥२४॥ यह ऐसी स्वानुभूति सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको ही होती है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि पुरुषोंको ही अपने आत्माका ज्ञान होता है अन्य मिथ्यादृष्टियोंको यह आत्मज्ञान कभी नहीं होता ॥२५॥ सर्वज्ञ और महापुरुष भगवान जिनेन्द्रदेवने अपने सिद्धांतमें स्वानुभूतिको सम्यग्ज्ञानका पर्याय ही बतलाया है ॥२६॥

मितीष्यते। सम्यक्त्वस्य च माहात्म्यात्स्वानुभूतिः प्रजायते ॥२७॥ सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके यतः श्रेयोभिसाधकम्। तद्विना न क्वचित्सिद्धिः सुखलेशः कदापि न ॥२८॥ अक्षातीतं निराबाधं स्वातन्त्र्यं दुःखदूरगम्। सुखमात्यंतिकं श्रेष्ठं सम्यक्त्वेन प्रजायते ॥२९॥ सर्वासामर्थसिद्धीनामिन्द्रचक्र्यादिसम्पदाम्। आर्हन्त्यसम्पदां सिद्धिः सम्यक्त्वेन प्रजायते ॥३०॥ त्रिकाले त्रिजगति श्रेयो विद्यते देवदुर्लभम्। तदपि प्राप्यते शीघ्रं सम्यक्त्वेन महात्मभिः ॥३१॥ कल्याणं मंगलं भद्रं सर्वं च परमं पदम्। सम्यक्त्वेन हि सिध्यन्ति चानेकसुखसाधकम् ॥३२॥ तदेव पुरुषार्थस्तु परमार्थप्रसाधकः। आत्मैव पुरुषश्चोक्तः सम्यक्त्वेन स सिद्ध्यति ॥३३॥ येन विनात्र संसारे चिरं भ्राम्यन्ति जन्तवः। जन्ममृत्युजराकीर्णेऽनेकदुःखप्रदायके ॥३४॥ ज्ञानं येन विनाऽज्ञानं विपरीतं ससंशयम्। मिथ्याज्ञानं भवेद्धात्र दिग्मूढस्येव भ्रान्तकम् ॥३५॥ येन

---

सम्यग्दर्शनपूर्वक जो ज्ञान होता है उसको सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा इसी सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे स्वानुभूति प्रगट होती है ॥२७॥ इस संसारमें सम्यग्दर्शन ही अत्यन्त दुर्लभ है, क्योंकि मोक्षरूप कल्याणकी सिद्धि इस सम्यग्दर्शनसे ही होती है। सम्यग्दर्शनके विना न तो मोक्षकी सिद्धि होती है और न कभी सुखका लेश भी प्राप्त होता है ॥२८॥ जो सुख इन्द्रियोंसे रहित है निरावाध है, स्वतंत्र है, दुःखोंसे रहित है, श्रेष्ठ है और अनन्त है वह सुख सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे उत्पन्न होता है ॥२९॥ समस्त पदार्थोंकी सिद्धि, इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी महासंपदाओंकी सिद्धि और भगवान अर्हन्तदेवकी महाविभूतियोंकी सिद्धि इस सम्यग्दर्शनके ही प्रभावसे उत्पन्न होती है ॥३०॥ तीनों कालोंमें और तीनों लोकोंमें जो कल्याण देवोंको भी दुर्लभ है वह कल्याण भी महात्मा पुरुषोंको इस सम्यग्दर्शनके प्रभावके शीघ्र ही प्रगट हो जाता है ॥३१॥ इस संसारमें जो कल्याण हैं, जो मंगल हैं, जो भद्र हैं, जो उत्तमोत्तम परमपद हैं और जो अनेक सुखोंके साधक हैं; वे सब इस सम्यग्दर्शनसे ही सिद्ध हो जाते हैं ॥३२॥ इस संसारमें सम्यग्दर्शन ही पुरुषार्थ है क्योंकि परमार्थकी सिद्धि इसी सम्यग्दर्शनसे होती है। इस संसारमें आत्मा ही पुरुष कहलाता है और उसकी सिद्धि सम्यग्दर्शन से ही होती है ॥३३॥ इसी सम्यग्दर्शनके विना ये जीव जन्म मरण, और बुढापासे भरे हुए तथा अनेक महादुःख देनेवाले इस संसारमें चिरकाल तक परिभ्रमण करता रहता है ॥३४॥ इस सम्यग्दर्शनके विना ही ज्ञान अज्ञान कहलाता है, विपरीत कहलाता है और संशयसहित कहलाता है। वह मिथ्याज्ञान जिस प्रकार

विनात्र चारित्रं कुचारित्रं प्रजायते। संसारवर्द्धकं तद्धि नानादुःखनिदानकम् ॥३६॥ ज्ञानचारित्रयोः सम्यक् व्यपदेशकरं हि तत्। सम्यग्ज्ञानं सुचारित्रं तस्मादेव प्रजायते ॥३७॥ तच्च धर्मतरोर्मूलं बीजं वा मुख्यसाधकम्। संसाराब्धौ तरीतुं तत्कर्णधारो यतो मतम् ॥३८॥ सम्यक्त्वस्य प्रभावेन तिर्यञ्चो यान्ति देवताम्। चांडालोऽपि च देवः स्यात्स्वर्गे सर्वनमस्कृतः ॥३९॥ सम्यक्त्वमहितो गेही सम्यक्त्वरहितान्मुनेः। पूज्यो वन्द्यो हि मार्गस्थो न मुनिर्मार्गहीनकः ॥४०॥ सम्यक्त्वस्य च माहात्म्यं सम्यग्जानन्ति तीर्थपाः। यत्प्राप्य सुजनाः सद्यः तीर्थेशाः हि भवन्ति ते ॥४१॥ परमाह्लादरूपे य आत्मनि प्रत्ययं रुचिम्। श्रद्धां करोति भावेन स सम्यक्त्वं समश्नुते ॥४२॥ देवशास्त्रगुरूणां च सत्यरूपसुशालिनाम्। श्रद्धानं हि विनिर्दोषं सम्यक्त्वं तदिहोच्यते ॥४३॥ जिनागमस्य चाज्ञां ये सदा निःशंकचेतसा। स्वकल्या-

प्रकार दिग्भ्रम होनेवाले मनुष्यको परिभ्रमण कराता है उसी प्रकार इस जीवको भी अनेक योनियोंमें परिभ्रमण कराता है ॥३५॥ इसी सम्यग्दर्शनके विना चारित्र भी कुचारित्र वा मिथ्याचारित्र कहलाता है। यही मिथ्याचारित्र जन्ममरणरूप संसारको बढ़ानेवाला है और अनेक महादुःखोंका कारण है ॥३६॥ यह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रको सम्यक् करनेवाला है तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इसी सम्यग्दर्शनसे उत्पन्न होते हैं ॥३७॥ यही सम्यग्दर्शन धर्मरूपी वृक्षका मूळ है, वा धर्मका बीज है अथवा धर्मका मुख्य साधक है, संसाररूपी समुद्रसे पार होनेके लिये यह सम्यग्दर्शन कर्णधार वा खेवटिया गिना जाता है ॥३८॥ इसी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे तिर्यञ्च भी देव हो जाते हैं और इसी सम्यग्दर्शनके प्रभावसे चांडाल भी स्वर्गमें जाकर देव होता है और अन्य सब देव उसको नमस्कार करते हैं ॥३९॥ इस सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाला गृहस्थ भी सम्यक्त्वरहित मुनिसे पूज्य और वन्दनीय गिना जाता है तथा वह सम्यक्त्वी गृहस्थ मोक्षमार्गमें स्थित गिना जाता है। किंतु सम्यक्त्वरहित मुनि मोक्षमार्गसे हीन माना जाता है ॥४०॥ इस सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको तीर्थंकर ही अच्छी तरह जानते हैं, क्योंकि इसी सम्यग्दर्शनको पाकर ये जीव शीघ्र ही तीर्थंकर हो जाते हैं ॥४१॥ जो पुरुष परमानन्दमय शुद्ध आत्मामें प्रत्यय करता है, उसमें रुचि रखता है और श्रद्धान करता है वही जीव सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है ॥४२॥ यथार्थ स्वरूपको धारण करनेवाले देव, शास्त्र और गुरुका दोषरहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है ॥४३॥ जो पुरुष अपना आत्म-

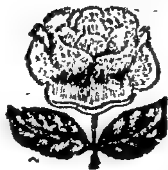
णाय मन्यन्ते जिनवत्ते धरन्ति तत् ॥४४॥ श्रेयोर्थिनां सदा मान्या जिनाज्ञा जिनशास्त्रतः । जिनाज्ञा सैव शास्त्रं हि जिनो वेत्ति च मन्यताम् ॥४५॥ तस्मात्सम्यक्त्वमाराध्यं भव्यजीवेन सर्वदा । तदेव मोक्षदं ज्ञेयं मुख्यं रत्नत्रये सदा ॥४६॥ यदि च भवविरक्तः मोक्षसौख्ये सुरक्तः । झटिति कुरु च भक्त्या देवशास्त्रे प्रतीतिम् । धर च निजहितार्थं श्रीजिनाज्ञां स्वचित्ते । लभ लभ हि सुधर्मं शुद्धसम्यक्त्ववन्तम् ॥४७॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे सम्यक्त्ववर्णनोनाम द्वितीयोधिकारः ॥

---

कल्याण करनेके लिये निःशंक हृदयसे जिनागमकी आज्ञाको मानते हैं वे ही पुरुष जिनेन्द्रदेवके समान निर्मल सम्यग्दर्शनको धारण करते हैं ॥४४॥ अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको जैन-शास्त्रोंके अनुसार भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा अवश्य मान लेनी चाहिये । क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा ही शास्त्र हैं और भगवानकी आज्ञा ही भगवान हैं , ऐसा समझना चाहिये ॥४५॥ इसलिये भव्य जीवोंको इस सम्यग्दर्शनका सदा आराधन करते रहना चाहिये । यही सम्यग्दर्शन मोक्ष देनेवाला है और रत्नत्रयमें सदा मुख्य है ॥४६॥ हे भव्य जीव ? यदि तू संसारसे विरक्त हुआ है और मोक्षके सुखमें अनुरक्त हुआ है तो शीघ्र ही भक्तिपूर्वक देवशास्त्र और गुरुका श्रद्धान कर, तथा अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये अपने हृदयमें भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको धारण कर और शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाले श्रेष्ठ धर्मको अथवा इस ग्रन्थके बनानेवाले मुनिराज सुधर्मसागरको धारण कर ॥४७॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें सम्यग्दर्शनको वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।



# तृतीयोधिकारः ॥



तत्त्वप्रकाशकं मोक्षदायकं सुखकारकम् । तं श्रीमदजितं वन्दे जिनशासनदीपकम् ॥१॥ तत्त्वमबुध्यमानस्य ध्यानेन किं प्रयोजनम् । क्रियां कुर्वन् स मूढात्मा कर्मबन्धं करोत्यलम् ॥२॥ नात्मरूपं विजानाति वस्तुतो मोहवान् कुधीः । ध्यानेन तस्य का सिद्धिर्जायते तपसाथवा ॥३॥ तत्त्वातत्त्वं न जानाति यो मोहतिमिरावृतः । किमर्थं कुरुते सोऽत्र ध्यानस्य च विडम्बनाम् ॥४॥ आत्मबोधविहीनस्य मिथ्यात्वग्रसितस्य च । तीव्रेण तपसा किं स्याद् ध्यानेन दुर्द्धरेण वा ॥५॥ आत्मतत्त्वं न जानाति स्वस्वरूपं न वेत्ति यः । संसारवर्द्धकं ध्यानं हा किमर्थं करोति सः ॥६॥ हेयोपादेय-

---

जो अजितनाथ भगवान तत्त्वोंको प्रकाशित करनेवाले हैं मोक्षको देनेवाले हैं सबको सुख देनेवाले हैं और जिनशासनको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान हैं ऐसे भगवान अजितनाथको मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥ जो पुरुष तत्त्वोंका स्वरूप नहीं जानता उसके लिये ध्यान करना व्यर्थ है । वह मूर्ख ध्यानकी क्रिया करता हुआ भी केवल कर्मोंका ही बन्ध करता है ॥२॥ वास्तवमें देखा जाय तो मोह करनेवाला अज्ञानी आत्मा आत्माके स्वरूपको नहीं जान सकता । फिर उसके ध्यान और तपश्चरण कैसे हो सकते हैं ? और ध्यान वा तपस्यासे ही उसकी सिद्धि कैसे होसकती है ? ॥३॥ जो पुरुष मोहरूपी अन्धकारसे वंचित होकर तत्त्व और अतत्त्वके स्वरूपको नहीं जानता वह इस संसारमें ध्यान करनेकी विडम्बना क्यों करता है ? ॥४॥ जो पुरुष आत्मज्ञानसे रहित है और मिथ्यात्वसे ग्रसित है उसके लिये तीव्र तपश्चरणसे अथवा दुर्धर ध्यानसे क्या लाभ हो सकता है ? ॥५॥ जो पुरुष आत्मतत्त्वको नहीं जानता और अपने स्वरूपको नहीं जानता, आश्चर्य है कि वह संसारको बढ़ानेवाला ध्यान क्यों करता है ? ॥६॥ जिस पुरुषके हेय और उपादेयका

विज्ञानरहितस्य जनस्य च । कर्मक्षयकरं ध्यानं स्यात्किं वा कर्मकंदनम् ॥७॥ भेदाभेदं न जानाति कृत्याकृत्यं न वेत्ति वा । ध्यानवैराग्यसंपत्तिस्तस्यात्र वञ्चिका भवेत् ॥८॥ अकृत्यं मन्यते कृत्यं कृत्यं त्यजति मोहतः । धर्माधर्मं न जानाति ध्यानं सोऽत्र करोति किम् ॥९॥ दयां धत्ते न चित्तेषु न वेत्ति जीवलक्षणम् । अन्तस्तत्त्वविहीनो यः स ध्यानी स्यात्कथं ननु ॥१०॥ आत्मतत्त्वानभिज्ञानां वाह्यव्यापृतचेतसाम् । न स्यात्स्वात्मन्यवस्थानं ध्यानं तेषां जडात्मनाम् ॥११॥ यतो न ते पृथक्कर्तुं समर्था देहदेहिनौ । सन्तीह मोहतस्तेन ध्यायन्ति ते परं परम् ॥१२॥ आत्मध्यानस्य लाभो हि तेषां स्याच्च कदापि न । सशरीरात्मनोर्भेदविज्ञानेन भवत्यसौ ॥१३॥ प्रागेव चात्मविज्ञानं कर्तव्यं च मुमुक्षुभिः । ध्येयस्य निश्चयाभावे न स्याद् ध्यानं सुनिश्चितम् ॥१४॥ ध्येयः आत्मैव स त्रेधा वहिरन्तः परस्तथा । ध्यातान्तोस्ति परो ध्येयो

---

ज्ञान नहीं है उसका ध्यान कर्मोंको नाश करनेवाला होता है अथवा कर्मोंका संग्रह करनेवाला होता है ? भावार्थ यह है कि उसका ध्यान कर्मोंका संग्रह करनेवाला ही होता है ॥७॥ जो पुरुष भेद अभेदको नहीं जानता, आत्मा और शरीरमें भेद नहीं समझता और न कृत्य अकृत्यको जानता है उसके लिये ध्यान और वैराग्यकी संपदा ठगनेवाली ही होती है ॥८॥ जो पुरुष अकृत्यको कृत्य मान लेता है और मोहनीय कर्मके उदयसे कृत्यको छोड़ देता है तथा इसीलिये जो धर्मध्यानको जान भी नहीं सकता वह भला ध्यान किस प्रकार कर सकता है ? ॥९॥ जो पुरुष अपने हृदयमें दयाको धारण नहीं करता और न जीवका लक्षण जानता है तथा जो आत्माके स्वरूपसे सर्वथा रहित है वह ध्यान कैसे कर सकता है ? ॥१०॥ जो पुरुष आत्मतत्त्वसे अनभिज्ञ हैं और जिनका हृदय वाह्य पदार्थोंमें ही लगा हुआ है ऐसे जड़ मनुष्योंकी आत्मामें निश्चल होनेवाला ध्यान भला कैसे हो सकता है ? ॥११॥ ऐसे लोग शरीर और आत्माको ही अलग करनेमें समर्थ नहीं हो सकते । अतएव मोहकर्मके उदयसे वे पर पदार्थोंका ही चिन्तवन कर सकते हैं आत्माका चिन्तवन नहीं कर सकते ॥१२॥ ऐसे लोगोंको आत्मध्यान करनेका लाभ कभी नहीं मिल सकता, आत्मध्यानका लाभ शरीर और आत्माके भेद-विज्ञानसे ही होता है ॥१३॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको सबसे पहले आत्माका ज्ञान उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि जब तक ध्यान करने योग्य ध्येयका निश्चय नहीं होता तब तक सुनिश्चित ध्यान कैसे हो सकता है ? ॥१४॥ तथा इस संसारमें ध्येय पदार्थ आत्मा ही है । वह आत्मा तीन प्रकार

बहिस्त्याज्यो मुमुक्षुभिः ॥१५॥ व्यामोहतः शरीरादौ यस्यात्मप्रत्ययो भवेत् । बहिरात्मा स विज्ञेयः सुदृक् शून्योऽस्तचेतनः ॥१६॥ मन्यते स्वशरीरं स आत्मरूपेण मूढधीः । स्वात्मानं देहरूपेण मन्यते मोहविभ्रमात् ॥१७॥ शरीरे स्वात्मबुद्धिं यो विदधाति प्रपद्यते । शरीरमेव चात्मास्ति नान्योऽहमिति मन्यते ॥१८॥ गौरोहं कृष्णवर्णोहं निर्बलोहं बली तथा । देहरूपमयोप्यात्मा बहिः स प्रतिपद्यते ॥१९॥ वृद्धोहं बालकोहं वा प्रगुणी निर्गुणी तथा । शरीरस्याभियोगेन स्वमिति मन्यते कुधीः ॥२०॥ शरीरस्य च जातेन जातोहमिति मन्यते । शरीरस्य वियोगेन मृतोहं वाप्यवैति सः ॥२१॥ मनोऽक्षविषयाज्जात इष्टानिष्टे सुखासुखे । स्वात्मनः सुखदुःखं वा बहिरात्मा स मन्यते ॥२२॥ स सुरं देवपर्यायैः नृपर्यायैर्नरं तथा । नारकं श्वभ्रपर्यायैरिति मूढो वितन्वते ॥२३॥ सर्वथापि पृथग्भूते पुत्रमित्रकलत्रके । आत्मबुद्धिं करोत्यत्र बहि-

---

का है बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। ध्यान करनेवाला ध्याता अन्तरात्मा होता है, ध्यान करने योग्य ध्येय परमात्मा होता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको बहिरात्माका त्यागकर देना चाहिये॥१५॥ मोहनीय कर्मके उदयसे जो शरीरमें ही आत्माका श्रद्धानकर लेता है उसीको बहिरात्मा समझना चाहिये। वह बहिरात्मा सम्यग्दर्शनसे रहित होता है और उसकी चैतन्य शक्ति भी प्रायः नष्ट हो जाती है ॥१६॥ वह अज्ञानी अपने शरीरको ही आत्मरूप समझ लेता है अथवा मोहनीय कर्मके उदयसे आत्माको ही शरीररूप समझ लेता है ॥१७॥ बहिरात्मा पुरुष शरीरमें ही आत्मबुद्धि कर लेता है, तथा शरीर ही आत्मा है अन्य आत्मा नहीं है इस प्रकार मान लेता है ॥१८॥ बहिरात्मा समझता है कि मैं ही गौरवर्ण हूँ, मैं ही कृष्ण वर्ण हूँ, मैं ही निर्बल हूँ और मैं ही बलवान् हूँ, इस प्रकार वह अपने आत्माको शरीररूप ही समझ लेता है ॥१९॥ मैं बूढ़ा हूँ, मैं बालक हूँ, मैं ही गुणी हूँ और मैं ही निर्गुणी हूँ, इस प्रकार शरीरके चिन्होंसे ही आत्माको समझता है यही उसकी अज्ञानता है ॥२०॥ बहिरात्मा जीव शरीरके जन्म होनेको अपना (आत्माका) जन्म समझता है और शरीरके वियोग होनेको अपना मरना समझता है ॥२१॥ मन और इंद्रियोंके विषयसे उत्पन्न हुए इष्ट और अनिष्टमें अथवा सुख वा दुःखमें आत्माका ही सुख वा दुःख समझ लेता है ॥२२॥ वह बहिरात्मा देवपर्यायमें अपने आत्माको देव समझ लेता है, मनुष्यपर्यायमें आत्माको ही मनुष्य समझ लेता है और नरकपर्यायमें आत्माको ही नारकी समझ लेता है ॥२३॥ यद्यपि पुत्र, मित्र, और स्त्रीआदि अपने आत्मासे सर्वथा भिन्न

रात्मेति मोहतः ॥२४॥ पुत्रो मे मे कलत्रं मे मित्रं मे बन्धुरत्र मे। इति 'मे मे' प्रकुर्वाणः आत्मबुद्ध्या विमुच्यते ॥२५॥ बहिर्द्रव्येषु सर्वेषु बहिरात्माभिवाञ्छति। तत्स्वरूपोऽहमेवास्मि मत्तो नान्यानि तानि वै ॥२६॥ हा हा मोहविलापेन तत्त्वमवेत्यतत्त्वके। तत्त्वे वाऽतत्त्वकं वेत्ति मोही किं किं करोति न ॥२७॥ बहिरात्मैव जानाति विश्वमात्ममयं भ्रमात्। आत्मानं नैव जानाति देहस्थं ज्ञानगोचरम् ॥२८॥ अग्निर्हि विद्यते काष्ठे मूढोऽग्निं वेत्ति नैव सः। काष्ठमात्रं विजानाति चाज्ञानी किमवैति सः ॥२९॥ बहिरात्मा ततश्चित्ते कर्ता भोक्ता च मन्यते। मनोक्षविषये बाह्ये द्रव्ये वा स्वात्मविभ्रमात् ॥३०॥ एवं हि बहिरात्मासौ परद्रव्ये विमुह्यति। स्वात्मानं नैव जानाति तत्त्वातत्त्वं हिताहितम् ॥३१॥ बहिरात्मा हि हेयोसौ शिवमार्गविदूरगः। इन्द्रियविषये लीनः संसारसुखवाञ्छकः ॥३२॥

हैं तथापि बहिरात्मा मोहनीय कर्मके उदयसे उनमें भी आत्मबुद्धि कर लेता है, उनको भी अपना समझ लेता है ॥२४॥ यह पुत्र मेरा है, स्त्री मेरी है, मित्र मेरा है और ये भाई मेरे हैं इस प्रकार 'मेरा मेरा' करता हुआ यह जीव अपनी आत्मबुद्धिको छोड़ देता है ॥२५॥ बहिरात्मा जीव समस्त बाह्य पदार्थोंकी ही इच्छा करता है और "मैं इन बाह्यद्रव्यरूपही हूं ये बाह्य पदार्थ मुझसे भिन्न नहीं है" इस प्रकार मिथ्याबुद्धि धारण करने लगता है ॥२६॥ दुःखका विषय है कि मोहनीय कर्मके उदयसे यह बहिरात्मा अतत्त्वोंको तत्त्व समझ लेता है और तत्त्वोंको अतत्त्व समझ लेता है सो ठीक ही है क्योंकि मोही पुरुष क्या क्या नहीं करता है ॥२७॥ बहिरात्मा अपने भ्रमसे समस्त संसारको आत्ममय समझता है। परंतु शरीरमें रहनेवाले ज्ञानगोचर आत्मा को नहीं जानता ॥२८॥ यद्यपि लकड़ीमें ही अग्नि है परंतु अज्ञानी जीव उस अग्निको नहीं जानता वह केवल लकड़ी को ही जानता है। सो ठीक कही है क्योंकि अज्ञानी कुछ नहीं जानता है ॥२९॥ बहिरात्मा पुरुष अपने आत्माकी भूलसे मन और इंद्रियोंके विषयभूत बाह्य पदार्थोंमें अपनेको कर्ता और भोक्ता मान लेता है ॥३०॥ इसप्रकार बहिरात्मा जीव बाह्य द्रव्योंमें मोहित हो जाता है। इसलिये वह न तो अपने आत्माको जानता है न तत्त्व अतत्त्वको जानता है और न हित अहितको जानता है ॥३१॥ बहिरात्मा जीव मोक्षमार्गसे दूर रहता है, इंद्रियोंके विषयोंमें लीन रहता है और संसारिक सुखोंकी इच्छा करता है, इसलिये वह बहिरात्मा हेय वा त्याग करने योग्य समझा जाता है ॥३२॥ यदि किसी पुण्यकर्मके

जैनधर्मं विधत्ते चेत्कदाचित्पुण्ययोगतः । प्रत्येति न जिनाज्ञां वा जिनागमं सुभावतः ॥३३॥ सुगुरुं मन्यते नैव बहिरात्मा विमोहतः । पृष्ठे निंदां करोत्येव जैनोऽपि दुष्टभावतः ॥३४॥ देवशास्त्रगुरून् धर्मं बहिर्दृष्ट्या हि सेवते । अन्तर्दृष्ट्या न श्रद्धेति न प्रत्येति स भावतः ॥३५॥ विषयभोगसंबंधि शास्त्रं च बहु मन्यते। जिनागमं कुतर्केण चान्यथा कुरुते कुधीः ॥३६॥ एवं हि बहिरात्मासौ आत्मज्ञानपराङ्मुखः। धृत्वापि जिनभेषं हि विपरीतं करोति सः ॥३७॥ बहिरात्मा ततस्त्याज्यः जिनलिङ्गस्य धारकः। स मायापरिणामेन कुटिलो वञ्चते परान् ॥३८॥ उपादेयं न गृह्णाति हेयं नैव जहाति च । बहिरात्मा बहिर्भूतः शिवमार्गात्सुधर्मतः ॥३९॥ मिथ्यात्वदूषितं मोहतमः आत्मन् निवारय। चिज्ज्योतिषा स्वसंवेदमयेन भानुना यथा ॥४०॥ एकोहं किं स्वरूपोहं के गुणाः सन्ति मे खलु। देहस्य लक्षणं किं वा कर्मबंधः कथं मम ॥४१॥ इत्थं विचार्यमाणेन सम्यग्ज्ञानेन तत्त्वतः। आत्मबोधो भवेत्सद्यः स्वपरभेदको

---

उदयसे वह बहिरात्मा जैनधर्मको भी धारण कर ले तो भी वह अपने भावोंसे न तो जैनधर्मकी आज्ञाको मानता है और न जिनागमको मानता है ॥३३॥ मोहनीय कर्मके उदयसे वह बहिरात्मा श्रेष्ठ गुरुओंको भी नहीं मानता। वह जैनी होकर भी अपने दुष्ट परिणामोंसे उन गुरुओंकी निंदा करता है ॥३४॥ वह बहिरात्मा देव, शास्त्र, गुरु और धर्मको बाह्य दृष्टिसे सेवन करता है, अन्तर्दृष्टिसे न उनका श्रद्धान करता है और न उनपर विश्वास करता है ॥३५॥ वह अज्ञानी विषयभोगसंबन्धी शास्त्रोंको ही मानता है और अपने कुतर्कसे जिनागमको विपरीत करनेकी चेष्टा करता है ॥३६॥ इसप्रकार वह बहिरात्मा आत्मज्ञानसे पराङ्मुख रहता है। तथा जिनभेषको धारणकर विपरीत कार्य करता है ॥३७॥ इसलिये जिनलिंगको धारण करता हुआ भी बहिरात्मा त्याग ही करने योग्य है, क्योंकि वह मायाचारी अपने मायाचारसे दूसरे लोगोंको ठग लेता है ॥३८॥ बहिरात्मा जीव उपादेयको ग्रहण नहीं करता, हेयका त्याग नहीं करता तथा मोक्षके मार्गसे और श्रेष्ठ धर्मसे वह अलग ही रहता है ॥३९॥ हे आत्मन्! स्वसंवेदनरूप और चैतन्यमय ज्योतीरूप सूर्यके द्वारा मिथात्वसे दूषित ऐसे मोहरूपी अन्धकारको दूर कर ॥४०॥ तथा मैं कौन हूँ मेरा क्या स्वरूप है, मुझमें कौन कौन गुण हैं, शरीरका लक्षण क्या है और कर्मोंका बन्ध कैसे होता है, इस प्रकार विचारपूर्वक होनेवाले सम्यग्ज्ञानके द्वारा स्वपर-भेदको सूचित करनेवाला वास्तविक आत्मज्ञान शीघ्रही हो

ननु ॥४२॥ तिर्यङ्नरामराकारं रूपं यद्दृश्यते बहिः । तदाकारो न तद्रूपमहमस्मि स्वभावतः ॥४३॥ नाहं जडो न वा शून्यो न शरीरमयं क्वचित् । नाहं वर्णमयो वेति चिन्तयेति मुहुर्मुहुः ॥४४॥ नाहं मूर्तिमयो क्वापि स्त्रीरूपोहं न वा क्वचित् । नाहं पुमान् न वा भोक्ता चितयेति मुहुर्मुहु : ॥४५॥ न मे मृत्युर्न मे जन्म शरीरं मे कदापि न । न मे पुत्रं न मे मित्रं कलत्रं न धनं गृहम् ॥४६॥ क्रोधादीनि विकाराणि वाञ्च्छा तृष्णा न मे क्वचित् । शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोहं स्वभावतः ॥४७॥ वर्णातीतो रसातीतः स्पर्शातीतो विगंधकः । शब्दातीतश्चिदानन्दमयोहं कर्मदूरगः ॥४८॥ विबुध्येत्थं स्वकं रूपं स्वात्मानमपि तत्त्वतः । तस्माच्छरीरतो भिन्नं स्वात्मानमवधारय ॥४९॥ जडा इमे शरीराद्या अचैतन्याश्च सन्ति ते । कर्मयोगेन संप्राप्ताः दुःखदा नश्वरा भवे ॥५०॥ भ्रमात्तानात्मरूपोहं मन्ये रज्जुमहिं यथा । आत्मबोधाद् भ्रमे नष्टेमूर्तोहं कर्महानितः ॥५१॥ अनादिकालतो मोहान्मिथ्याज्ञानं हि मेऽजनि । तेनाद्यावधि पर्यंतं तत्त्वं ज्ञातं

---

जाय ऐसा उपाय कर ॥४१॥—॥४२॥ तिर्यञ्च मनुष्य वा देवका आकार जो बाहरसे दीखता है वह आकार और वह रूप मेरा स्वाभाविक नहीं है ॥४३॥ न मैं जड़ हूँ, न शून्य हूं, न शरीररूप हूं और न वर्णरूप हूँ, इस प्रकार बार बार चिंतवन करना चाहिये ॥४४॥ मैं न मूर्त हूँ, न स्त्रीरूप हूं और न पुरुष हूं तथा न मैं भोक्ता हूं। हे आत्मन्! तू इस प्रकार बार बार चिंतवन कर ॥४५॥ न तो मैं मरता हूँ, न मैं जन्म लेता हूं, यह शरीर भी मेरा कभी नहीं हो सकता तथा ये पुत्र मित्र धन घर आदि भी मेरे नहीं हो सकते ॥४६॥ ये क्रोधादिक विकार मेरे कभी नहीं होसकते और न वाञ्च्छा वा तृष्णा ही मेरी होसकती है। मेरी आत्मा स्वभावसे ही शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है ॥४७॥ मैं वर्णरहित हूं, रसरहित हूँ, स्पर्शरहित हूं, गंधरहित हूँ, और शब्दरहित हूं। तथा कर्मोंसे भिन्न चिदानन्दमय हूं ॥४८॥ हे आत्मन्! इस प्रकार अपने आत्माका स्वरूप समझ और वास्तवमें अपने आत्माको शरीरसे भिन्न समझकर अपने आत्माके स्वरूपका चिंतवन कर ॥४९॥ ये शरीरादिक जड हैं, अचेतन हैं, दुःख देनेवाले हैं और नश्वर हैं तथा इस संसारमें कर्मके निमित्तसे मुझे प्राप्त हुए हैं। परंतु अपने भ्रमसे उनको आत्मरूप मान रहा हूं। जैसे भ्रमसे रस्सीको भी सर्प मान लेते हैं। परंतु अब जब कि आत्मज्ञान होनेपर मेरा भ्रम नष्ट हो गया है तब मुझे मालूम हुआ है कि कर्म नष्ट होनेपर मैं अमूर्तस्वभाव ही हूं ॥५०-५१॥ अनादि कालसे लगे हुए मोहनीय कर्मके उदयसे

न वा मया ॥५२॥ स्वात्मानं नैव पश्यामि मोहनिद्रावशेन वा । तामुद्धित्य सुबोधेन स्वं पश्यामि गतभ्रमम् ॥५३॥ रे यावन्मोहनिद्रास्ति तावदात्मा प्रपश्यति । देहाकारं स्वकं नानारूपधरं मनोहरम् ॥५४॥ गतनिद्रो यदात्मन् स्वं सुबोधेन भविष्यसि । स्वं पश्यसि तदा शीघ्रममूर्तमजरामरम् ॥५५॥ पश्यति स्वप्नवत्तावन्मोहनिद्रां गतो यदि । शरीरमात्मरूपोहं विनिद्रे पश्यसि स्वकम् ॥५६॥ स्वप्ने राजा भवेद्रङ्को रङ्को वात्र नृपायते । स्वप्ने नष्टे न वा राजा न रङ्को दृश्यते क्वचित् ॥५७॥ जाते मृते शरीरेऽस्मिन् वा स्वप्न सदृशे भवे । अहं जातो मृतोहं वा मन्यते हेति विभ्रमात् ॥५८॥ अमूर्तोहं निराकारो रूपातीतोस्म्यहं खलु । यत्सर्वं दृश्यते द्वन्द्वं तेभ्यो मुक्तोस्म्यहं ननु ॥५९॥ अक्षद्वारेण पश्यामि स्पर्शादिभ्यः सुखासुखम् । तन्मुधा नाक्षरूपोहमक्षातीतोस्म्यहं खलु ॥६०॥ श्रवणं भक्षणं गानमित्याद्या भुवियाः क्रियाः ।

---

मुझे मिथ्याज्ञान हो रहा है । इसीलिये आजतक मुझे तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ ॥५२॥ मोहरूपी निद्राके वशीभूत होनेके कारण मैं अपने आत्माको नहीं देख रहा हूँ । समग्यज्ञानके द्वारा उस नींदको छोड़कर और भ्रमको दूर कर अब मैं उस आत्माको देख रहा हूँ ॥५३॥ हे आत्मन् ! जबतक तू मोहरूपी नींदमें सोया हुआ है तब तक तू अपने स्वरूपको शरीरके आकार और अनेक रूपोंको धारण करनेवाला मनोहर देखता है और जब मोहरूपी निद्रा हट जाती है और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है तब तू अपने आत्माको अमूर्त, अजर और अमर देखता है ॥५४–५५॥ जब यह जीव मोहरूपी नींदमें सो जाता है तब स्वप्नके समान शरीरको ही आत्मा समझने लगता है । तथा जब वह मोहरूपी नींद हट जाती है तब वह आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखने लगता है ॥५६॥ जिस प्रकार स्वप्नमें राजा रंक हो जाता है और रंक राजा हो जाता है परंतु जब स्वप्न नष्ट हो जाता है तब न राजा दिखाई देता है और न रंक दिखाई देता है ॥५७॥ उसी प्रकार स्वप्नके समान इस संसारमें शरीरके जन्म-मरण होनेपर 'मेरा जन्म-मरण हुआ' इस प्रकार यह आत्मा अपने अज्ञानसे मान लेता है ॥५८॥ मैं अमूर्त हूँ, निराकार हूँ और रूपरहित हूँ । संसारमें यह जो कुछ पुत्र मित्रादिकका उपद्रव दिखाई देता है उससे मैं सर्वथा भिन्न हूँ ॥५९॥ मैं इंद्रियोंके द्वारा स्पर्शादिक से सुखदुःखका अनुभव करता हूं परंतु वह सब व्यर्थ है क्योंकि मैं इन्द्रियरूप नहीं हूँ, मैं इन्द्रियोंसे सर्वथा रहित हूँ ॥६०॥ सुनना,

दृश्यन्ते सर्वतरताभ्यः मुक्तोस्मि ननु सर्वथा ॥६१॥ स्वात्मनैवात्मरूपोहं सदा स्वात्मनि मे स्थितिः । आत्मनो मेऽथ भिन्नास्ते शरीराद्या जडा इमे ॥६२॥ न मे पुत्रा न मे दारा न देहो नैव वस्तु मे । स्वप्नवदनुभूयन्ते भ्रमनाशे सुबोधतः ॥६३॥ रम्यं किंचिन्न मे भाति देहादिपरवस्तुनि । सुखं तत्र न पश्यामि स्वं पश्यन् स्वात्मना स्वयम् ॥६४॥ बाह्यरूपं परित्यज्य पश्यात्मन् त्वं स्वकं सदा । स्वसंवेदनबोधेनामूर्तोसीति प्रभाससे ॥६५॥ अन्तर्दृष्ट्या निजात्मानं बहिर्दृष्ट्या तनुं ननु । पश्यात्मन् शुद्धबोधेन भेदं कृत्वा पृथक् पृथक् ॥६६॥ तं देहदेहिनोर्भेदमन्तर्दृष्ट्या प्रपद्य च । आत्मन्निगूढतत्त्वं तद्गृहाण सुखलिप्सया ॥६७॥ अन्तर्दृष्टिं समालम्ब्य सद्बोधेन सुदुर्लभम् । तं शरीरात्मनोर्भेदं कुर्वात्मन् त्वं सुखेच्छया ॥६८॥ भेदज्ञानं यदाप्नोसि शरीरादात्मनोर्यदि । तदा त्वं लभसे शीघ्रमात्मन् मोक्षपथं सुखम् ॥६९॥ अन्तर्दृष्ट्या निजात्मानमाराधय स्वतः स्वयम् । आत्मन् पश्यसि शीघ्रं त्वं शिवसौख्यमकण्टकम् ॥७०॥

---

खाना, गाना आदि संसारमें जो जो क्रियाएं दीखती हैं उन सबसे मैं सर्वथा रहित हूं ॥६१॥ मैं अपने आत्माके द्वारा ही आत्मरूप हूं और आत्मामें ही मेरी सदा स्थिति रहती है। ये शरीरादिक जड पदार्थ सब मेरे आत्मासे भिन्न हैं ॥६२॥ न ये पुत्र मेरे हैं, न यह स्त्री मेरी है, न यह शरीर मेरा है और न यह पर पदार्थ मेरे हैं। जब मेरा अज्ञान दूर हो जाता है और आत्मज्ञान प्रगट हो जाता है तब ये सब मुझे स्वप्नके समान दिखाई देते हैं ॥६३॥ जब मैं अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माको देखता हूं तब इन शरीरादिक पर पदार्थोंमें न तो मुझे कुछ मनोहरता दिखाई देती है और न उनमें कुछ सुख ही दिखाई देता है ॥६४॥ हे आत्मन्! तू बाह्य रूपको छोड़ कर अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे अपने आत्माको देख, उस समय तू अमूर्त ही प्रतिभासित होगा ॥६५॥ हे आत्मन्! तु अपने शुद्ध ज्ञानसे अलग अलग भेद समझकर अन्तर्दृष्टिसे आत्माको देख और बाह्य दृष्टिसे शरीरको देख ॥६६॥ शरीर और आत्मामें अन्तर्दृष्टिसे भेद समझकर सुखकी इच्छासे आत्मामें जो रत्नत्रयरूप गूढ तत्त्व है उसको ग्रहण कर ॥६७॥ सम्यग्ज्ञानके द्वारा अन्तर्दृष्टिके आधारसे अत्यन्त दुर्लभ ऐसे शरीर और आत्माके भेदको सुखकी इच्छा करता हुआ तू अच्छी तरह ग्रहण कर ॥६८॥ हे आत्मन्! यदि तू शरीर और आत्माके भेद-विज्ञानको प्राप्त हो जायगा तो शुभ मोक्ष मार्गको भी शीघ्र ही प्राप्त हो जायगा ॥६९॥ हे आत्मन्! तू अन्तर्दृष्टिसे अपनी आत्माका आराधन कर। यदि तू अपनी आत्माका आराधन करेगा तो शीघ्र ही कंटकसे

अन्तर्दृष्ट्या भ्रमं त्यक्त्वा गृहीत्वा बोधमुत्तमम् । त्वं सम्यक् पश्य रे आत्मन्नात्मानं शुद्धरूपकम् ॥७१॥ सिद्धरूपं निजात्मानमाराधय निजात्मना । त्यक्त्वा सर्वप्रपञ्चं हि चान्तर्दृष्ट्या सुभावतः ॥७२॥ वाह्यचिन्तां पृथक्कृत्य देहजातां पुनः पुनः । त्वमात्मन् भावय शीघ्रं स्वात्मानं शुद्धबोधतः ॥७३॥ अस्त्यात्मन् ते वहिर्दुःखं कर्मसंयोगजं परम् । अन्तरं ते परं सौख्यमात्मजं निर्मलं शुभम् ॥७४॥ त्वं मूर्च्छितोसि रे आत्मन् मोहनिद्रातिमूर्च्छया । जागृहि चाधुनोतिष्ठ पश्यानन्दमयं स्वकम् ॥७५॥ यावन्मूर्छास्ति ते चित्ते तावत्त्वं परिभ्राम्यसि । जन्ममृत्युजराकीर्णे संसारे विषये वने ॥७६॥ मूर्च्छया मन्यसे चित्ते बालो वृद्धोहमाभ्रमात् । मूर्च्छानाशे तु वृद्धो न बालो नापि सुतत्त्वतः ॥७७॥ जीर्णे कुटीरके वासाद्देवो जीर्णो भवेन्न वा । नवे कुटीरके वासाद्देवो नैव नवो भवेत् ॥७८॥ तथा नवीनजीर्णाभ्यां देहाभ्यां जायते नवा । आत्मा जीर्णो नवो वापि त्वं सद्बोधाद् भ्रमं त्यज ॥७९॥ यो मोहमूर्च्छया सुप्तः स सुप्तो विषयादिषु । मोहमूर्च्छां निराकृत्य

---

रहित मोक्षसुखको प्राप्त हो जायगा ॥७०॥ हे आत्मन्! अंतर्दृष्टिसे तू भ्रमको छोड़कर और उत्तम ज्ञानको पाकर शुद्ध स्वरूप अपने आत्माको अच्छीतरह देख ॥७१॥ हे आत्मन्! तू अंतर्दृष्टिसे और अच्छे परिणामोंसे सब प्रपंचों को छोड़कर अपने आत्माके द्वारा सिद्धरूप अपने आत्माका आराधन कर ॥७२॥ हे आत्मन्! तू शरीरसे उत्पन्न हुई चिन्ताको बार बार दूर कर और शुद्ध ज्ञानसे अपने आत्माको शीघ्र ही चिंतवन कर ॥७३॥ हे आत्मन्! यद्यपि कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुआ दुःख तुझे बाहरसे दिखाई पड़ता है तथापि तेरे भीतर आत्मासे उत्पन्न हुआ निर्मल और शुभ सुख सदा विद्यमान रहता है ॥७४॥ हे आत्मन्! तू मोहके विलासकी मूर्च्छासे मूर्च्छित हो रहा है इसलिये अब तू उठ और जग, तथा आनन्दमय अपने आत्माको देख ॥७५॥ हे आत्मन्! जबतक तेरे हृदयमें मूर्च्छा वा मोह है तबतक तू जन्म-मरण और बुढ़ापेसे भरे हुए संसाररूपी विषय-वनमें ही परिभ्रमण करता रहेगा ॥७६॥ इस मूर्च्छाके कारणही तू अपने हृदयमें अपनेको बालक वा वृद्ध मानता है, परंतु जब मूर्च्छा नष्ट हो जाती है तब तू समझने लगता है कि न तू बालक है और न वास्तवमें वृद्ध है ॥७७॥ जिसप्रकार किसी पुराने मठमें रहनेसे कोई देव पुराना नहीं हो जाता और नये मठमें रहनेसे कोई देव नया नहीं हो जाता, उसीप्रकार यह आत्माभी पुराने शरीरमें पुराना नहीं होता और नवीन शरीरमें नया नहीं होता। हे आत्मन्! तू अपने सम्यग्ज्ञानसे अपने भ्रमका त्याग कर ॥७८-७९॥ जो अपने मोह और

सद्बोधः स च जाग्रति ॥८०॥ यदा यदा हि साधोः स्यान्मनो मोहपराङ्मुखम् । द्वन्द्वातीतं भ्रमातीतं स्वं प्राप्नोति तदैव तम् ॥८१॥ मोहाद्बन्धो हि जीवस्य विमोहात्कर्मनिर्जरा । मोही भ्रमति संसारे विमोही लभते शिवम् ॥८२॥ तस्मात्सर्वप्रकारेण मोहभावं निवारय । कृत्वा जिनागमे श्रद्धां गृहीत्वा बोधमुत्तमम् ॥८३॥ प्रतिहत्य महामोहभ्रमं हि तिमिरावृतम् । स्वानुभूत्यात्मबोधेन स्वात्मानं पश्य निर्मलम् ॥८४॥ अज्ञानजनितां चेष्टां जिनोक्ततत्त्वचिंतया । निवारय भ्रमं शीघ्रं मिथ्यात्ववासनायुतम् ॥८५॥ सत्यात्मकं जिनेन्द्रोक्तं धर्मं चिन्तय भावतः । चित्तं तस्मिन् स्थिरं कृत्वा भ्रममात्मन् निवारय ॥८६॥ जिनाज्ञां शुद्धभावेन धारयात्मन् दृढं दृढम् । तया मोहभ्रमो नूनं स्वयं त्वत्तः पलायते ॥८७॥ चिंतयात्मन् जिनोक्तं हि तत्त्वं भावेन निर्मलम् । भ्रमो हि नश्यते तस्मात्स्वस्वरूपं प्रपद्यसे ॥८८॥ चिदानन्दमये शुद्धे निवेशय

---

मूर्च्छाके कारण सो जाता है वह विषयादिकोंमें ही जाकर सोता है। जो मोह और मूर्च्छाको छोड़कर सम्यग्ज्ञानी हो जाता है उसे ही इस संसारमें जगनेवाला समझना चाहिये ॥८०॥ जब जब साधुका मन मोहसे पराङ्मुख हो जाता है और सर्व उपद्रवोंसे रहित तथा भ्रमरहित हो जाता है तभी यह जीव अपने आत्माको प्राप्त हो जाता है ॥८१॥ इस जीवके मोह करनेसे कर्मोंका बन्ध होता है और मोहका त्याग कर देनेसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। मोह करनेवाला जीव इस संसारमें परिभ्रमण करता है और मोहरहित जीव मोक्षको प्राप्त होता है ॥८२॥ इसलिये हे आत्मन्! तू जैन आगमपर श्रद्धा रखकर और सम्यग्ज्ञानको प्राप्तकर सब तरहसे मोहका त्याग कर ॥८३॥ हे आत्मन्! तू अंधकारसे घिरे हुए महामोहरूपी भ्रमको नाशकर स्वानुभूति और आत्मज्ञानसे अपने निर्मल आत्माको देख ॥८४॥ हे आत्मन्! तू भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्वोंका चिंतवनकर अज्ञान जनित चेष्टाका त्यागकर और मिथ्यात्वकी वासनासे भरे हुए भ्रम को शीघ्रही दूर कर ॥८५॥ हे आत्मन्! तू भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए सत्यस्वरूप धर्मको शुभ परिणामोंसे ग्रहण कर और उसी धर्ममें अपना चित्त लगाकर अपने भ्रमको दूर कर ॥८६॥ हे आत्मन्! तू अपने शुद्ध भावोंसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको दृढ़ताके साथ धारण कर, क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञासे यह मोहरूपी भ्रम अपने आप तुझसे भाग जायगा ॥८७॥ हे आत्मन्! तू अपने परिणामोंसे भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए निर्मल तत्त्वोंका चिंतवन कर, क्योंकि तत्त्वोंके चिंतवन करनेसे भ्रमका नाश हो जाता है और तू अपने आत्म-

निवेशय । स्वसंवेदेन चात्मानं भ्रमो त्वत्तः पलायते ॥८९॥ जिनागमस्य सुश्रद्धां दृढां कृत्वा सुभावतः । विचारय निजात्मानं भ्रमः नश्यति ते ततः ॥९०॥ जिनागमप्रसादेन कल्याणं ते भविष्यति । पश्यसि त्वं हि चात्मानं निर्लेपं स्वशरीरतः ॥९१॥ निर्लेपं वेत्ति तत्पद्मं वारिस्थमपि वा जलात् । अन्तरात्मा तथा वेत्ति चात्मानं देहतः पृथक् ॥९२॥ अंतर्दृष्ट्या प्रमथ्येत दध्नः सर्पिः प्रसज्यते । अन्तर्दृष्ट्या स्वकं ध्यायेत्परमात्माप्युदेष्यति ॥९३॥ उपेक्ष्य बहिरात्मानमन्तरात्मा भव त्वकम् । अभ्यन्तरे स्वमात्मानं पश्य पश्य निरन्तरम् ॥९४॥ देहाविष्टोपि रे आत्मन्नन्तर्ज्ञानबलेन हि । पश्य पश्य निजात्मानं स्वात्मन्येवात्र शुद्धदृक् ॥९५॥ देहाविष्टोपि शुद्धात्मा चिन्तयति पुनः पुनः । विशुद्धरूपमात्मानं द्वन्द्वातीतं मनोहरम् ॥९६॥ द्वैतभावं निराकृत्य पश्यात्मन् पश्य तं सदा । विशुद्धरूपसम्पन्नं परात्मानं हि चात्मनि ॥९७॥ यः परात्मा स एवाहं परं तत्त्वं तदप्यहम् । अहमेव परात्मास्मि सोहं सोहमहं हि सः ॥९८॥ आत्मा हि परमात्मास्ति नान्यो भिन्नो नवा पृथक् ।

---

स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥८८॥ हे आत्मन् ! तू अपने स्वसंवेदन ज्ञानसे अपने आत्माको चिदानंदमय शुद्ध आत्मामें लीन कर, तभी तेरा भ्रम नष्ट होगा ॥८९॥ हे आत्मन् ! तू अपने परिणामोंसे जिनागमका दृढ़ श्रद्धान करता हुआ अपने आत्माका चिंतवन कर । इसीसे तेरा सब भ्रम नष्ट हो जायगा ॥९०॥ हे आत्मन् ! जिनागमके प्रसादसे ही तेरा कल्याण होगा और शरीरसे सर्वथा भिन्न अपने आत्माको तू अवश्य देखेगा ॥९१॥ जिसप्रकार तू जलमें रहनेवाले कमलको जलसे सर्वथा भिन्न मानता है उसीप्रकार यह अंतरात्मा इस अपने आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न मानता है ॥९२॥ जिसप्रकार अंतर्दृष्टिसे मथनेपर दहीसे घी निकल आता है उसीप्रकार अंतर्दृष्टिसे अपने आत्माका ध्यान करनेपर परमात्म अवस्थाकी प्राप्ति हो जाती है ॥९३॥ इसलिये बहिरात्म अवस्थाकी उपेक्षाकर तू अंतरात्मा बन और अपने आत्मामें निरंतर अपने आत्माको देख ॥९४॥ हे शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले आत्मन् ! अपने शरीरमें रहता हुआ भी तू अंतर्ज्ञानके बलसे अपने ही आत्मामें अपने आत्मा को देख ॥९५॥ शरीरमें रहता हुआ भी शुद्ध आत्मा समस्त उपद्रवोंसे रहित और अत्यंत मनोहर ऐसे अपने विशुद्ध आत्माको बार बार चिंतवन करता है ॥९६॥ हे आत्मन् ! तू द्वैतभावको छोड़कर अपने ही आत्मामें अत्यंत विशुद्धताको धारण करनेवाले अपने श्रेष्ठ आत्माको देख और सदा उसे ही देखता रह ॥९७॥ जो परमात्मा है सो ही मैं हूं, जो परम तत्त्व है वही मैं हूं, मैं

यः स एवास्मि वाहं स एकरूपं स्वद्रव्यतः ॥९९॥ एकमेव परं रूपं परमात्मन एव मे । अहं स एव सोहं हि नान्यो भिन्नः कदाचन ॥१००॥ गुणाद्वा लक्षणाद्भेदः परमात्मात्मनोर्द्वयोः । परं न किंचिदस्तीह ततः सोहमहं स कः ॥१०१॥ एकोहं शाश्वतश्चाहं परं ब्रह्मोहमात्मनि । आत्मना यदि पश्यामि स्वात्मानं तन्मयोस्म्यहम् ॥१०२॥ यः आत्मास्ति स एवास्ति परमात्मा सनातनः । परमात्मात्मनोर्मध्ये कोपि भेदो न दृश्यते ॥१०३॥ निरौपम्यं निराबाधं परमानन्दलक्षणम् । अनन्तगुणसम्पन्नं स्वात्मानं विद्धि तत्त्वतः ॥१०४॥ ज्ञानमूर्तिं चिदानन्दमनन्तसुखसागरम् । परमोत्कृष्टचिज्ज्योतिर्भास्करं सुखदं विभुम् ॥१०५॥ त्रैलोक्यमहिमावन्तं निराकुलमनामयम् । तत्त्वानां सारसर्वस्वं स्वात्मानं विद्धि तत्त्वतः ॥१०६॥ सोहं सोहं स एवाहं नान्योस्म्यहमहं जिनः । चिज्ज्योतिश्च विशुद्धात्मा विमलः कृतकृत्यकः ॥१०७॥ अच्छेद्योहमभेद्योहं

---

ही परमात्मा हूँ, जो वह है सो मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वह है ॥९८॥ जो आत्मा है वही परमात्मा है, परमात्मा अपने शुद्ध आत्मासे भिन्न वा पृथक् नहीं है। तथा जो परमात्मा है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही परमात्मा है। अपने आत्मद्रव्यसे आत्मा और परमात्मा दोनों एक हैं ॥९९॥ वास्तवमें देखा जाय तो मेरा और परमात्मा इन दोनोंका एक ही रूप है। जो मैं हूँ सो परमात्मा है और जो परमात्मा है सो मैं हूँ। मैं और परमात्मा दोनों एक हैं, मुझसे परमात्मा न अन्य है और न भिन्न है ॥१००॥ आत्मा और परमात्मामें किसी भी गुणसे वा किसी भी लक्षणसे कुछ भी भेद नहीं है। इसलिये जो परमात्मा है सो मैं हूँ और जो मैं हूँ सो परमात्मा है ॥१०१॥ मैं एक हूँ नित्य हूँ परब्रह्म हूँ और तन्मय हूँ इसीलिये मैं अपने आत्मामें अपने आत्माके द्वारा अपने आत्माको देख रहा हूँ ॥१०२॥ जो आत्मा है वही सनातन परमात्मा है आत्मा और परमात्मामें कोई किसी प्रकारका भेद दिखाई नहीं देता ॥१०३॥ हे आत्मन्! तू अपने आत्माके स्वरूपको उपमारहित, बाधारहित, परम आनन्दस्वरूप और अनंत गुणोंसे सुशोभित समझ ॥१०४॥ इसीप्रकार हे आत्मन्! तू अपने आत्माको ज्ञानकी मूर्ति, चिदानन्दमय, अनंत सुखका समुद्र, परमोत्कृष्ट चिज्ज्योतिरूप सूर्य, सुख देनेवाला, विभु, तीनों लोकोंकी महिमासे सुशोभित, निराकुल, रोगरहित और समस्त तत्त्वोंका साररूप समझ ॥१०५-१०६॥ मैं वही हूँ मैं वही हूँ मैं वही हूँ मैं अन्य नहीं हूँ मैं ही जिन हूँ मैं ही चैतन्य ज्योतिरूप हूँ विशुद्ध हूँ निर्मल हूँ और कृतकृत्य हूँ ॥१०७॥ हे आत्मन्! मैं छिद नहीं सकता,

निर्भयोऽहं निराकुलः । त्वं चिंतयेति बोधेन स्वानुभूत्यात्मकेन वा ॥१०८॥ पुन पुनः सदा भव्य इति भावनया स्वयम् । स्वात्मानं हि दृढीकुर्यात्स्वात्मनि शुद्धचिन्तनैः ॥१०९॥ यः उपास्यः स एवाहमुपासकोप्यहं स च । तयोः क्वचिद्भेदस्त्वं चिन्तय सदा सुधीः ॥११०॥ शस्त्रेणापि न गम्योसि त्वं न गम्योसि वह्निना । नवा वा न गम्योसि चिन्तयेति मुहुर्मुहुः ॥१११॥ वायुना नैव भद्योसि मृत्योर्वा नैव गोचरः । भयमात्रं न ते क्वापि त्वमतोसि सुनिर्भयः ॥११२॥ अस्त्यात्मन् ते वहिर्दुःखं कर्मसंयोगजं परम् । अन्तस्ते हि परं सौख्यमात्मजं निर्मलं शुभम् ॥११३॥ इत्येवं हि निजं मत्वा रे आत्मन् तनुनाशतः । मा गा भयं निजे चित्ते त्वं सप्तभयवर्जितः ॥११४॥ तस्मात्त्वं स्वस्वरूपं हि पश्यात्मन् शुद्धबोधतः । रागद्वेषौ हि रे आत्मन् निवारय निवारय ॥११५॥ कृत्वाक्षाणां संवरणं मोहं हत्वा च वासनाम् । स्वकं चिंतय रे आत्मन् आत्मनि तिष्ठ तिष्ठ वा ॥११६॥ आत्मानमात्मनात्मन् त्वमात्मन्येव विलोकय । किं त्वं देह-

---

भिद नहीं सकता, मैं निर्भय हूं, निराकुल हूं। हे आत्मन्! तू स्वानुभूतिरूप ज्ञानसे अपने आत्माके स्वरूप का चिन्तवन कर ॥१०८॥ भव्य पुरुषोंको इसप्रकारकी भावनासे तथा अपनी आत्मामें शुद्ध आत्माका चिन्तवन करनेसे ऊपर लिखे अनुसार अपने आत्माको दृढ़ कर लेना चाहिये ॥१०९॥ जो उपास्य है (जिसकी उपासना की जाती है) वही मैं हूं, तथा जो मैं उपासक हूँ वही वह अर्थात् उपासक है। उपास्य उपासकमें कोई भेद नहीं है, हे बुद्धिमन्! तू ऐसा चिंतवन कर ॥११०॥ हे आत्मन्! तू न तो शस्त्रसे छिदभिद सकता है, न अग्निमें जल सकता है और न कालसे नष्ट हो सकता है, ऐसा तू वारवार चिंतवन कर ॥१११॥ तू न वायुसे उड़ सकता है, न तुझे मृत्यु ले जा सकती है और न तुझे किसी प्रकारका कहीं भी भय उत्पन्न हो सकता है, इसलिये तू सदा निर्भय है ॥११२॥ हे आत्मन्! यद्यपि तुझे कर्मके निमित्तसे बाहरसे दुःख दिखाई देता है तथापि अतरङ्गमें आत्मासे उत्पन्न हुआ अत्यन्त निर्मल शुभ और सर्वोत्कृष्ट सुख सदा बना रहता है ॥११३॥ हे आत्मन्! इसप्रकार समझकर शरीरके नाश होनेपर तू अपने हृदयमें किसी प्रकारका भय मतकर, क्योंकि तू सातोंप्रकारके भयसे सर्वथा रहित है ॥११४॥ इसलिये हे आत्मन्! तू अपने शुद्ध ज्ञानसे अपने आत्माका स्वरूप देख और राग-द्वेषको सर्वथा दूर कर ॥११५॥ हे आत्मन्! तू इन्द्रियोंको संवरणकर मोहका नाश कर, वासनाको दूर कर अपने आत्माका चिन्तवन कर और आत्मामें ही लीन हो ॥११६॥ हे आत्मन्! तू अपने आत्माके द्वारा अपने

स्वरूपोसि देहातीतोसि वा उत ॥११७॥ आत्मन् चिंतय सोहं वा सोहमिति निरन्तरम् । अभ्यासं कुरु नित्यं त्वं स्वस्थेन मनसा स्वयम् ॥११८॥ एवं विचार्यमाणेन बुद्धिः स्यात्परमात्मनि । स्वात्मनि स्वात्मना स्थैर्यं मनो याति न संशयः ॥११९॥ चिदात्मास्ति च यः शुद्धः यः सिद्धात्मेश्वरोस्ति यः । स एवाहं हि नान्योहमिति चिन्तय सन्ततम् ॥१२०॥ सुचिन्तयन्निदं चात्मा स्वात्मनि कुरुते स्थितिम् । सम्यक्त्वमुत्तमं धृत्वा चिदानन्दमुपैति सः ॥१२१॥ भावश्रुतेन संज्ञाप्य स्वात्मानं देहसंस्थितम् । स्थितिं स्वात्मनि यः कुर्यात्स स्याच्छुद्धोपयोगभाक् ॥१२२॥ आराध्यते हि चात्मानमन्तर्दृष्ट्या स्वके स्वयम् । तदा स लभते शीघ्रं परमात्मानमव्ययम् ॥१२३॥ सुनिजात्मानमाराध्यात्मात्मना स्वात्मनि स्वयम् । भवति परमात्मायमीश्वरः कर्महारकः ॥१२४॥ एवं हि चान्तरात्मासौ भ्रमं त्यक्त्वा निजात्मनि । स्थापयति निजात्मानं सम्यक्त्वेन विशुद्धधीः ॥१२५॥

ही आत्मामें अपने आत्माको देख, फिर तुझे मालूम होगा कि तू शरीररूप है अथवा शरीररहित है ॥११७॥ हे आत्मन् ! "मैं वही परमात्मा हूं वही परमात्मा हूं" ऐसा निरंतर चिन्तवन कर । तथा स्वस्थ मनसे स्वयं ऐसे चिन्तवन करनेका अभ्यास कर ॥२१८॥ इसप्रकार विचार करनेसे अपनी बुद्धि परमात्मामें लग जाती है और यह मन अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें स्थिर हो जाता है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है ॥११९॥ जो शुद्ध चिदात्मा है अथवा सिद्धात्मा ईश्वर है वही मैं हूं मैं उस सिद्धात्मासे भिन्न नहीं हूं, हे आत्मन् ! इसप्रकार तू बार बार चिंतवन कर ॥१२०॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे यह आत्मा अपने आत्मामें ही स्थिर हो जाता है और उत्तम सम्यग्दर्शनको धारणकर चिदानन्द अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ॥१२१॥ जो आत्मा अपने भावश्रुत ज्ञानसे शरीरमें रहनेवाले अपने आत्माको समझ लेता है और फिर अपने आत्मामें ही स्थिर हो जाता है वह आत्मा शुद्धोपयोगको धारण करनेवाला शुद्ध हो जाता है ॥१२२॥ जो जीव अपने अंतरंगसे अपने ही आत्मामें स्वयं अपने आत्माका आराधन करता है वह कभी नाश नहीं होनेवाले परमात्माको बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाता है॥१२३॥ यह आत्मा अपनेही आत्माके द्वारा अपनीही आत्मामें स्वयं अपने आत्माका आराधन कर कर्मोंको नाश करनेवाला परमात्मा ईश्वर बन जाता है ॥१२४॥ इसप्रकार विशुद्ध बुद्धिको धारण करनेवाला यह अन्तरात्मा अपने भ्रमको छोड़कर सम्यग्दर्शनके साथ साथ अपने आत्माको अपनेही आत्मामें स्थापन

॥१२५॥ तावद्बन्धो भ्रमो यावद्भ्रमावे हि शुद्धधीः । तव सम्पद्यते ध्यानं ध्यानात्कर्मक्षयो भवेत् ॥१२६॥ यत्र भ्रमोस्ति तत्रैवाहंकारोतीव दुर्धरः । तेन दुर्घटसंसारः पापबंधोस्ति संततम् ॥१२७॥ भ्रम एव हि संसारः भ्रमाभावः शिवो मतः । तस्माद्भ्रमं निराकृत्य चान्तर्दृष्ट्या निजं भज ॥१२८॥ स्वस्वरूपं समासाद्य चेत्थं शुद्धविचारतः । स्थापय त्वं दृढं शीघ्रं स्वात्मानं स्वात्मनि स्थिरम् ॥१२९॥ स्वानुभूत्या विचारेण ध्यानेन सोपयोगतः । अन्तरात्मा निजात्मानं स्थापयति परात्मनि ॥१३०॥ विरम विरम मोहाद्गाढमिथ्यात्वरूपात्, धर धर निज चित्ते शुद्धसम्यक्त्वमित्थम् । चर चर जिनमार्गे श्रीजिनाज्ञाप्रमाणम् , कुरु कुरु परमात्मानं सुधर्मं हि आत्मन् ॥१३१॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे बहिरात्मान्तरात्मनोर्वर्णनं नाम तृतीयोधिकारः ॥

---

कर लेता है ॥१२५॥ इस जीवको जबतक भ्रम रहता है तबतक कर्मका बन्ध होता रहता है और जब भ्रमका नाश हो जाता है तब बुद्धि अत्यन्त शुद्ध हो जाती है तथा शुद्ध बुद्धिसे ध्यानकी प्राप्ति हो जाती है और ध्यानसे कर्मों का नाश हो जाता है ॥१२६॥ जहांपर भ्रम होता है वहींपर अत्यन्त दुर्द्धर अहंकार हो जाता है। तथा अहंकार हो जानेसे घोर संसारकी वृद्धि हो जाती है और निरंतर पापका बन्ध होता रहता है ॥१२७॥ इस भ्रमको ही संसार समझना चाहिये और भ्रमके अभावको ही मोक्ष समझना चाहिये। इसलिये भ्रमका त्याग कर अन्तरंगसे अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥१२८॥ इसप्रकारके शुद्ध विचारोंसे अपने स्वरूपको प्राप्त होकर हे आत्मन् ! तू अपने आत्माको अपने ही आत्मामें दृढ़ताके साथ शीघ्र स्थापन कर ॥१२९॥ यह अन्तरात्मा अपनी स्वानुभूतिसे, अपने विचारोंसे, अपने ध्यानसे और अपने उपयोगसे अपने आत्माको परमात्मामें स्थापन कर लेता है ॥१३०॥ हे आत्मन् ! गाढ मिथ्यात्वरूप मोहसे तू विरक्त हो, विरक्त हो और इस प्रकार अपने हृदयमें शुद्ध सम्यग्दर्शनको धारण कर । भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार जिनमार्गमें चल और श्रेष्ठ धर्ममय परमात्माको स्वीकार कर ॥१३१॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें बहिरात्मा और अन्तरात्माको निरूपण करनेवाला यह तीसरा अधिकार समाप्त हुआ।

# चतुर्थोऽधिकारः ॥



येन ध्यानाच्चतुष्कर्म दग्धं शुद्धान्तरात्मना । प्राप्तं परमकैवल्यं तं वन्दे शम्भवं जिनम् ॥१॥ सर्वपापादिभिर्मुक्तो मुक्तो मोहकदम्बकात् । सर्वद्वन्द्वादिनिर्मुक्तो मुक्तोऽन्तर्बाह्यसंगतः ॥२॥ मुक्तः कामविकारैश्च मुक्तो हि विषयादिभिः । मुक्तो मनोक्षचेष्टाभिर्मुक्तः क्षुधादिदोषकैः ॥३॥ मुक्तः क्रोधाभिमानाद्यैः रागद्वेषप्रपंचकैः । मुक्तो जन्मजरामृत्युरत्यरत्यादिदुर्गुणैः ॥४॥ निद्रातन्द्राभयालस्यैर्मुक्तस्तृष्णादिपापकैः । पापपुण्यैर्विनिर्मुक्तः मुक्तः कर्मचतुष्टयात् ॥५॥ मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैस्तैः संसारस्वरूपकैः । मुक्तो नः सर्वथा वस्त्रैरलंकारैश्च पूजनैः ॥६॥ स्वेदनीहारनिर्मुक्तो मुक्त आतङ्कदुःखतः ।

---

शुद्धअन्तरात्माको धारण करनेवाले जिन जीवोंने अपने ध्यानसे चारों घातिया कर्मोंको नाश कर परम केवल ज्ञान प्राप्त किया है ऐसे भगवान् शंभवनाथको मैं वन्दना करता हूं ॥१॥ आगे परमात्माका स्वरूप कहते हैं—परमात्मा समस्त पापोंसे रहित होता है, मोहके समस्त विकारोंसे रहित होता है, समस्त उपद्रवोंसे तथा अन्तरंग बहिरंग समस्त परिग्रहोंसे रहित होता है ॥२॥ वह परमात्मा कामके विकारोंसे रहित होता है, विषयादिकोंसे रहित होता है, मन और इन्द्रियोंकी चेष्टाओंसे रहित होता है और भूख प्यास आदि समस्त दोषोंसे रहित होता है ॥३॥ वह परमात्मा क्रोध मान माया लोभ और द्वेष आदि प्रपञ्चोंसे रहित होता है, जन्म जरा मरण रति अरति आदि दुर्गुणोंसे सर्वथा रहित होता है ॥४॥ वह परमात्मा निद्रा तंद्रा भय और आलस्य आदिसे रहित होता है, तृष्णादि पापोंसे रहित होता है, पाप पुण्यसे अलग रहता है और घातिया कर्मोंसे रहित होता है ॥५॥ वह परमात्मा संसारको बढ़ानेवाले अठारह दोषोंसे रहित होता है तथा वस्त्र अलंकार स्त्रीजन आदि सबसे रहित होता है ॥६॥ पसीना मल मूत्र आदिसे रहित होता है, आतङ्क दुःखसे

सर्वदोषविनिर्मुक्तो मुक्तः संसारकूपतः ॥७॥ अनन्तसुखसम्पन्नो ह्यनन्तवीर्यधारकः। अनन्तज्ञानसंयुक्तो योऽनन्तदर्शनोदयः ॥८॥ शुद्धात्मनि स्थितः सोयं ध्यानप्रपंचदूरगः। विरागो विमलो नित्यः क्षान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ॥९॥ अन्तादिमध्यहीनो यः कृतकृत्योतिनिर्मलः। शुद्धो बुद्धो विशुद्धात्मा तीर्थकृच्छासको विभुः ॥१०॥ विष्णुर्ब्रह्मा परब्रह्म परमेष्ठी सनातनः। स शंकरश्चिदानन्दो ब्रह्मानन्दो महेश्वरः ॥११॥ शान्तात्मा परमात्मा च महात्मा विश्ववन्दितः। सत्यात्मा तत्त्वरूपात्मा शुद्धात्मा ? तविपावनः ॥१२॥ परमर्षिमहर्षिश्च ब्रह्मर्षिर्मुनिपुङ्गवः। हरिर्हरो विधातासौ योगीशो विश्वतारकः ॥१३॥ महाविभूतिसम्पन्नः समवसृतिधारकः। सिंहासनसमासीनः छत्रत्रयविराजितः ॥१४॥ प्रातिहार्याष्टकोपेतश्चामरैः परिवीजितः। यक्षयक्षीसुसंभाव्यो देवनागेन्द्रवन्दितः ॥१५॥ सुरासुरनरैः पूज्यः सर्वदेवाभिनायकः। जिनोर्हदेवदेवोसौ सर्वज्ञो वीतरागकः ॥१६॥ पंचकल्याणकैः स्तुत्यः पंचाश्चर्यसुकारकः। त्रिलोकमहिमाप्राप्तः त्रिलोके पूज्य-

---

रहित होता है, समस्त दोषोंसे रहित होता है और संसाररूपी कूपके महादुःखोंसे रहित होता है ॥७॥ वह परमात्मा अनन्त ज्ञान अनन्त सुख अनन्त वीर्य और अनन्त दर्शनको धारण करनेवाला होता है ॥८॥ ध्यानके प्रपञ्चसे अलग हुआ वह परमात्मा अपने शुद्ध आत्मामें स्थिर रहता है, तथा रागरहित, मलरहित, नित्य, क्षमाशील, जितेन्द्रिय और महासंयमी होता है ॥९॥ वह परमात्मा आदि मध्य अन्तसे रहित होता है, कृत्यकृत्य, अत्यन्त निर्मल, शुद्ध, बुद्ध, शुद्धआत्ममय, तीर्थंकर, शासक और विभु होता है ॥१०॥ वह परमात्मा विष्णु, ब्रह्मा, परब्रह्म, परमेष्ठी, सनातन, शङ्कर, चिदानन्द, ब्रह्मानन्द, महेश्वर, शांतात्मा, परमात्मा, महात्मा, सत्यात्मा, तत्त्वरूपात्मा, शुद्धात्मा अत्यन्त पवित्र और संसार के द्वारा वन्दनीय कहा जाता है ॥११–१२॥ यह परमात्मा परमऋषि, महाऋषि, ब्रह्मऋषि, मुनियोंमें श्रेष्ठ, हरि, हर, विधाता, योगीश्वर, और संसारको पार कर देनेवाला कहा जाता है ॥१३॥ वह परमात्मा महाविभूतियोंसे सुशोभित होता है, समवसरणमें विराजमान रहता है, और तीन क्षत्रोंको धारण करता हुआ सिंहासनपर विराजमान रहता है ॥१४॥ वह परमात्मा आठों प्रातिहार्योंसे सुशोभित रहता है, उनपर चमर ढुलते रहते हैं, यक्ष यक्षी उनकी सेवा करते रहते हैं और देव नागेन्द्र आदि सब उनकी बंदना करते रहते हैं ॥१५॥ सुर असुर चक्रवर्ती आदि सब उनकी पूजा करते हैं वे सब देवोंके स्वामी होते हैं तथा जिन अर्हन् देवाधिदेव सर्वज्ञ और

पादकः ॥१७॥ जीवन्मुक्तः सदेहस्थो लोकालोकप्रकाशकः । सकलः परमात्मासौ जिनेन्द्रो जिननायकः ॥१८॥ कृत्स्नकर्मविनिर्मुक्तो देहातीतो निरञ्जनः । निराकारोपि सिद्धात्मा प्रदेशाकारसंस्थितः ॥१९॥ त्रिलोकनायको नित्योऽविनाशी सर्वदर्शकः । निरन्वयो निराबाधो वावगाहनशक्तिकः ॥२०॥ परमोत्कृष्टवीर्यः स निष्क्रियः शुद्धचेतनः । जन्मातीतो जरामृत्युसर्वदोषविवर्जितः ॥२१॥ काले कल्पशतेनापि विकारपरिवर्जितः । अत एव हि कूटस्थः व्ययोत्पत्तिध्रुवात्मकः ॥२२॥ चिदानन्दमयः शुद्धः व्यापकौ ज्ञानतो विभुः । सम्यक्त्वादिगुणोपेतः सूक्ष्मोऽमूर्तो गुणाकरः ॥२३॥ निष्कलः परमात्मासौ शाश्वतः सुखसं युतः । त्रिलोकशिखरासीनो देवदेवैर्नमस्कृतः ॥२४॥ परमसमयसारः शुद्धचैतन्यरूपःसकलकलुषहंता

---

वीतराग आदि नामोंसे कहे जाते हैं ॥१६॥ वह परमात्मा पञ्च कल्याणोंके द्वारा स्तुति करने योग्य होता है, पञ्च आश्चर्योंको उत्पन्न करनेवाला होता है, तीनों लोकोंमें उसकी महिमा व्याप्त होती है और उनके चरणकमल तीनों लोकोंमें पूजे जाते हैं ॥१७॥ वह परमात्मा जीवन्मुक्त होता है, परमौदारिक शरीरमें विराजमान रहता है और लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला होता है, इसप्रकारके जिन नायक जिनेन्द्रदेव भगवान् अर्हन्त देवको सकल परमात्मा कहते हैं ॥१८॥ आगे निकल परमात्माका स्वरूप कहते हैं—जो समस्त कर्मोंसे रहित हैं, शरीरसे रहित हैं, निरंजन हैं, निराकार हैं, प्रदेशोंके आकाररूप विराजमान हैं ऐसे सिद्ध परमात्मा निकल परमात्मा कहे जाते हैं ॥१९॥ वे सिद्ध परमात्मा तीनों लोकोंके जानकार, नित्य, अविनश्वर, सर्वदर्शी, अविनाशी, निराबाध और अवगाहन शक्तिको धारण करनेवाला होता है ॥२०॥ वह निकल परमात्मा परमोत्कृष्ट अनन्तवीर्यको धारण करनेवाला, क्रियारहित, शुद्ध चैतन्यस्वरूप, जन्मरहित, बुढ़ापा-मरण आदि सब दोषोंसे रहित होता है ॥२१॥ उन परमात्मामें सैकड़ों कल्प काल बीत जानेपर भी कभी किसी प्रकारका विकार नहीं होता; इसीलिये कूटस्थ और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप कहलाता है ॥२२॥ वह निकल परमात्मा चिदानन्दमय, शुद्ध ज्ञान दर्शनके द्वारा व्यापक, विभु, सम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे सुशोभित, सूक्ष्म अमूर्त और अनन्त गुणोंकी खानि होता है ॥२३॥ जिनको देवोंके देव भी नमस्कार करते हैं, जो तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान हैं, नित्य और अनन्त सुखी हैं; ऐसे सिद्धपरमेष्ठी निकल परमात्मा कहलाते हैं ॥२४॥ जो परमात्मा परम समयरूप है, शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, समस्त पापोंको

कर्मजेता विधाता । भवजननविमुक्तः मुक्तिरामानुरक्तः रमयति हि सुधर्मे स्वात्मरूपे विशुद्धे ॥२५॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे परमात्मस्वरूपप्ररूपणो नाम चतुर्थोधिकारः ॥

---

दूर करनेवाला, समस्त कर्मोंको जीतनेवाला, सबका स्वामी, जन्ममरणसे रहित और मुक्तिरूपी रमणीमें अनुरक्त रहता है; ऐसा परमात्मा स्वात्मरूप विशुद्ध आत्मधर्ममें सदा क्रीडा किया करता है ॥२५॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यान प्रदीपाधिकारमें परमात्माके स्वरूपको निरूपण करनेवाला यह चौथा अधिकार समाप्त हुआ ॥



# पञ्चमोऽधिकारः ॥



भवापायोद्भवैर्भावै राजितो भवनाशकः । स्वात्मोत्थसुखसंलीनो जीयाच्छ्रीअभिनन्दनः ॥१॥ बहिरन्तः— परात्मानमिति ज्ञात्वा स्वरूपतः । स्वात्मानमुद्धरेद्भव्यः संसारदुःखकूपतः ॥२॥ अनादिकालतः प्राणी अजानन् तत्त्वसंस्थितिम् । मोहात् हा हा परं दुःखं भुञ्जानः खिद्यते परम् ॥३॥ अनादिकालतो नूनं भवक्लेशभृता मया । मोहमहात्म्यतः प्राप्तः संतापो हि भवे भवे ॥४॥ मयाद्यावधिपर्यन्तं न ज्ञातो दुःखमोचकः । सर्वसुखप्रदाता हि जिनमार्गः शिवप्रदः ॥५॥ अनेन कारणेनैव भ्रमाम्यत्र भवार्णवे । पापिष्ठेन ततो घोरं कृतं पापमहो मया ॥६॥ दुरात्मना मया हा हा रम्यं नैव विचारितम् । हितं नाचरितं तेन बभ्रमीमि भवार्णवे ॥७॥ हा हा न विचारितं तत्त्वं जिनाज्ञापूर्वकं मया ।

---

जो संसारके नाशसे उत्पन्न हुए भावोंसे शोभायमान हैं, जो संसारके नाश करनेवाले हैं और आत्मासे उत्पन्न हुए सुखमें लीन हैं ऐसे श्रीअभिनन्दन स्वामी सदा जयशील हों ॥१॥ भव्य जीवोंको इस प्रकार बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्माका स्वरूप उनके स्वरूपके अनुसार समझकर इस संसारके दुःखरूपी कूँएसे अपने आत्माका उद्धार करना चाहिये ॥२॥ दुःख है कि यह प्राणी अनादिकालसे वस्तुस्थितिको वा तत्त्वोंके स्वरूपको नहीं जानता हुआ मोहसे अनेक दुःख भोग रहा है और खेदखिन्न हो रहा है ॥३॥ संसारके क्लेशोंको धारण करते हुए मैंने इस मोहकी महिमासे भव भवमें अनादिकालसे अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त किये हैं ॥४॥ मैंने सब दुःखोंको दूर करनेवाले, मोक्षको देनेवाले और सब प्रकारके सुख देनेवाले जिनमार्गका स्वरूप आजतक नहीं जाना ॥५॥ इसी कारणसे मैं इस संसाररूपी महासागरमें परिभ्रमण कर रहा हूँ और इसीलिये महापापी मैंने अत्यन्त घोरपाप उपार्जन किये हैं ॥६॥ दुःख है कि मुझ दुष्टने आत्माका हित करनेवाले मनोहर विचार कभी नहीं किये और इसीलिये मैं भवसागरमें परिभ्रमण कर रहा हूँ ॥७॥ दुःख है कि अपने हृदयमें मिथ्या

मिथ्यामतसुचित्तेन विषयसुखलिप्सया ॥८॥ हा हा दुष्टेन भावेन जिनवाक्यं तिरस्कृतम्। तस्मादेव परं प्राप्ता आधि व्याधिकुतर्जना ॥९॥ जिनाज्ञाविपरीतंहि कृतं कर्मतिदारुणम्। हाऽज्ञानतो मया मायाचारेण ननु पापिना ॥१०॥ तेनैव हेतुना चास्मिन्संसारे पतितोस्म्यहम्। घोरातिघोरदुःखं हि सेहे वाचामगोचरम् ॥११॥ परबाधाकरं पापं परजीवविराधनम्। परपीडाकरं निन्द्यं दुष्टं कार्यं हि चिन्तितम् ॥१२॥ मद्यमांसमधूच्छिष्टं सेवितं पापलिप्सया। मिथ्यामतकुवासेन विषयाभोगकांक्षिणा ॥१३॥ मिथ्यामतोपदेशेन हिंसायां धर्मधीः कृता। हिंसिता बहुधा जीवाः सुपट्कायनिकायिकाः ॥१४॥ मिथ्यामतोपदेशेन न ज्ञातं हि हिताहितम्। अनाचारं कृतं नानासुदुष्कर्मप्रदायकम् ॥१५॥ अक्षोद्रेकात्प्रमादाद्वा चित्तचंचलवृत्तितः। मोहभ्रांत्यैव न ज्ञातं तत्त्वं सत्यंजिनोदितम् ॥१६॥ कुशिक्षया कुसंगत्या मिथ्याशास्त्रोपदेशतः।

---

मतको धारण करनेके कारण और विषयसुखोंकी इच्छा होनेके कारण मैंने भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञापूर्वक तत्त्वोंका चिंतवन नहीं किया ॥८॥ मुझे दुःख है कि मैंने अपने दुष्ट भावोंसे जिन-वचनोंका अनादर किया और इसीलिये आधि, व्याधि, ताडन, मारण आदि अनेक प्रकारके दुःख प्राप्त किये ॥९॥ हा! महामायाचारी और पापी मैंने अपने अज्ञानसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके विपरीत बहुत ही घोर कुकर्म किये ॥१०॥ इन्हीं सब कारणोंसे मैं इस संसारमें आ पड़ा हूँ और वाणीके अगोचर ऐसे घोरसे घोर दुःख सहन कर रहा हूँ ॥११॥ मैंने दूसरोंको दुःख देनेवाले पापोंका चिंतवन किया, दूसरे जीवोंकी विराधना की, और दूसरोंको पीडा उत्पन्न करनेवाले निंद्य दुष्ट कार्योंका चिंतवन किया ॥१२॥ मिथ्यामतकी बुरी वासनासे अथवा विषयभोगोंकी आकांक्षासे पापोंकी इच्छा करके ही क्या मानों मैंने मद्य-मांसका सेवन किया और उच्छिष्ट मधु वा शहदका सेवन किया ॥१३॥ मैंने मिथ्या मतका उपदेश देकर हिंसामें ही लोगोंकी धर्मरूप बुद्धिकी और छहों कायके अनेक जीवोंकी हिंसा की ॥१४॥ मिथ्यामतके उपदेशसे मैंने अपना हिताहित नहीं समझा और अनेक प्रकारके दुष्कर्म उत्पन्न करनेवाले बहुतसे अनाचार किये ॥१५॥ इन्द्रियोंके उद्रेकसे अथवा प्रमादसे अथवा चित्तकी चञ्चल वृत्तिसे अथवा मोहसे उत्पन्न होनेवाली भ्रांतिसे मैंने भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए यथार्थ तत्त्वोंका स्वरूप नहीं समझा ॥१६॥ खोटी शिक्षासे अथवा नीच संगतिसे और मिथ्या शास्त्रोंके उपदेशसे मैंने भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका लोप किया और पञ्च परमे-

सा जिनाज्ञा मया लुप्ता निन्दिताः परमेष्ठिनः ॥१७॥ विषयासक्तचित्तेन विषयभोगसिद्धये। विपरीतं कृतं हा हा जैनागमं कुपापिना ॥१८॥ संसारभ्रमणभ्रान्तिं मोहादद्यापि वोद्म न। भुञ्जाम्यहं हि तेनैव भयक्लेशशतानि च ॥१९॥ अस्मिन्नपारसंसारे मोहनिद्रास्तचेतने। स्वपन्ति सर्वजीवा हि न जानन्ति हिताहितम् ॥२०॥ हा हा मोहादहं सुप्तो मूर्च्छितो वास्तचेतनः। तेनाद्यापि न जानामि जिनमार्गं सुखप्रदम् ॥२१॥ अपास्यविषयासक्तिं मलिनां पापवासनाम्। जिनागमविरुद्धं वा रे आत्मन् त्यज सन्मते ॥२२॥ जिनमार्गरतो योगी त्यक्तमोहो दयानिधिः। पंचाक्ष भोगाज्जागर्ति ध्यानाध्यायनतत्परः ॥२३॥ जागरामि कदा हा हा मोहं त्यक्त्वा शिवप्रदे। जिनमार्गे सुचारित्रं गृहीत्वा यामि मोक्षकम् ॥२४॥ मिथ्याज्ञानेन न ज्ञातो जिनधर्मः सुखप्रदः। तेनैव कारणेनैव संसारे बम्भ्रमीमि च ॥२५॥ कदा केन प्रकारेण जिनधर्मं दधाम्यहम्। जिनधर्मप्रभावेन भवान्मुञ्चाम्यहं स्वकम् ॥२६॥ पंचाक्षविषजा मूर्च्छा जीवान् तुदति दारुणम्। जिनमार्गं

---

ष्ठियोंकी निंदा की ॥१७॥ मुझ पापीने अपने हृदयमें विषयोंकी आसक्तता धारणकर केवल विषयभोगोंकी सिद्धिके लिये जैनशास्त्रोंका अर्थ भी विपरीत ही बतलाया ॥१८॥ मैं अपने मोहनीय कर्मके उदयसे आजतक भी संसारके परिभ्रमणकी भ्रांतिको नहीं समझ सका हूँ, और इसीलिये मैं संसारके सैकड़ों क्लेशों को भोग रहा हूँ ॥१९॥ मोहरूपी नींदके कारण जिसमें सबकी चेतना नष्ट हो जाती है; ऐसे इस अपार संसारमें सब जीव सो रहे हैं और इसीलिये वे अपने हित अहितको नहीं जान सकते ॥२०॥ हा हा इस मोहनीय कर्मके उदयसे मैं भी सो गया, मूर्च्छित हो गया और मेरी चेतना भी नष्ट हो गई। इसीलिये मैं सुख देनेवाले इस जिनमार्गको आज तक नहीं जान सका हूँ ॥२१॥ हे श्रेष्ठ बुद्धिको धारण करनेवाले आत्मन्! अब विषयोंकी आसक्तिका त्याग कर और जिनागमके विरुद्ध जो मलिन पापवासना है उसका त्याग कर ॥२२॥ दयाके निधि ध्यान और अध्ययनमें तत्पर तथा मोहरहित ऐसे जो योगी जिनमार्गमें लीन रहते हैं वे पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे सदा जाग्रत रहते हैं ॥२३॥ हा हा मैं भी मोहको छोड़कर कब जगूंगा और मोक्ष देनेवाले जिनमार्गमें सम्यक् चारित्रको धारणकर कब मोक्ष प्राप्त करूँगा ॥२४॥ मैंने अपने मिथ्या ज्ञानसे सुख देनेवाले जिनधर्मको नहीं जाना और इसीलिये मैं इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा हूँ ॥२५॥ अब मैं कब और किस प्रकार जिनधर्मको धारण करूँगा और उस जिनधर्मके प्रभावसे मैं कब इस संसारसे छूटूँगा ॥२६॥ पांचों इन्द्रिय रूपी विषसे उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा जीवोंको बहुत

गृहीत्वात्र ततो मुंचाम्यहं स्वकम् ॥२७॥ रे रे आत्मन् हृषीकार्थे दुःखदेऽतिविनश्वरे। रतिं कृत्वात्र मूढस्त्वं प्राप्तः दुःखपरंपराम् ॥२८॥ गृहीत्वा जिनधर्मं हि बुध्वात्मनं त्यजाम्यहम्। पंचाक्षविषयं सर्वं ध्यात्वा जैनेन्द्रतीर्थपम् ॥२९॥ भोगाः पंचेन्द्रियोद्भूता दारुणा दुःखदा हहा। अद्यावधि मया भुक्ता रतिं कृत्वा विमोहतः ॥३०॥ तेभ्यो मुंचामि स्वात्मानमधुना जिनमार्गतः। जिनदीक्षां गृहीत्वात्र चारित्रं च चराम्यहम् ॥३१॥ निजात्मानं विमुंचामि दुष्टाष्टकर्मशत्रुतः। तीव्रक्लेशकरः शत्रुर्न ज्ञातो मोहभावतः ॥३२॥ हा हाद्यावधि पर्यन्तमनादिकालतो मया। वृथैव गमितः कालो विषयालुब्धचेतसा ॥३३॥ सज्जातौ सत्कुले जन्म लब्ध्वा जैनागमं तथा। तथापि गमितः कालः वृथैव विषये मया ॥३४॥ भवक्लेशोद्भवं दुःखं न ज्ञातं सहता मया। हा हा चात्महितं तत्त्वं नाधीतं स्वर्गमोक्षदम् ॥३५॥ भवान्मुचाम्यहं सद्यः

ही दुःख देती है इसलिये मैं जिनधर्मको धारणकर इस संसारसे कब अपने आत्माको अलग करूंगा ॥२७॥ हे आत्मन्! तूने अज्ञानता धारणकर दुःख देनेवाले और नष्ट होनेवाले इन इंद्रियोंके विषयोंमें राग उत्पन्न किया इसीलिये तूने अनेक दुःखोंकी परंपरा प्राप्त की ॥२८॥ अब मैं जिनधर्मको धारणकर आत्माका स्वरूप समझकर और भगवान् जिनेन्द्रदेवका ध्यानकर पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका सर्वथा त्याग करूँगा ॥२९॥ ये पांचों इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए भोग बड़े ही दारुण हैं और बहुत ही दुःख देनेवाले हैं। मोहके कारण मैंने आजतक उनमें प्रेम किया और उनका उपभोग किया ॥३०॥ अब मैं उन भोगोंसे अपने आत्माको अलग करना चाहता हूँ और जिनमार्गको धारणकर तथा जिनदीक्षाको स्वीकारकर सम्यक्चारित्रका पालन करना चाहता हूँ ॥३१॥ अब मैं इन आठों कर्मरूपी दुष्ट शत्रुओंसे अपने आत्माको छुड़ाना चाहता हूँ। मैंने अपने तीव्र मोहके कारण तीव्र दुःख देनेवाले इन कर्मरूप शत्रुओंको आजतक नहीं जाना ॥३२॥ हा हा, मैंने अपने चित्तको विषयोंमें आसक्त कराकर अनादि कालसे आजतक व्यर्थ ही कालक्षेप किया ॥३३॥ मैंने श्रेष्ठ जातिमें तथा सत्कुलमें जन्म लिया और जिनागमका रहस्य जाना, तथापि मैंने विषयोंमें व्यर्थ ही काल गमाया ॥३४॥ संसारसे उत्पन्न हुए अनेक दुःख मैंने सहे, तथापि मैंने उनको जाना नहीं। हाय, स्वर्ग मोक्ष देनेवाले और आत्माका हित करनेवाले तत्त्वोंका अध्ययन भी मैंने नहीं किया ॥३५॥ अब मैं इस जिनधर्मके प्रभावसे जिन

आत्मानं दुःखपीड़ितम् । गृहीत्वा जिनलिंगं हि जिनधर्मप्रभावतः ॥३६॥ संसारदुःखनाशार्थं रे रे आत्मन् पिबाधुना । सम्यग्ज्ञानसुधां सद्यः शिवी भवाविनश्वर ॥३७॥ त्यज मोहं भजात्मानं मुञ्च मुञ्च परिग्रहम् । ध्यानं कुरु जिनेन्द्रस्य कर्मपङ्कविनाशकम् ॥३८॥ रत्नत्रयं भजात्मन् त्वं सुदृग्बोधव्रतात्मकम् । येन दुरन्तसंसारसागरस्तीर्यते महान् ॥३९॥ निर्ममोहं भविष्यामि पुत्रादिमोहदूरगः । स्वात्मनं धारयाम्यत्र स्वात्मनि स्वात्मसिद्धये ॥४०॥ कथं केन प्रकारेण संसारं च त्यजाम्यहम् । जगत्पूतकरं वृत्तं धारयामि कथं ननु ॥४१॥ हा हाहं वंचितो नूनं मोहनीयेन कर्मणा । अद्यापि येन न त्यक्तो गृहवासोतिभीमकः ॥४२॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गृहवासं त्यजाम्यहम् । पुत्रं मित्रं कलत्रं च संसारस्यं च वन्धनम् ॥४३॥ न मे पुत्रा न मे दाराः न च वस्तु धनादिकम् । परवस्तु निजं मत्वा वृथैव पतितो भवे ॥४४॥ तस्मान्निःशंकभावेन जिनदीक्षां प्रपद्य च । निर्ममत्वेन भावेन स्वात्मानं भावयाम्यहम् ॥४५॥ स्वशरीरेपि नैराश्यं

---

लिंग धारण करूँगा और अनेक दुःखोंसे दुःखी हुए अपने आत्माको इस संसारसे शीघ्र ही छुड़ाऊँगा ॥३६॥ हे आत्मन्! अब इन संसाररूपी दुःखोंको नाश करनेके लिये सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतको शीघ्र ही पी और कभी न नाश होनेवाली सिद्ध अवस्थाको धारण कर ॥३७॥ हे आत्मन्! तू मोहका त्यागकर आत्माका चिंतवन कर, परिग्रहोंका त्यागकर और कर्मरूप कलंकोंका नाश करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवका ध्यान कर ॥३८॥ हे आत्मन्! तू सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रयका सेवन कर; जिससे कि तू इस दुरंत संसार-रूपी महासागरसे पार हो जाय ॥३९॥ अब मैं पुत्र मित्र आदिका मोह दूरकर ममत्वरहित हो जाऊँगा और अपने आत्माकी सिद्धिके लिये अपने ही आत्मामें अपने आत्माको धारण करूँगा ॥४०॥ परंतु मैं इस संसारका त्याग कैसे करूँगा और जगत्को पवित्र करनेवाले सम्यक् चारित्रको कैसे धारण करूँगा ॥४१॥ हा हा! मुझे तो मोहनीय कर्मने ठग लिया है, क्योंकि मोहनीय कर्मके कारण ही आजतक मैं इस भयानक घरके निवासको नहीं छोड़ सका हूँ ॥४२॥ इसलिये मैं सब तरहके प्रयत्नकर सबसे पहले इस घरके निवासका त्याग करूँगा और संसारका बन्धन करनेवाले पुत्र, मित्र और स्त्री आदिका त्याग करूँगा ॥४३॥ इस संसारमें न तो कोई मेरा पुत्र है, न कोई मेरी स्त्री है और न कोई धन-धान्य आदि अन्य पदार्थ मेरे हैं। मैं पर पदार्थोंको अपना समझकर व्यर्थ ही इस संसारमें पड़ रहा हूँ ॥४४॥ इसलिये निःशंक परिणामोंसे मैं जनदीक्षाको धारण

भजामि ध्यानयोगतः। परद्रव्यस्य काशा ये निराशावादिनो जिनाः ॥४६॥ निर्मोहो निर्भयो भूत्वा चरामि जिनलिंगके। कर्मकाष्ठं च संसारं दहामि ध्यानतोऽधुना ॥४७॥ इति वैराग्यमासाद्य भावयेद्भावनामिमाम्। दृढीकर्तुं हि निर्वेगं ध्यानाध्ययनसिद्धये ॥४८॥ द्वादशभावनसहिताः जीवा मोक्षं सदा प्रयान्त्येव। सततं च चिन्तयन्तु स्वात्मसुखां भावनां रम्याम् ॥४९॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे वैराग्यभावनानिरूपणो नाम पंचमोधिकारः ॥

---

करूँगा और निर्ममत्व भावोंसे अपने आत्माका चिंतवन करूँगा ॥४५॥ मैं अपने ध्यानके निमित्तसे अपने शरीरमें भी सब प्रकारकी आशा वा ममत्व छोड़ दूँगा, क्योंकि भगवान् जिनेन्द्रदेव निराशावादी (आशा वा इच्छाका त्याग करनेका उपदेश देनेवाले) होते हैं; वे भला परद्रव्योंकी आशा कैसे कर सकते हैं ? ॥४६॥ मैं मोहरहित और भयरहित होकर जिनलिंग धारण करूँगा और अब ध्यानके निमित्तसे कर्मरूपी काठको और इस जन्म-मरणरूप संसारको जला दूँगा ॥४७॥ इस प्रकार वैराग्यको धारणकर ध्यान और अध्ययनकी सिद्धिके लिये तथा अपने वैराग्यको बढ़ानेके लिये आगे लिखी हुई बारह भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ॥४८॥ जो पुरुष बारह भावनाओंका चिंतवन करता है, वह मोक्षको अवश्य जाता है, इसलिये भव्य जीवोंको आत्मसुख देनेवाली मनोहर बारह भावनाओंका चिंतवन सदा करते रहना चाहिये ॥४९॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें वैराग्यभावनाको निरूपण करनेवाला यह पाँचवां अधिकार समाप्त हुआ।



# षष्ठोऽधिकारः ।



अनन्तसुखदातारमनन्तभवनाशकम् । वन्देहं सुमतिं देवं दिव्यज्ञानप्रकाशकम् ॥१॥ परवैराग्यसिद्ध्यर्थं भवभ्रमणहानये । भावयाम्यधुना भावाद्भावनां द्वादशात्मनाम् ॥२॥

## ॥ अनित्यभावना ॥

चपलेव चला लक्ष्मीर्यौवनं घनविन्दुवत् । रम्भास्तम्भ इवापिंडः सर्वमेतद्धि नश्वरम् ॥३॥ बुद्बुदा इव ते भोगा विषमा दुःखदाः सदा । निस्साराः पापसंयुक्ता दृष्टिमात्रस्थिरा इमे ॥४॥ परावर्ते च संसारे नदीवगोपमे चले । नास्त्यत्र स्थिरताप्यात्मन् भोगादीनां चलात्मनाम् ॥५॥ क्षणभंगुरसंसारे नानायोनिसमाकुले । चिरं भ्राम्यन्त्र लेभेऽत्र

---

जो सुमतिनाथ भगवान् अनन्त सुखको देनेवाले हैं, अनन्त संसारको नाश करनेवाले हैं और दिव्य ज्ञानको प्रकाशित करनेवाले हैं; ऐसे भगवान् सुमतिनाथकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥ अब मैं परमवैराग्यकी सिद्धिके लिये और संसारके परिभ्रमणको नाश करनेके लिये अपने शुभ परिणामोंसे बारह भावनाओंका चिंतवन करता हूँ ॥२॥

## ॥ अशरणानुप्रेक्षा ॥

इस संसारमें लक्ष्मी विजलीके समान चञ्चल है, यौवन बादलकी बूँदके समान नश्वर है और शरीर केलेके थम्भके समान साररहित है। इसप्रकार सब नाशवान् ही हैं ॥३॥ ये विषयभोग सदा दुःख देनेवाले हैं, पानीके बुदबुदाके समान नश्वर हैं, पाप उत्पन्न करनेवाले हैं, साररहित हैं और देखनेमात्रके ही स्थिर हैं ॥४॥ यह परिवर्तनरूप संसार नदीके वेगके समान चञ्चल है, हे आत्मन् ! इसमें अत्यन्त चञ्चल ऐसे भोगोंकी स्थिरता लेशमात्र भी नहीं है ॥५॥ अनेक योनियोंसे भरा हुआ यह संसार क्षण-

स्थिरतां जन्यमृत्युतः ॥६॥ पुनः पुनश्च जन्मानि मरणानि पुनः पुनः। कर्मणो वशतो जीवः करोत्यनादिकालतः ॥७॥ पुत्रमित्रादयः सर्वे मृत्युं यास्यन्ति यान्ति च। तथाप्यात्मन् न जानासि संसारस्य विनश्यताम् ॥८॥ शरीरं शीर्यते तेऽत्र गलत्यायुः क्षणं क्षणम्। तथाप्यात्मन् न जानासि संसारस्य ह्यनित्यताम् ॥९॥ विवादमंगलं प्रातर्मृत्युस्तस्यापराह्णके। क्षणमेकं न संसारे स्थिरता कस्य दृश्यते ॥१०॥ स्वप्नवद् दृश्यते लोके पुत्रादीनां समागमः। इन्द्रजालोपमं ज्ञेयं भोगवस्तु धनादिकम् ॥११॥ इष्टानिष्टं हि विज्ञेयं भोगदेहकुटुम्बकम्। तेषां नष्टे नचाश्चर्यं विद्यते शृणु चेतन ॥१२॥ भवस्यानित्यतां ज्ञात्वा चात्मानं शाश्वतं शिवम्। सर्वमोहं प्रपंचं च त्यक्त्वात्मानं भजाम्यहम् ॥१३॥

॥ **अशरणभावना** ॥

पोताच्च्युतस्य काकस्य शरणं नास्ति सागरे। गृहीतयमपाशस्य जीवस्य शरणं नहि ॥१४॥ त्रातारो सन्ति संसारे

---

भंगुर है, चिरकालसे परिभ्रमण करते हुए इस जीवने इस संसारमें जन्ममरणसे कभी स्थिरता नहीं पाई ॥६॥ कर्मोंके परवश पड़ा हुआ यह जीव अनादिकालसे बार बार जन्म लेता है और बार बार मरण करता है ॥७॥ ये सब पुत्र-मित्रादिक मृत्युको प्राप्त होते हैं और आगे होंगे। तथापि हे आत्मन्! तू इस संसारकी विनश्वरताको अभीतक नहीं जान सका है ॥८॥ यह तेरा शरीर क्षण क्षणमें नष्ट हो रहा है, आयु क्षण क्षणमें नष्ट हो रही है। हे आत्मन्! तो भी तू इस संसारकी अनित्यताको नहीं जानता है ॥९॥ प्रातःकाल जिसका विवाह मंगल हो रहा है, सायङ्काल उसीकी मृत्यु हो जाती है। इस संसारमें क्षणमात्रभी किसीकी स्थिरता दिखाई नहीं देती है ॥१०॥ इस संसारमें पुत्रमित्रादिकका समागम स्वप्नके समान दिखाई देता है, और धनादिक भोगोपभोगोंका संग्रह इन्द्रजालके समान जान पड़ता है ॥११॥ हे चेतन! तू सुन, भोग शरीर और कुटम्ब आदि सब पदार्थ इष्ट भी हैं और अनिष्ट भी हैं; इनके नष्ट होनेमें कोई किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं है ॥१२॥ इसलिये मैं इस संसारकी अनित्यताको समझकर और आत्माको कल्याणमय नित्य समझकर मोहके समस्त प्रपञ्चोंका त्याग करता हूँ और अपने आत्माका चिंतवन करता हूँ ॥१३॥

॥ **अशरणानुप्रेक्षा** ॥

जिसप्रकार कोई कौआ महासागरमें चलते हुए जहाजसे उड़ जाय तो फिर उसे कहीं भी शरण नहीं

पुत्रदारा न बांधवाः। जगद्वीराद् यमाल्लोके प्रकृष्टैः कोटियत्नकैः ॥१५॥ मण्यौषधिसुमंत्राणि समर्थानि न रक्षितुम्। यमाज्जीवं परं तानि वा यमस्याऽहता गतिः ॥१६॥ सुरासुरनरेन्द्रास्ते त्रैलोक्ये क्षयशक्तिकाः। रक्षितुं वा समर्था न यमपाशाच्च जन्तुकम् ॥१७॥ सर्वतंत्रा स्वतंत्रा ये चेन्द्राद्याः स्वर्गनायकाः। कालेनैकेन ते सर्वे मारिता दृष्टिमात्रतः ॥१८॥ अन्येषां का कथा तत्र शरणं कस्य कोथवा। कर्म प्रबद्धजन्तूनां हा हा रक्षा कथं भवेत् ॥१९॥ अनादिकालतो कोपि बली जीवं हि रक्षितुम्। यमान्नात्र शरण्योभूत् रक्षेतः कर्मोदयेऽत्र कः ॥२०॥ धर्म एव शरण्यो हि जिनोक्तः सदयोथवा। यमं विजित्य यः शीघ्रं जीवं धरति सत्सुखे ॥२१॥ धर्म एव पिता लोके शरण्यो रक्षको मतः। विपत्तौ संकटे घोरे दुःखाक्रान्तशरीरिणाम् ॥२२॥ अशरणं ततः सर्वं राज्यपुत्रकलत्रकम्। ज्ञात्वा च तत्त्वभावेन धर्ममाचर रक्षकम् ॥२३॥ जिनधर्म-

---

मिल सकती, उसीप्रकार जब यह मृत्यु जीवको पकड़ लेती है तब इसको कोई शरण नहीं होता ॥१४॥ इस संसारमें तीनों लोकोंमें एक शूरवीर यमराजसे बचानेके लिये करोड़ों उत्तमोत्तम प्रयत्न करनेपर भी पुत्र स्त्री बांधव आदि कोई समर्थ नहीं हो सकते ॥१५॥ मणि, औषध और मन्त्र आदि कोई भी पदार्थ इस जीवको यमराजसे रक्षा करनेके लिये समर्थ नहीं हो सकते। यमराजकी गति किसीसे रोकी नहीं जा सकती ॥१६॥ सुर, असुर, चक्रवर्ती आदि जो महापुरुष तीनों लोकोंमें अक्षय शक्तिको धारण करनेवाले हैं। वे भी यमराजसे इस जीवकी रक्षा नहीं कर सकते ॥१७॥ स्वर्गोंके स्वामी इन्द्र आदि सर्वोत्कृष्ट देव सब प्रकारसे स्वतन्त्र हैं, परंतु इस कालके द्वारा देखते देखते वे भी सब मृत्युको प्राप्त हो चुके हैं ॥१८॥ फिर भला अन्य जीवोंकी तो बात ही क्या है ? इस संसारमें कौन किसकी रक्षा कर सकता है ? जो जीव कर्मसे बंधे हुए हैं, उनकी रक्षा भला कैसे हो सकती है? ॥१९॥ इस संसारमें कोई भी बलवान् पुरुष अनादि कालसे यमराजसे इस जीवकी रक्षा नहीं कर सका है। कर्मोंका उदय होनेपर न तो कोई किसीकी रक्षा कर सकता है और न कोई किसीको शरणमें रख सकता है ॥२०॥ इस संसारमें भगवान् जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ दयामय धर्म ही शरण है। यह धर्म ही यमराजको शीघ्र जीत लेता है और जीवको उससे बचाकर मोक्षके श्रेष्ठ सुखमें पहुँचा देता है ॥२१॥ इस संसारमें अनेक दुःखोंसे आक्रांत हुए इन जीवोंको घोर विपत्ति और संकटके समयमें धर्म ही पिता है, धर्मही शरण है और धर्म ही सबका रक्षक है ॥२२॥ इसलिये इस जीवको स्त्री, पुत्र, राज्य आदि कोई भी शरण

प्रभावेण यमः शीघ्रं पलायते । अजरामरमयः स्वात्मा भवति कर्मच्छेदकः ॥२४॥

॥ एकत्वभावना ॥

अनादिकालतो जीवः एकाकी भ्रमितः सदा । नास्य कोपि सहायोऽभूद् विपत्तिप्रचुरे भवे ॥२५॥ गच्छत्येको हि मृत्युं स जन्मैको विदधात्यसौ । रोगं शोकं भयं जीव एक एव भुनक्ति सः ॥२६॥ देवो हि जायते चैकश्चैकः पतति नारके । द्वितीयोस्य सहायो न सर्वत्रैवं नवाब्धिके ॥२७॥ कर्म बध्नाति चैको हि पुत्रमित्रादिमोहतः । तस्माद्दुःखं सहत्येको दुःखं कोपि विभक्ति न ॥२८॥ एकोहं मे न पुत्राद्याः बहिर्भूता हि ते परे । तेषां मोहो वृथैवात्रात्मानमेकं भजाम्यहम् ॥२९॥ एक एव हि मे आत्मा सर्वे सन्ति बहिर्भवाः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्वात्मानं साधयाम्यहम् ॥३०॥

---

नहीं है, यही समझकर और तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप जानकर सब जीवोंकी रक्षा करनेवाले धर्मको धारण करना चाहिये ॥२३॥ इस जिनधर्मके प्रभावसे यह यम शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और यह आत्मा समस्त कर्मोंको नाश कर अजर अमर ऐसी सिद्धि अवस्थाको प्राप्त हो जाता है ॥२४॥

॥ एकत्वभावना ॥

यह जीव अनादि कालसे अकेला ही परिभ्रमण करता है, अनेक दुःखमय इस संसारमें इसका कोई सहायक नहीं है ॥२५॥ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरणको प्राप्त होता है, तथा रोग, शोक, भय आदि सबको अकेला ही भोगता है ॥२६॥ यह जीव अकेला ही देव होता है और अकेला ही नरकमें पड़ता है । इस संसाररूपी समुद्रमें सब जगह इसको दूसरा कोई सहायक नहीं है ॥२७॥ पुत्र-मित्रादिकके मोहसे यह जीव अकेला ही कर्मोंका बंधन करता है और उनसे उत्पन्न हुए दुःखोंको अकेला ही भोगता है । जीवोंके दुःखोंको कोई नहीं बाँट सकता ॥२८॥ इस संसारमें मैं अकेला हूँ, पुत्र-मित्रादिक सब बाह्य और पर हैं; उनका मोह करना व्यर्थ है, इसलिये मैं अब केवल अपने आत्माका ही चिंतवन करूँगा ॥२९॥ इस संसारमें मेरा केवल मेरा आत्मा ही है, बाकी सब पदार्थ पर हैं, इसलिये मैं सबतरहके प्रयत्नकर अपने आत्माको ही सिद्ध करूँगा ॥३०॥

## ॥ संसारभावना ॥

मोहदावानलव्याप्ते संसारे दुर्गमे वने। भ्रमन्निरन्तरं जीवो दुःखं सहति दारुणम् ॥३१॥ नास्ति तत्कर्म नोकर्म न ग्रहीतमनेकशः। अनन्तजन्मयोगेन भ्राम्यमाणेन देहिना ॥३२॥ तत्क्षेत्रं नास्ति जीवेन पूरितं यत्र जन्मना। कर्मणा प्रेर्यमाणोत्र जीवोयं भ्रमतेतराम् ॥३३॥ चतुर्गत्यात्मके भीमे दुरन्ते भवकूपके। कर्मणा बद्धमानोयं जीवः पतति पापतः ॥३४॥ कृमिर्भूत्वा नृपो भूत्वा जीवोत्र मोहकर्मणा। धृत्वा नवं नवं रूपं बहुरूपो नटायते ॥३५॥ व्यतीतोनन्तकालोत्र धृत्वा जन्म नवं नवम्। अद्यापि न व्यतीतोसौ संसारो दुर्गमो महान् ॥३६॥ धिग् धिग् मां चाथ संसारमनन्तदुःख दुःखितम्। मोहतोद्यापि पर्यंतं मुक्तोसौ नहि पापतः ॥३७॥ ततो मुञ्चामि संसारं जिनधर्मप्रभावतः। कर्मबन्धं च मुञ्चामि स्वतंत्रश्च भवाम्यहम् ॥३८॥

## ॥ संसारानुप्रेक्षा ॥

यह संसाररूपी दुर्गम वन मोहरूपी दावानलसे व्याप्त हो रहा है, इसमें परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अनेक प्रकारके दारुण दुःखोंको भोग रहा है ॥३१॥ अनंत जन्मोंको धारणकर परिभ्रमण करते हुए इस जीवने ऐसा कोई कर्म वा नोकर्म-वर्गणा बाकी नहीं है, जो अनेक बार ग्रहण न की हो ॥३२॥ तीनों लोकोंमें कोई ऐसा क्षेत्र बाकी नहीं है जिसमें इस जीवने जन्म-मरण धारण न किया हो। कर्मके द्वारा प्रेरित यह जीव सदा परिभ्रमण ही किया करता है ॥३३॥ चारों गतियोंसे भरा हुआ यह संसाररूपी कूआ अत्यन्त ही भयानक है, कर्मोंसे बंधा हुआ यह जीव पापकर्मके उदयसे इसी संसाररूपी कूआमें पड़ा रहता है ॥३४॥ मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव कभी तो कीड़ोंमें जन्म लेता है और कभी राजकुलमें जन्म लेता है, नये नये अनेक रूप धारणकर यह जीव नटके समान नाचता रहता है ॥३५॥ नवीन नवीन शरीरोंको धारण करते हुये इस जीवको अनंत काल व्यतीत हो गया, तथापि आजतक यह दुर्गम महासंसार पूर्ण नहीं हुआ ॥३६॥ इसलिये इस संसारको भी धिकार है और अनंत दुःखोंको सहन करनेवाले मुझको भी धिकार है। मोहनीय कर्मके उदयसे मुझ पापीने आजतक इस संसारको नहीं छोड़ा है ॥३७॥ इसलिये मैं अब इस जिनधर्मके प्रभावसे इस संसारका त्याग करूँगा और कर्मबंधनको छोड़कर स्वतन्त्रता धारण करूँगा ॥३८॥

## ॥ अन्यत्वभावना ॥

अयमात्मा स्वभावेन शुद्धो बुद्धो निरंजनः। शरीरात्सर्वथा भिन्नो बद्धोऽप्यस्ति हि कर्मणा ॥३९॥ वार्दुग्धवत्तयोरैक्यं दृश्यते जीवकर्मणोः। तन्नास्ति वस्तुतोप्येवं कर्मबन्धोत्र कारणम् ॥४०॥ अमूर्तः सुखसम्पन्नः ज्ञानदर्शनलक्षणः। आत्मास्ति पुद्गलादन्यो देहेस्मिन् पुद्गलात्मके ॥४१॥ लक्षणभेदतो भिन्नौ दृश्येते जीवपुद्गलौ। प्रत्यक्षतोपि भिन्नौ तौ स्वस्वभावात् पृथक् पृथक् ॥४२॥ मृत्योः पश्चाद्भवेज्जीवो देहाद्भिन्नः पृथक् स्वयम्। स्वसंवेदनतो नित्यं पृथग्देहाद्विलक्ष्यते ॥४३॥ नात्मानं वेत्ति मूढोयं देहादन्यो विमोहतः। जीवोयं मूर्च्छितो मोहात् कथं वेत्त्यथवा ननु ॥४४॥ मोहाद्देहस्वरूपोहमिति मत्वा च मुह्यति। माहात्म्यं खलु मोहस्य अतर्क्यमिह देहिनाम् ॥४५॥ सम्यग्बुध्वा हि चात्मानं

---

## ॥ अन्यत्वभावना ॥

यह जीव स्वभावसे ही शुद्ध है, बुद्ध है, निरंजन है और शरीरसे सर्वथा भिन्न है। तथापि कर्मोंसे संबंद्ध हो रहा है ॥३९॥ यद्यपि दूध-पानीके समान जीव और कर्म मिले हुये दिखाई दे रहे हैं, परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है, ऐसा दिखाई देनेमें केवल कर्मबन्ध ही कारण है ॥४०॥ यह आत्मा पुद्गलमय शरीरमें रहता हुआ भी पुद्गलसे सर्वथा भिन्न है, अमूर्त है, अनन्त सुखी है और ज्ञानदर्शनरूप लक्षणोंसे सुशोभित है ॥४१॥ यद्यपि जीव पुद्गल दोनों मिले हुए हैं तथापि अलग अलग लक्षणोंके भेदसे दोनों ही भिन्न हैं प्रत्यक्षसे भी भिन्न भिन्न जान पड़ते हैं, तथा स्वभावसे भी अलग अलग जाने जाते हैं ॥४२॥ मृत्युके पीछे यह जीव इस शरीरसे स्वयं भिन्न हो जाता है। तथा 'मैं सुखी, दुःखी वा ज्ञानी हूँ' इस प्रकारके स्वसंवेदनसे यह आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न जान पड़ता ही है ॥४३॥ मोहनीय कर्मके उदयसे अज्ञानी हुआ यह आत्मा शरीरसे भिन्न आत्माको नहीं जानता है अथवा यों समझना चाहिये कि यह जीव मोहनीय कर्मके उदयसे मूर्छित हो रहा है, इसलिये वह आत्माको शरीरसे भिन्न कैसे जान सकता है? ॥४४॥ 'मैं शरीररूप हूँ' इस प्रकार मानता हुआ यह आत्मा मोहनीय कर्मके उदयसे मोहित हो रहा है, सो ठीक ही है, क्योंकि जीवोंके मोहनीय कर्मका माहात्म्य अतर्क्य है, उसमें कोई तर्क-वितर्क भी नहीं कर सकता ॥४५॥ इसलिये मैं भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए

देहादन्यं जिनागमात्। मोहं त्यक्त्वा भजाम्यत्र निर्ममत्वं हि चात्मनः ॥४६॥ परद्रव्यादहं चान्यः संबन्धोपि न तस्य मे। मत्तोऽन्यच्च परं द्रव्यमन्योहं परद्रव्यतः ॥४७॥ भावयामि हि चात्मानं देहादन्यं हि चिन्मयम्। शाश्वतं निर्मलं शुद्धमजरामरलक्षणम् ॥४८॥ निजरूपं प्रपद्यामि त्यक्त्वान्यत्पररूपकम्। जिनागमप्रभावेन स्वात्मानं भावयाम्यहम् ॥४९॥

## ॥ अशुचित्वभावना ॥

निसर्गमलिनो देहोऽसृग्मांसपूतिपूरितः। मलमूत्रादिभिर्व्याप्तः कथं स्याच्छुचिरत्र सः ॥५०॥ रजःशुक्रादिसंभूतं कृमिविष्ठामलाविलम्। शरीरमशुचेः स्थानं विद्यात्मन् वस्तुरूपतः ॥५१॥ मलबीजं मलस्थानं मलद्वारं गलन्मलम्। मलरूपं हि विद्यात्मन् शरीरं वस्तुभावतः ॥५२॥ रोमे रोमे शरीरेस्मिन् रोगानां संचयो महान्। पूतिदुर्गंधयुक्तं हि शरीरं

---

आगमके अनुसार आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझकर और मोहका त्यागकर आत्माके निर्ममत्व भावको धारण करूँगा ॥४६॥ मैं परपदार्थोंसे सर्वथा भिन्न हूँ, परपदार्थोंका और मेरा कोई संबन्ध ही नहीं है, परद्रव्य मुझसे सर्वथा भिन्न हैं और मैं परद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न हूँ ॥४७॥ मेरी आत्मा शरीरसे भिन्न है, चैतन्यमय है, नित्य है, निर्मल है, शुद्ध है और अजर-अमररूप लक्षणसे सुशोभित है, ऐसे अपने आत्माका मैं चिंतवन करूँगा ॥४८॥ अब मैं भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए आगमके प्रभावसे अन्य पररूपको छोड़कर अपने आत्माके स्वरूपको प्राप्त होऊँगा और उसी अपने आत्माका चिंतवन करूँगा ॥४९॥

## ॥ अशुचित्वभावना ॥

यह शरीर स्वभावसे ही मलिन है, हड्डी मांस चर्बी आदिसे भरा हुआ है और मल-मूत्रादिकसे व्याप्त हो रहा है, ऐसा यह शरीर भला पवित्र कैसे हो सकता है? ॥५०॥ यह शरीर रज वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, कीड़े, विष्ठा, मल, मूत्र आदिसे भरा हुआ है और वस्तुस्वरूपसे अपवित्रताका स्थान है, हे आत्मन्! शरीरको तू ऐसा समझ ॥५१॥ हे आत्मन! यह शरीर मलका बीज है, मलका स्थान है, मलका द्वार है और मल झरनेका स्थान है, तथा मलरूप है, ऐसा तू इस शरीरको समझ ॥५२॥ इस शरीरके रोम रोममें अनेक महारोग भरे हुए हैं, यह शरीर राध-रुधिर आदिकी दुर्गन्धतासे भरा हुआ है और अनेक दुःखोंका कारण है ॥५३॥

दुःखकारणम् ॥५३॥ शरीरं दृश्यते रम्यं बाह्यतः चर्मणावृतम्। अन्तस्तु मलिनं शुक्रमांसशोणितपूरितम् ॥५४॥ यद्यप्य-शुचि रूपं हि तच्छरीरं निसर्गतः। रत्नत्रयेण पूतं स्याद्वन्द्यं पूज्यं च योगिभिः ॥५५॥ अशुचिदेहसम्मोहं त्यजामि स्वात्मबोधतः। स्वात्मानं निर्मलं शुद्धं ध्यायामि शुचिहेतवे ॥५६॥

## ॥ आस्रवभावना ॥

कायवाङ्मनसां कर्म योगः प्रोक्तो जिनागमे। स एवात्रास्रवो ज्ञेयो द्वारः कर्मागमस्य वा ॥५७॥ नौकायां च यथा छिद्रो जलागमनकारणम्। काम्यादियोगकैर्द्वारैस्तथा स्रवति कर्म तत् ॥५८॥ मोहमिथ्यात्वसंभूतैः योगैः स्यादशुभास्रवः। सुदृक्चलादिभिर्योगैर्नित्यं स्याच्च शुभास्रवः ॥५९॥ पंचामृतैर्जिनेन्द्रस्य स्नपनैः स्याच्छुभास्रवः। गंधविलेपनाद्यैश्च जिनपादाम्बुजोपरि ॥६०॥ प्राणिहिंसावधाद्यैश्च जीवस्यास्त्यशुभास्रवः। दयादानादिकैः कार्यैः स्यात्सद्योत्र शुभास्रवः

---

चमड़ेसे ढका हुआ यह शरीर बाहरसे अच्छा लगता है, परंतु भीतरसे देखा जाय तो वीर्य मांस रुधिरसे भरा हुआ है और अत्यन्त मलिन है ॥५४॥ यद्यपि यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है तथापि रत्नत्रयसे पवित्र है तथा योगियोंके द्वारा भी पूज्य और वन्दनीय है ॥५५॥ इसलिये अब मैं अपने आत्मज्ञानसे अपवित्र शरीरके मोहका त्याग करता हूँ और आत्माको पवित्र करनेके लिये निर्मल शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हूँ ॥५६॥

## ॥ आस्रवभावना ॥

जैन शास्त्रोंमें मन, वचन और कायाकी क्रियाओंको योग बतलाया है और यह योगही कर्मोंके आनेका द्वाररूप आस्रव कहलाता है ॥५७॥ जिसप्रकार नावका छिद्र पानीके आनेका कारण है, उसीप्रकार मन, वचन और कायके योग कर्मोंके आनेके कारण हैं ॥५८॥ मोह और मिथ्यात्वसे मिले हुए योगोंसे अशुभ आस्रव होता है और सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्ररूप योगोंसे शुभास्रव होता है ॥५९॥ भगवान जिनेन्द्रदेवका पंचामृताभिषेक करनेसे तथा भगवानके चरण कमलोंपर गंधका लेप करनेसे सदा शुभास्रव ही होता है ॥६०॥ जीवोंकी हिंसा करनेसे, उनका वध करनेसे इस जीवको अशुभास्रव होता है; तथा दया धारण करना, दान देना आदि कार्योंसे शुभास्रव होता है ॥६१॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रेष्ठ भावोंसे पूजा करनेसे

॥६१॥ इज्यादिपंचकल्याणैर्जिनेन्द्रस्य शुभावतः । सम्यक्त्वपूर्वकं शीघ्रं भवत्येव शुभास्रवः ॥६२॥ पुण्यपापस्य कर्तारौ शुभाशुभौ तदास्रवौ । आस्रवो दुःखदो नित्यं कर्मगन्धस्य कारणम् ॥६३॥ पुण्यपापं द्वयं मुक्त्वा सर्वास्रवं विशेषतः । रुन्धामि ध्यानयोगेन जिनागमानुसारतः ॥६४॥ त्यक्त्वा मिथ्यात्वभावं हि कुर्वे योगनिरोधनम् । ध्यानाध्ययनकर्माणि कुर्वे आस्रवहानये ॥६५॥

## ॥ संवरभावना ॥

बद्धकपाटके गेहे प्रवेशः स्यात्कदापि न । सुपिहितास्रवद्वारे न स्यात्कर्मप्रवेशनम् ॥६६॥ आस्रवस्य निरोधो यः स हि स्यात्संवरः शुभः । सुदृशां संवरो नित्यं जातु मिथ्यादृशां न च ॥६७॥ समितिगुप्तिधर्माद्यैर्दृक्शुद्धैः स्याच्च संवरः । दृक्शुद्धनिर्मलैर्भावैर्वा स्यात्कर्मसुरोधकः ॥६८॥ समतादिशुभैर्भावैश्चारित्रेण व्रतात्मकैः । शुद्धोपयोगकैर्नित्यं संवरः स्याच्छिवप्रदः ॥६९॥ धर्मशुक्लादिसद्ध्यानैः परीषहजयैस्तथा । सम्यक्त्वपूर्वकैः पूजादानाद्यैः स्याच्च संवरः ॥७०॥ संवरो

---

वा पंच कल्याणक महोत्सव करनेसे सदा शुभास्रव ही होता है ॥६२॥ शुभ और अशुभ आस्रव पुण्य-पापके कारण हैं, शुभास्रवसे पुण्य होता है और अशुभास्रवसे पाप होता है। ये दोनों प्रकारके आस्रव सदा दुःख देनेवाले हैं और कर्मबन्धके कारण हैं ॥६३॥ अब मैं जिनागमके अनुसार ध्यानके द्वारा पुण्य-पाप दोनोंको छोड़कर सब तरहके आस्रवको रोकूंगा ॥६४॥ अब मैं मिथ्यात्व भावोंका त्यागकर योगोंका निरोध करूंगा और आस्रवका नाश करनेके लिये ध्यान अध्ययन आदि कार्योंको करूंगा ॥६५॥

## ॥ संवरभावना ॥

जिसप्रकार जिस दरवाजेके किवाड़ बन्द हैं, उस दरवाजेसे कोई भीतर नहीं जा सकता, उसीप्रकार आस्रवका द्वार रुक जानेपर फिर कर्मोंका आस्रव नहीं होता ॥६६॥ तथा जो आस्रवका रुकना है उसीको शुभ संवर कहते हैं। यह संवर सम्यग्दृष्टियोंके ही होता है, मिथ्यादृष्टियोंके कभी नहीं होता ॥६७॥ यह कर्मोंके आस्रवको रोकनेवाला संवर समिति, गुप्ति और धर्मादिकसे होता है; सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे होता है और सम्यग्दर्शनकी शुद्धतासे होनेवाले निर्मल भावोंसे होता है ॥६८॥ यह मोक्षप्रदान करनेवाला संवर समता आदि शुभ भावोंसे, चारित्रसे, व्रतोंसे और शुद्धोपयोगसे सदा होता रहता है ॥६९॥ यह संवर धर्मध्यानसे, श्रेष्ठ

निर्जरा हेतुर्हेतुश्च कर्मभेदने । मुक्तेर्द्वारस्य हेतुः स ततोऽहं संवरं भजे ॥७१॥

॥ निर्जराभावना ॥

कर्म निर्जरणं यत्र निर्जरा स्यात्सुखावहा । यया वा जीर्यते कर्म निर्जरा द्विविधा मता ॥७२॥ अकामनिर्जरा चात्र सर्वसंसारिणां मता । सत्तपोभिर्मुनीनां तु सकामा निर्जरा शुभा ॥७३॥ योगत्रयनिरोधेन शुद्धभावेन योगिनाम् । कर्म विध्वंसिका सा स्यान्निर्जरा मोक्षदा शुभा ॥७४॥ शुद्धोपयोगभूतेन ध्यानेन स्यात्स्थिरात्मनाम् । योगिनां क्षीणमोहानां निर्जरा कर्ममोचिका ॥७५॥ सुदृढगाढबद्धानां कर्मणां मूलतोत्र वा । निर्जरा हि भिनत्तिस्म पवितुल्यं हि भूधरान् ॥७६॥ अतो हि मोक्षमूलां तां कृत्स्नकर्मविभेदिकाम् । निर्जरां परमां शुद्धां भजेऽहं शुभभावतः ॥७७॥

---

शुक्लध्यानसे, परिषहोंके जीतनेसे और सम्यग्दर्शनपूर्वक पूजा दान आदि करनेसे होता है ॥७०॥ यह संवर निर्जराका कारण है, कर्मोंके नाशका कारण है, और मोक्षके विशेष साधनोंका कारण है इसलिये मैं अब संवरको ही धारण करूँगा ॥७१॥

॥ निर्जराभावना ॥

जहांपर कर्मोंकी निर्जरा होती है वह सुख देनेवाली निर्जरा कहलाती है । अथवा जिसके द्वारा कर्म नष्ट होते हैं 'उसको भी निर्जरा कहते हैं' । वह निर्जरा दो प्रकार की है–एक अकाम निर्जरा और दूसरी सकाम निर्जरा । अकाम निर्जरा समस्त संसारी जीवोंके होती है और सकाम निर्जरा मुनियोंके तपश्चरणके द्वारा होती है ॥७२-७३॥ मुनियोंके तीनों योगोंका निरोध करनेसे और शुद्ध परिणामोंसे जो कर्मोंको नाश करनेवाली निर्जरा होती है, वह मोक्ष देनेवाली उत्तम निर्जरा कहलाती है ॥७४॥ जिनका मोहनीय कर्म नष्ट हो गया है और जिनकी आत्मा स्थिर है, ऐसे योगियोंके जो शुद्धोपयोगरूप ध्यानसे निर्जरा होती है, वह कर्मोंको नाश करनेवाली निर्जरा कहलाती है ॥७५॥ जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते हैं, उसीप्रकार निर्जरासे अत्यन्त दृढ़ और गाढ बंधे हुए कर्म भी जड़से नष्ट हो जाते हैं ॥७६॥ इसलिये मैं मोक्षकी कारणभूत और समस्त कर्मोंका नाश करनेवाली परम शुद्ध निर्जराको मैं अपने श्रेष्ठ भावोंसे धारण करता हूँ ॥७७॥

## ॥ लोकभावना ॥

लोक्यन्ते यत्र जीवाद्याः पदार्थाश्चेतनेतराः । स लोकः कथ्यते देवैः स्वयंभूरविनश्वरः ॥७८॥ अनादिकालतः सोस्ति ह्यनन्तोप्यन्तवर्जितः । न कृतो न धृतः केन स्वयं सिद्धः सनातनः ॥७९॥ महावातैस्त्रिभिः सोस्ति वेष्ठितो वाऽचलः स्थिरः । निष्क्रियः स्थानदानार्हः जीवादीनामशेषतः ॥८०॥ सर्वत्र कर्मयोगेन जीवास्तत्र निरंतरम् । जन्ममृत्योः पराधीनाः सन्ति दुःखात्मकाः सदा ॥८१॥ कृत्स्नकर्मक्षयेणैव सिद्धिं यास्यन्ति ते ध्रुवम् । जन्ममृत्युजरातीताः स्वतंत्रा दुःखदूरगाः ॥८२॥

## ॥ बोधिदुर्लभभावना ॥

महामिथ्यात्वभरतेन जीवेनानादिकालतः । अद्यावधि न संप्राप्तं द्वीन्द्रियत्वं सुदुर्लभम् ॥८३॥ दैवाद्यदि त्वया लब्धं

---

## ॥ लोकभावना ॥

जहांपर जीव अजीव आदि चेतन अचेतन पदार्थ दिखाई देवे, उसको भगवान् जिनेन्द्रदेव लोक कहते हैं। यह लोक स्वयम्भू है, किसीका बनाया हुआ नहीं है और न कभी इसका नाश होता है ॥७८॥ यह लोक अनादिकालसे है और अंतरहित अनंतकाल तक बना रहेगा। यह न तो किसीने बनाया है, न किसीने धारण किया है, यह स्वयंसिद्ध है और सनातन है ॥७९॥ यह लोक तीन प्रकारकी महावायुसे घिरा हुआ है, अचल है, स्थिर है, क्रियारहित है और जीवादिक समस्त पदार्थोंको स्थान देने योग्य है ॥८०॥ इसी लोकाकाशमें ये सब संसारी जीव कर्मके निमित्तसे जन्म-मृत्युके पराधीन होते हुए और सदा दुःख भोगते हुए निवास कर रहे हैं ॥८१॥ वे जीव समस्त कर्मोंके क्षय कर लेनेपर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं, तथा जन्म, मरण और बुढापा आदिसे रहित होकर सब तरहसे स्वतंत्र हो जाते हैं ॥८२॥

## ॥ बोधिदुर्लभभावना ॥

महामिथ्यात्व कर्मके वशीभूत होनेके कारण यह जीव अनादिकालसे निगोदमें पड़ा हुआ है, इसने आजतक भी कभी दो इंद्रियपर्याय नहीं पाई। वह भी इसके लिये महादुर्लभ हो रही है ॥८३॥ यदि कदाचित् इस आत्माको, किसी शुभकर्मके उदयसे दो इंद्रियपर्याय भी प्राप्त हो जाय तो तेइंद्रिय, चौइंद्रिय और पंचेन्द्रिय

द्वीन्द्रियत्वमिहात्मना । तथापि त्रि:चतु:पंचाक्षत्वमत्यन्तदुर्लभम् ॥८४॥ काकतालीयन्यायेन यदि लब्धा नृजन्मता । सुक्षेत्रे सत्कुले जन्म सज्जातित्वं च दुर्लभम् ॥८५॥ तत्रापि पूर्णमायुष्यं नीरोगत्वं सुदुर्लभम्। महापुण्याद्धनादीनां प्राप्तिश्चात्यन्तदुर्लभा ॥८६॥ एतत्सर्वं सुलब्ध्वापि यदि न स्यात्सुदर्शनम्। व्यर्थं स्यादिह तत्सर्वमन्धस्यादर्शदर्शनम् ॥८७॥ अनन्तकालतो जीवो बम्भ्रमीति भवार्णवे। सम्यक्त्वेन विनैकेन दुःखं सहति दारुणम् ॥८८॥ जिनधर्मोस्ति चात्यन्तदुर्लभः पृथिवीतले। सोनन्तकालतोप्यात्मन् त्वया लब्धः कदापि न ॥८९॥ भावेन श्रद्धया वापि जिनधर्मस्य सेवनम्। अत्यन्तदुर्लभं लोके शर्मदं भवनाशनम् ॥९०॥ सुदृग्ज्ञानव्रतादीनां प्राप्तिश्चात्यंतदुर्लभा । बोधिं विना समाधिर्न तां विना न शिवः क्वचित् ॥९१॥ सुदर्शनं सुचारित्रं सम्यग्ज्ञानं तपः श्रियम्। श्रद्दधामि च प्रत्येमि रोचेमि स्पृहयाम्यहम् ॥९२॥

---

पर्यायका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है ॥८४॥ कदाचित् काकतालीय न्यायसे इस जीवको मनुष्यजन्मकी प्राप्ति हो जाय तो भी आर्यक्षेत्र, श्रेष्ठकुल और सज्जातिका प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है ॥८५॥ कदाचित् इन सब साधनोंका भी संयोग मिल जाय तो भी पूर्ण आयुका प्राप्त होना और नीरोग शरीरका मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। तथा महापुण्यके उदयसे प्राप्त होनेवाली धनादिककी प्राप्तिको अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिये ॥८६॥ यदि इन सबकी प्राप्ति हो जाय और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति न हो तो जिसप्रकार अन्धे पुरुषको दर्पणका दिखाना व्यर्थ है, उसीप्रकार उस जीवको प्राप्त हुई सब सामग्रियां व्यर्थ हैं ॥८७॥ यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें विना एक सम्यग्दर्शनके अनंत कालसे परिभ्रमण कर रहा है और अनेक प्रकारके दारुण दुःख सहन कर रहा है ॥८८॥ इस पृथ्वीतलपर यह जैनधर्म अत्यन्त दुर्लभ है। हे आत्मन्! तूने यह जैनधर्म अनन्तकालसे भी कभी प्राप्त नहीं किया है ॥८९॥ अपने निर्मल परिणामोंसे श्रद्धापूर्वक जिनधर्मका सेवन करना अत्यन्त दुर्लभ है। यह जिनधर्मका सेवन करना संसारका नाश करनेवाला है और मोक्षरूप सुखको देनेवाला है ॥९०॥ इस जीवको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। तथा रत्नत्रयकी प्राप्तिके विना समाधि वा ध्यानकी प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है और ध्यानके विना मोक्षकी प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है ॥९१॥ अब मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप इन चारोंका श्रद्धान करता हूँ, चारोंका विश्वास करता हूँ, चारोंकी स्पृहा करता हूँ, चारोंको धारण करता हूँ, और शुद्ध

स्पृशामि च चरामि तान् भजामि शुद्धभावतः। बोधिं लब्ध्वा शिवं यामि सुधर्मं वा भवच्छिदम् ॥९३॥

॥ धर्मभावना ॥

धर्मश्चिन्तामणिर्लोके धर्मः कल्पतरुर्महान्। धर्मो निधिः सुसिद्धीनां धर्मसंसारतारकः ॥९४॥ धर्मो द्विधा जिनैः प्रोक्तो निश्चयव्यवहारतः। परमार्थो भवेदाद्यो वस्तुस्वभावमात्रकः ॥९५॥ अमूर्तो निष्क्रियो नित्यो विभिन्नस्तत्त्वतोथवा। तत्त्वात्मकः स सिद्धेषु स्यादन्येषु कदापि न ॥९६॥ दयामूलो द्वितीयः स्याद्धर्मः सर्वहितंकरः। लौकिको व्यवहारो वा धर्मश्चारित्रमूलकः ॥९७॥ यो व्यवहारधर्मोस्ति स एव लौकिको मतः। तयोर्द्वयोर्न भेदोस्ति जैनेन्द्रे परमागमे ॥९८॥ सक्रियो वृत्तरूपात्मा सर्वसौख्यप्रदायकः। यो हि जीवान् समुद्धृत्य पापपंकादनन्तरम् ॥९९॥ धत्ते मोक्षपदे नूनं स धर्मो व्यवहारभाक्। महाव्रताणुभेदेन द्विविधोस्ति जिनागमे ॥१००॥ साध्यसाधकभेदेन द्विधा धर्मो मतो जिनैः। परमार्थो

---

परिणामोंसे चारोंमें ही अपने अपने आत्माको लगाता हूँ। इसी रत्नत्रयको पाकर मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा और संसारको नाश करनेवाले आत्ममय श्रेष्ठ धर्मको धारण करूँगा ॥९२—९३॥

॥ धर्मभावना ॥

इस संसारमें यह दयामयधर्म चिन्तामणि रत्नके समान है अथवा महाकल्पवृक्षके समान है, यही धर्म समस्त सिद्धियोंकी निधि है और इसी धर्मको संसारसे पार कर देनेवाला है ॥९४॥ इसी धर्म को भगवान जिनेन्द्रदेवने निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका बतलाया है—इनमेंसे पहिला निश्चय धर्म परमार्थरूप है, वस्तु स्वाभावरूप है, अमूर्त है, क्रियारहित है, नित्य है, आत्ममय तत्त्वसे अभिन्न है और शुद्ध आत्ममय है। यह निश्चयधर्म सिद्धोंमें ही होता है, अन्य किसी जीवमें नहीं होता ॥९५–९६॥ दूसरा व्यवहार धर्म—दयामय है, सबका हित करनेवाला है, लौकिक है, व्यवहार है और चारित्रमय है ॥९७॥ जो व्यवहार धर्म है, वही लौकिक धर्म है। भगवान जिनेन्द्रदेवके शासनमें व्यवहार धर्म और लौकिक धर्ममें कोई भेद नहीं है ॥९८॥ वह व्यवहार धर्म क्रियारूप है, चारित्ररूप है, और स्वर्ग, मोक्षके समस्त सुखोंको देनेवाला है। जो धर्म इन संसारी जीवोंको पापरूपी कीचड़से उठाकर मोक्षपद में विराजमान कर दे, उसको व्यवहार धर्म कहते हैं। जैनशास्त्रोंमें अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे उसके दो भेद बतलाये हैं—॥९९–१००॥ अथवा

भवेत्साध्यो लौकिकः साधको मतः ॥१०१॥ सर्वेपि लौकिकाचारा ये प्रणीता जिनागमे। गृहस्थानां यतीनां च धर्मशब्दस्य वाचकाः ॥१०२॥ वर्णाश्रमोऽथवा जातिव्यवस्थायात्मको हि सः। पिण्डशुद्धादिको धर्मो मूलरूपो मतो जिनैः ॥१०३॥ तस्योत्तरप्रभेदास्ते प्रायश्चित्तादयोऽथवा। सोऽपि दशविधो धर्मो रत्नत्रयात्मकोऽथवा ॥१०४॥ भवाब्धौ तारको नूनं कर्मच्छेदकरो मतः। धर्मं विनात्र जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ॥१०५॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सुधर्मं धारयाम्यहम्। व्यामोहदायकं सर्वं मिथ्याधर्मं त्यजाम्यहम् ॥१०६॥ मोक्षप्रदं सुधर्मं तं भव्याः कुर्वन्तु निर्मलम्। येन सौख्यं भवेन्नित्यमनाकुलमनामयम् ॥१०७॥

भगवान् जिनेन्द्रदेवने साध्य-साधकके भेदसे उस धर्मके दो भेद बतलाये हैं—परमार्थ धर्म साध्य है और लौकिक वा व्यवहार धर्म साधक है ॥१०१॥ जैनधर्ममें जितने लौकिकाचार निरूपण किये गये हैं अथवा गृहस्थ और मुनियोंके जो जो धर्म निरूपण किये गये हैं; वर्णाश्रमव्यवस्था, जातिव्यवस्था, पिंडशुद्धि आदि जो कुछ मूलरूप धर्म भगवान् जिनेन्द्रदेवने बतलाया है, वह सब धर्मका स्वरूप समझना चाहिये ॥१०२-१०३॥ प्रायश्चित्तादिक सब उसी धर्मके उत्तरभेद हैं। उसी धर्मके उत्तम क्षमादिक दश भेद हैं, अथवा रत्नत्रय आदि अनेक भेद हैं ॥१०४॥ यही धर्म संसाररूपी समुद्रसे पारकर देनेवाला है और कर्मोंको नाश करनेवाला है। इसी धर्मके विना इस जीवने अनेक महादुःखोंकी परंपरा प्राप्त की है ॥१०५॥ इसलिये मैं समस्त प्रयत्न करके इस श्रेष्ठ धर्मको धारण करूँगा और व्यामोह उत्पन्न करनेवाले समस्त मिथ्या मतोंका त्याग करूँगा ॥१०६॥ भव्यजीवोंको मोक्ष प्रदान करनेवाले इस निर्मल श्रेष्ठ धर्मको सदा पालन करते रहना चाहिये, जिससे कि आकुलतारहित, रोगरहित नित्य सुखकी प्राप्ति हो जाय ॥१०७॥ जो संसार, शरीर, धन और भोगोंसे विरक्त हैं; ऐसे महात्माओंको बारह भावनाओंका चिंतवनकर विषयोंकी इच्छा छोड़ देनी चाहिये, आत्माको शुद्ध

भवतनुधनभोगाद्यो विरक्तो महात्मा त्यजतु विषयवाञ्छां भावनां भावयित्वा । चरतु स शुभवृत्ते भावितां स्वात्मशुद्धिं धरतु स हि सुधर्मं जैनदीक्षां सुधृत्या ॥१०८॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारे द्वादशभावनानिरूपणो नाम षष्ठोधिकारः ॥

---

करनेवाले और भावनाओंसे भरपूर; ऐसे उस भव्यपुरुषको श्रेष्ठ चरित्रके पालन करने में लग जाना चाहिये और जैनदीक्षाको धारणकर सुधर्म वा श्रेष्ठधर्मको धारण करना चाहिये ॥१०८॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें बारह भावनाओंका निरूपण करनेवाला यह छठा अधिकार समाप्त हुआ ।



# सप्तमोऽधिकारः ॥



व्रतीशं व्रतदातारं पापसन्तापनाशकम् । वन्दे पद्मप्रभं देवं चारित्रप्रतिपादकम् ॥१॥ इत्थं च भावनोपेतो भव्यः सम्यक्त्वधारकः । स संसारनिवृत्यर्थं जिनलिंगं समाचरेत् ॥२॥ धारयति स्वचित्तेन चाष्टाविंशतिकान् गुणान् । महाव्रतानि पंचैव तेषु मुख्यानि सन्ति च ॥३॥ हिंसादिपंचपापानां मनोवचनकायकैः । कृतादिकैस्तु यस्त्यागस्तन्महाव्रतमुच्यते ॥४॥ त्रसस्थावरजीवानां रक्षणं यत्र सर्वतः । दयार्द्रमनसा नित्यं प्रमादरहितेन च ॥५॥ तदहिंसाव्रतं ज्ञेयं सर्वसत्त्वदयाकरम् । श्रेष्ठं सर्वव्रतानां तन्महापुरुषधारितम् ॥६॥ मृषावादस्य यस्त्यागो नवकोटिविशुद्धितः । प्रमादवर्जनं तत्र प्रोक्तं

---

जो पद्मप्रभदेव व्रतों के स्वामी हैं, व्रतोंके देनेवाले हैं, पापोंके संतापको दूर करनेवाले हैं और सम्यक्चारित्रका निरूपण करनेवाले हैं, ऐसे भगवान् पद्मप्रभदेवकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥ इसप्रकार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाले और बारह भावनाओंका चिंतवन करनेवाले भव्य जीवोंको जन्म-मरणरूप संसारका नाश करनेके लिये जिनलिंग वा नग्नमुद्रा धारण करना चाहिये ॥२॥ ऐसे भव्य जीवोंको अपने हृदयसे अट्ठाईस मूल गुण धारण करने चाहिये, उन अट्ठाईस मूल गुणोंमें भी मनोहर पांच महाव्रत सबसे मुख्य गिने जाते हैं ॥३॥ मन, वचन, काय और कृत-कारित अनुमोदनासे हिंसादिक पांचों पापोंका त्याग करना महाव्रत कहलाता है ॥४॥ जो प्रमादरहित होकर दयासे भींगे हुये हृदयसे त्रस और स्थावर जीवोंकी सब समयमें रक्षा करना है, उसको अहिंसा महाव्रत कहते हैं । यह अहिंसा महाव्रत समस्त जीवोंपर दया करनेवाला है, समस्त व्रतोंमें श्रेष्ठ है, महापुरुषोंके द्वारा धारण किया जाता है ॥५-६॥ इसीप्रकार मन, वचन, काय और कृत-कारितानुमोदनाकी शुद्धिपूर्वक अर्थात् नौ प्रकारसे प्रमादरहित

सत्यमहाव्रतम् ॥७॥ प्रयोजनवशेनापि रागादिमनसाथवा। असत्यं सर्वथा त्याज्यं महाव्रतविशुद्धये ॥८॥ रागोद्रेकात्प्रमादाद्वा परद्रव्यं न गृह्यते। अदत्तं श्रमणायोग्यं तदचौर्यं महाव्रतम् ॥९॥ तृणादिकं हि यत्किंचित्परस्य स्वप्रयोजनात्। अदत्तं सर्वथा त्याज्यं तत्तृतीयं महाव्रतम् ॥१०॥ नवकोटिविशुद्ध्या हि यदब्रह्मविवर्जनम्। रागोद्रेकात्प्रमादाद्वा स्त्रीमात्रस्याप्यसेवनम् ॥११॥ परब्रह्मण्यवस्थानं तद्धि ब्रह्ममहाव्रतम्। जगत्पूतं परं श्रेष्ठं ध्यानसिद्धिदिवाकरम् ॥१२॥ बाह्याभ्यन्तरसंगस्य नवकोटिविशुद्धितः। सर्वथा वर्जनं तद्धि मूर्च्छारहितचेतसा ॥१३॥ निस्संगदर्शनं ज्ञेयं पंचमं च महाव्रतम्। गृहं वस्त्रं धनं दारास्त्यज्यन्ते यत्र भावतः ॥१४॥ मिथ्यात्वहास्यकोपाद्याः दुर्भावाश्च विशेषतः। पंचमं तद्व्रतं ज्ञेयं निःशल्यव्रतमुत्तमम् ॥१५॥ आरम्भत्यागहेत्वर्थं वैराग्यध्यानसिद्धये। महाव्रतं मुनिर्धत्ते संयमार्थं च शुद्धधीः

होकर असत्यका त्याग कर देना है, उसको सत्य महाव्रत कहते हैं ॥७॥ महाव्रतोंको शुद्ध रखनेके लिये किसी प्रयोजनके वशसे अथवा रागद्वेषपूर्वक मनसे भी कभी असत्यभाषण नहीं करना चाहिये, असत्यका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये ॥८॥ रागद्वेषके उद्रेकसे अथवा प्रमादसे मुनियोंके अयोग्य ऐसे बिना दिये हुये किसी भी पर द्रव्यको ग्रहण नहीं करना अचौर्य महाव्रत कहलाता है ॥९॥ अपने किसी भी प्रयोजनसे दूसरेका तृण आदि पदार्थ भी बिना दिया हुआ नहीं ग्रहण करना चाहिये। बिना दिये सब तरहके पदार्थोंका त्याग करना तीसरा अचौर्य महाव्रत है ॥१०॥ मन, वचन, काय और कृत-कारितानुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारकी विशुद्धतासे अब्रह्मका त्यागकर देना रागके उद्रेकसे अथवा प्रमादसे स्त्रीमात्रका सेवन नहीं करना तथा अपने आत्माको परमब्रह्म परमात्मामें लीन कर देना ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है। यह ब्रह्मचर्य महाव्रत संसारभरमें पवित्र है, सबसे श्रेष्ठ व्रत है और ध्यानकी सिद्धिके लिये सूर्यके समान है ॥११–१२॥ अपने हृदयसे सब तरहके ममत्वका त्यागकर मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदनाकी शुद्धिपूर्वक बाह्य–अभ्यंतरके भेदसे सब तरहके परिग्रहोंका त्यागकर देना वह निर्ग्रंथ अवस्थाको धारण करनेवाला पांचवां परिग्रहत्याग महाव्रत कहलाता है। इस परिग्रह त्याग महाव्रतमें घर, वस्त्र, धन और स्त्री आदि सबका भावपूर्वक त्याग किया जाता है तथा मिथ्यात्व, हास्य, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अशुभभावोंका विशेषकर त्याग किया जाता है, इसप्रकार समस्त शल्योंको दूर करनेवाला यह पांचवां परिग्रहत्याग महाव्रत कहलाता है ॥१३–१५॥ शुद्ध बुद्धिको

॥१६॥ हिंसादिपंचपापानि घ्नन्ति पंच व्रतानि च। ततस्त्याज्यानि पापानि महाव्रतदृढाप्तये ॥१७॥ पंच पापानि लोकेस्मिन् निंद्यानि दुष्कराणि च। विषमानि दुरन्तानि दुःखदानि विशेषतः ॥१८॥ व्यामोहमिन्द्रियाणां तु तानि कुर्वन्ति सन्ततम्। विकुर्वन्ति मनस्तीव्रं हालाहलसमं तथा ॥१९॥ सर्वेषामिन्द्रियाणां हि पापानि तापदानि च। प्रेरयन्ति हि चात्मानं कुमार्गे दुःखदेऽशुभे ॥२०॥ पापान्येव हि जीवनामन्यायविषयेऽशुभे। अत्यन्तकुत्सिते क्रूरे प्रेरयन्ति बलादिह ॥२१॥ अन्यायमसदाचारं परस्वहरणादिकम्। अविवेकेन सार्द्धं हि तानि कुर्वन्ति संततम् ॥२२॥ पापेनैव हि जीवानां दुर्गतिः स्याद्दुरावहा। पराभवापमानादिसंतापो जायतेऽनिशम् ॥२३॥ पापवृत्या हि जीवानां विवेकादिकसद्गुणाः। नश्यन्ति सहसा शीघ्रं वात्यया च घना यथा ॥२४॥ अनादिकालतो जीवः पंचपापैश्च दुर्गतौ। भवेऽयावधिपर्यन्तं दुःखं हि सहते महत् ॥२५॥

---

धारण करनेवाले मुनिराज सब तरहके आरंभोंको त्याग कर देनेके लिये वैराग्य और ध्यानकी सिद्धिके लिये तथा पूर्ण संयम पालन करनेके लिये महाव्रतोंको धारण करते हैं ॥१६॥ इस संसारमें हिंसादिक पांचों पाप पांचों महाव्रतोंका नाश करते हैं, इसलिये महाव्रतोंको दृढ़ करनेके लिये हिंसादिक पांचों पापोंका त्याग कर देना चाहिये ॥१७॥ इस लोकमें हिंसादिक पांचों पाप निंद्य हैं, विषम है, अंतमें दुःख देनेवाले हैं, अत्यन्त कठिन हैं और विशेषकर महादुःख उत्पन्न करनेवाले हैं ॥१८॥ ये पांचों पाप इन्द्रियोंको सदा मोहित करते रहते हैं और मनकी गतिको हलाहल विषके समान अत्यन्त तीव्र बना देते हैं ॥१९॥ ये पांचों पाप समस्त इन्द्रियोंको संतप्त करते हैं और इस आत्माको दुःख देनेवाले अशुभ कुमार्गमें जानेके लिये प्रेरणा करते हैं ॥२०॥ ये पांच पाप ही इस जीवको अत्यन्त कुत्सित, क्रूर और अशुभ अन्यायके विषयमें जानके लिये जबर्दस्ती प्रेरणा करते हैं ॥२१॥ ये पाप ही अविवेकपनाके साथ साथ अन्याय और परधनहरण आदि अनेक प्रकारके असदाचारोंको सदा कराते रहते हैं ॥२२॥ इन पापोंके ही कारण जीवोंको अशुभसे अशुभ दुर्गतियां प्राप्त होती हैं और तिरस्कार, अपमान आदि अनेक प्रकारके संताप सदा प्राप्त होते रहते हैं ॥२३॥ जिसप्रकार महावायुसे बादल शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस पापाचरणके कारण इन जीवोंके विवेक आदि सद्गुण सब अकस्मात् शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥२४॥ यह जीव अनादि कालसे लेकर आजतक इन पांचों पापोंके कारण ही अनेक दुर्गतियोंमें महादुःख सहन करता आया है ॥२५॥ इन पांचों पापोंके ही कारण क्रोध, मान, माया और लोभ

क्रोधलोभकषायास्ते जाग्रन्ति व्रतघाततः। तैर्विमुह्यति चात्माऽसौ न्याये धर्मविघातके ॥२६॥ पंचपापवशेनात्र ह्यारम्भं विश्वघातकम् । संतनोति हि जीवोयं विवेकविकलः स्वयम् ॥२७॥ पंचपापवशेनात्मा समुद्रमवगाहते । अग्नौ पतति निःशङ्को भीमं युद्धं करोति सः ॥२८॥ पंचपापैर्हि जीवस्य बुद्धिर्धर्मात्पलायते। अधर्मे दुःखदे भीमे बुद्धिः स्याच्च स्वतः सदा ॥२९॥ पंचपापाहता बुद्धिः प्रेर्यमाणापि चोत्तमे । कार्ये कदापि न स्यात्सा कुकार्ये स्यात्स्वतः स्वयम् ॥३०॥ हिंसादीनीह पापानि पंच सन्ति जिनागमे। तेषां विशेषविस्तारः स्यादनेकविकल्पतः ॥३१॥ त्याज्यानि तानि पापानि महाव्रतधरेण हि। जिनागमप्रमाणेन यतिना सुखलिप्सया ॥३२॥ आद्यं हिंसा महत्पापं ततोऽसत्यप्रभाषणम्। अदत्तग्रहणं चैव तुर्यमब्रह्मसेवनम् ॥३३॥ अतिलोभान्ममत्त्वं च परद्रव्येऽभिमूर्च्छनम्। संगस्य संग्रहो वाथ पंच पापानि

---

आदि कषायें जागृत हो जाती हैं और उन कषायोंके कारण यह जीव धर्मको घात करनेवाले अन्याय मार्गमें जाकर मोहित हो जाता है ॥२६॥ इन पांचों पापोंके परवश होकर ही यह जीव विवेकको छोड़कर संसारके समस्त प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले आरंभोंको स्वयं प्रारंभ करता है ॥२७॥ इन पांचों पापोंके वश होकर ही यह आत्मा समुद्रमें गिर पड़ता है, अग्निमें जल मरता है और निःशंक होकर भयानक युद्ध करता है ॥२८॥ इन पांच पापोंके ही कारण इन जीवोंकी बुद्धि धर्मसे हट जाती है और दुःख देनेवाले भयानक अधर्ममें सदाके लिये स्वयं लग जाती है ॥२९॥ इन पांचों पापोंके कारण जो बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह उत्तम कार्योंमें प्रेरणा करनेपर भी कभी नहीं जाती और पापरूप कार्योंमें अपने आप चली जाती है॥३०॥ इन जैनशास्त्रोंमें "हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह" ये पांच पाप माने गये हैं। और इनके अनेक भेद होनेके कारण इनका बहुत विस्तार हो जाता है ॥३१॥ इसलिये महाव्रत धारण करनेवाले यतियोंको आत्मसुखकी इच्छा करते हुए जैन-शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार इन समस्त पापोंका त्याग कर देना चाहिये ॥३२॥ सबसे पहला महापाप हिंसा है, दूसरा पाप असत्यभाषण है, तीसरा पाप विना दिये हुए पदार्थोंका ग्रहण कर लेना वा चोरी करना है, चौथा पाप अब्रह्मसेवन वा ब्रह्मचर्यका पालन न करना है और पांचवा पाप अत्यन्त लोभसे ममत्वपरिणाम रखना, परद्रव्योंमें ममत्वपरिणाम रखना अथवा अनेक परिग्रहोंका संग्रह करना है। इसप्रकार ये पांच पाप हैं ॥३३—३४॥ अशुभ परिणामोंसे अथवा प्रमादसे जहांपर अपने वा दूसरे प्राणोंकी हिंसा होती है, उसको हिंसा

सन्ति वा ॥३४॥ दुष्टभावप्रमादाभ्यां स्वपरप्राणहिंसनम्। हिंस्यन्ते स्वपरप्राणा वा हिंसा सा मता जिनैः ॥३५॥ एकेन्द्रियादिजीवानां मिथ्यात्वादिकषायतः। प्राणानां द्रव्यभावानां हिंसा स्याद्व्यपरोपणम् ॥३६॥ हिंसा पापं महानिंद्यमस्ति दुःखप्रदायकम्। सर्वपापेषु मुख्यं वाऽधर्मस्य मूलकारणम् ॥३७॥ पापमेकं हि हिंसैव नास्त्यन्यत्पापनामभाक्। अन्यानि सर्वपापानि हिंसास्वन्तर्गतानि वा ॥३८॥ हिंसैव नरकद्वारं हिंसैव दुर्गतेः स्थलम्। अज्ञानमस्ति हिंसैव हिंसाऽधर्मस्य कारणम् ॥३९॥ अधर्मोऽस्त्यत्र हिंसैव हिंसैव दुर्णयार्णवः। हिंसैव घोरमज्ञानं हिंसैव भवबीजकम् ॥४०॥ सा हिंसैव मृषावादः हिंसैव परपीडनम्। अनीतेरसदाचारस्य हिंसैव सुहाटकम् ॥४१॥ हिंसैव मोक्षमार्गस्य रोधिका चार्गला मता। हिंसैव दशधर्माणां भेदिका छुरिका मता ॥४२॥ लोकेऽस्मिन् व्यसनानां हि पातकानां कुकर्मणाम्। दुर्नीतिकुचरित्राणां मूलं हिंसैव भाषिता ॥४३॥ सर्वेषामस्त्यनर्थानां वधादिकलहात्मनाम्। विश्वविध्वंसकानां हि हिंसैव मुख्यसाधिका ॥४४॥ दीर्घसंसारबन्धस्य हिंसैवो-

---

कहते हैं; अथवा जहांपर अपने वा दूसरेके प्राणोंकी हिंसा की जाती है भगवान् जिनेन्द्रदेव उसको भी हिंसा कहते हैं ॥३५॥ मिथ्यात्व आदि कषायके निमित्तसे एकेन्द्रिय दोइंद्रिय आदि जीवोंके द्रव्यप्राण वा भावप्राणोंका वियोग करना हिंसा कहलाती है ॥३६॥ यह हिंसारूप पाप महानिंद्य है, अनेक दुःख देनेवाला है, समस्त पापोंमें मुख्य है और अधर्मका मूल कारण है ॥३७॥ इस संसारमें एक हिंसा ही पाप है, हिंसाके सिवाय और कोई पाप नहीं है, मिथ्याभाषण चोरी आदि अन्य जितने पाप हैं, वे सब इसी हिंसामें ही अन्तर्गत होते हैं ॥३८॥ यह हिंसारूप पाप ही नरकका द्वार है, हिंसा ही दुर्गतिका स्थान है, हिंसा ही अज्ञान है और हिंसा ही अधर्मका कारण है ॥३९॥ यह हिंसा ही अधर्म है, हिंसा ही कुटिल नीतियोंका समुद्र है, हिंसा ही घोर अज्ञान है और हिंसा ही जन्म-मरणरूप संसारका कारण है ॥४०॥ वह हिंसा ही असत्यभाषण है, हिंसा ही अन्य जीवोंको पीड़ा देनेवाली है और यह हिंसा ही अनीति तथा असदाचारकी दुकान है ॥४१॥ यह हिंसा ही मोक्षमार्गको रोकनेवाला अर्गल वा बेड़ा है और उत्तम क्षमादिक दश धर्मोंको नाश करनेके लिये यह हिंसा ही छुरीके समान है ॥४२॥ यह हिंसा ही समस्त व्यसनोंका, समस्त पापोंका, समस्त कुकर्मोंका, समस्त अनीतियोंका और समस्त कुचारित्रोंका मूल कारण है ॥४३॥ संसारके समस्त जीवोंका घात करनेवाली हिंसा कलह और समस्त अनर्थोंका मूल साधन इस हिंसाको ही समझना चाहिये ॥४४॥ दीर्घ संसारके

त्पादिका मता । अतो हिंसैव संसारो जन्ममृत्युभयाकुलः ॥४५॥ हिंसैव प्राणसंहारो व्याधिर्मर्मप्रभेदिका । अनेकदुःखदा चैव मानमर्दनकारिका ॥४६॥ हिंसैवाखिलपुण्यानां धनधान्यादिसंपदाम् । नाशिका दुःखशोकानां दायिका भववर्द्धिका ॥४७॥ स धर्मो यत्र नो हिंसा तत्पुण्यं यत्र नो वधः । सत्यं तद्यत्र नो हिंसा तीर्थं हिंसाविहीनकम् ॥४८॥ हिंसा न वर्णिता यत्र वेदः स एव कथ्यते । शास्त्रं तदेव सत्यं स्याद्धिंसावर्णनवर्जितम् ॥४९॥ सृष्टेः संहारको योस्ति पशुयज्ञविधायकः । हिंसोपदेशको नूनं देवः स स्यात्कदापि न ॥५०॥ हिंसाकर्मकरः सर्वारम्भपापविधायकः । हिंसायां मन्यमानो यो धर्मो सोस्ति गुरुर्न वै ॥५१॥ तच्छ्रेयो यत्र नो हिंसा हिंसा श्रेयोविघातिका । श्रेयोमार्गप्रपित्सूनां त्याज्या हिंसात्र दुःखदा ॥५२॥ मंगलं परमं तद्धि यत्र हिंसा न वर्तते । सर्वमङ्गलकार्याणां हिंसा विध्वंसिका मता ॥५३॥ देवपूजा हि सैवास्ति धर्मयज्ञः सः

---

बन्धको उत्पन्न करनेवाली यह हिंसा ही है, इसलिये कहना चाहिये कि यह हिंसा ही जन्म, मरण और भयसे भरा हुआ यह संसार है ॥४५॥ यह हिंसा ही प्राणोंका संहार है, हिंसा ही व्याधि है, हिंसा ही मर्मको भेदन करनेवाली है, हिंसा ही अनेक दुःख देनेवाली है और हिंसा ही मानमर्दन करनेवाली है ॥४६॥ यह हिंसा ही समस्त पुण्योंका नाश करनेवाली है, समस्त धन धान्य आदि संपदाओंका नाश करनेवाली है, अनेक दुःख और शोकोंको देनेवाली है और यह हिंसा ही संसारको बढ़ानेवाली है ॥४७॥ धर्म वही है जहां हिंसा न होती हो, पुण्य वही है जहां किसी प्राणीका बध न होता हो, सत्य वही है जहां हिंसाका लेश भी न हो और तीर्थ वही है जो हिंसासे सर्वथा रहित हो ॥४८॥ वेद उसीको कहते हैं जिसमें हिंसाका वर्णन न हो और यथार्थ शास्त्र वे ही कहलाते हैं जिनमें हिंसाका वर्णन सर्वथा न हो ॥४९॥ जो सृष्टिका संहार करता है, यज्ञमें पशुओंके होमनेका विधान बतलाता है और जो हिंसाका उपदेश देता है वह इस संसारमें देव कभी नहीं कहला सकता ॥५०॥ जो हिंसारूप कार्योंको करता है, सबतरहके आरंभ और पापोंको करता है तथा जो हिंसामें ही धर्म मानता है, उसको गुरू कभी नहीं कह सकते ॥५१॥ इस संसारमें कल्याण वहीं है जहां हिंसा न हो, क्योंकि यह हिंसा ही कल्याणको नाश करनेवाली है। इसलिये कल्याणमार्गको चाहनेवाले भव्य पुरुषोंको दुःख देनेवाली यह हिंसा सर्वथा छोड़ देनी चाहिये ॥५२॥ इस संसारमें परम मांगलिक कार्य वे ही हैं जिनमें हिंसा न होती हो; क्योंकि यह हिंसा ही मांगलिक समस्त कार्योंको नाश करनेवाली है ॥५३॥ इस संसारमें देवपूजा

एव हि । न मनाग्यत्र हिंसाऽस्ति हिंसोद्देश्यो न वा क्वचित् ॥५४॥ शुभाचारः स एवास्ति यत्र हिंसानिवर्तनम् । अत्यल्पा सूक्ष्महिंसापि शुभाचारस्य घातिका ॥५५॥ श्रेष्ठं तदेव वृत्तं स्याद्यत्र हिंसा कदापि न । वृत्ताभावे मता जैनैर्वा हिंसा लेशमात्रतः ॥५६॥ यत्र हिंसा विचारो न सद्विचारः स एव हि । एका हिंसैव लोकेऽस्मिन् विचारस्यास्ति घातिका ॥५७॥ हिंसा धर्मे प्रतीतिर्न तच्छ्रेष्ठं दर्शनं मतम् । शुद्धचैतन्यभावे हि हिंसायाः किं प्रयोजनम् ॥५८॥ यत्र स्यात्स्वात्मभावानां दृग्ज्ञानचरणात्मनाम् । विघातः शुद्धरूपाणां हिंसा सा बोधिघातिका ॥५९॥ ध्यानं तपो यमो दान्तिः समाधिर्निग्रहस्तथा । हिंसाभावे हि ते श्रेष्ठा हिंसारूपास्तु दुःखदाः ॥६०॥ जपानुष्ठानपूजाद्या देवाराधनसाधकाः । उपस्कारा हि ते सर्वे निकृष्टा हिंस्यकर्मणा ॥६१॥ क्रूरा दुर्व्यसना दीना दुःखदारिद्र्यपीडिताः । रोगग्रस्ता भवन्त्येते हिंसापापस्य सेवनात् ॥६२॥ तस्माद्धिंसामयं धर्मं

उसीको कहते हैं और धर्मयज्ञ उसीको कहते हैं जिसमें किंचिन्मात्र भी हिंसा न हो, अथवा किंचिन्मात्र भी हिंसाका उद्देश्य न हो ॥५४॥ इस संसारमें शुभाचार वा शुभ आचरण वे ही हैं, जिनमें हिंसाका सर्वथा त्याग हो; क्योंकि बहुत ही थोड़ी सूक्ष्म हिंसा भी शुभाचार वा शुभ आचरणोंको नाश कर डालती है ॥५५॥ श्रेष्ठ चारित्र उसीको कहते हैं, जिसमें कभी भी हिंसा न करनी पड़े । तथा चारित्रके अभावमें भगवान् जिनेन्द्रदेवने लेशमात्र हिंसा अवश्य बतलाई है ॥५६॥ इस संसारमें श्रेष्ठ विचार उन्हींको कहते हैं जिनमें हिंसाका विचार भी न करना पड़े । क्योंकि एक हिंसा ही इस संसारमें समस्त श्रेष्ठ विचारोंका नाश करनेवाली है ॥५७॥ सबसे श्रेष्ठ दर्शन वही है, जिससे हिंसाधर्ममें विश्वास न करना पड़े । क्योंकि आत्माके शुद्ध भावोंमें हिंसाका क्या प्रयोजन है ? ॥५८॥ जहांपर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माके शुद्ध भावोंका नाश हो जाता है, वह रत्नत्रयको नाश करनेवाली हिंसा कहलाती है ॥५९॥ ध्यान, तप, यम, इन्द्रियदमन समाधि और इंद्रियनिग्रह आदि सब हिंसाके अभावमें ही श्रेष्ठ माने जाते हैं । यदि यही ध्यानादिक हिंसारूप हों तो फिर दुःख देनेवाले हो जाते हैं ॥६०॥ जप, अनुष्ठान और पूजा आदि देवाराधनके जितने साधन हैं, वे यदि हिंसापूर्वक हों तो वे सब अत्यन्त निकृष्ट गिने जाते हैं ॥६१॥ इस हिंसारूप पापके सेवन करनेसे ये जीव क्रूर, दुर्व्यसनी, दीन, दुःख और दरिद्रतासे पीड़ित तथा अनेक प्रकारके रोगोंसे घिरे हुए होते हैं ॥६२॥

सर्वं त्यक्त्वा सुभावतः । कुर्वहिंसामयं धर्ममात्मन् त्वं शिवसाधकम् ॥६३॥ धर्मभावनयोपेता हिंसा धर्मोस्ति यन्मते । पुण्यं भवति हिंसातस्तन्मिथ्यात्वं जिनैर्मतम् ॥६४॥ तस्माद्धि स्वात्मरक्षार्थं कुरु यत्नं विशेषतः । स्वात्मनोऽहिंसनं यत्र स्वात्मरक्षा मता हि सा ॥६५॥ मैत्रीं त्वं कुरु जीवेषु मा हिंस्याज्जन्तुमात्रकम् । जीवा आत्मसमाः प्रोक्ता यतो श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥६६॥ यच्छ यच्छाभयं चात्मन् सर्वभूतेषु सर्वतः । यदात्मसदृशं विद्धि लोके भूतकदम्बकम् ॥६७॥ परस्य येन कार्येणानिष्टं ते जायते यदि । आत्मन् मा कुरु तत्कार्यं परस्मै दुष्टभावतः ॥६८॥ यथात्मन् ते प्रियाः प्राणास्तथैव सर्वप्राणिनाम् । तस्मान्मा-कुरु दुर्बुद्धया परप्राणविहिंसनम् ॥६९॥ अभीष्टास्ते यथा प्राणास्त्वमात्मन् तान् सुरक्षसि । अभीष्टाः सर्वभूतानां रक्षन्ति ते तथैव तान् ॥७०॥ येन भावेन ते हिंसा स्यादात्मन् पीड्यतेऽथवा । त्वं च मा कुरु तद्भावं परस्मै दुष्टचेष्टया ॥७१॥

---

इसलिये हे आत्मन् ! तू अपने श्रेष्ठ परिणामोंसे हिंसामय समस्त धर्मों वा कार्योंका त्याग कर और मोक्ष देनेवाले अहिंसामय धर्मको स्वीकार कर ॥६३॥ जिस मतमें धर्मकी भावनासे की हुई हिंसाको धर्म माना जाता है और हिंसासे पुण्यकी प्राप्ति मानी जाती है, उसको भगवान जिनेन्द्रदेव मिथ्यात्व कहते हैं ॥६४॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू अपने आत्माकी रक्षा करनेके लिये विशेष प्रयत्न कर । जहांपर अपने आत्माकी हिंसा नहीं की जाती, उसीको अपने आत्माकी रक्षा कहते हैं ॥६५॥ हे भव्य ! तू समस्त जीवोंमें मित्रता धारण कर और किसी भी जीवकी हिंसा मत कर । क्योंकि भगवान जिनेन्द्रदेवने समस्त जीव अपने ही समान बतलाये हैं ॥६६॥ हे आत्मन् ! तू समस्त जीवोंको अभयदान दे । क्योंकि संसारमें जितने जीव हैं, वे सब अपने ही आत्माके समान हैं ॥६७॥ हे आत्मन् ! दूसरेके जिस कार्यसे तेरा अनिष्ट होता हो, उस कार्यको तू अपने बुरे परिणामोंसे दूसरेके लिये कभी मत कर ॥६८॥ हे आत्मन् ! जिसप्रकार तेरे प्राण तुझे प्रिय हैं, उसीप्रकार समस्त प्राणियोंको अपने अपने प्राण प्रिय हैं । इसलिये हे आत्मन् ! दुर्बुद्धि धारणकर तू परप्राणोंकी हिंसा कभी मत कर ॥६९॥ हे आत्मन् ! जिसप्रकार तेरे प्राण तुझे प्रिय हैं और तू उनकी रक्षा करता है, उसीप्रकार समस्त प्राणियोंको अपने अपने प्राण प्रिय हैं और वे सब अपने अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं ॥७०॥ हे आत्मन् ! जिन परिणामोंसे तेरी हिंसा होती है अथवा तुझे पीड़ा पहुँचती है, उन परिणामोंको तू दुष्ट भावोंसे दूसरोंके लिये कभी मत कर ॥७१॥ जिसप्रकार तेरे प्राणोंका घात होनेपर तुझे दुःख होता है, उसीप्रकार

यदि ते गात्रघातेन वेदना जायते परा । परेषां प्राणघातेन वेदना जायते तथा ॥७२॥ यथात्मन् ते सुखं चेष्टमन्येषामपि तत्कुरु । यदि दुःखमनिष्टं ते परेषामपि मा कुरु ॥७३॥ मरणं केऽपि नेच्छन्ति सर्वे चेच्छन्ति जीवितम् । येनोपायेन सर्वेषां जीवनं स्याच्च तत्कुरु ॥७४॥ रक्ष रक्ष प्रयत्नेन प्रमादरहितेन च । जीवमात्रं दयाबुद्धया ज्ञात्वात्मसदृशं परम् ॥७५॥ सारं हि सर्वशास्त्राणां रहस्यं सर्ववेदिनाम् । अहिंसालक्षणो धर्मः हिंसा पापस्य लक्षणम् ॥७६॥ अहिंसैव शिवं सूते हिंसा दुर्गतिदायिनी । अहिंसैव परो धर्मः हिंसैवाधर्मलक्षणम् ॥७७॥ अहिंसैव समाधीनां राजमार्गोतिनिर्मलः । येन संप्राप्यते शीघ्रं शिवसौख्यमकण्टकम् ॥७८॥ दयार्द्रं बन्धुभावेन चेतो जीवस्य यस्य हि । जीवान् रक्षति यो नित्यमात्मवत्सोऽस्ति धार्मिकः । ॥७९॥ यथा यथा दया चित्ते वर्द्धते बन्धुभावतः । तथा तथा हि सम्यक्त्वं वर्द्धते सर्वजन्तुषु ॥८०॥ स्यादहिंसामयं चित्तं रागद्वेषविवर्जितम् । यदा तदा समाप्नोति जीवः साम्यामृतं शुभम् ॥८१॥ यदात्मा शुद्धभावेष्वहिंसाधर्ममयेषु वा । संतिष्ठते

---

दूसरोंके प्राणोंका घात होनेपर दूसरोंको भी दुःख ही होता है ॥७२॥ हे आत्मन् ! यदि तू सुख चाहता है तो दूसरोंको भी सुख पहुँचा । यदि दुःखका होना तुझे अनिष्ट है तो तू किसी दूसरेको भी दुःख मत दे ॥७३॥ इस संसारमें मरना कोई नहीं चाहता, सब जीवित ही रहना चाहते हैं । इसलिये जिस उपायसे सब जीवोंका जीवन बना रहे, ऐसा उपाय तू सदा कर ॥७४॥ हे आत्मन् ! तू समस्त जीवोंको अपने आत्माके ही समान समझकर दयाबुद्धिसे प्रयत्नपूर्वक और प्रमादरहित होकर समस्त जीवोंकी रक्षा कर ॥७५॥ धर्मका लक्षण अहिंसा ही है और हिंसा पापका लक्षण है, यही समस्त शास्त्रोंका सार है और समस्त ज्ञानियोंका यही रहस्य है ॥७६॥ अहिंसासे मोक्षकी प्राप्ति होती है और हिंसासे दुर्गतिकी प्राप्ति होती है । अहिंसा परमधर्म है और हिंसा अधर्मका लक्षण है ॥७७॥ यह अहिंसा ही समाधियोंका निर्मल राजमार्ग है और इसी अहिंसासे कण्टकरहित मोक्षका सुख बहुत शीघ्र प्राप्त हो जाता है ॥७८॥ जिसका हृदय भाईपनेके प्रेमसे समस्त जीवोंमें दया धारण करता है और जो अपनी आत्माके समान समस्त जीवोंकी सदा रक्षा किया करता है, उसीको धार्मिक पुरुष समझना चाहिये ॥७९॥ जीवोंके हृदयमें बन्धुताके प्रेमसे जैसे जैसे दया बढ़ती जाती है, वैसे वैसे ही समस्त जीवोंमें समताभाव बढ़ते जाते हैं ॥८०॥ जब इस जीवका हृदय राग-द्वेषसे रहित होकर अहिंसामय हो जाता है, तब यह जीव अत्यन्त शुभ ऐसे समतारूप अमृतको प्राप्त हो जाता है ॥८१॥ जब यह

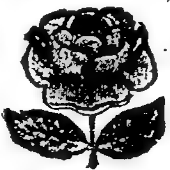
निराबाधं ध्याता योगी तदैव सः ॥८२॥ यदाऽहिंसामयो भावो जायते स्वात्मतस्तदा। दृक्पूतं निर्मलं ध्यानं भवेत्कर्मविदारकम् ॥८३॥ त्वमहिंसामयं धर्मं तस्मादात्मन् गृहाण तम्। यत्प्रभावेन शीघ्रं त्वं मोक्षसौख्यं हि लप्स्यसे ॥८४॥ जिनवरमतचिह्नं विश्वलोके प्रसिद्धं सकलभुवनमान्यं सर्वसत्त्वानुकम्पम्। भजतु भजतु शीघ्रं विश्वकल्याणबीजं सकलसुखनिधानं त्वं ह्यहिंसासुधर्मम् ॥८५॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे अहिंसाधर्मवर्णनो नाम सप्तमोऽधिकारः ॥

---

आत्मा अहिंसाधर्ममय अपने शुद्ध भावोंमें विना किसी बाधाके लीन हो जाती है, तब यह आत्मा ध्यान करनेवाला योगी कहा जाता है ॥८२॥ जब इस आत्माके अहिंसामय भाव उत्पन्न हो जाते हैं, तभी इसके सम्यग्दर्शनसे पवित्र, निर्मल और कर्मोंको नाश करनेवाला ध्यान प्रगट होता है ॥८३॥ इसलिये हे आत्मन्! तू अब उस अहिंसामय धर्मको स्वीकार कर, जिसके प्रभावसे तुझे शीघ्र ही मोक्ष-सुखकी प्राप्ति हो जाय ॥८४॥ यह अहिंसामय धर्म भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए मतका चिह्न है, समस्त संसारमें प्रसिद्ध है, तीनों लोकोंके द्वारा मान्य है, समस्त जीवोंपर दया धारण करनेरूप है, समस्त कल्याणोंका कारण है और समस्त सुखोंका निधान है। हे आत्मन्! ऐसे अहिंसामय श्रेष्ठ धर्मको तू धारण कर, धारण कर ॥८५॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें अहिंसाधर्मको वर्णन करनेवाला यह सातवां अधिकार समाप्त हुआ।



# अष्टमोऽधिकारः ।



सत्यालयं जगत्पूज्यं सत्यधर्मस्य नायकम् । भावभक्त्या प्रवन्देऽहं श्रीसुपार्श्वं जिनेश्वरम् ॥१॥ सत्ये प्रतिष्ठितो देवः सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः । सत्ये प्रतिष्ठिता विद्या सत्यमेव सुखाकरम् ॥२॥ सत्यात्तरन्ति संसारं सत्याद्दुःखं प्रणश्यति । सत्याच्च बन्धुतां यान्ति सर्वे जीवाः परस्परम् ॥३॥ सत्यमेव जगन्मान्यं विश्वकल्याणकारकम् । जयध्वनिं प्रकुर्वन्ति देवाः सत्येन भूतले ॥४॥ सत्येन धार्यते धर्मस्तत्त्वधर्मप्रदर्शकः । सत्येन शिवसौख्यं हि जायते ह्यविनश्वरम् ॥५॥ सत्येन निर्मलो भावः स्वात्मनो जायते शुभः । कृत्स्नकर्मक्षयस्तेन जायते ह्यचिरेण सः ॥६॥ व्रतेषु वा चरित्रेषु सत्योऽस्ति सर्वसाधकः । उच्चस्थानं हि धर्मेषु सत्यस्य गदितं जिनैः ॥७॥ त्यक्त्वा सर्वविकल्पं हि त्वं सत्ये रसिको भव ।

---

जो श्रीसुपार्श्वनाथ भगवान् सत्यके स्थान हैं, जगत्पूज्य हैं, सत्यधर्मके स्वामी हैं और जिनराज हैं; ऐसे भगवान् सुपार्श्वनाथको मैं भक्ति और भावपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इस सत्य महाव्रतमें देव भी प्रतिष्ठित हैं, इसी सत्यमें धर्म प्रतिष्ठित है, सत्यमें ही विद्या प्रतिष्ठित है और सत्य ही सुखकी खानि है ॥२॥ इस सत्यसे ही यह जीव संसारसे पार हो जाता है, सत्यसे ही समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं और सत्यसे ही समस्त जीव परस्पर बन्धुताको प्राप्त होते हैं ॥३॥ यह सत्यधर्म संसारभरमें मान्य है और समस्त संसारका कल्याण करनेवाला है । इस पृथ्वीतलपर इस सत्यके ही प्रतापसे देवलोग जय जयकार करते रहते हैं ॥४॥ तत्त्वोंके धर्मको प्रकाशित करनेवाला वस्तुस्वभावरूप धर्म इस सत्यसे ही धारण किया जाता है । और सत्यधर्मके ही प्रभावसे कभी नाश नहीं होनेवाला मोक्षसुख प्राप्त होता है ॥५॥ इस सत्यसे ही आत्माके निर्मल और शुभ भाव उत्पन्न होते हैं और इसी सत्यसे शीघ्र ही समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है ॥६॥ व्रत और चारित्रमें सत्य ही सबका साधक है और भगवान् जिनेन्द्रदेव समस्त धर्मोंमें सत्य धर्मको ही उच्च स्थान देते हैं ॥७॥ इसलिये

सत्यधर्माधृतो येन शिवोऽपि स्वकरे धृतः ॥८॥ विशुद्धं मानसं तस्य यत्र सत्यं विराजते । परं सत्येन विश्वासो जायतेऽसुभृतां सदा ॥९॥ सत्येन हि दयाधर्मो जायते हि यतः स्वयम् । सत्येन हि गुणाः सर्वे स्वयं यान्ति जिहीर्षया ॥१०॥ वैरं पलायते शीघ्रं सत्येन प्राणिनां ननु । प्रेम संपद्यते शीघ्रमन्योन्यं सुमनोहरम् ॥११॥ नश्यन्ति विपदः सर्वाः संकटोपि पलायते। सत्यमाहात्म्यतो नूनं सत्यं सर्वैः प्रपूज्यते ॥१२॥ तस्मात्सत्यव्रतं धृत्वा सुधर्मं भज रे सुधीः । येन संपद्यते सौख्यं कल्याणं मङ्गलं शुभम् ॥१३॥ सत्येन सम्पदो यान्ति कीर्तिः सत्येन जायते । सत्येन पात्रतां याति सत्येन पूज्यते नरैः ॥१४॥ सत्येन जायते धर्मः सत्येनैव च स्थीयते। सत्येन वर्द्धते स्वौच्च्यं सत्येनैवावधार्यते ॥१५॥ अविश्वासकरं पापमसत्यं मर्मच्छेदकम् । धर्मध्वंसकरं नित्यमात्मन् मा वद निन्द्यकम् ॥१६॥ प्रत्यक्षदुःखदं पापमसत्यं विद्धि तत्त्वतः । क्लेशबन्धवधादीनां स्थानं

---

हे आत्मन् ! तू समस्त विकल्पोंको छोड़कर सत्यधर्ममें लीन हो । क्योंकि जिसने सत्यधर्मको धारण कर लिया, उसने मोक्षको भी अपने हाथमें ही ले लिया ऐसा समझना चाहिये ॥८॥ जिसके हृदयमें सत्यधर्म विराजमान रहता है, उसका हृदय विशुद्ध ही समझना चाहिये । इस सत्यधर्मके कारण समस्त प्राणियोंको सदाके लिये विश्वास हो जाता है ॥९॥ इस सत्यधर्मके कारण दयाधर्म अपने आप हो जाता है और इसी सत्यधर्मके कारण समस्त गुण एक दूसरेको जीतनेकी ही इच्छासे नहीं, किन्तु मानो अपने आप आ जाते हैं॥१०॥ इस सत्यधर्मके कारण प्राणियोंकी सब शत्रुता भी नष्ट हो जाती है और शीघ्र ही परस्पर मनोहर प्रेम उत्पन्न हो जाता है ॥११॥ इस सत्यधर्मके माहात्म्यसे समस्त विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं और सब संकट भाग जाते हैं, यह सत्यधर्म सबके द्वारा पूजा जाता है ॥१२॥ इसलिये हे बुद्धिमन् ! तू सत्यव्रतको धारण कर और इस श्रेष्ठ धर्मका पालन कर । इस सत्यधर्मसे ही कल्याण, मङ्गल, शुभ और सुख उत्पन्न होता है ॥१३॥ इस सत्यधर्मके प्रतापसे संपदायें सब प्राप्त हो जाती हैं, इस सत्यसे ही कीर्ति प्रगट होती है, सत्यसे ही यह मनुष्य पात्र बनता है और सत्यसे ही यह मनुष्य अन्य मनुष्यों के द्वारा पूजा जाता है ॥१४॥ इस सत्यसे ही धर्म प्रगट होता है, सत्यसे ही स्थिरता होती है, सत्यसे ही अपनी उच्चता बढ़ती है और सत्यसे ही सब कुछ धारण किया जाता है ॥१५॥ असत्य वचन पापरूप हैं, मर्मच्छेदक हैं, अविश्वास उत्पन्न करानेवाले हैं, धर्मका नाश करनेवाले हैं और निन्दा उत्पन्न करानेवाले हैं, हे आत्मन् ! ऐसे असत्य वचन तू कभी मत कह ॥१६॥ हे

दुर्गतिभाजनम् ॥१७॥ असत्यं नरकद्वारं सद्य आपत्तिकारकम् । मानभङ्गो भयः शोको जायतेऽसत्यवाक्यतः ॥१८॥ असत्यं भयदं त्यक्त्वा चर सत्यं महाव्रतम् । सत्ये चैके स्थिताः सर्वे योगिनो व्रतपालकाः ॥१९॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेनासत्यं त्यज सुभावतः । सत्यवाक्यं वदात्मन् त्वं सुखदं दुःखहारकम् ॥२०॥ सत्यं महाव्रतं भक्त्या जिनेन्द्रैरिह धारितम् । मुनिभिर्योगिनाथैश्च धारितं शिवसिद्धये ॥२१॥ तस्माद्धारय हे आत्मन् सत्यमेव महाव्रतम् । महाव्रतप्रभावेन सुधर्मं लभते शिवम् ॥२२॥ स्तेयं पापं महानिन्द्यं जीवानां दुःखदायकम् । स्थानं बंधबधादीनां विपत्तीनां गृहं मतम् ॥२३॥ नास्ति स्तेयसमं पापं परपीडाकरं नृणाम् । एकेन स्तेयपापेन जितं पापकदम्बकम् ॥२४॥ चौरस्य हि दया नास्ति आत्मघाताच्च नो भयम् । कृत्याकृत्यविवेको न न शल्यरहितं मनः ॥२५॥ धनमेव हि जीवानां प्राणाः सन्ति सुजीवने । तद्धृते च धृतास्तेन प्राणाः

आत्मन् ! तू इन असत्य वचनोंको वास्तवमें प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले पाप समझ । ये असत्य वचन क्लेश, वध और बंधन आदिके स्थान हैं और दुर्गतिके पात्र हैं ॥१७॥ यह असत्यरूप पाप नरकका द्वार है, शीघ्र ही अनेक आपत्तियों को लानेवाला है, तथा इसी असत्यके प्रतापसे मानभंग होता है, भय उत्पन्न होता है, और शोक प्रगट होता है ॥१८॥ इसलिये हे आत्मन्! भय देनेवाले इस असत्यका सर्वथा त्याग कर और सत्य महाव्रतको धारण कर । व्रतोंको पालन करनेवाले समस्त योगी इस एक सत्य व्रतमें ही स्थिर रहते हैं ॥१९॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू अपने श्रेष्ठ परिणामोंसे और सबतरहके प्रयत्नोंसे इस असत्यका त्याग कर और सुख देनेवाले तथा दुःखोंको दूर करनेवाले सत्यवाक्योंको ही सदा भाषण कर ॥२०॥ इस सत्यमहाव्रतको भगवान् जिनेन्द्रदेवने भी धारण किया है और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अनेक योगियोंके स्वामियोंने और मुनिराजोंने धारण किया है ॥२१॥ इसलिये हे आत्मन् ! जिस सत्य महाव्रतके प्रभावसे सब तरहका कल्याण करनेवाला श्रेष्ठ धर्म प्राप्त होता है, उस सत्यमहाव्रतको तू अवश्य धारण कर ॥२२॥ इसीप्रकार चोरीरूप पाप भी महानिन्दनीय है, जीवोंको दुःख देनेवाला है, वध-बंधनका स्थान है और अनेक विपत्तियोंका घर है ॥२३॥ इस चोरीके समान मनुष्योंको पीड़ा उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई पाप नहीं है । एक चोरी पापसे ही अन्य समस्त पाप हार गये हैं ॥२४॥ चोरके हृदयमें कभी दया नहीं होती, आत्मघात करनेसे कभी उसको भय नहीं लगता, कृत्य और अकृत्यका कभी उसको विवेक नहीं होता और उसका मन कभी शल्यरहित नहीं होता

ह्यस्तेयकर्मतः ॥२६॥ प्रत्यक्षदुःखदं लोके स्तेयपापं सुनिश्चितम् । परत्र नरकादौ हि दारुणं दुःखदायकम् ॥२७॥ स्तेयपापं परित्यज्य भजास्तेयं महाव्रतम्। सर्वेषामेव सौख्यानां निदानं तदिदं व्रतम् ॥२८॥ कुक्रूरकपटादीनां दुर्गुणानां स्वतः स्वयम् । स्तेयस्य त्यजनेनात्र त्यागो वा स्यादयत्नतः ॥२९॥ सन्मानस्य विधातारं विश्वासस्य च मन्दिरम्। कल्याणस्य सुनेतारं धरास्तेयं महाव्रतम् ॥३०॥ महापापकरं स्तेयं जिनाज्ञालोपकं हि तत् । आत्मनः शुद्धभावस्य वञ्चकं स्तेयमुच्यते ॥३१॥ स्तेयमात्रं सदा त्याज्यं जिनागमनिदेशतः । महाव्रतं यदस्तेयं धार्यं तन्मुनिसत्तमैः ॥३२॥ प्रतिष्ठायतनं तद्धि सर्वसंकटहारकम् । श्रेष्ठं प्रमाणभूतं वाऽस्तेयं ननु महाव्रतम् ॥३३॥ विपत्तिमात्रतस्तद्धि रक्षिष्यति च रक्षति । रक्षिताश्च पुरा लोके बहवः सज्जना जनाः ॥३४॥ तस्मात्सुखकरं श्रेष्ठमस्तेयं तन्महाव्रतम् । त्वं गृहाण सुभावेन रे आत्मन् सुखलिप्सया ॥३५॥ मैथुनेन समं निन्द्यं पापं नास्तीह

---

॥२५॥ इस संसारमें जीवोंको जीवित रखनेके लिये धन ही प्राण हैं, चोरी करनेवाला जब चोरी करके उसका धन हरण कर लेता है तो समझना चाहिये कि उसने उसके प्राण ही हरण कर लिये ॥२६॥ यह सुनिश्चित है कि इस लोकमें चोरी रूप पापसे प्रत्यक्ष दुःख उत्पन्न होता है, तथा परलोकमें नरक निगोदमें दारुण दुःख होता है ॥२७॥ इसलिये हे आत्मन् ! चोरीके पापको छोड़कर तू अचौर्य महाव्रतको धारण कर । यह अचौर्य महाव्रत समस्त सुखोंका मूल कारण है ॥२८॥ इस चोरी करनेरूप पापका त्याग करदेनेसे क्रूरता कपट आदि अनेक दुर्गुणोंका त्याग विना किसी प्रयत्नके अपने आप हो जाता है ॥२९॥ यह अचौर्य महाव्रत सन्मानको देनेवाला है, विश्वासका घर है और समस्त कल्याणोंको प्राप्त करानेवाला है । हे आत्मन् ! ऐसे इस अचौर्य महाव्रतको तू धारण कर ॥३०॥ यह चोरीरूप पाप महापापोंको उत्पन्न करनेवाला है और जिनेन्द्र देवकी आज्ञाको लोप करनेवाला है । यही चोरीरूप पाप आत्माके शुद्ध भावोंको ठगनेवाला है ॥३१॥ इसलिये श्रेष्ठ मुनियोंको आगमकी आज्ञाके अनुसार सदाके लिये चोरीका त्याग कर देना चाहिये और अचौर्य महाव्रतको धारण कर लेना चाहिये ॥३२॥ यह अचौर्य महाव्रत प्रतिष्ठाका स्थान है, समस्त संकटोंको दूर करनेवाला है, सर्वश्रेष्ठ है, और प्रमाणभूत है ॥३३॥ यह अचौर्य महाव्रत विपत्तिमात्रसे इस जीवकी रक्षा करता है, आगे करेगा और पहिले भी इसने अनेक सज्जन लोगोंकी इस लोकमें रक्षा की है ॥३४॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू सुखकी इच्छासे श्रेष्ठ भावोंके द्वारा सुख देनेवाले सर्वश्रेष्ठ इस अचौर्य महाव्रतको धारण कर ॥ ३५ ॥

भूत्तले । दुःखशोकपरीतापविपत्तीनां मतं गृहम् ॥३६॥ एकतो मैथुनं पापं सर्वपापानि चान्यतः । तुलां कोटिं न बिभ्रन्ति गरीयस्तद्धि मैथुनम् ॥३७॥ श्वभ्रादि दुर्गतेः स्थानं वा कलंकस्य भाजनम् । अपमानस्य बोजो हि तत्पापं मैथुनं भुवि ॥३८॥ अब्रह्मसेवनाच्छीघ्रं रोगाः सर्वे भवन्ति च । पराभवोऽत्र जीवानां तेन स्याद्धि पदे पदे ॥३६॥ धनधान्यसमृद्धीनां नाशो मैथुनपापतः । जोवस्य जायते शीघ्रमयशः स्यात्पदे पदे ॥४०॥ अब्रह्मपापजान्मोहान्नरो हन्ति च मातरम् । हा हा स्वस्त्रीवधं कृत्वाऽऽकांक्षत्येष पराङ्गनाम् ॥४१॥ अब्रह्मपापतो नूनं स्वात्महत्यां करोति वा । हा पापिनां विवेको न कृत्याकृत्यस्य भूतले ॥४२॥ अब्रह्मपापतः शीघ्रं व्यसनानां समागमः । संपत्स्यते हि जीवानां संसारस्य च वर्द्धकः ॥४३॥ तपोध्यानदयासत्यसंयमादिकसद्गुणाः । अब्रह्मपापतो नूनं पलायन्ते हि लाघवात् ॥४४॥ कामाग्निना हि मूढात्मा

---

इस संसारमें मैथुन-सेवनके समान अन्य कोई निन्दनीय पाप नहीं है, यह पाप दुःख, शोक वा संताप और अनेक विपत्तियोंका घर है ॥३६॥ यदि एक ओर मैथुन-सेवनका पाप रख लिया जाय और दूसरी ओर अन्य समस्त पाप रख लिये जायं तो भी वे सब मैथुन-सेवनकी समानता नहीं कर सकते । मैथुन-सेवनका पाप उन सबसे भी अधिक होता है ॥३७॥ इस संसारमें यह मैथुन-सेवनरूप पाप नरकादिक दुर्गतियोंका स्थान है, कलंकका पात्र है और अपमानका कारण है ॥३८॥ इस मैथुन-सेवनसे समस्त रोग शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं और इसीके सेवनसे जीवोंको पदपदपर तिरस्कार सहना पड़ता है ॥३९॥ इस मैथुन-सेवनके पापसे इस जीवके धन, धान्य और समस्त संपदाओंका नाश हो जाता है और पद पदपर अपयश होता है ॥४०॥ इस मैथुन-सेवनके पापसे मोहित होकर यह मनुष्य माताको मार डालता है और अपनी स्त्रीको मारकर परस्त्रीकी इच्छा करता है ॥४१॥ इस मैथुन-सेवनके पापसे यह मनुष्य अपनी आत्महत्या भी कर लेता है। सो ठीक ही है, क्योंकि पापी जीव कृत्य अकृत्य आदिका कोई किसी प्रकारका विवेक नहीं करते हैं ॥४२॥ इस अब्रह्म-सेवनके पापसे जीवोंके जन्म-मरणरूप संसारको बढ़ानेवाला समस्त व्यसनोंका समागम बहुत शीघ्र हो जाता है ॥४३॥ तप, ध्यान, दया, सत्य और संयम आदि समस्त सद्गुण इस अब्रह्म-सेवनके पापसे शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं ॥४४॥ कामरूप अग्निसे जला हुआ यह मूर्ख पतंगके समान शीघ्र ही भस्म हो जाता है, सो ठीक

दह्यमानः पतङ्गवत् । भस्मीभवति शीघ्रं स स्त्रीमुग्धानां कुतो मतिः ॥४५॥ अग्निना हि प्रदग्धानामुपायोऽस्ति यतोऽत्र वै । कामाग्निना प्रदग्धानां नास्त्युपायः क्वचित्कदा ॥४६॥ भुजगीभिस्तु ये दष्टास्ते नष्टा वा न तद्भवे । ये दष्टाः स्त्रीभुजङ्गीभिस्ते नष्टा हि भवेभवे ॥४७॥ कोटिजन्मान्तरे लभ्यं नरत्वं दुर्लभं ननु । आत्मन्नत्रप्रजात्वापात्मन् त्वं नरयसे कथम् ॥४८॥ शम्भुहर्यादिदेवा ये कामेनैकेन ते जिताः । कामो हि दुर्धरो लोके महामोहकरो यतः ॥४९॥ वशंगता हि देवेन्द्रा दानवा दैत्यजाः सुराः । कामस्य पापकस्यास्य के वा लोके न मोहिताः ॥५०॥ स्त्रीत एव समुत्पन्नो व्यामोहः कामवर्द्धकः । जीवानां मूर्च्छते सोऽयं संज्ञाहीनं करोति वा ॥५१॥ कृमिजन्तुलटैः पूर्णं स्त्रीजघनं मलाविलम् । पापी करोति वा मोहं तत्र कामकुचेष्टया ॥५२॥ यावदात्मन् स कामाग्निश्चित्ते ज्वलति ते स्फुटम् । तावद्धर्मस्य वार्तापि चित्ते स्फुरति ते कथम् ॥५३॥ तस्मात्तु मैथुनं पापं रे आत्मन त्वं त्यज त्यज । विवेकधिकज्ञो भूत्वा कथं पतसि दुर्गतौ ॥५४॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन

---

ही है, क्योंकि स्त्रीमें मोहित होनेवाले जीवोंको श्रेष्ठ बुद्धि कैसे हो सकती है? ॥४५॥ जो जीव अग्निसे जल जाते हैं, इस संसारमें उनका उपाय तो हो जाता है, परंतु जो जीव कामरूप अग्निसे जल जाते हैं, उनका कभी कोई उपाय नहीं हो सकता ॥४६॥ सर्पिणी जिनको काट लेती है, वे जीव बच भी जाते हैं और यदि मरते हैं तो उसी भवमें मरते हैं, परंतु स्त्रीरूपी सर्पिणीके द्वारा काटे हुए जीव भवभवमें मरते रहते हैं ॥४७॥ यह मनुष्यजन्म करोड़ों भवोंमें भी बड़ी कठिनतासे प्राप्त होता है, उसको पाकर मैथुन-सेवन रूप पापसे इस जन्मको कभी नष्ट भ्रष्ट नहीं करना चाहिये ॥४८॥ इस कामने हरि हर आदि देवोंको भी हरा दिया है। इस संसारमें यह काम अत्यन्त कठिन है और महामोह उत्पन्न करनेवाला है ॥४९॥ इस संसारमें देवोंके इन्द्र, दानव, दैत्य और देव सब इस महापापी कामके वश हो गये हैं, सो ठीक ही है, क्योंकि इस संसारमें कामसे मोहित कौन नहीं हुआ है? ॥५०॥ कामको बढ़ानेवाला व्यामोह स्त्रीसे ही उत्पन्न होता है और यही व्यामोह जीवोंको मूर्च्छित कर देता है और ज्ञानहीन कर देता है ॥५१॥ यह स्त्रियोंका जघनस्थान अनेक प्रकारके कीड़े, जन्तु और लट आदिसे भरा हुआ है, और मलसे भरा हुआ है; उसीमें कामकी कुचेष्टा करता हुआ यह पापी जीव मोहित हो जाता है ॥५२॥ हे आत्मन्! जब तक तेरे हृदयमें कामरूपी अग्नि जलती रहती है, तब तक तेरे हृदयमें धर्मकी कोई बात भी स्फुरायमान नहीं हो सकती ॥५३॥ इसलिये हे आत्मन्! तू इस मैथुनसेवनरूप पापको छोड़ छोड़।

त्यज पापं हि मैथुनम्। स्वर्गापवर्गसौख्यस्य ब्रह्म साधक माचर ॥५५॥ ये ब्रह्मज्ञानिनो जीवाः परब्रह्मस्वरूपकाः। ब्रह्मचर्येण ते सर्वे जाता इति च मन्यताम् ॥५६॥ कल्याणं मङ्गलं भद्रं सुखं संतृप्तिकारकम्। ऋद्धिवृद्धिसमृद्धयाद्याः सर्वे स्युर्ब्रह्मचर्यतः ॥५७॥ ब्रह्मचर्यप्रभावेण भावाद्देवा भजन्ति हि। शक्तिहीनं नरं तुच्छं ब्रह्मतः किन्न जायते ॥५८॥ तीर्थङ्करास्तु ये प्राप्ताः शिवं नित्यं सुखात्मकम्। ब्रह्मचर्येण चैकेन इति च ज्ञायतां स्फुटम् ॥५९॥ मोक्षसौख्यस्य सोपानं ब्रह्मचर्यं मतं जिनैः। एकेन ब्रह्मचर्येण मोक्षसिद्धिर्निरत्यया ॥६०॥ ब्रह्मचर्यं व्रतं येन धृतं भक्त्या त्रिशुद्धिभिः। ऊढा मुक्तिवधूस्तेन भृशं पूतमहात्मना ॥६१॥ ब्रह्मचर्यं व्रतं यस्य निर्मलं हि त्रिशुद्धितः। तस्यैव सफलं वृत्तमन्येषां तु निरर्थकम् ॥६२॥ ब्रह्मचर्यं महापूतं धारयात्मन् गुणाकरम्। मुनीन्द्रा हि यतस्तेन संसाराब्धिं तरन्ति ते ॥६३॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भज-

---

अरे! तू विवेकरहित होकर दुर्गतिमें क्यों पड़ता है? ॥५४॥ इसलिये सब तरहके प्रयत्नोंके द्वारा इस मैथुन-सेवनरूप पापका त्याग कर और स्वर्ग-मोक्षको सिद्ध करनेवाले ब्रह्मचर्यका पालन कर ॥५५॥ इस संसारमें जो ब्रह्मज्ञानी हुए हैं और ब्रह्मस्वरूप हुए हैं, वे सब इस ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे ही हुए हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥५६॥ संसारमें जितने कल्याण हैं, मंगल हैं, भद्र हैं, अत्यन्त संतुष्ट करनेवाले सुख हैं तथा जितनी ऋद्धि, वृद्धि वा समृद्धि हैं; वे सब ब्रह्मचर्यसे ही उत्पन्न होते हैं ॥५७॥ इस ब्रह्मचर्यके प्रतापसे देवलोग बड़ी भक्तिसे अत्यन्त तुच्छ और शक्तिहीन मनुष्यकी भी सेवा करते हैं, सो ठीक ही है; क्योंकि इस ब्रह्मचर्यके प्रतापसे क्या क्या नहीं होता है? ॥५८॥ तीर्थंकरोंने जो नित्य सुखस्वरूप मोक्ष प्राप्त की है, वह एक ब्रह्मचर्यके प्रतापसे ही प्राप्त की हैं ऐसा स्पष्ट समझ लेना चाहिये ॥५९॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने इस ब्रह्मचर्यको ही मोक्ष सुखकी सीढ़ी बतलाई है। इस एकही ब्रह्मचर्यसे कभी न नाश होनेवाली मोक्षकी सिद्धि होती है ॥६०॥ जिस पुरुषने भक्तिपूर्वक मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है, उस पवित्र महात्माने मोक्षरूपी स्त्री ही प्राप्त कर ली, ऐसा समझना चाहिये ॥६१॥ जिसका ब्रह्मचर्य व्रत मन, वचन और कायकी शुद्धतासे अत्यन्त निर्मल है, उसीका सम्यक्चारित्र सफल समझना चाहिये। अन्य जीवोंका चारित्र केवल ब्रह्मचर्यके अभावसे निरर्थक ही समझना चाहिये ॥६२॥ इसलिये हे आत्मन्! अनेक गुणोंसे भरपूर और महापवित्र ऐसे इस ब्रह्मचर्य व्रतको धारण कर, क्योंकि इस ब्रह्मचर्य व्रतसे ही मुनिलोग संसाररूपी समुद्रसे पार होते हैं ॥६३॥

स्वात्मन् महाव्रतम् । ब्रह्मचर्यं जगत्पूज्यं 'सुधर्मं' मुनिसेवितम् ॥६४॥ सर्वाण्यन्यानि पापानि नाममात्राणि भूतले । संगमेकं महत्पापं पापमूलं परं मतम् ॥६५॥ मूर्च्छासमो न वा क्वापि व्याधिः संतापकारकः । तेनैव सुगृहीतात्मा दुःखात्ताम्यति मूर्च्छति ॥६६॥ अनर्था दुःखदाः सर्वे पापपङ्कप्रदायकाः । श्वभ्रादिभूमिका येऽत्र मूर्च्छयैव भवन्ति ते ॥६७॥ मूर्च्छासंगस्य ते चित्तेऽणुमात्रं जायते यदि । आत्मन् तदा हि तृष्णाग्निस्त्वां ज्वालयति संततम् ॥६८॥ संगादेव विमुह्यन्ति जीवा हि परवस्तुनि । पापं कुर्वन्ति तेनात्र घोरं घोरं च श्वभ्रदम् ॥६९॥ सर्वानर्थप्रदाऽऽशा सा तृष्णा च भववर्द्धिका । सज्ज्ञाननाशको मोहः संगादेव हि जायते ॥७०॥ व्यामोहाज्जायते चेच्छा ततस्तृष्णाभिवर्द्धते । तृष्णातो जायते पापं पापाद्दुःखं प्रजायते ॥७१॥ संगेच्छामात्रतः शीघ्रं कषायाणां समागमः । जगज्जन्तुविघाताय जायतेऽनन्तपापकृत् ॥७२॥

इसलिये हे आत्मन् ! जो ब्रह्मचर्य जगत्पूज्य है, श्रेष्ठ धर्मस्वरूप है और मुनियोंके द्वारा सेवन करने योग्य है, ऐसे इस ब्रह्मचर्यरूप महाव्रतको तू सब तरहके प्रयत्नोंसे धारण कर ॥६४॥ इस संसारमें अन्य जितने पाप हैं, वे सब नाममात्रके पाप हैं, सबसे बड़ा महापाप एक परिग्रह ही है। यह परिग्रह पापका कारण है ॥६५॥ इस संसारमें ममत्वके समान संताप उत्पन्न करनेवाली अन्य कोई व्याधि नहीं है। इस मोह वा ममत्वसे घिरी हुई आत्मा ही अनेक दुःखोंसे दुःखी होती है और मूर्च्छित होती है ॥६६॥ इस संसारमें दुःख देनेवाले पापरूपी कीचड़में डुबोनेवाले और नरकादिकके महादुःख देनेवाले जितने अनर्थ हैं, वे सब इस मोह वा ममत्व परिणामोंसे ही होते हैं ॥६७॥ हे आत्मन् ! यदि तेरे हृदयमें इस परिग्रहका मोह अणुमात्र भी उत्पन्न हो जाता है, तो तृष्णारूपी अग्नि फिर तुझे सदा ही जलाती रहेगी ॥६८॥ ये जीव इस परिग्रहसे ही पर पदार्थोंमें मोहित होते हैं और इसी परिग्रहके कारण नरकमें डुबोनेवाले घोर महापाप करते हैं ॥६९॥ सब तरहके अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाली आशा और संसारको बढ़ानेवाली तृष्णा इस परिग्रहसे ही उत्पन्न होती है, तथा इस परिग्रहसे ही सम्यग्ज्ञानको नाशकरनेवाला मोह प्रगट हो जाता है ॥७०॥ मोह उत्पन्न होनेसे इच्छा होती है, इच्छासे तृष्णा बढ़ती है, तृष्णासे पाप होता है और पापसे महादुःख उत्पन्न होता है ॥७१॥ इस परिग्रहकी इच्छामात्रसे संसारभरके समस्त जीवोंका संहार करनेके लिये अनंत पापोंको उत्पन्न करनेवाले कषाय शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥७२॥ महारंभोंको उत्पन्न करनेवाला संक्लेश इस परिग्रहसे ही उत्पन्न होता है

संगाद्भवति संक्लेशो महारम्भप्रदायकः । चिन्ताशोकपरीताप वेदनाद्या भवन्ति वा ॥७३॥ संगादेव भवेल्लोभो लोभात्पापं प्रजायते । पापाद्भवति संसारो जन्मान्तकविधायकः ॥७४॥ संगार्जने परं दुःखमधिकं रक्षणे ततः । दैवेन संगनाशः स्यात्ततो दुःखं महत्तरम् ॥७५॥ कामक्रोधौ तथा हर्षभयलज्जादिदुर्गुणाः । ते सर्वे चैकसंगेन जायन्ते क्लेशदायकाः ॥७६॥ संगादेव पिता पुत्रं पुत्रो वा पितरं निजम् । हन्ति हन्ति ह हा लोके संगमोहो हि दुस्तरः ॥७७॥ संगमोहात्पतत्यग्नौ संगमोहाच्च युध्यते । संगमोहात्स चैकाकी प्रविशन्दुर्गमे वने ॥७८॥ करोति संगलोभेन कलहं भंडनं तथा । वधभङ्गादिच्छेदं स क्रूरं वा शूलरोपणम् ॥७९॥ संगलोभेन सज्जातेर्गौरवं वेत्ति न क्वचित् । अस्पृश्यनीचलोकं हि सेवतेऽसौ सुहर्षतः ॥८०॥ संगलोभात्सदाचारं लुम्पत्येप कुशिक्षया । स भक्षयत्यभक्ष्यं हि प्रत्यक्षग्लानिकारकम् ॥८१॥ संगलोभेन सद्धर्मं त्यजत्य-

और चिंता, शोक, परिताप, वेदना आदि सब परिग्रहसे ही उत्पन्न होते हैं ॥७३॥ इस परिग्रहसे लोभ बढ़ता है लोभसे पाप उत्पन्न होता है आर पापसे जन्म-मरण उत्पन्न करनेवाला महासंसार बढ़ता है ॥७४॥ इस परिग्रहके उत्पन्न करनेमें महादुःख होता है, उसकी रक्षा करनेमें उससे भी अधिक दुःख होता है और कदाचित् दैवयोगसे उस परिग्रहका नाश हो जाय तो सबसे अधिक दुःख होता है ॥७५॥ काम, क्रोध, हर्ष, भय और निर्लज्जता आदि जितने क्लेश उत्पन्न करनेवाले दुर्गुण हैं, वे सब इस परिग्रहसे ही उत्पन्न होते हैं ॥७६॥ इस परिग्रहके कारण पिता पुत्रको मार डालता है और पुत्र पिताको मार डालता है। हा हा! देखो, इस संसारमें यह परिग्रह अनंत दुःख देनेवाला है ॥७७॥ इस परिग्रहके ही मोहसे यह प्राणी अग्निमें जल मरता है, परिग्रहके ही मोहसे युद्धमें लड़ता है और परिग्रहके ही मोहसे अकेला दुर्गम वनोंमें प्रवेश करता है ॥७८॥ इस परिग्रहके ही लोभसे यह जीव कलह वा गाली गलौज़ करता है, क्रूरताके साथ मारता है वा शरीरका छेदन भेदन करता है और परिग्रहके ही लोभसे शूलीपर चढ़ता है ॥७९॥ इस परिग्रहके लोभसे ही यह जीव अपनी श्रेष्ठ जातिका गौरव नहीं समझता है और प्रसन्न होकर अस्पृश्य नीच लोगोंकी सेवा किया करता है ॥८०॥ इस परिग्रहके लोभसे ही सदाचारका लोप कर डालता है और कुशिक्षाके द्वारा प्रत्यक्ष ग्लानि उत्पन्न करनेवाले अभक्ष्य पदार्थोंका भक्षण करता है ॥८१॥ परिग्रहके लोभसे ही यह जीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए श्रेष्ठ धर्मको छोड़ देता है और मूर्खता धारणकर जिनागमके अर्थको भी

र्हत्सु भाषितम् । जिनागमस्य चार्थं हि वान्यथा कुरुते कुधीः ॥८२॥ सुधर्मिकजनं द्वेष्टि संगलोभाच्च सज्जनम् । हिताहितं न जानाति पापं चरति दारुणम् ॥८३॥ संगलोभात्कुशास्त्रं हि सम्यक् पठति भावतः । ततो मिथ्यामतिं कृत्वा लुम्पत्येव जिनागमम् ॥८४॥ हा हा संगस्य लोभेन निर्मिमीते नवं मतम् । व्यभिचारे दुराचारे सद्धर्मं तत्र भाषते ॥८५॥ अनीतिं मनुते नीतिमन्यायं न्यायमिच्छति । संगलोभेन तत्सर्वं कुरुते स्वार्थलिप्सया ॥८६॥ व्यामोहकारणं संगलोभोऽस्ति प्राणिनां खलु । मूर्च्छां करोति दुर्भावं दुर्गतिञ्चातनोति सः ॥८७॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन संगमूर्च्छां त्यजेद्बुधः । लोभः संगस्य कर्तव्यो नात्र प्राणच्युतैरपि ॥८८॥ संगो हि द्विविधः प्रोक्तो बाह्याभ्यन्तरभेदतः । संगो हि सर्वथा त्याज्यो मुक्त्याकाङ्क्षिमहात्मना ॥८९॥ चिन्ताभावो निरारम्भो भवेन्निःसंगतो भुवि । आकुलत्वेन नश्येत निस्संगात्किन्न जायते ॥९०॥ ममत्वाज्जायते लोभो लोभाद्रागोऽभिवर्द्धते । रागाद्द्वेषश्च संसारस्ततो दुःखं निरन्तरम् ॥९१॥ मनोऽक्षविषयाणां हि वाशां धत्ते विमोहतः ।

---

विपरीत कर डालता है ॥८२॥ इस परिग्रहके ही लोभसे धार्मिक सज्जन पुरुषोंसे द्वेष करता है, तथा इस परिग्रहसे ही अपने हिताहितको नहीं समझता और महापाप उत्पन्न करता है ॥८३॥ इस परिग्रहके ही लोभसे कुशास्त्रोंको भावपूर्वक अच्छी तरह पढ़ता है और उन कुशास्त्रोंके पढ़नेसे मिथ्या बुद्धि धारणकर जिनागमका लोप करता है ॥८४॥ हाय हाय ! देखो, इस परिग्रहके ही लोभसे नवीन मतोंका निरूपण करता है और उनमें व्यभिचार वा दुराचारको ही श्रेष्ठ धर्म बतला देता है ॥८५॥ देखो, यह जीव परिग्रहके ही लोभ और अपनी स्वार्थ-वासनासे अनीतिको नीति समझ लेता है और अन्यायको न्याय समझ लेता है ॥८६॥ यह परिग्रहका लोभ मोहका कारण है, अशुभ परिणामोंका कारण है, समस्त प्राणियोंको मूर्च्छित कर देता है और दुर्गतियोंका कारण है ॥८७॥ इसलिए बुद्धिमानोंको सबतरहके प्रयत्न करके इस परिग्रहके मोहको छोड़ देना चाहिये और इस परिग्रहका लोभ प्राणनाश होनेपर भी नहीं करना चाहिये ॥८८॥ इस परिग्रहके बाह्य आभ्यंतरके भेदसे दो भेद हैं, मोक्षकी इच्छा करनेवाले महात्मा पुरुषोंको इन दोनों प्रकारके परिग्रहोंका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये ॥८९॥ इस परिग्रहका त्यागकर देनेसे ही चिंताका अभाव हो जाता है, आरंभोंका अभाव हो जाता है और आकुलताका नाश हो जाता है, सो ठीक ही है; क्योंकि परिग्रहका त्याग कर देनेसे कौन कौनसे गुण प्रगट नहीं होते हैं ? ॥९०॥ ममत्व परिणामोंसे लोभ बढ़ता है,

स पापी ध्वंसते मार्गान्मोहो दुर्गतिदायकः ॥९२॥ कामक्रोधकषायादीनन्तरङ्गपरिग्रहान् । योऽत्र व्यामोहतो धत्ते संसारी सोऽस्ति संगतः ॥९३॥ सतृष्णो कर्म बध्नाति धृत्वाशामणुमात्रिकाम् । मोक्षमार्गे यतेः सैव करोति भवबन्धनम् ॥९४॥ संगं च द्विविधं त्यक्त्वा धृत्वा पंचमहाव्रतम् । गृह्णन्ति ये पुनर्वस्त्रं भ्रष्टास्ते मोक्षमार्गतः ॥९५॥ गृहीत्वा जिनलिङ्गञ्च धृत्वा पञ्चमहाव्रतम् । पुनर्वाञ्छति संगं स भवाब्धौ मज्जति ध्रुवम् ॥९६॥ नास्ति कर्मक्षयस्तेषां वस्त्रसंगधरात्मनाम् । वस्त्रस्यापि च दुर्मोहः संसारस्यैव वर्द्धकः ॥९७॥ त्राणार्थं स्वशरीरस्य वस्त्रञ्चापि धरंति ये । व्यामोहमोहितास्ते स्युर्मोक्षमार्गं भजन्ति न ॥९८॥ मुनिर्ममत्वचेतस्कः स्वाहिताद्भ्रस्यते ध्रुवम् । यतो ममत्वभावेन वस्त्रं धत्ते ततो हि सः ॥९९॥ निर्ममत्वं हि चित्ते ते विद्यते नैव वा यदि । महाव्रतेन तेनात्र यते किं हि प्रयोजनं

---

लोभसे राग उत्पन्न होता है, रागसे संसार बढ़ता है और संसारसे निरंतर दुःख होता रहता है ॥९१॥ इस परिग्रहके मोहके कारण जो पापी मन और इंद्रियोंके विषयोंकी आशाको बढ़ाता है, वह मोक्षमार्गसे भ्रष्ट होता है, सो ठीक ही है; क्योंकि मोह ही दुर्गतिका कारण है ॥९२॥ जो मनुष्य इस परिग्रहके मोहसे काम, क्रोध आदि कषायरूप अंतरंग परिग्रहोंको धारण करता है, वह उन परिग्रहोंके ही कारण दीर्घ संसारी गिना जाता है ॥९३॥ जो अणुमात्र भी आशा धारणकर तृष्णा करता है, वह कर्मोंका बंध करता है। यह आशा मोक्षमार्गमें लगे हुए मुनिको भी संसारका बंधन कर डालती है ॥९४॥ जो अंतरंग, बाह्य दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर महाव्रत धारण कर लेते हैं और फिर वस्त्र धारण कर लेते है, उन्हें मोक्षमार्गसे भ्रष्ट समझना चाहियें ॥९५॥ जो जैनेश्वरी दीक्षा धारणकर पंचमहाव्रतोंको धारण कर लेता है और फिर भी परिग्रहोंकी आशा रखता है, वह इस संसाररूपी समुद्रमें अवश्य डूबता है ॥९६॥ जो वस्त्र वा अन्य परिग्रहको धारण करते हैं, उनके कर्मोंका क्षय कभी नहीं हो सकता। क्योंकि वस्त्रोंसे मोह करना भी संसारको ही बढ़ानेवाला है ॥९७॥ जो मुनि होकर भी अपने शरीरकी रक्षाके लिये वस्त्रादिक धारण करते हैं, उनको व्यामोहसे मोहित समझना चाहिये। ऐसे लोग मोक्षमार्गको कभी धारण नहीं कर सकते ॥९८॥ जो मुनि होकर भी अपने हृदयमें ममत्व धारण करते हैं, वे अपने आत्माके हितसे भ्रष्ट समझे जाते हैं; क्योंकि ममत्व परिणामोंसे वे लोग अपने शरीरपर वस्त्र धारण अवश्य करते हैं ॥९९॥ हे मुने! यदि तेरे

॥१००॥ आकिञ्चन्यं च निस्संगमात्मानं विश्वसन् यतिः। स व्यामोहकरं वस्त्रं धत्ते मोक्षाय वा कथम् ॥१०१॥ योगिनां स्वशरीरेऽपि परं निःस्पृहता मता। आत्मैवात्र ह्यु पादेयोऽअन्यत्सर्वं खलु हेयकम् ॥१०२॥ निर्ममत्वं शरीरे न यस्यास्ति स्वात्मभावतः। मोहात्स हि कथं धत्तेऽप्यणुमात्रं परिग्रहम् ॥१०३॥ ममत्वं यैर्यतीशैर्वा त्यक्तं हि स्वतनौ ननु। ते संयमं समाराध्य लभन्ते हि शिवं लघु ॥१०४॥ यतो दिगम्बराणां स्यान्मोक्षो निर्ममतात्मनाम्। पंचोमत्तव्रतं तेषां नान्येषां संगधारिणाम् ॥१०५॥ आहुस्ततो हि जैनेन्द्राः साक्षान्मोक्षस्य कारणम्। नग्नं दिगम्बरं लिङ्ग निसंगं जातरूपकम् ॥१०६॥ जगति परमनिंद्यं पंचपापं ह्यसेव्यं, त्यजतु परमशुद्धया पंचवृत्तं सुधृत्य। निवसतु मुनिमार्गे वा यथा जातमुद्रे इह धरतु सुधर्ममात्मनो मोक्षरूपम् ॥१०७॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे महाव्रतप्ररूपणो नाम अष्टमोऽधिकारः ॥

---

हृदयसे ममत्व दूर नहीं हुआ है, निर्ममता नहीं है, तो फिर महाव्रत धारण करनेसे ही क्या प्रयोजन निकल सकता है? ॥१००॥ जो मुनि इस आत्माको परिग्रहरहित अकिंचनस्वरूप श्रद्धान करता है, वह मोक्ष प्राप्त करनेके लिये मोहित करनेवाले वस्त्रोंको भला कैसे धारणकर सकता है? ॥१०१॥ योगी लोग अपने शरीरसे भी निस्पृहता धारण करते हैं, क्योंकि योगीलोगोंके लिये आत्मा ही उपादेय है, बाकी सब हेय वा त्याग करने योग्य हैं ॥१०२॥ जो मुनि आत्मीय भावोंके प्रगट होनेसे शरीरमें भी निर्ममता धारण करता है, वह मोहसे उत्पन्न होनेवाले अणुमात्र परिग्रहको भी कैसे धारण कर सकता है? ॥१०३॥ जिन मुनिराजोंने अपने शरीरसे भी ममत्व भावोंका त्याग कर दिया है, वे मुनि संयमका आराधन कर शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥१०४॥ क्योंकि यह नियम है कि निर्ममत्वको धारण करनेवाले दिगम्बर मुनियोंको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। क्योंकि निर्ममत्व दिगम्बर मुनियोंके ही महाव्रत होते हैं, परिग्रह धारण करनेवाले अन्य किसीके महाव्रत नहीं हो सकते ॥१०५॥ इसीलिये भगवान् जिनेन्द्रदेव बालकके समान परिग्रहरहित नग्न दिगम्बर अवस्थाको मोक्षका साक्षात् कारण कहते हैं ॥१०६॥ ये हिंसादिक पांचों पाप संसारभर में परम निन्द्य हैं और सेवन करनेके अयोग्य हैं। इसलिये मन, वचन और कायकी परम शुद्धिपूर्वक पांचों महाव्रतोंको धारणकर इन पांचों पापोंका त्याग कर देना चाहिये, तथा बाल्य-समयकी नग्नमुद्राको धारण करनेवाले मुनिमार्गमें निवास करना चाहिये और मोक्षरूप आत्माके श्रेष्ठ धर्मको धारण करना चाहिये ॥१०७॥

यह मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपालंकार में महाव्रतोंको निरूपण करनेवाला यह आठवां अधिकार समाप्त हुआ।

# नवमोऽधिकारः ॥



तं पंचाक्षविजेतारं पंचसमितिपालकम् । वीतरागमहं वन्दे चन्द्रप्रभं जगद्गुरुम् ॥१॥ पंच हिंसादिपापानि महादुःखकराणि च । त्यक्त्वा, पंच व्रतान्याशु धार्यतां शिवसिद्धये ॥२॥ पंचपापं निराकर्तुं पंचसमितिमाचर । मनोऽक्षनिग्रहं कृत्वा शिवसिद्धिं विलोकय ॥३॥ पंचपापं निराकर्तुं षडावश्यकमाचर । येन साम्यामृतं लब्ध्वा शिवसिद्धिर्भवेत्तव ॥४॥ पंचपापं निराकर्तुं समतां धर भावतः । आशावैतरणीं तीर्त्वा शिवसिद्धिं विलोकय ॥५॥ पंचपापं निराकर्तुं पंचचारित्रमाचर । जित्वा सर्वजगद्द्वन्द्वं शिवसिद्धिं विलोकय ॥६॥ करोतु दशधा धर्मं पंचपापविहानये । कषायनिग्रहं

---

जो पांचों इन्द्रियोंको जीतनेवाले हैं, पांचों समितियों को पालन करनेवाले हैं तथा जो वीतराग और जगद्गुरु हैं; ऐसे भगवान् चन्द्रप्रभको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ हिंसादिक पांचों महापाप महादुःख उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये इनको छोड़कर मोक्ष प्राप्त करनेके लिये पांचों महाव्रतोंको धारण करना चाहिये ॥२॥ हे आत्मन्! पांचों पापोंको दूर करनेके लिये पांचों समितियोंका पालन कर, तथा मन और इन्द्रियोंका निग्रहकर मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो ॥३॥ पांचों पापोंको दूर करनेके लिये छहों आवश्यकोंका पालन कर, जिससे कि समतारूप अमृतको पाकर तुझे मोक्षकी सिद्धि प्राप्त हो ॥४॥ पांचों पापोंको दूर करनेके लिये भावपूर्वक समताको धारण कर और आशारूपी वैतरणी नदीको पारकर मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो ॥५॥ पांचों पापोंको दूर करनेकेलिये पांच प्रकारके चारित्रको धारण कर और संसारके समस्त उपद्रवोंको जीतकर मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो ॥६॥ पांचों पापोंको दूर करनेके लिये दश प्रकारके धर्मको धारण कर और समस्त कषायोंको

कृत्वा शिवसिद्धिं विलोकय ॥७॥ पंचपापं निराकर्तुं मनोवाक्कायशुद्धिभिः। निजात्मनः कुरु ध्यानं शिवसिद्धिं विलोकय ॥८॥ अक्षोद्रेकाद्धि जायन्ते पंच पापानि भूतले। आदावेव प्रवर्तन्ते अक्षाणि पापकर्मणि ॥९॥ हृषीकाण्येव मुह्यन्ति वादौ विषयवाञ्छया। तस्मात्पापं प्रजायेत ततोत्याचारकं महत ॥१०॥ अजिताक्षः करोत्यात्मा विषयाक्रांतचेतसा। हिंसादीनि च घोराणि पापानि सततं ध्रुवम् ॥११॥ इन्द्रियैर्विजितो जीवो प्रमाद्यति प्रमूर्च्छति। विषयं कांक्षमाणो हि संसारे हिण्डति स्वयम् ॥१२॥ इन्द्रियाणां सहायेन विषयेषु गतं मनः। को वा वारयितुं शक्तः कामसैन्यं सुयत्नतः॥१३॥ अक्षाणां विषयाधीनो जीवान् हिंसति निर्भयः। असत्यं वक्ति निःशंकं स्तेयं चरति हर्षतः ॥१४॥ अक्षगोचरसिद्ध्यर्थं संगमर्जति मोहतः। भण्डनं कलहं कृत्वा पापानि संचिनोत्यसौ ॥१५॥ अक्षार्थसुखसिद्ध्यर्थमनीतिं कुरुते तथा। स्वार्थे परायणो भूत्वा जनः पापं वितन्वते ॥१६॥ यथा यथा हृषीकाणां मदस्तापश्च वर्द्धते। तथा तथा च वर्द्धेते रागद्वेषौ स्वतः स्वयम् ॥१७॥

---

निग्रहकर मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो ॥७॥ पांचों पापोंको दूर करनेके लिये मन, वचन और कायकी शुद्धिपूर्वक अपने आत्माका ध्यान कर और मोक्षकी सिद्धिको प्राप्त हो ॥८॥ इस संसारमें इंद्रियोंके उद्रेकसे ही पांचों पाप उत्पन्न होते हैं, सबसे पहले ये इंद्रियां पाप कार्योंमें ही प्रवृत्त होती हैं ॥९॥ सबसे पहले विषयोंकी इच्छासे इन्द्रियां मोहित होती हैं। फिर उनसे पाप उत्पन्न होता है और फिर पापसे अनेक महा अत्याचार होते हैं ॥१०॥ जो आत्मा अपनी इन्द्रियोंको जीत नहीं सकता, उसका हृदय विषयोंसे आक्रांत हो जाता है और फिर वह सदा हिंसादिक घोर पाप करता रहता है ॥११॥ जो जीव इंद्रियोंसे जीता जाता है, इंद्रियोंके वश हो जाता है, वह प्रमाद करता है, मूर्च्छित होता है और विषयोंकी आकांक्षा करता हुआ संसारमें परिभ्रमण करता है ॥१२॥ इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयोंमें प्राप्त हुए और कामको सहायता पहुँचानेवाले इस मनको प्रयत्न करनेपर भी कौन रोक सकता है ? ॥१३॥ जो जीव इन्द्रियोंके विषयोंके आधीन है, वह निर्भय होकर जीवोंकी हिंसा करता है, निःशंक होकर झूठ बोलता है और हर्षपूर्वक चोरी करता है ॥१४॥ इंद्रियोंके विषयोंको सिद्ध करनेके लिये वह मोहित होकर परिग्रहोंका संग्रह करता है और कलह वा झगड़े कर पापोंका संग्रह करता है ॥१५॥ इंद्रियोंके विषय-सुखकी सिद्धिके लिये यह जीव अनेक अनीतियोंको करता है, तथा स्वार्थमें तत्पर होकर अनेक पाप करता है ॥१६॥ इंद्रियोंका मद और संताप जैसे जैसे बढ़ता जाता है, वैसे

योऽक्षशृङ्खलया बद्धो वहिरत्यन्तरम्यया। संसारशृङ्खलायां सः बद्धो दृढतरो ननु ॥१८॥ यः सुतीक्ष्णतरैर्बाणैरक्षजन्यैर्दुरन्तकैः। विद्धः सोऽत्र प्रविद्धोऽस्ति प्रशस्ते पुण्यकर्मणि ॥१९॥ कामक्रोधभयाश्चिन्ताकलहौ मत्सरादयः। वंचिताक्षस्य जीवस्य जायन्ते दुर्गुणा अहो ॥२०॥ यावत्सन्ति कुकर्माणि पापबन्धकराणि च। तान्यक्षैश्च महादुष्टैः संप्राप्यन्ते जनस्य नु ॥२१॥ सर्वपापस्य मूलानि भवबन्धकराणि च। इन्द्रियाणि विजानीहि रे आत्मन् त्वं हि तत्त्वतः ॥२२॥ व्यामोहतोऽक्षजे सौख्येऽप्यात्मन् त्वं यदि धावसि। भविष्यति ततः पातो भवाब्धौ ते सुनिश्चितम् ॥२३॥ व्यामोहतस्तथापि त्वमात्मन्निन्द्रियजे सुखे। भूयोऽप्यात्मसुखं मत्वा रमसे ह्यक्षवंचितः ॥२४॥ दुःखमेव विजानीहि हे आत्मन्नक्षजं सुखम्। आध्यात्मिकं सुखं विद्धि वाह्यातीतं स्वभावजम् ॥२५॥ आकुले नश्वरे पापे ह्यशान्ते दुःखपूरिते। दुःखदे ह्यक्षजे सौख्ये

---

ही वैसे राग और द्वेष स्वयं बढ़ते जाते हैं ॥१७॥ वाहरसे अत्यन्त मनोहर दिखनेवाली इन इन्द्रियोंकी सांकलसे जो बँध गये हैं, वे संसारकी सांकलसे भी मजबूतीके साथ बंध गये हैं; ऐसा समझना चाहिये ॥१८॥ जिनका अन्त दुःखमय है, ऐसे इंद्रियोंसे उत्पन्न हुए तीक्ष्ण बाणोंसे जो जर्जरित हो चुके हैं; उनको प्रशंसनीय पुण्य कर्मोंमें भी जर्जरित हुआ ही समझ लेना चाहिये अर्थात् फिर उससे कोई पुण्य कार्य नहीं हो सकता ॥१९॥ जो जीव इन्द्रियोंके द्वारा जीता जाता है; उसे काम, क्रोध, भय, चिंता, कलह और मत्सर आदि अनेक दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं ॥२०॥ इस संसारमें पापबन्ध करनेवाले जितने कुकर्म हैं, वे सब जीवोंको महादुष्ट इन इन्द्रियोंसे ही उत्पन्न होते हैं ॥२१॥ हे आत्मन्! तू इन इन्द्रियोंको समस्त पापोंका मूल और यथार्थमें संसारबंधका कारण समझ ॥२२॥ हे आत्मन्! यदि तू इन्द्रियोंमें मोहित होकर इन्द्रियजन्य सुखोंमें दौड़ लगावेगा, तो यह निश्चय है कि तू इस संसाररूपी समुद्रमें अवश्य पड़ेगा ॥२३॥ हे आत्मन्! इतना समझने पर भी इंद्रियोंसे ठगा हुआ तू व्यामोहके कारण इंद्रियजन्य सुखोंमें आत्मसुख मानकर लीन होगा ॥२४॥ परंतु हे आत्मन्! तू इन इंद्रियजन्य सुखोंको दुःखरूप ही समझ। जो सुख इंद्रियोंसे रहित है और आत्माके स्वभावसे उत्पन्न हुआ है, उसीको तू आध्यात्मिक सुख समझ ॥२५॥ ये इन्द्रियजन्य सुख आकुलतारूप हैं सदा नाशमान हैं, शांतिसे दूर हैं, दुःखोंसे भरपूर हैं और दुःख देनेवाले हैं; ऐसे इन इंद्रियजन्य सुखोंमें चेतन अवस्थाको धारण करनेवाला यह जीव भला कैसे मोहित हो सकता है? ॥२६॥ हे आत्मन्! ये इन्द्रियजन्य

को मुह्यति सचेतनः ॥२६॥ दीर्घसंसारबीजं हि विषवद्दुःखदायकम्। नानोद्रेककरं सौख्यमक्षजं विद्धि तत्त्वतः ॥२७॥ नानादुःखकरं तीव्रं शान्त्यमृतपराङ्मुखम्। भयैराकुलितं नित्यं सौख्यं विद्धि तदक्षजम् ॥२८॥ आधिव्याधिकरं नित्यं दुःखसंतापदायकम्। संसारभ्रमणस्यैव कारणं ह्यक्षजं सुखम् ॥२९॥ आप्राप्तमात्ररम्येऽस्मिन्नक्षजे दुःखदे सुखे। भयसंतापसंमिश्रे को मोहः स्वात्मवेदिनाम् ॥३०॥ मधुलिप्तासिधारावत्किंपाकवत्तदक्षजम्। आस्वादसे किमर्थं त्वमात्मन् सौख्यं भयावहम् ॥३१॥ त्वां वंचितुं प्रवृत्तानीन्द्रियाणि रम्यभावतः। पातयित्वा भवाब्धौ त्वां दुःखं दास्यन्ति तत्त्वतः ॥३२॥ अक्षसौख्ये हि रागं वा कुरु मा तत्त्वबोधतः। स्वात्मनः कुरु सद्ध्यानं लभसे सौख्यमात्मजम् ॥३३॥ इन्द्रियोद्रेकमारुध्य स्वमनः स्ववशं नय। पश्यात्मन्नात्मनः सौख्यं स्वस्मिन् ध्यानेन संततम् ॥३४॥ विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते यदाक्षाणि

---

सुख वास्तवमें दीर्घ-संसारके कारण हैं, विषयके समान दुःखदायक हैं और अनेक प्रकारकी उद्रेकताको उत्पन्न करनेवाले हैं; ऐसा तू समझ ॥२७॥ ये इन्द्रियजन्य सुख अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले हैं, अत्यन्त तीव्र शांतिरूपी अमृतको नष्ट करनेवाले हैं और भयसे सदा भरपूर रहते हैं। हे आत्मन्! तू ऐसा समझ ॥२८॥ ये इंद्रियजन्य सुख अनेक प्रकारकी आधि-व्याधियोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, सदा दुःख और संतापको देनेवाले हैं और संसारपरिभ्रमणके कारण हैं। ॥२९॥ इन्द्रियजन्य सुख सेवन करते समय मनोहर जान पड़ते हैं, परंतु वास्तवमें दुःख देनेवाले हैं तथा भय और संतापसे भरपूर हैं; भला ऐसे इन इन्द्रियजन्य सुखोंमें आत्माके स्वरूपको जाननेवाला जीव कैसे मोहित हो सकता है? ॥३०॥ हे आत्मन्! ये इन्द्रियजन्य सुख शहत लपेटी तलवारकी धाराके समान अथवा किंपाकफलके समान अंतमें दुःख देनेवाले हैं तथा अत्यन्त भयानक हैं, ऐसे इन सुखोंका आस्वादन तू क्यों करता है? ॥३१॥ ये इंद्रियां अपनी मनोहरता धारणकर तुझे ठगनेके लिये प्रवृत्त हुई हैं, इसलिये तुझे इस संसाररूपी समुद्रमें गिराकर वास्तवमें महादुःख देंगी ॥३२॥ इसलिये हे आत्मन्! तू आत्मज्ञानको धारण कर, इन इंद्रियजन्य सुखोंमें राग मत कर तथा आत्माका श्रेष्ठ ध्यान कर, जिससे कि तुझे आत्मसुखकी प्राप्ति हो ॥३३॥ हे आत्मन्! तू इंद्रियोंके उद्रेकको रोककर अपने मनको अपने वश कर। तथा ध्यानके द्वारा तू अपनेही आत्मामें अपने आत्माके सुखको देख ॥३४॥ जब ये इन्द्रियां आत्मज्ञानके द्वारा अपने विषयोंसे हट जायंगी, तभी तुझे ध्यानके द्वारा आकुलतारहित आत्मसुख दिखाई

स्वबोधतः । शीघ्रं पश्यसि ध्यानेन ह्यात्मसौख्यमनाकुलम् ॥३५॥ अध्यात्मजं गतद्वन्द्वं शाश्वतं च निराकुलम् । निराबाधं सुखं चात्मन् लभसे त्वद्दरोधतः ॥३६॥ अपास्य चाक्षजं सौख्यं स्वात्मनि त्वमनाकुलम् । पश्यात्मन् विमलं सौख्यं ध्यानेन स्वात्मनः स्वयम् ॥३७॥ हृषीकविषयोत्पन्ने सुखे लुब्धो यदि त्वकम् । तदात्मन् वद ते ध्यान कथमाध्यात्मिकं भवेत् ॥३८॥ विषयैर्व्याकुलो भूतयच्चव्यामोहतो यदि । चित्तं तर्हि कथं ध्यानं कथं वा संयमो भवेत् ॥३९॥ अक्षैस्ते विह्वलीभूतं यदि चित्तं मनागपि । तदा त्वं पापकुण्डेऽस्मिन् पतितस्त्यक्तसंयमः ॥४०॥ विषयाशाभिभूतानामिन्द्रियाधीनचेतसाम् । तेषां ध्यानं भवेन्नैव यत्नेनापि समुज्ज्वलम् ॥४१॥ अजिताक्षो नरो लुब्धो ध्यातुं किं स समीहते । तुषाः किं वा प्ररोहन्ति सिच्यमानाः सुवारिणा ॥४२॥ निसर्गचपलैरक्षैर्यदि व्याप्तं हि मानसम् । तस्य तत्किं भवेद्ध्यानं किं वा काषायनिग्रहः ॥४३॥ इन्द्रियैरनिशं यस्य व्याकुलं चलमानसम् । महाव्रतं कथं तस्य ध्यानं वा पापरोधकम् ॥४४॥ अक्षाणां वशगो ध्याता

देगा ॥३५॥ हे आत्मन् ! इंद्रियोंका निरोध करनेसे तुझे समस्त उपद्रवोंसे रहित, निराकुल, शाश्वत और निराबाध आध्यात्मिक सुख प्राप्त होगा ॥३६॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू इंद्रियजन्य सुखोंको छोड़कर ध्यानके द्वारा अपनेही आत्मामें निराकुल और निर्मल आत्माके सुखको स्वयं देख ॥३७॥ हे आत्मन् ! यदि तू इद्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखमें लुभा जायगा तो फिर बतला कि तेरे आध्यात्मिक ध्यान कैसे हो सकेगा ?॥३८॥ हे आत्मन् ! इन्द्रियोंसे मोहित होकर यदि तेरा चित्त विषयोंमें व्याकुल हो जायगा तो फिर तुझे कैसे ध्यान हो सकेगा और कैसे संयम हो सकेगा ? ॥३९॥ हे आत्मन् ! यदि तेरा मनइन्द्रियोंसे थोड़ासा भी विह्वल हो जायगा तो तेरा संयम छूट जायगा और तू पापकुण्डमें अवश्य गिर पड़ेगा ॥४०॥ जो जीव विषयोंकी आशाके वशीभूत हैं और जिनका हृदय इन्द्रियोंके आधीन है, उनके यत्न करनेपर भी निर्मल ध्यान कभी नहीं हो सकता ॥४१॥ जिसने इंदियोंको नहीं जीता है, ऐसा लुब्धक मनुष्य भला ध्यान करनेकी इच्छा कैसे कर सकता है ? क्या भूसी बोकर और अच्छे पानीसे सींचने पर भी उत्पन्न हो सकती है ? कभी नहीं ॥४२॥ ये इन्द्रियां स्वभावसे ही चंचल हैं, यदि इन चंचल इन्द्रियोंसे मन व्याप्त हो रहा है तो क्या उसके ध्यान हो सकता है ? अथवा कषायोंका निग्रह हो सकता है ? कभी नहीं ॥४३॥ जिस मनुष्यका चंचल मन इन्द्रियोंसे सदा व्याकुल रहता है, उसको महाव्रत कैसे हो सकता है ? तथा पापोंको रोकनेवाला ध्यान कैसे

परतन्त्रः सदा मतः। न हि ध्यातुं समर्थः सः स्वात्मानं सोऽपि मूढधीः ॥४५॥ यथा यथा मुनिर्ध्याता हृषीकविजयी भवेत्। तथा तथा मनोवेगः प्रशाम्यति सुनिश्चितम् ॥४६॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्वाक्षरोधो विधीयताम्। अक्षरोधेन सद्ध्यानं भवेदिह निराकुलम् ॥४७॥ अक्षरोधः कृतो येन तेनैव सुखमात्मजम्। लब्धं सुसंयमं धृत्वा कृत्वा ध्यानं सुनिर्मलम् ॥४८॥ तीर्थंकरादयः पूर्वं गता ये शिवमन्दिरम्। ते चाक्षविजयेनैव तस्मात्त्वमपि तत्कुरु ॥४९॥ मोक्षसिद्धिर्भवेन्नैव विनाक्षविजयेन हि। तस्मादक्षजयः कार्यः ह्यन्यथा ननु संसृतिः ॥५०॥ तस्मादिन्द्रियरागं च त्यक्त्वा त्वं शुद्धबोधतः। सुधर्मं शिवसिद्ध्यर्थं धर रागादिवर्जितम् ॥५१॥ विरम विरम नित्यं चेन्द्रियाणां व्यपायात् नय नय नय शीघ्रं स्वात्मवश्यं हि चित्तम्। कुरु कुरु कुरु शुद्धं ध्यानमात्मस्वरूपं धर धर हि सुधर्मं शाश्वतं निर्विकल्पम् ॥५२॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे इन्द्रियविजयप्ररूपणो नाम नवमोऽधिकारः ॥

---

हो सकता है ? ॥४४॥ जो ध्यान करनेवाला इन्द्रियोंके वश होगा, वह सदा परतंत्र ही रहेगा, फिर भला वह मूर्ख अपने आत्माका ध्यान करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥४५॥ यह ध्यान करनेवाला मुनि जैसे जैसे इंद्रियोंको जानता जाता है, वैसे ही वैसे मनका वेग निश्चयरूपसे अत्यन्त शांत होता जाता है ॥४६॥ इसलिये सब तरहके प्रयत्न करके इंद्रियोंका निरोध करना चाहिये। क्योंकि इंद्रियोंका निरोध करनेसे ही निराकुल श्रेष्ठ ध्यान प्रगट होता है ॥४७॥ जो जीव इंद्रियोंका निरोध कर लेता है, वह संयम और निर्मल ध्यान धारणकर आत्मजन्य सुखको अवश्य प्राप्त होगा ॥४८॥ पहले समयमें तीर्थंकर आदि जो शिवमहलमें जाकर विराजमान हुए हैं, वे इन्द्रियोंको जीतकर ही वहां पहुँचे हैं, इसलिये हे आत्मन्! तू भी इन्द्रियोंको जीत ॥४९॥ इस संसारमें इन्द्रियोंको जीते विना मोक्षकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इसलिये भव्य जीवोंको इंद्रियोंकी विजय अवश्य करनी चाहिये। अन्यथा इंद्रियविजयके विना संसारका परिभ्रमण अवश्यम्भावी है ॥५०॥ इसलिये हे आत्मन्! तू अपने शुद्ध आत्मज्ञानसे इंद्रियोंके रागको छोड़ और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये रागरहित श्रेष्ठ धर्मको धारण कर ॥५१॥ हे आत्मन्! तू इंद्रियोंके द्वारा होनेवाले अपने आत्माके नाशसे अलग हो, दूर हो तथा अपने चित्तको शीघ्र ही आत्माके वशमें कर, आत्मस्वरूप शुद्ध ध्यानको भी शीघ्र धारण कर और निर्विकल्पक नित्य रहनेवाले श्रेष्ठ धर्मको शीघ्र ही धारण कर ॥५२॥

यह मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें इन्द्रियविजयको वर्णन करनेवाला नौवां अधिकार समाप्त हुआ।

# दशमोऽधिकारः ।



मनो वशीकृतं येन ध्यानं धृत्वा सुनिर्मलम् । रागद्वेषविहीनं तं पुष्पदन्तं नमाम्यहम् ॥१॥ तन्मनोनिग्रहेणैव ध्यानाध्ययनसिद्धयः । पंचाक्षजयपूर्वं ताः सिद्धयन्ति शिवदाः पराः ॥२॥ यदा यदा मुनेश्चित्तं स्ववशं यात्यसंशयम् । तदा तदा मुनेर्ध्यानं भवेद्दृढतरं शुभम् ॥३॥ एकमेव मनो यस्य स्ववशं यात्यसंशयम् । तस्यैव निश्चलं ध्यानमनायासेन जायते ॥४॥ मनोरोधाद्भवेद्ध्यानं मनोरोधाच्च यमः । मनोरोधात्क्षयेत्पापं मनो रुध्यात्पुनः पुनः ॥५॥ तद्ध्यानं सैव सिद्धिः सा स्थिरता सैव तत्त्वतः । येनाविद्यां परित्यज्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥६॥ मनःस्थैर्यं विधातव्यं ध्याने तन्मुख्यसाधकम् । तस्मिन् स्थिरीकृते साक्षात् ध्यानसिद्धिर्भवेत्परा ॥७॥ सुदृढा ध्यानसम्पत्तिः कर्मसंतानरोधिका । मनोरोधेन

---

जिन्होंने निर्मल ध्यान धारणकर अपने मनको वशमें कर लिया है और जो रागद्वेषसे रहित हैं, ऐसे भगवान् पुष्पदन्तको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ सर्वोत्कृष्ट और मोक्षको देनेवाली ध्यान अध्ययनकी सिद्धियां इंद्रियोंको जीतने और मनको निग्रह करनेसे सिद्ध होती है ॥२॥ मुनियोंका हृदय जैसे जैसे अपने वशमें होता जाता है, वैसे ही वैसे उन मुनियोंका ध्यान विना किसी संदेहके अत्यन्त दृढ़ और शुभ होता जाता है ॥३॥ जिस मुनिका एक मनही अपने वशमें हो जाता है, उसी मुनिके विना संदेहके और विना किसी प्रयत्नके निश्चल ध्यान हो जाता है ॥४॥ मनको वशमें करनेसे ही ध्यान होता है, मनको वशमें करनेसे ही संयम होता है और मनको वशमें करनेसे ही पापोंका क्षय होता है; इसलिये इस मनको बार बार वशमें करना चाहिये ॥५॥ वास्तवमें ध्यान वही है, सिद्धि वही है और स्थिरता वही है कि जिससे यह मन अविद्याका त्यागकर तत्त्वोंमें स्थिर हो जाय ॥६॥ ध्यान करनेवालेको सबसे पहिले अपना मन स्थिर करना चाहिये । क्योंकि मनका स्थिर करना ध्यानमें मुख्य साधक है । मनके स्थिर हो जानेपर सर्वोत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि प्रत्यक्ष हो जाती है । ॥७॥ कर्मकी

चैकेन विश्वसिद्धिः प्रजायते ॥८॥ मनःसंरोधनेनैव परा शुद्धिः प्रजायते । शरीरेन्द्रियशुद्धिस्तु तेनैव च स्वयं भवेत् ॥९॥ एकैव सा मनःशुद्धिरलं ध्यानादिकर्मसु । यया च प्राप्यते सिद्धिरन्तस्तत्त्वस्य देहिनाम् ॥१०॥ चित्तशुद्धिः स्थिरीभूता यस्य साधोर्निरन्तरा । मनोरथांस्तु सर्वान् स ध्यानेन लभते ध्रुवम् ॥११॥ आदौ कृत्वा मनःशुद्धिं पश्चाद्ध्यानं समाचरेत् । मनःशुद्धिं विना ध्यानं न भूतो न भविष्यति ॥१२॥ मनःशुद्धिमकृत्वा यः गंगादौ हि पुनः पुनः । करोति देहशुद्धिं वा संसाराब्धौ स मज्जति ॥१३॥ मनो रुद्धं न येनात्र ध्यानं सोत्र करोति किम् । मनोरोधबलेनैव तद्ध्यानं स्यात्स्वतः स्वयम् ॥१४॥ चित्तशुद्धिमनासाध्य ध्यानं कर्तुं य इच्छति । वालुकापीडनं कृत्वा तैलमिच्छति मूढधीः ॥१५॥ कोटिजन्मान्तरे यद्धि पापं क्षिपति वृत्ततः । स्वल्पेन समयेनात्र क्षिपते चित्तरोधतः ॥१६॥ पापास्रवं हि संरुद्ध्य चित्तशुद्ध्या

---

परंपराको रोकनेवाली अत्यन्त दृढ़ ध्यानरूपी संपत्ति एक मनको वश करनेसे ही होती है। तथा इसी मनको वशकरने से समस्त सिद्धियां सिद्ध हो जाती हैं ॥८॥ मनको वश करनेसे आत्माकी उत्कृष्ट शुद्धि हो जाती है और शरीर तथा इंद्रियोंकी शुद्धि भी मनको वश करनेसे स्वयं हो जाती है ॥९॥ यह एक मनकी शुद्धि ही ध्यानादिक कार्योंके लिये मुख्य साधन है, इसी मनकी शुद्धिसे प्राणियोंके अंतरात्माकी सिद्धि हो-जाती है ॥१०॥ जिस साधुके मनकी शुद्धि निरंतर स्थिर रहती है, उसके समस्त मनोरथ एक ध्यानसे ही सिद्ध हो जाते हैं ॥११॥ साधुको सबसे पहिले मनकी शुद्धि करनी चाहिये और फिर ध्यान करना चाहिये। क्योंकि मनकी शुद्धिके बिना ध्यान न कभी हुआ है और न कभी होगा ॥१२॥ जो पुरुष मनकी शुद्धि किये बिना गङ्गा आदि नदियोंमें शरीरशुद्धि करते हैं, वे संसाररूपी समुद्रमें अवश्य डूबते हैं ॥१३॥ जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह इस संसारमें ध्यान ही क्यों करता है? क्योंकि मनको वशकर लेनेसे वह ध्यान अपने आप हो जाता है ॥१४॥ जो मनुष्य मनको शुद्ध किये बिना ध्यान करनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख बालूको पेलकर तेल निकालना चाहता है ॥१५॥ जो पाप करोड़ों जन्मोंमें चारित्र धारण करनेसे नष्ट होता है, वह पाप मनको वशमें कर लेनेसे थोड़े ही समयमें नष्ट हो जाता है ॥१६॥ निर्मल बुद्धिको धारण करनेवाले और मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपना मन शुद्धकर पापके आस्रवको रोकना चाहिये और ध्यान

प्रसन्नधीः । ध्यानाध्ययनकर्माणि ह्यभ्यसेत्सन्मुमुक्षुकः ॥१७॥ मोहमायादिसंलीनं विषयादिषु रंजितम् । मनः संरुध्य तत्त्वेषु स्वाध्याये वा नियोजयेत् ॥१८॥ स्वध्यायतत्परो नित्यं यमनियमधारकः । विना क्लेशेन साधुः स करोति स्ववशं मनः ॥१९॥ स्वाध्यायभावनाद्यैश्च स्वमनः स्ववशं नयेत् । तद्वशीकरणे मंत्रं स्वाध्याय एव निश्चितम् ॥२०॥ स्वाध्यायादेव चित्तस्य स्थिरता सुतरां भवेत् । तस्माच्च मुनिभिः प्रोक्तं न स्वाध्यायात्परं तपः ॥२१॥ स्वतंत्रचारिणी तीव्रा गतिः चित्तस्य चञ्चला । स्वाध्यायेनैव भव्यैः सा रुध्यते नात्र संशयः ॥२२॥ स्वाध्यायेन ततः साधुर्मनो हि स्ववशं नयेत् । नान्यः कश्चिदुपायोस्ति मनःसंरोधकारकः ॥२३॥ येषां तु चञ्चलं चित्तं वशं नायाति यत्नतः । स्वाध्यायेनैव तेषां तु तद्वशं यात्यसंशयम् ॥२४॥ श्रीमज्जिनेन्द्रदेवैश्च मनःसंरोधहेतवे । एक एव उपायः स स्वाध्यायः कथितोऽथवा ॥२५॥ अतिचपलसुचित्तं ध्यानविघ्नं करोति, ह्यनवरतसुतीव्रां पापकक्षां तनोति । रचयतु शुभभावाच्चित्त-

---

अध्ययन आदि कार्योंका अभ्यास करना चाहिये ॥१७॥ यह मन मोह वा माया आदिमें लीन हो रहा है, तथा विषयोंमें तल्लीन हो रहा है, ऐसे इस मनको रोककर तत्त्वोंमें लगाना चाहिये अथवा स्वाध्यायमें लगाना चाहिये ॥१८॥ जो साधु स्वाध्यायमें सदा लीन रहता है और यम नियमोंको धारण करता है, वह विना किसी क्लेशके मनको वशमें कर लेता है ॥१९॥ भव्य जीवोंको स्वाध्यायकी भावनासे ही अपने मनको वशमें करना चाहिये, क्योंकि मनको वशमें करनेके लिये यह स्वाध्याय ही सुनिश्चित मंत्र है ॥२०॥ यह मन स्वाध्यायमें अपने आप स्थिर हो जाता है। इसीलिये "स्वाध्यायसे बढ़कर अन्य कोई तप नहीं है" इस प्रकार अनेक मुनियोंने उपदेश दिया है ॥२१॥ इस मनकी गति स्वतंत्र है, तीव्र है और चञ्चल है। ऐसे इस मनकी गतिको भव्य जीव स्वाध्यायसे ही रोकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२२॥ इसलिये साधुओंको स्वाध्यायसे ही अपना मन वश करना चाहिये। इसके सिवाय मनको रोकनेवाला अन्य कोई उपाय नहीं है ॥२३॥ जिनका चञ्चल चित्त किसी भी यत्नसे वश नहीं होता है, वह स्वाध्यायसे ही वश हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२४॥ अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान जिनेन्द्रदेवने मनको रोकनेके लिये एक स्वाध्याय ही सबसे अच्छा उपाय बतलाया है ॥२५॥ अत्यन्त चञ्चल हुआ यह चित्त ध्यानमें विघ्न करता है

संरोधकं वा । इह भवति सुधर्मो शास्त्रसंलीनचित्तः ॥२६॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे मनोवशीकरणप्ररूपणो नाम दशमोऽधिकारः ॥

---

और निरंतर तीव्र पाप उत्पन्न करता रहता है, इसलिये भव्य जीवोंको शुभभावोंसे चित्तको वशमें कर लेना चाहिये, जिससे कि शास्त्रोंमें चित्तको लगानेवाला श्रेष्ठधर्म प्राप्त हो ॥२६॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें मनको वश करनेका उपदेश देनेवाला यह दशवां अधिकार समाप्त हुआ।



# एकादशोऽधिकारः ।



सदाचारप्रणेतारं तपःसमितिपालकम् । भावभक्त्या ह्यहं वन्दे शीतलं तं जिनेश्वरम् ॥१॥ समित्यादिधरो धीरस्तपश्चरणतत्परः । करोति मुनिनाथोऽसौ कर्माद्रिचूर्णनं ननु ॥२॥ पंचमहाव्रतानां हि न स्यात्सम्यक् प्रपालनम् । समित्यादेर्विना क्वापि न भूतो न भविष्यति ॥३॥ तस्मात्तेषां स्वरूपोऽत्र संक्षेपाद्वर्ण्यते मया । आगमेभ्यो विशेषं तत् ज्ञातव्यं मुनिसत्तमैः ॥४॥ ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसत्क्रियाः । पंच समितयः प्रोक्ता जिनागमे जिनेश्वरैः ॥५॥ जीवरक्षासुभावेन दया चित्तेन संयमी । दिवा सूर्योदये सम्यङ्मार्जिते पथि सत्तमे ॥६॥ गमनं तीर्थयात्रार्थं वंदनार्थं गुरूनपि । करोति दृष्टिशुद्धया हि सेर्यासमितिरुच्यते ॥७॥ सर्वजीवहितं वाथ सर्वकल्याणकारकम् । हितं मितं

---

जो सदाचारको निरूपण करनेवाले हैं और तप तथा समितियोंको पालन करनेवाले हैं, ऐसे भगवान शीतलनाथको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो मुनिराज समितियोंका पालन करते हैं, धीरवीर हैं और तपश्चरण करनेमें तत्पर हैं, वे ही मुनि कर्मरूपी पर्वतको चूर चूर कर डालते हैं ॥२॥ इन समितियोंको पालन किये बिना पांचों महाव्रतोंका अच्छी तरह पालन न तो आज तक हुआ है और न कभी हो सकता है ॥३॥ इसलिये मैं अब उन समितियोंका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे कहता हूँ । मुनिराजोंको इनका विशेष स्वरूप आगमसे जान लेना चाहिये ॥४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने जिनागममें "ईर्यासमिति, भाषासमिति एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति" ये पांच समितियां बतलाई हैं ॥५॥ जो संयमी जीवोंकी रक्षा करनेके भावसे अथवा दया धारणकर दिनमें सूर्योदयके बाद दले मले उत्तम मार्गमें नेत्रोंसे चार हाथ भूमिको शुद्ध करता हुआ तीर्थयात्राके लिये अथवा गुरुओंकी वन्दना करनेके लिये गमन करता है, उसको ईर्यासमिति कहते हैं ॥६-७॥ जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहनेवाला जो साधु सब जीवोंका

वचो वक्ति जीवरक्षणतत्परः ॥८॥ कटुकां कर्कशां भाषां ब्रूते नैव स संयमी । भाषा समितिरस्य स्यान्मनोऽक्षजयसाधिका ॥९॥ कुलजातिविशुद्धे हि सुश्रावकनिकेतने । केवलं व्रतसिद्ध्यर्थं मनोनिग्रहपूर्वकम् ॥१०॥ द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तं वा स्वोद्देश्यविवर्जितम् । आहारग्रहणं शुद्धमेषणा समितिश्च सा ॥११॥ शास्त्रं कमण्डलुश्चैव साधनं हि सुसंस्तरम् । दृष्टिपिच्छिकया पूतमाददेच्च न्यसेन्मुनिः ॥१२॥ सर्वत्र जीवरक्षार्थं दयाभावेन संयमी । निक्षेपादाननामा सा जिनैः समितिरुच्यते ॥१३॥ एकान्ते निर्जने स्थाने जीवजन्तुविवर्जिते । दृष्टि पिच्छिकया पूते मलमूत्रं विसर्जयेत् ॥१४॥ जीवानां रक्षणार्थं हि दयार्थं वाथ संयमी । मनोऽक्षजयसिद्ध्यर्थं चोत्सर्गसमितिर्मता ॥१५॥ भावशुद्धिकराः सम्यग्मनोऽक्षजयसाधकाः । व्रतरक्षणसूर्याभाः पंच समितयो मताः ॥१६॥ दृश्यते मुनिमार्गोऽत्र दयायास्सुप्रदर्शकः । महाश्रेष्ठः समित्यादिभिश्च लोकोत्तरो ननु ॥१७॥ षडावश्यककर्माणि कुर्वन् योगी समावृतः । मनोऽक्षविजयं कृत्वा सद्ध्यानं

---

हित करनेवाले और सबका कल्याण करनेवाले हितरूप और परिमित वचन को कहता है, तथा जो संयमी कड़वी और कर्कश भाषाको कभी नहीं बोलता, वह मन और इंद्रियोंको जीतनेवाली भाषासमिति कहलाती है ॥८-९॥ जो मुनि विशुद्ध कुल और जातिको धारण करनेवाले श्रावकके घर जाकर केवल व्रतोंको पालन करनेकी इच्छासे मनको वशकर तथा बत्तीस दोष और उद्दिष्ट आहारको छोड़कर शुद्ध आहार ग्रहण करता है, उसको एषणासमिति कहते हैं ॥१०–११॥ जो मुनि सब जगह जीवोंकी रक्षा करनेके लिये वा दया धारणकर शास्त्र, कमंडलु आदि उपकरणोंको वा संसारको नेत्रोंसे देखकर और पीछेसे शुद्धकर रखता है, वा उठाता है; उसको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं ॥१२–१३॥ जो संयमी मुनि जीवोंकी रक्षा करनेके लिये वा दयापालन करनेके लिये अथवा मन और इन्द्रियकी विजय प्राप्त करनेके लिये जीव जन्तुओंसे रहित एकांत निर्जन स्थानमें नेत्रोंसे देखकर और पीछेसे शुद्धकर शुद्ध भूमिमें मलमूत्रका त्याग करता है; उसको उत्सर्गसमिति कहते हैं ॥१४–१५॥ ये पांचों समितियां भावोंको अच्छी तरह शुद्ध करनेवाली हैं, मन और इंद्रियोंको जीतनेवाली हैं और व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये सूर्यके समान हैं ॥१६॥ संसारमें यह मुनिमार्ग दयारूप धर्मको अच्छी तरह दिखलानेवाला है, महाश्रेष्ठ है और समिति आदिके द्वारा समस्त संसारमें श्रेष्ठ है ॥१७॥ जो योगी छहों आवश्यक कर्मोंको करता है, समता धारण करता है, तथा मन और इंद्रियोंको जीतता है; वह

लभते परम् ॥१८॥ तप इच्छानिरोधः स्यादिच्छात्र तु मनोभवा । तपश्चित्तस्य वश्यार्थं तपः स्याच्च निरीहकम् ॥१९॥ द्विषड्भेदं तपः ख्यातं बाह्याभ्यन्तरभेदतः । तत्प्रत्येकस्य षड्भेदं वीतरागेण भाषितम् ॥२०॥ अनशनावमौदर्यं वृत्त-संख्यारसोज्झनम् । विविक्तासनकायक्लेशौ वा बाह्यतपांसि च ॥२१॥ कृत्वा कालावधिं चादौ भावशुद्धिं विधाय च । वशीकृत्येन्द्रियं सम्यक् कषायविषयं तथा ॥२२॥ त्रिधाथवा चतुर्धा हि यत्र भुक्तिविसर्जनम् । उपवासतपो ज्ञेयं नानाभेदैस्तु संयुतम् ॥२३॥ एकस्मिन् दिवसे भुक्ती द्वे प्रोक्ते हि जिनागमे । एकभुक्तेः परित्यागः उपवासो मतो जिनैः ॥२४॥ एकभुक्तिं समारभ्य द्विचतुर्भुक्तिवर्जनम् । तपसोऽन्तर्गतं सर्वं तस्य भेदा अनेकधा ॥२५॥ नीरसं भोजनं चाम्लं भोजनन्त्वेकवारकम् । एकभुक्त्यादयः सर्वे तपोभेदा हि संति वे ॥२६॥ अष्टाविंशतिनारीणां द्वात्रिंशत्पुरुषस्य च । ग्रासाः साधारणाः सन्ति क्षुत्तृप्तिकारकाः खलु ॥२७॥ सहस्रव्रीहिमानस्य चैको ग्रासो विधीयते ।

---

अवश्य ही उत्तम ध्यान धारण करता है ॥१८॥ इच्छाका निरोध करना तप है तथा इच्छा मनसे उत्पन्न होती है । जो इच्छाका अभाव है, वही तप है तथा तप मनको वश करनेके लिये किया जाता है ॥१९॥ उस तपके बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे दो भेद हैं, उनमें भी प्रत्येकके छह छह भेद हैं, ऐसा भगवान वीतराग देवने कहा है ॥२०॥ "अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश" यह छह प्रकारका बाह्य तप कहलाता है ॥२१॥ भावोंको शुद्धकर इंद्रियोंको वशकर और कषाय-विषयोंको अच्छी तरह जीतकर किसी कालकी मर्यादा तक तीन अथवा चार प्रकारके आहारका त्यागकर देना उपवास कहलाता है । इस उपवासके अनेक भेद हैं ॥२२—२३॥ जिनागममें एक दिनमें दो बार भोजन बतलाया है, उसमेंसे एक बारके भोजनका त्याग कर देना भगवान जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपवास कहलाता है ॥२४॥ एक बारके भोजनको लेकर दो बार वा चार बारके भोजनका त्याग आदि करना सब तपश्चरणमें ही अन्तर्गत है, इस प्रकार इस तपश्चरणके बहुतसे भेद हो जाते हैं ॥२५॥ नीरस भोजन करना, आचाम्ल भोजन करना, एक बार भोजन करना वा एक भुक्ति करना आदि सब इस अनशन तपश्चरणके ही भेद हैं ॥२६॥ साधारण रीतिसे भूखको मिटानेवाले पुरुषके बत्तीस ग्रास कहे जाते हैं और स्त्रीके अट्ठाईस ग्रास कहे जाते हैं ॥२७॥ एक हजार चावलोंका एक ग्रास कहलाता है । अपनी भूखमेंसे

तदेकग्रासपञ्चोनमवमौदर्यमत्र वा ॥२८॥ दिवसे चैकवारं ह्यवमौदर्यं तपो मतम् । तत्र चेच्छा निरोधत्वात्तपो लक्षणतो मतम् ॥२९॥ रथ्यादिगृहभेदेन फलपुष्पादिनाथवा । भिक्षाया नियमं कृत्वा वृत्तेः संख्याभिधीयते ॥३०॥ तद्वृत्तिपरिसंख्यानं तपः स्यात्सुखकारकम् । अनेन तपसा शीघ्रमक्षा वश्या भवन्ति च ॥३१॥ रसाः पंचविधास्तेषु चैकादिरसवर्जनम् । रसत्यागतपो ज्ञेयमिन्द्रियनिग्रहक्षमम् ॥३२॥ निर्जने शुभदे स्थाने ग्रामादौ नगरे तथा । जिनचैत्यालये वासः शयनं क्रियते मुदा ॥३३॥ शय्यासनं विविक्तं तत् सम्प्रोक्तं सुतपो मतम् । सर्वत्रेच्छानिरोधत्वात्तपो लक्षणतो मतम् ॥३४॥ आतापनसुयोगेन वाभ्राकाशादिना तथा । तज्जिनाज्ञाप्रमाणेन क्लेशो हि सह्यते मुदा ॥३५॥ शरीरकष्टदानेन स्वकष्टसहनेन वा । कायक्लेशतपस्तद्धि जिनदेवैः प्रमाणितम् ॥३६॥ इच्छानिरोधतश्चात्र कायक्लेशतपो मतम् । अन्तरंगतपो न स्यात्सुबाह्यतपसा विना ॥३७॥ तस्माद्बाह्यतपो मुख्यमादौ कार्यं तदेव हि । मनोवश्यं भवत्येव बाह्येन तपसा

---

एक ग्रास वा दो चार ग्रास कम आहार लेना अवमौदर्य तप कहलाता है ॥२८॥ दिनमें एक बार भोजन करना अवमौदर्य तप है । क्योंकि उसमें भी इच्छाका निरोध होता है और इच्छाका निरोध करना ही तप है ॥२९॥ किसी गली वा घरोंका नियम लेकर वा पुष्प फल आदिके देखनेका नियम लेकर भिक्षाके लिये निकलना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप कहलाता है ॥३०॥ यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप बहुत ही सुख देने वाला है । इस वृत्तिसंख्यान नामके तपसे इंद्रियां शीघ्र ही वश हो जाती हैं ॥३१॥ पांच प्रकारके रसोंमेंसे किसी एक दो चार वा पांचों रसोंका त्याग करना इंद्रियोंका निग्रह करनेवाला रसपरित्याग नामका तप कहलाता है ॥३२॥ किसी निर्जन, शुद्ध गांव, नगर, चैत्यालय आदि स्थानोंमें प्रसन्न होकर निवास करना वा शयन करना विविक्तशय्यासन नामका तप कहलाता है । इस तपमें भी इच्छाका निरोध होता है, इसलिये ही इसको तप कहते हैं ॥३३-३४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार आतापन योग धारणकर वा अभ्राकाश योग धारणकर क्लेश-सहन करना शरीरको कष्ट देना वा स्वयं कष्ट सहन करना कायक्लेश नामका तप कहलाता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥३५-३६॥ कायक्लेश तपमें भी इच्छाका निरोध होता है, इसलिये इसको तप कहते हैं । विना बाह्य तपके अन्तरंग तप कभी नहीं हो सकता ॥३७॥ इसलिये इस मुख्य बाह्य तपको सबसे पहले धारण करना चाहिये । इस बाह्य तपसे यह मन अवश्य वश में हो जाता है ॥३८॥ मन वशमें होनेसे

ननु ॥३८॥ मनोवश्येऽक्षविजयः सुतरां जायते ननु । तस्मान्मनोक्षवश्यार्थं तपो हि मुख्यकारणम् ॥३९॥ इच्छानिरोधतः सम्यक् मनोक्षवश्यता भवेत् । श्रद्धाभक्तिभरेणापि तपो बाह्यं समुच्यताम् ॥४०॥ प्रायश्चितात्तादिभेदेन तपश्चाभ्यन्तरं मतम् । कर्मविच्छेदकं तत्तु स्वात्मधर्मप्रकाशकम् ॥४१॥ प्राप्तदोषसुशुद्ध्यर्थं सुव्रते स्थापनाय वा । प्रायश्चित्तं विदध्याच्च दोषोपशमनाय वै ॥४२॥ मुनीनां च मनःशुद्धिः प्रायश्चित्तेन जायते । प्रायश्चित्ततपस्तस्मादन्तरंगतपो मतम् ॥४३॥ भावशुद्धिश्च चारित्रशुद्धिरात्मगुणस्य च । प्रायश्चित्तं ततो मुख्यं तपःशुद्धिविधायकम् ॥४४॥ देवशास्त्रगुरूणां च रत्नत्रयसुधारणम् । धर्मवत्सज्जनानां वा धर्मरत्नत्रयस्य च ॥४५॥ श्रीजिनचैत्यचैत्यालयानां श्रीशासनस्य च । विनयो भावभक्त्या हि क्रियते मुनिसत्तमैः ॥४६॥ तेषां हि गुणसिद्ध्यर्थं प्रभावनाप्तये तथा । विनयाख्यं तपः प्रोक्तं तद्धि श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥४७॥ पूज्यानां विनयेनात्र गुणास्तेषां भवन्ति च । विनयात्स्वगुणोत्कर्षो गुणप्राप्तिश्च जायते ॥४८॥ बालवृद्धमुनीनां च रोगादिपीडितात्मनाम् ।

---

इन्द्रियोंका विजय अपने आप हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि मन और इंद्रियोंको वश करनेके लिये तप ही मुख्य कारण है ॥३९॥ इच्छाका निरोध करनेसे मन और इंद्रियां अच्छी तरह वश हो जाती हैं, इसलिये बाह्य तपश्चरण श्रद्धा और भक्तिपूर्वक धारण करना चाहिये ॥४०॥ आभ्यन्तर तपश्चरणके प्रायश्चित्त आदि अनेक भेद हैं, यह आभ्यंतर तपश्चरण कर्मोंको नाश करनेवाला है और आत्माके धर्मको प्रकाशित करनेवाला है ॥४१॥ लगे हुये दोषोंको शुद्ध करनेके लिये अथवा व्रतोंमें दृढ़ता धारण करनेके लिये और दोषोंको शांत करनेके लिये प्रायश्चित्त तपश्चरण धारण करना चाहिये ॥४२॥ इस प्रायश्चित्तसे मुनियोंके मनकी शुद्धि होती है, इसीलिये यह प्रायश्चित्त अन्तरंग तप कहलाता है ॥४३॥ यह प्रायश्चित्त भावोंकी शुद्धि करता है, चारित्रको शुद्ध करता है और आत्माके गुणोंको शुद्ध करता है; इसीलिये यह प्रायश्चित्त मुख्य तप माना जाता है ॥४४॥ श्रेष्ठ मुनियोंको भाव और भक्तिपूर्वक देव शास्त्र गुरुओंका, रत्नत्रय धारण करनेवालोंका, धार्मिक सज्जनोंका, धर्मका, रत्नत्रयका, चैत्य चैत्यालयोंका और जिनशासनका विनय सदा करते रहना चाहिये ॥४५-४६॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने देवादिकोंके गुणोंकी सिद्धिके लिये और प्रभावना करनेके लिये विनय नामका तपश्चरण बतलाया है ॥४७॥ पूज्य पुरुषोंका विनय करनेसे उनके गुण बढ़ते हैं, विनयसे

तीर्थयात्राविहारेण चात्यन्तखेदितात्मनाम् ॥४९॥ तेषामाहारसुश्रुषौषधिवासादितः खलु । वैयावृत्यं सुभक्त्यैव विधातव्यं मुनीश्वरैः ॥५०॥ धर्मवत्सज्जनानां तु धर्मप्रीत्या सुभावतः । परस्परं विधातव्यं वैयावृत्त्यं मनोहरम् ॥५१॥ सन्मानाहारदानाद्यपग्रहादिविधानकैः । रथोत्सवप्रतिष्ठायां वैयावृत्यं विशेषतः ॥५२॥ धर्मप्रभावनार्थं हि धर्मवृद्ध्यै गुणाप्तये । वैयावृत्यं सदा कार्यं मुनीनां तु विशेषतः ॥५३॥ वैयावृत्त्यस्य माहात्म्यं सम्यग्जानन्ति तीर्थपाः । वैयावृत्त्येन चैकैन ह्यनन्तश्रीः प्रजायते ॥५४॥ स्वाध्यायः पंचधा ज्ञेयः वाचनादिप्रभेदतः । मनोक्षरोधतः हेतोः स्वाध्यायो हि परं तपः ॥५५॥ स्वाध्यायाद्धि मनः साक्षात्सम्यग्ज्ञाने प्रवर्तते । स्वाध्यायाच्च भवेत्तस्मान्मनोक्षनिग्रहो महान् ॥५६॥ स्वाध्यायान्न परं श्रेष्ठमात्मबोधकरं परम् । मोहान्धचक्षुषां नृणां स्वाध्यायो दिव्यमौषधम् ॥५७॥

---

आत्माके गुणोंका उत्कर्ष होता है और गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥४८॥ जो मुनि बालक हैं, वा वृद्ध हैं, रोगसे पीड़ित हैं, तीर्थयात्राके विहारसे अत्यन्त खेदखिन्न हैं; ऐसे मुनियोंको आहार, औषधि, वसति आदिका दान देकर तथा उनकी सेवा-सुश्रूषाकर भक्तिपूर्वक मुनियोंको वैयावृत्य करना चाहिये ॥४९-५०॥ मुनियोंको धर्मप्रेम धारणकर श्रेष्ठ भावोंसे धार्मिक सज्जनोंका वैयावृत्य करना चाहिये, तथा परस्पर भी वैयावृत्य करना चाहिये ॥५१॥ रथोत्सवके समय अथवा प्रतिष्ठा आदि कर्मोंके समय आदर सत्कारकर, आहारदान देकर, तथा और भी उपकारकर विशेष वैयावृत्य करना चाहिये ॥५२॥ धर्मकी प्रभावना करनेके लिये धर्मकी वृद्धिके लिये और गुणोंको प्राप्त करनेके लिये मुनियोंका विशेष रीतिसे सदा वैयावृत्य करते रहना चाहिये ॥५३॥ इस वैयावृत्यके माहात्म्यको तीर्थंकर ही अच्छी तरह जानते हैं, क्योंकि इस एक ही वैयावृत्यसे अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी उत्पन्न होती है ॥५४॥ वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पांच भेद हैं, इस स्वाध्यायमें भी मन और इंद्रियोंका निरोध होता है, इसलिये यह भी श्रेष्ठ तप कहलाता है ॥५५॥ स्वाध्यायसे यह मन साक्षात् सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त होता है। इसीलिये स्वाध्यायसे इंद्रिय और मनका निरोध माना जाता है ॥५६॥ स्वाध्यायसे बढ़कर आत्मज्ञान उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है। जिनके ज्ञाननेत्र मोहरूपी अन्धकारसे मलिन हो रहे हैं, उनके लिये यह स्वाध्याय दिव्य औषध है ॥५७॥ यह स्वाध्याय मोहरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये श्रेष्ठ सूर्य है। इस स्वाध्यायसे ही लोक

स्वध्यायो हि परं भानुर्मोहध्वान्तविनाशकः । जायते स्वात्मविज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ॥५८॥ स्वाध्यायतपसा नूनं कर्मग्रंथिः प्रभिद्यते । आत्मा शीघ्रं शिवं याति कर्मकाष्ठविभेदनात् ॥५९॥ अन्यचिन्तां निराकृत्यैकाग्रयोगेन चिन्तनम् । ध्येयस्य तद्भवे ध्यानं चतुर्धा वर्णितं जिनैः ॥६०॥ सर्वसंगपरित्यागान्निस्सङ्गत्वं प्रपद्यते । ममत्वमोहभावस्य यत्र त्यागो विधीयते ॥६१॥ तद्व्युत्सर्गतपो ज्ञेयमाकिंचन्यप्रदर्शकम् । शरीरे निग्रहत्वं वा परवस्तुसुदूरगम् ॥६२॥ तपो द्वादशभेदं तत्संक्षेपेणैव वर्णितम् । तपो वर्णयितुं नैव शक्तोहमल्पबोधतः ॥६३॥ तपः शक्तिप्रमाणेन कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः । तपःसमं त्रिलोकेऽस्मिन्नान्यत्कर्मक्षयंकरम् ॥६४॥ तपसा भिद्यते कर्म यथा वज्रेण पर्वताः ।, तीर्थंकरैर्धृतं कर्माद्रिचूर्णाय स्वयं हि तत् ॥६५॥ त्रिकाले च त्रिलोकेऽस्मिन् न स्यान्मोक्षस्तपो विना । संसाराब्धेस्तुतपो नौका पारं संकुरुते

अलोकको प्रकाशित करनेवाला आत्मज्ञान प्रगट होता है ॥५८॥ इस स्वाध्यायरूपी तपश्चरणसे कर्मोंकी गांठ शीघ्र ही खुल जाती है, तथा कर्मोंकी गांठ खुल जानेसे अर्थात् कर्मरूपी कलङ्कके नाश हो जानेसे यह आत्मा शीघ्र ही मोक्षमें जा पहुँचता है ॥५९॥ अन्य समस्त चिंतवनोंको हटाकर किसी ध्येय पदार्थको एकाग्र चित्तसे चिंतवन करना ध्यान कहलाता है । यह ध्यान भगवान जिनेन्द्रदेवने चार प्रकारका बतलाया है ॥६०॥ जब यह जीव समस्त परिग्रहोंको त्यागकर परिग्रहरहित अवस्थाको प्राप्त होता है तथा मोह और ममत्व भावोंका सर्वथा त्याग कर देता है, उसको व्युत्सर्ग नामका तप कहते हैं, यह व्युत्सर्ग तप आकिंचन्यको प्रकाशित करनेवाला है, शरीरसे निस्पृहता दिखलानेवाला है और परवस्तुओंसे सर्वथा अलग है ॥६१-६२॥ इस प्रकार इस बारह प्रकारके तपश्चरणको संक्षेपसे वर्णन किया है । मैं अल्पज्ञानी हूँ, इसलिये मैं तपश्चरणका वर्णन भी नहीं कर सकता ॥६३॥ मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको अपनी शक्तिके अनुसार तपश्चरण करना चाहिये । क्योंकि इस तपश्चरणके समान तीनों लोकोंमें कर्मोंका नाश करनेवाला अन्य कोई नहीं है ॥६४॥ जिस प्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते हैं, उसी प्रकार इस तपश्चरणसे कर्म भी चूर चूर हो जाते हैं । इन कर्मरूपी पर्वतोंको चूर चूर करनेके लिये तीर्थंकर भी स्वयं इस तपश्चरणको धारण करते हैं ॥६५॥ तीनों कालोंमें और तीनों लोकोंमें इस तपके विना कभी मोक्ष नहीं हो सकता । यह तप इस संसाररूपी समुद्रसे नावके समान अवश्य

ध्रुवम् ॥६६॥ तपसा स्वर्गसम्पत्तिस्तपसा चक्रिणः पदम् । सर्वर्द्धयः प्रजायन्ते तपसा च शिवो भवेत् ॥६७॥ दशधर्मेण सार्द्धं यस्तपश्चरति भावतः । कर्माद्रिभेदनं कृत्वा प्रयाति शिवमन्दिरम् ॥६८॥ जिनवरशुभमार्गदीपिकाः शांतिरूपाः परमसमितयो मान्याः सदा तीर्थनाथैः । सकलभुवनमान्यं सत्तपो द्वादशात्म अवतु अवतु शीघ्रं मां भवाद्वा सुधर्मः ॥६९॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे समितितपोवर्णननामैकादशोऽधिकारः ।

---

पार कर देने वाला है ॥६६॥ इस तपश्चरणसे स्वर्गकी संपदा प्राप्त होती है, तपसे ही चक्रवर्तीका पद प्राप्त होता है, तपसे ही समस्त ऋद्धियां प्राप्त होती हैं और तपसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥६७॥ जो पुरुष भावपूर्वक दश धर्मोंके साथ साथ इस तपश्चरणको पालन करता है, वह कर्मरूपी पर्वतको नाशकर मोक्ष-महलमें अवश्य ही जा पहुँचता है ॥६८॥ ये पांचों समतियां भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शुभ मार्गको दिखानेके लिये दीपकके समान हैं, अत्यन्त शांत रूप हैं और तीर्थकरोंके द्वारा सदा मान्य हैं। इसी प्रकार बारह प्रकारका तपश्चरण तीनों लोकोंमें मान्य है । इस प्रकार समिति और तपश्चरणरूप श्रेष्ठ धर्म इस संसारसे शीघ्र ही मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो ॥६९॥

इस प्रकार श्रीमुनिराज सुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें समिति और तपश्चरणको वर्णन करनेवाला यह ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।



# द्वादशोऽधिकारः ।



जितमोहं जितकामं कषायचक्रभेदकम् । वीतरागं च सर्वज्ञं श्रीश्रेयांसं नमाम्यहम् ॥१॥ अनादितो हि जीवोयं कषायवशतो ननु । संसाराब्धौ ब्रुडन्नास्ते नानाक्लेशं सहन्नपि ॥२॥ कषायैरजिनोप्यात्मा कर्मास्रवति दारुणम् । तेन पंचपरावर्ते संसारे भ्रमति ध्रुवम् ॥३॥ कषायेन च यो दग्धः स दग्धः कर्मभिः सदा । स दग्धो नारकैर्दुःखै दारुणैरतिदुस्सहैः ॥४॥ कषायेनैव जृम्भेते रागद्वेषौ भयानकौ । सुदृग्घातकरौ दीर्घसंसारस्य निबंधनौ ॥५॥ कषायेन करोत्यात्मा घोरं घोरमघं नवम् । ताडनं मारणं चैव संयमस्यात्र का कथा ॥६॥ कषायोद्रेकमापन्नो हंत्यात्मा चात्मना स्वयम् । तेनैव बध्यते नित्यं कर्मणा धर्मवैरिणा ॥७॥ मनागपि कषायाणामुदयः स्वात्मघातकः । हालाहलं विषं किंचिद्धन्ति

---

जिन्होंने मोहको जीत लिया है, काम को जीत लिया है और कषायोंके समूहको जीत लिया है; ऐसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् श्रेयांसनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यह जीव कषायोंके वश होकर अनादि कालसे संसाररूपी समुद्रमें डूबा हुआ अनेक प्रकारके क्लेश सहन कर रहा है ॥२॥ जो आत्मा कषायोंसे रंजित रहता है, वह अशुभ कर्मोंका आस्रव करता रहता है और उन अशुभ कर्मोंके उदयसे पंचपरावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण किया करता है ॥३॥ जो जीव कषायोंसे दग्ध रहता है, वह सदा कर्मोंसे भी दग्ध रहता है और अत्यन्त असह्य नरकोंके दारुण दुःखोंसे भी सदा दग्ध रहता है ॥४॥ इन कषायोंसे ही दीर्घ संसारको बढ़ानेवाले और सम्यग्दर्शनका घात करनेवाले भयानक राग-द्वेष बढ़ते हैं ॥५॥ इन कषायोंके निमित्तसे यह आत्मा नये नये घोर पापोंको करता है, तथा ताडन मारण करता है । ऐसी हालतमें भला संयम धारण कैसे हो सकता है ? ॥६॥ इन कषायोंके उद्रेकको प्राप्त हुआ आत्मा अपने द्वारा अपने ही आत्माका घात करता है और

किन्न मुखे गतम् ॥८॥ कषायाक्रान्तजीवानां दुष्टक्रोधादिकात्मनाम् । न क्वापि संयमस्तेषां न ध्यानाध्ययनं तपः ॥९॥ कषायवशगो जीवः संयमं हंति पापतः । संयमस्य विनाशेन स्यादनर्थपरंपरा ॥१०॥ अनादिकालसंभूतैः कषायैस्तव चेतना । दग्धात्मन् किं तदा स्याद्वा ध्यानं शुद्धं च संयमम् ॥११॥ कषायवशतो नूनं पातोऽधोऽधो भवे भवे । जन्म-मृत्युभयक्लेशसंतापाश्च निरन्तरम् ॥१२॥ वरं हालाहलपानमेकजन्मविघातकम् । नैवोद्रेकः कषायाणामनेकजन्म-घातकः ॥१३॥ कषायस्योदयेनैव मनस्तापः प्रजायते । इन्द्रियाणां विकारोऽत्र शरीरस्य च कंपनम् ॥१४॥ इति योगत्रयस्यापि चांचल्यं स्याच्च तीव्रकम् । तेन शीघ्रं दयाधर्मो नश्यत्येव न संशयः ॥१५॥ कषायेन पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा । हन्ति तस्मात्कषायाणामुदये को विचारकः ॥१६॥ सर्वसंगं परित्यज्य कृत्वा च परमं तपः । स्यात्कषायोदयस्तत्र सर्वमेत-

---

फिर उसी पापसे धर्मको घात करनेवाले कर्मोंके द्वारा बंध करता रहता है ॥७॥ कषायोंका थोड़ासा भी उदय आत्मघात करनेवाला है, सो ठीक ही है; क्योंकि मुखमें प्राप्त हुआ हलाहल विष क्या आत्मघात नहीं कर सकता ? अवश्य करता है ॥८॥ दुष्ट क्रोधादिक कषायोंके वशीभूत हुए जीवोंके ध्यान, अध्ययन, तप और संयम आदि कभी नहीं हो सकते ॥९॥ कषायोंके वशीभूत हुआ यह आत्मा पापके कारण अपने संयमका नाश कर देता है और संयमका नाश होनेसे अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥ हे आत्मन् ! अनादि कालसे उत्पन्न हुए अपने कषायोंसे तूने अपनी शुद्ध चेतनाका नाश कर दिया है । फिर भला तुझे शुद्ध ध्यान और शुद्ध संयम कैसे हो सकता है ? ॥११॥ इन कषायोंके निमित्तसे इस जीवका भव भवमें नीचे नीचे पतन होता जाता है तथा जन्म-मरण, भय-क्लेश और संताप आदि निरंतर होते रहते हैं ॥१२॥ एक जन्मका घात करनेवाला हलाहल विषका पी लेना अच्छा है, परंतु अनेक जन्मों तक घात करनेवाले कषायोंका उद्रेक होना अच्छा नहीं है ॥१३॥ कषायोंके उदयसे ही मनको संताप होता है, इन्द्रियोंमें विकार होता है और शरीर कंपने लगता है ॥१४॥ इस प्रकार कषायके निमित्तसे मन वचन काय तीनोंमें तीव्र चञ्चलता हो जाती है तथा योगोंके चञ्चल होनेसे दया धर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१५॥ कषायके उदयसे पिता पुत्रको मार डालता है और पुत्र पिताको मार डालता है । कषायोंके उदय होनेपर कोई भी श्रेष्ठ विचार नहीं कर सकता ॥१६॥ समस्त परिग्रहोंका त्यागकर श्रेष्ठ तपश्चरण करते हुए यदि कषायोंका उदय हो जाय तो फिर समस्त तपश्चरण

निरर्थकम् ॥१७॥ दैवयोगात्कथंचित्स्यात्सुलभं व्रतधारणम् । कषायादिनृशंसेभ्यो रक्षणं दुर्लभं मतम् ॥१८॥ कषायवैरिसंपाते सर्वकष्टेतिदुःखदे । यध्यानं जपस्तपो वृत्तं सर्वं च स्यान्निरर्थकम् ॥१९॥ अत एव हि योगीन्द्राः सुस्वाध्यायामृतेन वा । कषायस्योदयं हत्वा ध्यायन्ति स्वं च सुस्थिरम् ॥२०॥ अक्षोद्रेको मनस्तापः कषायस्योदयस्तथा । स्वाध्यायेनैव चैकेन शाम्यन्त्येते यतः स्वयम् ॥२१॥ कषायशमनार्थं हि स्वाध्यायः परमौषधम् । स्वाध्यायस्य प्रभावेण सर्वं शाम्यति निश्चितम् ॥२२॥ कषायविषशान्त्यर्थं स्वाध्यायो दिव्यमन्त्रकम् । तत्क्षणं येन शीघ्रं हि शान्तिः स्यात्सर्वहर्षदा ॥२३॥ कषायाग्निप्रभावेण दह्यमानं व्रतादिकम् । स्वाध्यायमेघधाराभिस्तत्क्षणेऽङ्कुरितं भवेत् ॥२४॥ यदा यदा कषायाग्निर्दहति स्वात्ममन्दिरे । तपोध्यानं तदात्मन् त्वं स्वाध्यायात् शामय परम् ॥२५॥ रत्नत्रयतपोध्यानसंयमादीनि तत्क्षणात् । निर्दयो दहति क्रोधः स्वपरं च ततस्ततः ॥२६॥ क्रोधस्य न विवेकोस्ति विचारोपि न वा क्वचित् । यस्मात्स्वस्वामिनं

---

निरर्थक ही समझना चाहिये ॥१७॥ दैवयोगसे व्रतोंका धारण करना सरल है, परंतु मनुष्योंकी हत्या करनेवाले कषायोंसे आत्माकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है ॥१८॥ इन कषायरूप शत्रुओंका उदय सबको दुःख देनेवाला है और सबको पीडा पहुँचानेवाला है, इन कषायोंके होनेसे ध्यान जप तप चारित्र आदि सब निरर्थक हो जाते हैं ॥१९॥ इसलिये मुनिराज अपने स्वाध्यायरूपी अमृतसे कषायोंका नाश कर देते हैं और अपने आत्माका ध्यान करते हैं ॥२०॥ इंद्रियोंका उद्रेक, मनका संताप और कषायोंका उदय एक स्वाध्यायसे ही अपने आप शांत हो जाते हैं ॥२१॥ कषायोंको शांत करनेके लिये स्वाध्याय परम औषधि है, इस स्वाध्यायके प्रभावसे सब शांत हो जाते हैं ॥२२॥ कषायरूपी विषको शांत करनेके लिये स्वाध्याय परम दिव्य मन्त्र है । इस स्वाध्यायसे उसी क्षणमें सबको प्रसन्न करनेवाली शांति शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है ॥२३॥ कषायरूपी अग्निके प्रभावसे जले हुए व्रतादिक स्वाध्यायरूपी मेघकी धारासे उसी क्षणमें पुनः अङ्कुरित हो जाते हैं ॥२४॥ हे आत्मन्! तेरे आत्मरूप महलमें जब २ कषायरूपी अग्नि जल उठे, तभी तू तप और ध्यानको स्वाध्यायसे शांत कर ॥२५॥ यह क्रोध-कषाय रत्नत्रय, तप, ध्यान और संयम आदिको निर्दय होकर जला देता है तथा अपने आत्माको भी जला देता है ॥२६॥ क्रोधमें न विवेक रहता है, न विचार रहता है । यह क्रोध पहले अपने स्वामी आत्माको जलाता है, फिर पीछे दूसरेको मारता है ॥२७॥ यह क्रोधरूपी प्रचण्ड अग्नि क्षमासे

ह्यादौ पश्चादन्यं च हंति वा ॥२७॥ प्रचण्डक्रोधवह्निर्हि क्षमया शाम्यति स्वयम् । बोधधाराप्रपातेन क्षणाच्छान्ति प्रयाति च ॥२८॥ लोकद्वयहितध्वंसी क्रोधः शीघ्रं प्रशाम्यते । योगिभिः शान्तचेतोभिः क्षमाभावनया स्वयम् ॥२९॥ प्रशान्ते न्यायमार्गेस्मिन् शुद्धे रत्नत्रयात्मनि । प्राप्तोहं पुण्ययोगेन भवारण्ये भ्रमन् भ्रमन् ॥३०॥ यावत्क्रोधो दुराचारी रत्नत्रयमनर्घ्यकम् । हत्वात्मानं भवागर्ते न पातयति भीमके ॥३१॥ तावत्क्षमामृतेनैव परां शान्ति लभामहे । विवेकबोधवार्द्धौ किं करिष्यति क्रुधानलः ॥३२॥ अनादिकालतोऽनेन क्रोधेन धर्मवैरिणा । पातयित्वा भवागर्ते पीडितोहं पुनः पुनः ॥३३॥ अधुना पुण्ययोगेन लब्धो धर्मो जिनोदितः । तत्रापीयं सुदीक्षा वा लब्धा दैगम्बरी मया ॥३४॥ क्षमामृतं शुभं पीतं क्रोधो मे किं करिष्यति । इति भावनया धीरः क्रोधं मुञ्चेत् सुबोधतः ॥३५॥ अनन्तानन्तसंसारे भ्राम्यमाणो जनोऽनिशम् । को वा कस्य न बंधुश्च न भूतोऽनेकशः सदा ॥३६॥ साम्यबुद्धिगतानां च सुदृशां तत्त्व-

---

स्वयं शांत हो जाती है, तथा सम्यग्ज्ञानकी धाराके पड़नेसे भी क्षणभरमें शांत हो जाती है ॥२८॥ शांत हृदयको धारण करनेवाले योगी लोग अपने क्षमारूप परिणामोंसे दोनों लोकोंके हितको नाश करनेवाले इस क्रोधको शीघ्र ही शांत कर देते हैं ॥२९॥ यह रत्नत्रयरूप न्यायमार्ग अत्यन्त शुद्ध है और प्रशांत है, संसाररूपी वनमें परिभ्रमण करता हुआ मैं किसी पुण्य कर्मके उदयसे ही प्राप्त हुआ हूँ ॥३०॥ इसलिये यह दुराचारी क्रोध जबतक बहुमूल्य रत्नत्रयको नाशकर आत्माको संसाररूपी भयंकर गढेमें नहीं पटक देता है, तबतक मुझे क्षमारूपी अमृतके द्वारा श्रेष्ठ शांति प्राप्त कर लेनी चाहिये। क्योंकि यह क्रोधरूपी अग्नि विवेक और ज्ञानरूपी समुद्रमें क्या कर सकती है ? ॥३१-३२॥ धर्मको नाश करनेवाला यह क्रोध अनादिकालसे मुझे संसाररूपी बड़े गढेमें डाल रखा है और बार बार मुझे दुःख दे रहा है ॥३३॥ अब पुण्यकर्मके उदयसे मैंने भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ धर्म धारण किया है और फिर दिगम्बरी दीक्षा धारणकी है। अब मैंने क्षमारूप अमृतका पान किया है, अब क्रोध मेरा क्या कर सकता है ? इस प्रकारकी भावना धारण कर धीर वीर पुरुषको अपने सम्यग्ज्ञानके द्वारा क्रोधका त्याग कर देना चाहिये ॥३४-३५॥ इस अनन्तानन्त संसारमें सदासे परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अनेक बार कौन किसका भाई नहीं हुआ है ? ॥३६॥ जो तत्त्वोंको जाननेवाले और समता बुद्धिको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उनके लिये इस संसारमें समस्त

वेदिनाम्। सर्वे जीवा हि सन्तीह चात्मतुल्याश्च बान्धवाः ॥३७॥ न कोपि कस्यचिन्मित्रं न वैरी न च दुःखदः। बांधवाः वारयः सर्वे भवन्त्येते स्वकर्मणा ॥३८॥ योऽधुना हन्ति मां कोपात्स मया प्राग्भवे हतः। तस्मादस्यापराधो न चैवं कोपं वशं नयेत् ॥३९॥ तथापि कुरुते मां हि स्वस्थं कृतापराधकम्। भवान्तरप्रबद्धेन दुष्टात्मना कुकर्मणा ॥४०॥ प्राग्भवे यत्कृतं कर्म तन्मया भुज्यतेऽधुना। कोपस्य तत्र का वार्ता कोपेन किं प्रयोजनम् ॥४१॥ कदाचित्कोपि कोपेन मां हन्ति कर्मपाकतः। धर्मो मे न हतोऽनेन रक्षामि क्षमया हि तम् ॥४२॥ चण्डकोपानलाच्छीघ्रं मां क्षमा रक्षति स्वयम्। बोधाम्बुदस्य धाराभिः परां शांतिं प्रदास्यति ॥४३॥ संसारे दुर्लभो बोधः शमता दुर्लभा ततः। क्षमातिदुर्लभा तत्र यया क्रोधोपि शाम्यति ॥४४॥ हन्तुकामैर्यदा दुष्टैर्विकारं नाप्यते मनः। योगिनां सा क्षमा श्लाघ्या इन्द्रनागेन्द्र-वंदिता ॥४५॥ उपसर्गशतैस्तेषां परीषहभटैः शतैः। क्षमामृतस्य पानेन विकारं याति नो मनः ॥४६॥ एका

---

जीव उनके आत्माके ही समान भाई हैं ॥३७॥ इस संसारमें न तो कोई किसीका मित्र है, न कोई किसीका दुःख देनेवाला शत्रु है, शत्रु और मित्र सब अपने अपने कर्मके अनुसार होते हैं ॥३८॥ इस समय जो मुझे क्रोधपूर्वक मारता है, उसे मैंने पहले किसी भवमें अवश्य मारा होगा। इसलिये इस समय इसका कोई अपराध नहीं है। इस प्रकार विचारकर अपने क्रोधको शांत करना चाहिये ॥३९॥ मैंने परभवमें दुष्ट अशुभ कर्मोंको बांधकर जो अपराध किया था, उसके उदयसे मुझे मारकर यह मेरे अपराधको दूर कर रहा है। क्योंकि पहले भवमें जो मैंने किया है, उसीको मैं भोग रहा हूँ। फिर उसमें क्रोध करनेकी क्या बात है और क्रोधसे लाभ ही क्या है? ॥४०–४१॥ कदाचित् कर्मके उदयसे कोई क्रोधकर मुझे मारता है, तो भी मेरे धर्मका घात तो नहीं करता। अब मैं क्षमा धारणकर अपने धर्मकी अवश्य रक्षा करूँगा ॥४२॥ यह क्षमा प्रचंड क्रोधरूपी अग्निसे शीघ्र ही मेरी रक्षा करेगी और सम्यग्ज्ञानरूपी मेघधारासे उस क्रोधरूपी अग्निको परम शांत कर देगी ॥४३॥ इस संसारमें सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ शमता वा शांत परिणाम है और उससे भी दुर्लभ क्षमा है। क्योंकि इस क्षमासे क्रोध भी शांत हो जाता है ॥४४॥ जब मारनेकी इच्छा करनेवाले दुष्टोंसे मनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, वह इन्द्र नागेन्द्रके द्वारा वन्दनीय योगियोंकी क्षमा कहलाती है ॥४५॥ क्षमारूपी अमृतको पीकर उन योगियोंका मन सैकड़ों उपसर्गोंसे तथा

क्षमैव धन्या सा योगिनां ध्यानवेदिनाम्। यया प्रशाम्यते शीघ्रं क्रोधाग्निः धर्मदाहकः ॥४७॥ क्रोधिनो हि मुनेर्भक्तिं धर्मज्ञोपि करोति न। समणेर्दन्दशूकस्य प्रतीतिं कोपि याति न ॥४८॥ क्रोधश्चेत्किं सुयोगेन ध्यानेन किं प्रयोजनम्। उपवासेन किं साध्यं वा दीक्षाग्रहणेन किम् ॥४९॥ क्रोधिनो न विचारोस्ति हिताहितप्रदर्शकः। यस्मात्क्रोधी नरस्तीव्रं शीघ्रं पापं करोति हि ॥५०॥ क्रोधिनो न विजानन्ति देवं स्वगुरुमागमम्। क्रोधी किं न हि मात्सर्यं करोति तान्प्रति स्वयम् ॥५१॥ ब्रूते किन्न नरः क्रोधी निन्दितं कटुकं वचः। गुरूणामपि निर्लज्जः क्रोधः किं किं करोति न ॥५२॥ वधबन्धादयः सर्वे सहसा यान्ति दुर्गुणाः। क्रोधात्किन्न प्रजायेत ताडनं मारणादिकम् ॥५३॥ धर्मस्थितस्य कोपीह क्रोधेन यदि निन्दनम्। करोति घोरपापं सः बुद्धिहीनोऽविचारकः ॥५४॥ तस्मात्क्रोधः सदा त्याज्यो भव्येन धर्मवेदिना। क्रोधाद्भवेच्च संसारः क्षमया लभ्यते शिवम् ॥५५॥ क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा वृत्तं क्षमा तपः। क्षमा हि

---

सैकड़ों परिषहरूपी योद्धाओंसे कभी विकारको प्राप्त नहीं होता है ॥४६॥ ध्यानको जाननेवाले योगियोंकी एक क्षमा ही धन्य है, जिससे कि धर्मको जला देने वाली क्रोधरूपी अग्नि शीघ्र ही शांत हो जाती है ॥४७॥ धर्मात्मा पुरुष भी क्रोधी मुनिकी भक्ति कभी नहीं करता है, सो ठीक ही है, क्योंकि यदि सर्प मणिसहित हो तो भी भला उसका कौन विश्वास करता है? ॥४८॥ यदि क्रोध है तो फिर योग धारण करनेसे वा ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन है? अथवा उपवास करने और दीक्षा ग्रहण करने से ही क्या प्रयोजन है? ॥४९॥ क्रोध करनेवालेको हित अहित दिखलानेवाला कोई विचार नहीं रहता, क्योंकि क्रोधी मनुष्य बड़ी शीघ्रतासे तीव्र पाप किया करता है ॥५०॥ क्रोधी मनुष्य देव, शास्त्र और गुरुको भी नहीं मानता और उनके साथ सदा ईर्ष्या किया करता है ॥५१॥ क्रोधी मनुष्य गुरुओंके लिये भी निर्लज्ज होकर निन्दनीय और कड़वे वचन कहा करता है, सो ठीक ही है; क्रोधी मनुष्य क्या क्या नहीं करता है? ॥५२॥ इस क्रोधसे वध-बंधन, ताडन-मारन आदि सब दुर्गुण बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं सो भी ठीक ही है क्रोधसे क्या क्या नहीं होता है? ॥५३॥ जो पुरुष क्रोध करके धर्मात्मा पुरुषोंकी निंदा करता है, वह बुद्धिहीन है, विचार रहित है और सदा घोर पाप करता रहता है ॥५४॥ इसलिये धर्मको जाननेवाले भव्य जीवोंको क्रोधका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि क्रोधसे संसार होता है और क्षमासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥५५॥ इस संसारमें क्षमा

मोक्षमार्गोत्र क्षमा शान्तिः क्षमा सुखम् ॥५६॥ संसारे नाट्यरूपेऽस्मिन्नानायोनिसमाकुले। नृपो भूत्वा च विष्ठायां कृमिः स्यात्तत्क्व मानता ॥५७॥ दर्शनं स्यान्मलैर्जुष्टं धर्मः स्याच्च तिरोहितः। अविनयो हि पूज्यानां मानेन भुवने ध्रुवम् ॥५८॥ मानिनो विमुखाः सर्वे भवन्ति मित्रबांधवाः। मानिनं गुणयुक्तं वा सन्मानयति कोपि न ॥५९॥ गुणागारे गुरौ पूज्ये धत्तेऽवज्ञां स्वमानतः। स हीनतामवाप्नोति भवगर्ते पुनः पुनः ॥६०॥ धर्मस्थितस्य मानेन यद्यवज्ञां करोति यः। स्वधर्मस्यैव सोऽवज्ञां हा करोति हि मूढधीः ॥६१॥ प्राणकण्ठगतेनापि मानेन त्वं कदापि वा। धार्मिकाणामवज्ञां हि मा कार्षीः धर्मघातिकाम् ॥६२॥ धार्मिकाणां च यो मानी हीनं मत्वा करोति वा। अवज्ञामपमानं स धर्मं वेत्ति न तत्त्वतः ॥६३॥ जैनधर्मानभिज्ञोऽसौ वाऽविवेकेन वंचितः। संमज्जति भवाब्धौ स चिरं पापी कुकर्मणा ॥६४॥

---

ही धर्म है, क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही चारित्र है, क्षमा ही तप है, क्षमा ही मोक्षमार्ग है, क्षमा ही शांति है और क्षमा ही सुख है ॥५६॥ अनेक योनियोंसे भरे हुए इस नाटकशालारूप संसारमें यह जीव राजा होता है और फिर विष्ठामें जाकर कीड़ा होता है। फिर भला इस जीवका अभिमान कैसे रह सकता है? ॥५७॥ इस संसारमें मान करनेसे सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है, धर्म छिप जाता है और पूज्य पुरुषोंका अविनय होता है ॥५८॥ अभिमानी पुरुषसे मित्र बांधव आदि सब लोग विमुख हो जाते हैं, यदि अभिमानी गुणी हो तो भी उसका कोई संमान नहीं करता ॥५९॥ अभिमानी पुरुष गुणोंके निधि अपने पूज्य गुरुकी भी अवज्ञा करता है। तथा इस संसाररूपी गढ़ेमें बार बार नीचताको प्राप्त होता है ॥६०॥ जो अभिमानी पुरुष अपने अभिमानके कारण किसी धर्मात्माकी अवज्ञा करता है, दुःख है कि वह मूर्ख अपने धर्मकी ही निन्दा करता है ॥६१॥ इसलिये हे आत्मन्! तू कंठगत प्राण होनेपर भी धर्मात्मा पुरुषोंकी अवज्ञा कभी मत कर। क्योंकि धर्मात्माओंकी निंदा करना धर्मको घात करनेवाला है ॥६२॥ जो अभिमानी पुरुष धर्मात्माओंको हीन समझकर उनकी अवज्ञा वा अपमान करता है, वह वास्तवमें धर्मको नहीं समझता ॥६३॥ वह पापी पुरुष या तो जैनधर्मसे अनभिज्ञ है, या अविवेक पूर्ण है। अभिमानी पुरुष अपने कुकर्मोंके द्वारा इस संसार-रूपी समुद्रमें अवश्य डूबता है ॥६४॥ इस अभिमानसे पितासे द्वेष करता है, अभिमानसे धर्मकी निंदा करता

मानात्तु पितरं द्वेष्टि मानाद्धर्मं च निन्दति । मानात्करोति पापं स दुःखदं न्यायवर्जितम् ॥६५॥ मानेन नरकं याति रावण इव मानवः । मानं हि चापदां स्थानं भण्डकलहकर्मणाम् ॥६६॥ मानं दुर्गतिदातारं धर्मविध्वंसकं तथा । मूढो जनो विधत्तेऽत्र विवेकविकलोऽथवा ॥६७॥ तुंगं मानाद्रिमारुह्य विवेकविकलो नरः । करोति धर्मनाशाय पूज्यापूज्यव्यतिक्रमम् ॥६८। मानेन नश्यते शीघ्रं विवेको हितरूपकः । विवेके च गते किं स्याद्ध्यानं शर्मविधायकम् ॥६९॥ बोधनेत्रमपाकृत्य पुरस्कृत्याविवेककम् । धर्मध्वंसं करोत्यात्मा मानेन नष्टचेतनः ॥७०॥ यः स्वमानं पुरस्कृत्य विधत्ते कर्म निन्दितम् । स्वयं पतति भूगर्भे पातयति परानपि ॥७१॥ तस्मान्मानं त्यजेद्धीमान् मार्दवं धारयेत्सुधीः । वात्सल्यभावनोपेतो धर्मं कुर्याच्च तत्त्ववित् ॥७२॥ मार्दवेन गुणाः सर्वे मानेन सन्ति दुर्गुणाः । मार्दवेन शिवप्राप्तिः मानेन स्याच्च दुर्गतिः ॥७३॥ मार्दवं सुखमूलं हि वात्सल्यगुणकारकम् । ध्यानं जपस्तपस्तेन शीघ्रं सिद्ध्यन्ति मोक्षदम् ॥७४॥ मोक्षो हि लभ्यते येन

---

है और अभिमानसे ही न्यायरहित दुःख देनेवाले पापोंको करता है ॥६५॥ यह मनुष्य अभिमानके कारण रावणके समान नरकमें जाता है, तथा यह अभिमान अनेक आपत्तियोंका स्थान है और मंड वचन तथा कलह आदि कार्योंका स्थान है ॥६६॥ दुर्गतिको देनेवाले और धर्मको नाश करनेवाले इस अभिमानको विवेकरहित मूर्ख लोग ही धारण करते हैं ॥६७॥ विवेकरहित यह मनुष्य मानरूपी ऊँचे पर्वतपर चढ़कर धर्मका नाश करनेके लिये पूज्य और अपूज्य पुरुषोंका व्यतिक्रम करता है ॥६८॥ इस अभिमानसे हित करनेवाला विवेक शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तथा विवेकके नष्ट हो जानेपर कल्याण उत्पन्न करनेवाला ध्यान भला कैसे हो सकता है ? ॥६९॥ जिसकी ज्ञानरूप चेतना नष्ट हो गई है, ऐसा आत्मा अपने अभिमानके कारण ज्ञानरूपी नेत्रको हटाकर और अविवेकको सामने रखकर धर्मका नाश कर डालता है ॥७०॥ जो पुरुष अपने अभिमानको सामने रखकर निंदनीय कर्म करता है, वह नरकरूप पृथ्वीके गढ़में स्वयं गिरता है और दूसरोंको भी डालता है ॥७१॥ इसलिये तत्त्वोंको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको वात्सल्य-भाव धारणकर अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और मार्दवधर्म धारण करना चाहिये ॥७२॥ इस मार्दव धर्मसे समस्त गुण प्राप्त होते हैं, और अभिमानसे सब दुर्गुण प्राप्त होते हैं। मार्दवधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और अभिमानसे दुर्गति प्राप्त होती है ॥७३॥ यह मार्दवधर्म सुख देनेवाला है और वात्सल्य गुणको प्रगट करनेवाला है। इस मार्दव धर्मसे ही मोक्ष देनेवाला ध्यान, जप और

भवाब्धिश्च सुतीर्यते । चीयन्ते येन कर्माणि मार्दवं तत्समाश्रय ॥७५॥

निकृतिः सर्वभूतानां निंद्या चारित्रघातिका । दीपिका सर्वपापानां धर्मरत्नविलुंठिका ॥७६॥ मायासमः न शल्योऽस्ति परस्परविभेदकः । येन पिता स्वपुत्रं हि हन्ति निकृतिवञ्चितः ॥७७॥ निकृत्या जायतेऽकीर्तिर्विश्वासोऽपि पलायते । धर्मोऽपि नश्यते शीघ्रं परत्र दुर्गतिर्भवेत् ॥७८॥ मायया छाद्यमानं हि पापं ते भवति स्फुटम् । आत्मन्नास्त्यत्र संदेहो मायिभ्योऽलमलं पुनः ॥७९॥ निराकरोति या शीघ्रं ज्ञानिनि प्रत्ययं नरे । वकवेषं समादाय हा हा वंचयते परान् ॥८०॥ निर्माल्यकूटकस्येव वृत्तिर्मायाविनाह्यहो । गृह्णात्येप हि निस्सारं कचरमिव किल्विषम् ॥८१॥ लोकद्वयहिते युक्तां दीक्षां धृत्वा जिनेशिनाम् । मायया वंचितास्ते नु सन्ति चारित्रघातकाः ॥८२॥ मायाविनां न विश्वासं धर्मज्ञोऽपि करोति हि ।

तप शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं ॥७४॥ जिस मार्दवधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, जिस मार्दवधर्मसे यह मनुष्य संसार-रूपी समुद्रसे पार हो जाता है और जिस मार्दवधर्मसे समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं; ऐसे मार्दवधर्मको धारण कर ॥७५॥

समस्त जीवोंको ठगनेवाली माया अत्यन्त निंद्य है, चारित्रको नाश करनेवाली है, समस्त पापोंको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान है और धर्मरत्नको चुरानेवाली है ॥७६॥ इस संसारमें मायाके समान परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई शल्य नहीं है। इस मायासे ठगा हुआ पिता अपने पुत्रको भी मार डालता है ॥७७॥ इस ठगीके कारण अपकीर्ति होती है, विश्वास नष्ट हो जाता है, धर्म नष्ट हो जाता है और परलोकमें दुर्गति होती है ॥७८॥ हे आत्मन् ! यद्यपि तू अपने पापोंको मायासे ढकना चाहता है, तथापि वे पाप बिना किसी संदेहके प्रगट हो जाते हैं। इसलिये इस मायाको तू कभी मत कर ॥७९॥ यह माया ज्ञानी मनुष्यमें भी विश्वास हटा देती है। दुःख है कि मायाचारी मनुष्य बगलाके भेपको धारणकर दूसरोंको ठगता है ॥८०॥ आश्चर्य है कि मायाचारी पुरुषोंकी वृत्ति निर्माल्य कूटके समान निःसार और पापरूप पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली होती है ॥८१॥ जो दोनों लोकोंका हित चाहते हुए और जैनेश्वरी दीक्षा धारण करते हुए भी मायाचारी करते हैं, उनको अवश्य ही चारित्रको घात करनेवाला समझना चाहिये ॥८२॥ धर्मात्मा पुरुष भी मायाचारियोंका कभी विश्वास नहीं करते और माता पिता आदि भी कभी

मातृपित्रादयस्तेऽपि विश्वसन्ति कदापि न ॥८३॥ मायाविनां न वा क्वापि ध्यानं वृत्तं च भावतः । जनानां वंचनायैवं धृतं वेषं हि मायया ॥८४॥ तावदेव हि साम्राज्यं मायिनां हि धरातले । यावन्न प्रकटीभूता माया तेषां हि दैवतः ॥८५॥ मायाशल्यं धुनोत्येव सम्यग्दर्शनमुत्तमम् । मोक्षमार्गं निहंत्येव चार्गलेव निकेतनम् ॥८६॥ मायाविनामिदं चित्तं काठिन्यं लभते परम् । यत्र धर्मांकुरो नैव प्ररोहति कदापि वा ॥८७॥ तस्मान्मायां परित्यज्य भज चार्जवमुत्तमम् । येन दर्शनशुद्धिः स्याद्भावशुद्धिश्च जायते ॥८८॥ निःशल्यं च करोत्येवार्जवं हृदयमन्दिरम् । शुद्धिस्तेनैव वृत्तानां स्यात्कर्मास्रवरोधिका ॥८९॥ आर्जवेन हि शोभन्ते तपोजपव्रतादयः । अतिक्रूराणि पापानि नश्यन्ति चार्जवेन वा ॥९०॥ आर्जवेन शिवप्राप्तिः आर्जवेन भवक्षयः । आर्जवेन परं ध्यानमार्जवेन सुखं निजम्॥९१॥

सर्वेषामेव पापानां लोभोऽस्ति नु पितामहः । लोभेनैकेन वीरेण पापानि विजितानि च ॥९२॥ लोभानलेन

---

उसका विश्वास नहीं करते ॥८३॥ मायाचारी पुरुषोंको भावपूर्वक न तो ध्यान हो सकता है और न चारित्र धारण हो सकता है। ऐसे लोग सब लोगोंको ठगनेके लिये ही मायापूर्वक भेप धारण करते हैं ॥८४॥ इस पृथ्वीमण्डलपर मायाचारियोंका साम्राज्य तभी तक रह सकता है, जबतक कि दैवयोगसे उनकी मायाचारिता प्रगट नहीं हो जाती ॥८५॥ यह मायाशल्य उत्तम सम्यग्दर्शनको नष्ट कर देता है और घरको बेड़ेके समान मोक्षमार्गको बंद कर देता है ॥८६॥ मायाचारियोंका हृदय अत्यन्त कठिन हो जाता है और इसीलिये फिर उसमें धर्मरूपी अंकुर कभी उत्पन्न नहीं होने पाता ॥८७॥ इसलिये हे आत्मन ! तू इस मायाचारिताको छोड़कर उत्तम आर्जव धर्म धारण कर, जिससे कि तेरा सम्यग्दर्शन शुद्ध हो जाय और तेरे भाव शुद्ध हो जावें ॥८८॥ यह आर्जवधर्म हृदयरूपी मंदिरको शल्यरहित कर देता है और इसी आर्जवधर्मसे कर्मोंके आस्रवको रोकनेवाली चारित्रकी शुद्धि होती है ॥८९॥ तप, जप और व्रतादिक सब आर्जवधर्मसे ही शोभायमान होते हैं और इसी संसारका आर्जवधर्मसे क्रूरसे क्रूर पाप नष्ट हो जाते हैं ॥९०॥ इस आर्जव धर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसी आर्जव धर्मसे भवका नाश होता है, इसी आर्जवधर्मसे उत्कृष्ट ध्यान होता है और इसी आर्जवधर्मसे आत्माका सुख प्राप्त होता है ॥९१॥

यह लोभ समस्त पापोंका बाबा है । इस लोभरूप एक योद्धासे ही सब पाप हार गये हैं ॥९२॥ जो लोभरूपी अग्निसे जल गया है, उसे विषयादिकोंमें भी जला हुआ समझो । ऐसा पुरुष सैकड़ों

दग्धो यः स दग्धो विषयादिषु । नोपायशतकैः सोऽपि न क्वापि शान्तिमश्नुते ॥९३॥ कषाये दुर्धरो लोभः परेऽकिंचित्करा मताः । यदि लोभो जितः शौचादन्ये सर्वे जिताः स्वयम् ॥९४॥ लोभात्पुत्रं पिता हन्ति नारी हन्ति पतीश्वरम् । भ्राता सहोदरं हन्ति शिष्यो हंति गुरुं तथा ॥९५॥ लोभाच्च कलहो नित्यं जायते हि दिनं दिनम् । लोभान्मित्रमरित्वं हि जायते च स्वभावतः ॥९६॥ लोभाच्च प्रविशत्यग्नौ लोभान्मज्जति सागरे । लोभाच्च दुर्गतिं याति पापं कृत्वा पुनः पुनः ॥९७॥ पुत्रमित्रकलत्राणां गृहद्रव्यादिसम्पदाम् । येन मोहो जितस्तेन कर्माणि विजितानि च ॥९८॥ सुत्यक्तसर्वसंगस्य साधोर्दिगम्बरस्य च । अत्यन्तं निस्पृहस्यापि लोभश्चेद्दीक्षया ह्यलम् ॥९९॥ देहादपि विरक्तानां जातरूपसुधारिणाम् । अपि लोभो धनादीनां पुनः पंके हि पातनम् ॥१००॥ परमं निस्पृहाः शान्ता निरीहा गतवाञ्छकाः । त्यक्ताशाः स्वात्मलीनास्ते यतीशा युक्तिगामिनः ॥१०१॥ तस्माल्लोभं परित्यज्य विषयाणामशेषतः । आत्मन् त्वं स्वात्मलीनः स्याः

उपायोंसे भी कहीं शांत नहीं हो सकता ॥९३॥ समस्त कषायोंमें यह लोभ ही दुर्धर है । बाकी सब कषाय अकिंचित्कर हैं । यदि शौचसे लोभको जीत लिया तो समस्त कषायोंको जीता हुआ ही समझो ॥९४॥ इस लोभके कारण पिता पुत्रको मार डालता है, स्त्री पतिदेवको मार डालती है भाई भाईको मार डालता है और शिष्य गुरुको मार डालता है ॥९५॥ इस लोभके कारण प्रतिदिन सदा कलह बनी रहती है और इस लोभसे मित्र भी स्वभावसे ही शत्रु हो जाता है ॥९६॥ लोभसे ही यह जीव अग्निमें जल जाता है, लोभसे ही समुद्रमें डूब जाता है और लोभसे ही बार बार पापोंको करता हुआ दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥९७॥ जिस पुरुषने पुत्र, मित्र, स्त्री, घर और धन आदि संपदाओंके मोहको जीत लिया है; उसने समस्त कर्मोंको जीत लिया ऐसा समझो ॥९८॥ जिसने समस्त परिग्रहोंका त्याग कर दिया है, दिगम्बर अवस्था धारण कर ली है और जो परम निस्पृह है; यदि ऐसे साधुको लोभ विद्यमान हो तो फिर उसको दीक्षा लेनेसे क्या लाभ है ? ॥९९॥ जो साधु शरीरसे भी विरक्त हैं और दिगम्बर अवस्था धारण करते हैं; यदि वे धनादिकका लोभ करें तो फिर उनका कीचड़में ही पड़ना समझो ॥१००॥ जो साधु परम निःस्पृह हैं, शांत हैं, इच्छारहित हैं, आशारहित हैं और आत्मामें लीन हैं; ऐसे साधु ही मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले समझे जाते जाते हैं ॥१०१॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू विषयोंके समस्त लोभोंका त्यागकर, शांत और परम निस्पृह होकर

शान्तः परमनिस्पृहः ॥१०२॥ सम्पाद्य शौचधर्मं हि कृत्वा भावं सुनिर्मलम् । धृत्वा हि स्वात्मनो ध्यानं लोभं तु सहसा जय ॥१०३॥ शौचान्मोक्षो भवो लोभात् शौचात्पुण्यं परादघम् । शौचात्कर्मजयो नित्यं लोभात्कर्मास्त्रवो महान् ॥१०४॥ इत्थं कषायवेगेन क्रोधमानादिना तथा । जीवः करोति संसारे जन्म मृत्युं पुनः पुनः ॥१०५॥ रागद्वेषं कषायं च क्रुन्मायामानलोभकम् । जित्वात्मन् त्वं परां शान्तिं संलभस्व सुबोधतः ॥१०६॥ इति विषयकषायं मोहभावं विजित्य त्यजतु कटुककोपं मानमायां च लोभम् ॥ धरतु परमशुद्धिं शुद्धभावं च कृत्वा चरतु च निजचित्ते वीतरागं सुधर्मम् ॥१०७॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे कषायविजयप्ररूपणो नाम द्वादशोधिकारः ।

---

अपने आत्मामें लीन हो ॥१०२॥ हे आत्मन् ! तू निर्मल भावोंको धारण करता हुआ शौचधर्मको धारण कर तथा अपने आत्माका ध्यानकर सरल रीतिसे लोभको जीत ॥१०३॥ शौचधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, लोभसे संसार बढ़ता है, शौचधर्मसे पुण्य बढ़ता है, लोभसे पाप बढ़ता है, शौचसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और लोभसे कर्मोंका प्रबल आस्रव होता है ॥१०४॥ इस प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंके वेगसे यह जीव इस संसारमें बार बार जन्म-मरण करता रहता है ॥१०५॥ हे आत्मन् ! तू क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायोंको तथा रागद्वेषको जीतकर अपने शुद्ध सम्यग्ज्ञानके द्वारा सर्वोत्कृष्ट शांतिको प्राप्त हो ॥१०६॥ इस प्रकार विषय कषायोंको तथा मोहभावको जीतकर क्रोध, मान, माया और लोभरूप चारों कड़वे कषायोंका त्यागकर देना चाहिये । तथा अपने निर्मल भावको धारणकर परम शुद्धि धारण करनी चाहिये और अपने हृदयमें वीतरागरूप श्रेष्ठ धर्मको पालन करना चाहिये ॥१०७॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें कषायोंके जीतनेको वर्णन करनेवाला यह बारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# त्रयोदशोऽधिकारः।



रागद्वेषविजेतारं साम्यामृतनिधीश्वरम्। वासुपूज्यं जिनं वन्दे सुरैः पूज्यं महेश्वरम् ॥१॥ रागद्वेषौ महानिंद्यौ संसारस्य निबन्धनौ। सर्वासां च विपत्तीनां मतौ तौ मूलकारणे ॥२॥ रागद्वेषौ महाक्रूरौ ग्रहौ च दुःखदौ मतौ। याभ्यां जीवाः प्रपीड्यन्ते यंत्रे संसारचक्रके ॥३॥ मोहवशादयं जीवो रज्यति परिकुप्यति। रागद्वेषौ समासाद्य नानानर्थं करोत्यलम्। ॥४॥ रागद्वेषौ हि संसारे मोहबीजौ मतौ जिनैः। याभ्यां ममत्वमासाद्य चात्मन् त्वं ग्रहलायसे ॥५॥ मोहनिन्द्रां गतोऽसि त्वमात्मन् गाढतमामिमाम्। रागद्वेषविलुण्ठाभ्यां पीड्यमानश्चिरं भृशम् ॥६॥ जन्ममृत्युलताचक्रं रागद्वेषेन कर्मणा। स्वमूर्धनि समुद्धृत्य भवे भ्राम्यसि मत्तवत् ॥७॥ पातयित्वा महामोहज्वालायां त्वां निरन्तरम्। भस्मीभूतं प्रकुर्वन्ति

---

जो राग-द्वेषको जीतनेवाले हैं, समतारूपी अमृतके निधीश्वर हैं, जो देवोंके द्वारा पूज्य हैं और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं; ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव वासुपूज्यको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ये राग और द्वेष महानिंद्य हैं, संसारके कारण हैं और समस्त विपत्तियोंके मूल कारण हैं ॥२॥ ये राग और द्वेष महाःदुख देनेवाले क्रूर ग्रह हैं और इन्हींके कारण ये जीव संसारचक्ररूपीमें यंत्रमें सदा पेले जाते हैं ॥३॥ मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव राग और द्वेप करता है तथा राग-द्वेषके कारण यह जीव अनेक अनर्थ उत्पन्न करता रहता है ॥४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने राग-द्वेष दोनोंको संसारका मुख्य बीज बतलाया है। इन्हीं राग-द्वेषके कारण ममत्व करता हुआ यह जीव पागलसा हो जाता है ॥५॥ हे आत्मन्! राग-द्वेषरूपी चोरोंके द्वारा चिरकालसे महादुःखी हुआ तू मोहरूपी गाढ़ निद्राको प्राप्त हो रहा है ॥६॥ हे आत्मन्! तू राग-द्वेषरूपी कार्योंके कारण जन्ममरणरूपी लताचक्रको मस्तकपर धारणकर मत्तके समान इस संसारमें परि-

रागद्वेषादिशत्रवः ॥८॥ रागः स्याद्यत्र तत्रैव द्वेषोऽपि सुतरां भवेत्। यस्मादेको हि रागोऽस्ति शत्रुर्धर्मविलुंठकः ॥९॥ हा हा चात्मन्नवस्था ते चेदृशी भविता कथम्। यया रागं समुत्पाद्य त्वं परान् हंसि मुह्यसि ॥१०॥ बध्यते कर्मरागेण रागेणैव च संसृतिः। जन्ममृत्युभयक्लेशानां रागो मूलकारणम् ॥११॥ हा हा रागेण जीवोऽयं श्वभ्रे गच्छति दुःखदे। पर्यटति च संसारे जन्ममृत्युभयात्मके ॥१२॥ हन्ति प्राणिगणं शश्वदन्यायं विदधाति च। घोरं पापं करोत्यात्मा रागेणैवातिविह्वलः ॥१३॥ संसारकारणं रागो विरागो मोक्षकारणम्। रागेण कर्मबन्धः स्याद्विरागेण विमोक्षणम् ॥१४॥ दयासत्यक्षमाब्रह्मसंयमादिकसद्गुणाः। रागेणैव पलायन्ते दुर्गुणा यान्ति सत्वरम् ॥१५॥ मोहचूर्णं करे धृत्वा रागो जीवान् प्रमूर्च्छयन्। वेगात् पातयति श्वभ्रेऽनन्तदुःखनिदानके ॥१६॥ जीवः कर्माणि बध्नाति रागद्वेषेण सन्ततम्। रागद्वेषौ प्रकुर्वाते चित्तभ्रान्तिमनात्मके ॥१७॥ यावतोंऽशाश्च रागस्य वर्तन्ते ते हृदि स्फुटम्। तावन्तः कर्मबन्धानां संबन्धास्ते

---

भ्रमण कर रहा है ॥७॥ ये राग-द्वेषरूपी शत्रु तुझे महामोहरूपी अग्निमें डालकर सदा भस्म करते रहते हैं ॥८॥ जहांपर राग होता है, वहांपर द्वेष अपने ही आप हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि धर्मको नाश करनेवाला यह एक राग ही परम शत्रु है ॥९॥ हा हा, हे आत्मन्! तेरी यह अवस्था कैसे हो गई? जिससे कि तू राग-द्वेष उत्पन्नकर अन्य जीवोंकी हिंसा करता है और उसमें मोहित होता है ॥१०॥ इस रागसे ही कर्मोंका बन्ध होता है रागसे ही संसारकी वृद्धि होती है और जन्म, मरण, भय आदि क्लेशोंका मूल कारण यह राग ही है ॥११॥ हा! हा!! रागके ही कारण यह जीव महादुःख देनेवाले नरकमें जाता है और रागके ही कारण जन्म, मरण और भयसे भरे हुए इस संसारमें परिभ्रमण करता रहता है ॥१२॥ रागके ही कारण विह्वल हुआ यह जीव अनेक प्राणियोंका घात करता है, सदा अन्याय करता रहता है और सदा घोर पाप करता रहता है ॥१३॥ यह राग संसारका कारण है और वैराग्य मोक्षका कारण है। रागसे कर्मोंका बंध होता है और वैराग्यसे कर्मोंका नाश होता है ॥१४॥ दया, सत्य, क्षमा, ब्रह्मचर्य और संयम आदि जितने श्रेष्ठ गुण हैं; वे सब रागसे ही भग जाते हैं और इनके विपरीत सब दुर्गुण शीघ्र ही आ जाते हैं ॥१५॥ यह राग मोहरूपी चूर्णको हाथपर रखकर अनेक जीवोंको मूर्च्छित करता हुआ अनन्त दुःख देनेवाले नरकमें बहुत शीघ्र पटक देता है ॥१६॥ यह जीव राग-द्वेपसे ही सदा कर्मोंका बंध करता रहता है । ये राग-द्वेप दोनों ही आत्मासे भिन्न

निरन्तरम् ॥१८॥ रागद्वेषौ च यावत्ते मनाक् चित्ते सुतिष्ठतः। तावदात्मन्न शान्तिं त्वं लभसे गतकल्मषाम् ॥१९॥ क्षीणरागं गतद्वेषमात्मन् स्यात्ते मनो यदि। ततो विलोक्यते शीघ्रं परं ज्योतिर्निजात्मनः ॥२०॥ यत्र रागो न तत्रैव रत्नत्रयमकंटकम्। निर्विकल्पं महाध्यानं स्यादनन्तसुखात्मकम् ॥२१॥ रागादिपंकनिर्लेपं चित्तं स्यात्ते विशुद्धकम्। तदा तेऽभीष्टसम्पत्तिः सुतरां स्यान्न चान्यथा ॥२२॥ आनन्दं परमानन्दं दुःखातीतं च शाश्वतम्। रागहीनेन चित्तेन स्वयं त्वं समवाप्स्यसि ॥२३॥ साम्यं त्वं भज रे आत्मन्! सर्वभूतकदम्बके। आत्मनः सदृशं पश्य जीवमात्रं सुभावतः ॥२४॥ द्वेषं कश्चित्तु मा कुर्याः कश्चिद्रागञ्च मा भज। मा गा द्वेषिपु खेदं त्वं हर्षं मा भज बन्धुषु ॥२५॥ मित्रे शत्रौ सुखे

परपदार्थोंमें अपने हृदयको परिभ्रमण कराते रहते हैं ॥१७॥ हे आत्मन्! तेरे हृदयमें रागके जितने अंश हैं, उतने ही कर्मबन्धका संबन्ध तुझे निरंतर होता रहेगा ॥१८॥ जबतक तेरे हृदयमें थोड़ेसे भी रागद्वेष रहेंगे, तबतक हे आत्मन्! समस्त दोषोंसे रहित शांति तुझे कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥१९॥ हे आत्मन्! यदि तेरा मन सर्वथा राग-द्वेषसे रहित हो जाय तो तुझे अपने आत्माकी उत्कृष्ट ज्योति शीघ्र ही दिखाई देने लगे ॥२०॥ जहांपर रागका अभाव होता है, वहींपर विना किसी विघ्न-बाधाके रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है और वहींपर अनन्त सुखको देनेवाला निर्विकल्पक महाध्यान प्राप्त हो जाता है ॥२१॥ हे आत्मन्! यदि तेरा हृदय राग-द्वेषरूपी कीचड़से रहित होकर अत्यन्त विशुद्ध हो जाय तो तुझे तेरी अनंत चतुष्टयरूपी अभीष्ट संपत्ति अपने ही आप प्राप्त हो जाय। वह अनन्त चतुष्टयरूपी संपत्ति बिना राग-द्वेषके अभावके अन्य उपायोंसे कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥२२॥ हे आत्मन्! यदि तेरा हृदय रागरहित हो जाय तो समस्त दुःखोंसे रहित, सदा रहनेवाले परमानन्दरूप आनंदको तू स्वयं प्राप्त हो जायगा ॥२३॥ हे आत्मन्! तू समस्त जीवोंमें समता भाव धारण कर और अपने निर्मल परिणामोंसे समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान देख ॥२४॥ हे आत्मन्! तू किसीसे भी द्वेष मत कर वा किसीसे भी राग मत कर, तथा द्वेष करनेवालेसे कभी खेद मत कर और राग करनेवाले बंधुओंमें कभी राग मत कर वा प्रसन्न मत हो ॥२५॥ हे आत्मन्! तू शत्रुमें, मित्रमें, सुखमें, दुःखमें, लाभमें, हानिमें, हित तथा अहितमें अर्थात् सबमें समता भाव धारण कर और मोहसे

दुःखे लाभालाभे हिताहिते । साम्यं त्वं भज रे आत्मन् मोहान्मा कुरु विक्रियाम् ॥२६॥ पूजां कुर्वंति भक्तेऽस्मिन् द्वेषं कुर्वत्यरावपि । मुनेः यस्य समं चित्तं लभते स परं पदम् ॥२७॥ रम्यारम्यपदार्थेषु भोग्याभोग्येषु वस्तुषु । समभावो हि येषां ते योगिनो मोक्षगामिनः ॥२८॥ कश्चिद्बन्धुर्न ते आत्मन् शत्रुर्नास्तीह तेऽथवा । रागद्वेषौ परित्यज्य भज साम्यसुधारसम् ॥२९॥ पवनाच्चंचलं चित्तं स्वस्थं याति दिवानिशम् । साम्यश्रृङ्खलया बद्धं तस्मात्साम्यमुपास्यताम् ॥३०॥ मनो विकारतां क्वापि तेषां न याति संततम् । रम्यारम्यपदार्थेषु येषां साम्यं समस्ति वा ॥३१॥ साम्यमेव हि सत्यं स्यादात्मधर्मः सुखावहः । येन क्लेशभयद्वन्द्वादयो नश्यन्ति ते ध्रुवम् ॥३२॥ साम्यपीयूषधाराभिर्बद्धवैराः परस्परम् । शाम्यन्ति पापिनो द्वेषतापाज्जीवाः स्वतः स्वयम् ॥३३॥ द्वेषतापाच्च दग्धं ते क्लेशितं मत्सरेण यत् । व्यथितं हीर्षया चित्तं शाम्यति साम्यधारया ॥३४॥ साम्यसुधारसं चन्द्रं तं लब्ध्वातीवदुर्लभम् । आह्लादयन्ति हर्षन्ति मैत्रीं यान्ति च

---

अपने आत्मामें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न मत कर ॥२६॥ जो मुनि अपनी पूजा करनेवाले भक्त पुरुषमें और अपनेसे द्वेष करनेवाले वा अपना वध करनेवाले शत्रुमें अपने हृदयको समान रखता है, दोनोंको समान समझता है, वह मुनि परम मोक्ष पदको अवश्य प्राप्त होता है ॥२७॥ जिन मुनियोंके परिणाम इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें वा भोग्य और अभोग्य पदार्थोंमें समताको धारण करते हैं, सबको समान समझते हैं; वे मुनि मोक्षको अवश्य प्राप्त करते हैं ॥२८॥ हे आत्मन् ! इस संसारमें न तो कोई तेरा बन्धु है और न कोई तेरा शत्रु है। इसलिये तू राग-द्वेषको छोड़कर समतारूपी अमृतरसका पान कर ॥२९॥ यह मन वायुसे भी अधिक चंचल है, यदि इसको समतारूपी सांकलसे बांध दिया जायगा तो यह रात-दिन एक आत्मामें ही निश्चल हो जायगा; इसलिये हे आत्मन् ! तू समता भावोंकी ही उपासना कर, उन्हींको धारण कर ॥३०॥ जो मुनि समता भाव धारण करते हैं, उनका मन इष्ट वा अनिष्ट पदार्थोंमें कभी भी विकार अवस्थाको नहीं धारण कर सकता ॥३१॥ हे आत्मन् ! यह समता परिणाम ही सुख देनेवाला यथार्थ आत्म धर्म है, इसीसे क्लेश भय आदि समस्त उपद्रव अपने आप नष्ट हो जाते हैं ॥३२॥ जो पापी जीव द्वेषरूपी संतापके कारण परस्पर वैर धारण करते हैं, वे भी समतारूपी अमृतकी धारासे अपने आप शांत हो जाते हैं ॥३३॥ जो तेरा यह हृदय द्वेष और संतापसे दग्ध हो रहा है, मत्सरतासे दुःखी हो रहा है और ईर्षासे व्यथित हो रहा है; वह तेरा हृदय समतारूपी अमृतकी धारासे ही

जन्तवः ॥३५॥ साम्येनैकेन ते सर्वे प्रेमकोपादयोऽखिलाः । पलायन्तेऽतिवेगेन दोषा दुष्टा हि योगिनाम् ॥३६॥ तावदेव हि वैरं ते चित्ते क्रीडति लीलया । यावन्न साम्यभूपोऽसौ चित्ते तेऽत्र विराजते ॥३७॥ तावद्विकल्पसंकल्पश्चित्ते ते जाग्रति स्वयम् । यावत्साम्यमहानादः कर्मभेत्ता न गर्जति ॥३८॥ तावदेव भयं चित्तेऽनिष्टवस्तुसमागमात् । यावद् द्वेषहरः साम्यः सुखदाता न राजते ॥३९॥ तावदेव प्रियं वस्तु चित्ते चेष्टसमागमात् । यावद्रागहरः साम्यो मोहहन्ता न राजते ॥४०॥ तावच्च कर्मसंबंधो भवबंधनकारकः । बोधासिना द्विधा भावं साम्यधाता करोति न ॥४१॥ दुष्टकर्मास्रवस्तावत्ते नित्यं दुःखदोऽथवा । यावद्धि समता चित्ते न जागर्ति सुखप्रदा ॥४२॥ समताधिष्ठितं चित्तं शौचं धत्तेऽतिपावनम् । पापपंकं हि धौतं स्यात्स्वयमेव सुखी ततः ॥४३॥ मोहपंकं नितांतं ते ग्लपयति शिवाध्वनि । सद्यः प्रक्षालयात्मन् त्वं

---

शांत होगा ॥३४॥ यह समतारूपी अमृतका चन्द्रमा अत्यन्त दुर्लभ है, इसको पाकर ये प्राणी प्रसन्न होते हैं, हर्ष मनाते हैं और परस्पर मित्रता धारण करते हैं ॥३५॥ इस एक समता रससे ही योगियोंके प्रेम और क्रोधादिक समस्त दुष्ट दोष बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥३६॥ जबतक तेरे हृदयमें यह समतारूप राजा विराजमान नहीं होता, तभी तक यह वैर तेरे हृदयमें लीलापूर्वक क्रीड़ा कर रहा है ॥३७॥ ये संकल्प विकल्प तेरे हृदयमें तभी तक जाग रहे हैं, जबतक कि कर्मोंका नाश करनेवाला समतारूप महानाद गर्जना नहीं करता ॥३८॥ अनिष्ट वस्तुओंसे प्राप्त हुआ भय तेरे हृदयमें तभीतक रह सकता है, जबतक कि द्वेषको दूर करनेवाली और सुखको देनेवाली यह समता तेरे हृदयमें नहीं आती ॥३९॥ इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ प्रेम तेरे हृदयमें तभीतक रह सकता है, जबतक कि रागको हरण करनेवाली और मोहको नाश करनेवाली समता तेरे हृदयमें शोभायमान नहीं होती ॥४०॥ संसारमें बंधन करनेवाला कर्मोंका सम्बन्ध तभीतक रहता है, जबतक कि समतारूपी विधाता अपने सम्यग्ज्ञानरूपी तलवारसे उसको टुकड़े टुकड़े नहीं कर डालता ॥४१॥ दुःख देनेवाला अनिष्ट कर्मोंका आस्रव तभी तक रहता है जब तक कि तेरे हृदयमें सुख देनेवाली समता फुरायमान नहीं होती ॥४२॥ समतासे भरा हुआ हृदय अत्यन्त पवित्र शौच धर्मको धारण करता है और उसका पापरूपी कीचड़ सब धुल जाता है तथा वह सदाके लिये सुखी हो जाता है ॥४३॥ यह मोहरूपी कीचड़ इस मोक्षमार्गमें तुझे अत्यन्त दुःख दे रही है। इसलिये हे आत्मन्! समतारूपी मेघधारासे तू इस कीचड़को शीघ्र

तत्साम्याम्बुदधारया ॥४४॥ साम्यामृतं पिबन् ज्ञानी भवरोगान्निवर्तते । सदामरपदं लब्ध्वा शिवो भवति चेतनः ॥४५॥ संसारदुःखतो मोक्तुमात्मानं त्वं यदीच्छसि । साम्यबोधं गृहाण त्वं स्वात्मनि शुद्धभावतः ॥४६॥ विरज्यात्मन् विरज्य त्वं हृषीकविषयादिषु । मुञ्च मुञ्च स्पृहां देहे भज साम्यामृतं सुधीः ॥४७॥ उन्मत्तमिव वा भाति चराचरमिदं जगत् । योगिनः पिबतः साम्यं सर्वाह्लादकरं परम् ॥४८॥ स मे प्रियः स मे वैरी तावदेवेति कल्पना । यावन्न साम्यराजासौ निर्विकल्पो विराजते ॥४९॥ असिप्रहारतो द्वेषाद्धर्षाद्वा पूजया मुनेः । यस्य विक्रियते नैव चित्तं साम्यं तदुच्यते ॥५०॥ साम्यतीर्थं समाराध्य योगी शीघ्रं भवाब्धितः । सहसा तीर्यते स्वस्थचित्तेन भयवर्जितः ॥५१॥ साम्यं देवोऽस्ति साम्यं हि तीर्थं परमपावनम् । साम्यमेव परो धर्मः संसाराब्धौ सुतारकः ॥५२॥ ध्यानं तत्किं जपः कोऽसौ योगः कोऽस्ति तपोऽत्र किम् ।

---

ही धो डाल ॥४४॥ यह सम्यग्ज्ञानी आत्मा समतारूपी अमृतको पीकर संसाररूपी रोगसे निवृत्त हो जाता है और स्वर्गके सुखको भोगकर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥४५॥ हे आत्मन् ! यदि तू अपने आत्माको संसारके दुःखोंसे छुड़ाना चाहता है तो अपने ही आत्मामें शुद्ध परिणामोंसे समतारूपी ज्ञानको धारण कर ॥४६॥ हे आत्मन् ! तू इन इंद्रियोंके विषयोंका त्याग कर त्याग कर। हे बुद्धिमन् ! तू शरीरसे भी स्पृहाका त्याग कर त्याग कर और समतारूपी अमृतको पी ॥४७॥ परम आनन्दको प्रगट करनेवाले इस उत्कृष्ट समतारूपी रसको पीनेवाले योगियोंको चर अचर यह समस्त संसार उन्मत्तके समान दिखाई पड़ता है ॥४८॥ वह मेरा प्रिय है और वह मेरा शत्रु है, यह कल्पना तभीतक रहती है जबतक कि निर्विकल्प-रूप समतारूपी राजा हृदयमें विराजमान नहीं होता ॥४९॥ द्वेषके कारण तलवारका घात करनेपर तथा हर्षसे पूजा करनेपर जिन मुनिके हृदयमें कभी विकार उत्पन्न नहीं होता, उसीको समता कहते हैं ॥५०॥ भयरहित जो योगी स्वस्थ चित्त होकर इस समतारूपी तीर्थकी आराधना करता है, वह शीघ्र ही इस संसाररूपी समुद्रसे तर जाता है ॥५१॥ यह समता ही परम देव है, समता ही परम पवित्र तीर्थ है, समता ही परम धर्म है और समता ही संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाली है ॥५२॥ वह ध्यान ही क्या है ? वह जप ही क्या है? वह योग ही क्या है? और वह तप ही क्या है ? कि जिससे मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको

येन शान्तिकरं साम्यं न लब्धं हि मुमुक्षुणा ॥५३॥ गृहं त्यक्त्वा व्रतं धृत्वा लात्वा दीक्षां जिनेशिनाम्। यदि साम्यं न लब्धं चेत्सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥५४॥ पूजया निन्दया वापि यस्यास्ति समता हृदि। स योगी सोऽस्ति सद्ध्यानी ज्ञाता तत्त्वस्य सोऽत्र वा ॥५५॥ साम्यसोपानपंक्तिं तामारुह्य शुद्धभावतः। पुरा मोक्षगृहं प्राप्तास्तीर्थपाः विश्वभूतिदाः ॥५६॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थिरचित्तेन चात्मनि। साम्यामृतं परानन्दं गृहाण तोषकं शुभम् ॥५७॥ साम्यामृतसुपानेन आनन्दो जायते महान्। भवक्लेशगतस्तापो नश्यते प्राप्यते शिवः ॥५८॥ विषयजनितरागद्वेषभावं विमुच्य परमसुखनिधानं साम्यपीयूषपानम्। कुरु कुरु अतिशीघ्रं दुर्लभं शुद्धभावात् भवति सहजसिद्धानन्दकन्दः सुधर्मः ॥ ५९ ॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे साम्यप्ररूपणो नाम त्रयोदशोऽधिकारः ॥

——:※:——

शांति उत्पन्न करनेवाली समता प्राप्त न हो ॥५३॥ जिसने घरका त्यागकर, व्रतोंको धारणकर और जैनेश्वरी दीक्षा धारणकर यदि समता प्राप्त नहीं की तो फिर समझना चाहिये कि उसके त्याग, व्रत और दीक्षा सब व्यर्थ हैं ॥५४॥ जिस मुनिके हृदयमें पूजा वा निंदा—दोनोंसे समता बनी रहे, जो दोनोंमें समान परिणाम रक्खे; उसीको योगी, श्रेष्ठ ध्यानी और तत्त्वोंको जाननेवाला समझना चाहिये ॥५५॥ पहले समयमें समस्त विभूतियोंको देनेवाले तीर्थंकर लोग जो मोक्षमहलमें जाकर विराजमान हुए हैं, वे अपने शुद्ध परिणामोंसे समतारूपी सीढ़ियोंकी पंक्तिपर चढ़कर ही प्राप्त हुए हैं ॥५६॥ इसलिये अपने चित्तको स्थिर करके सब तरहके प्रयत्नकर परम आनन्दमय शुभ और परम तृप्ति करनेवाले समतारूपी अमृतको ग्रहण कर ॥५७॥ इस समतारूपी अमृतके पीनेसे महान् आनन्द उत्पन्न होता है, तथा संसारके क्लेशोंसे उत्पन्न हुआ संताप शीघ्र नष्ट हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥५८॥ हे आत्मन्! तू विषयोंसे उत्पन्न हुए राग-द्वेषको छोड़कर शुद्ध परिणामोंसे अत्यन्त दुर्लभ और परम सुखका निधान, ऐसे समतारूपी अमृतके पानको अत्यन्त शीघ्र कर। इसी समताके पानसे स्वाभाविक सिद्धस्वरूप आनन्दको देनेवाला श्रेष्ठ धर्म तुझे प्राप्त होगा ॥५९॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें समताको वर्णन करनेवाला यह तेरहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# चतुर्दशोऽधिकारः ।



ध्यानेन दुर्द्धरं कर्म हत्वाऽऽप्तं येन केवलम् । विमलं तमहमीशानं नमामि भावभक्तितः ॥१॥ तत्प्रशस्ताप्रशस्तन्तु ध्यानं हि द्विविधं मतम् । धर्मशुक्ले प्रशस्ते द्वे आर्तरौद्रेऽप्रशस्तके ॥२॥ धर्मशुक्ले हि मोक्षाय आर्तरौद्रे भवाय च । आर्तरौद्रं महानिंद्यमतिसन्तापदायकम् ॥३॥ विश्वक्लेशकरं नित्यं भयदं दुर्गतिप्रदम् । विश्वसौख्यकरं शान्तं निर्भयं शर्मकारकम् ॥४॥ संसारतारकं श्रेष्ठं धर्मं शुक्लं च ध्यायताम् । आर्तरौद्रं परित्यक्त्वा धर्मं शुक्लं च चिन्तय ॥५॥ तत्रार्तध्यानमाख्यातं चित्तव्याकुलकारकम् । नानोद्रेककरं नित्यं चाक्षविषयवर्द्धकम् ॥६॥ इष्टानिष्टपदार्थानां संयोगज-

---

जिन्होंने अपने दुर्धर कर्मोंको नाशकर केवल ज्ञान प्राप्त किया है और सबके स्वामी हैं; ऐसे भगवान् विमलनाथको मैं भावभक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ॥१॥ वह ध्यान दो प्रकार है—एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त । उनमें भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त ध्यानके भेद हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो अप्रशस्त ध्यानके भेद हैं ॥२॥ धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं । आर्तध्यान और रौद्रध्यान अत्यन्त निंद्य हैं, अत्यन्त संताप उत्पन्न करनेवाले हैं, संसारभरको क्लेश उत्पन्न करनेवाले हैं, सदा भय उत्पन्न करनेवाले हैं और दुर्गतियोंको देनेवाले हैं । इसीप्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान संसारभरको सुख देनेवाले हैं, शांत हैं, भयरहित हैं, कल्याण करनेवाले हैं, संसारसे पार कर देनेवाले हैं और सर्व श्रेष्ठ हैं । इसलिये आर्तध्यान और रौद्रध्यानका त्यागकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिंतवन करना चाहिये ॥३—५॥ उनमें भी आर्तध्यान चित्तको व्याकुल करनेवाला, अनेक प्रकारके उपद्रवोंको उत्पन्न करनेवाला है और इन्द्रियोंके विषयोंको बढ़ानेवाला है ॥६॥ यह आर्तध्यान चार

वियोगजम् । दुःखोद्भवं निदानं च वार्तध्यानं चतुर्विधम् ॥७॥ रत्यरतिकुभावेन मायाचारेण दुःखतः । मनोऽक्षविषयार्थं हि प्राणिनां क्रियते मुदा ॥८॥ विषयाऽऽभोगकांक्षाभिः परवस्तु च चिन्त्यते । आर्तध्यानं भवेदत्र संसारचक्रवर्द्धनम् ॥९॥ पुत्रमित्रकलत्रादिधनधान्येष्टसम्पदाम् । रम्याणां परवस्तूनां मनोक्षसुखदायिनाम् ॥१०॥ वियोगे हि कथं तेषां शीघ्रं स्याच्च समागमः । इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रेन च चिन्तनम् ॥११॥ इष्टवियोगजं चार्तध्यानं दुःखकरं मतम् । तस्मादार्तं परित्याज्यं मुक्तीच्छेन हितैषिणा ॥१२॥ सर्पशत्रुविपादीनां दुःखपीडाकरात्मनाम् । अवृष्टिराजचौराणां दारिद्रभूतशाकिनाम् ॥१३॥ संयोगे खलु मे तेषां कथं स्याच्च निवर्तनम् । इति चिन्तापरत्वेन अनिष्टयोगहानये ॥१४॥ तच्चिन्तनं हि चैकाग्रमनसा हि पुनः पुनः । अनिष्टयोगजं चार्तं दुर्गतेर्दायकं परम् ॥१५॥ रोगाच्छोकाद्भयात्क्लेशाद्धननाशाच्च

---

प्रकारका है—इष्ट पदार्थोंके वियोगसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान, अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान, दुःखोंसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान और निदानसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान ॥७॥ यह आर्तध्यान रति और अरतिरूप अशुभ परिणामोंसे तथा मायाचारसे मन और इन्द्रियोंके विषयोंकी सिद्धिके लिये दुःखपूर्वक प्राणियोंके द्वारा किया जाता है ॥८॥ इस आर्तध्यानमें विषय और भोगोंकी इच्छासे पर वस्तुका चिंतवन किया जाता है, इसे ही संसाररूपी चक्रको बढ़ानेवाला आर्तध्यान कहते हैं ॥९॥ पुत्र, मित्र, स्त्री और धन-धान्य आदि जो जो इष्ट संपदाएं हैं, जो जो मन और इंद्रियोंको सुख देनेवाली मनोहर वस्तु हैं; उनका वियोग होनेपर शीघ्र ही उनका समागम कैसे हो ? इस प्रकारकी चिन्तासे जो एकाग्रचित्त होकर चिंतवन करना है, उसको इष्ट-वियोगज आर्तध्यान कहते हैं, यह आर्तध्यान महादुःख देनेवाला है । इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले और आत्माका हित चाहनेवाले भव्य जीवोंको इस आर्तध्यानका अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥१०—१२॥ दुःख और पीड़ा उत्पन्न करने वाले सर्प, शत्रु, विष, अनावृष्टि, राजा, चोर, दरिद्रता, भूत, पिशाच और शाकिनी आदि अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर उनका नाश कब होगा ? इस प्रकारकी चिन्तामें तत्पर होकर उस अनिष्टको दूर करनेके लिये एकाग्र मनसे बार बार चिंतवन करना अनिष्टसंयोगज नामका दूसरा आर्तध्यान कहलाता है; यह आर्तध्यान भी महाअनिष्ट दुर्गतियोंको देनेवाला है ॥१३—१५॥ किसी रोगसे, शोकसे, भयसे, क्लेशसे, धनके नाशसे, शत्रुसे, राज्यसे, भाई वा स्त्रीसे, अग्निमें पड़नेसे अथवा और किसी तरहसे अनेक

शत्रुतः । राज्याद्भ्रातृकलत्रादेः वह्नेः पातात्तथान्यथा ॥१६॥ जायते च महापीडा नानादुःखप्रदात्र सा । निरासार्थं हि तत्पीडां चैकाग्रेन च चिन्तनम् ॥१७॥ तत्पीडाजनकं ध्यानमार्तं दुःखकरं मतम् । तस्मादार्तं सदा त्याज्यं मुक्तीच्छेन हितैषिणा ॥१८॥ देवदेवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रचक्रवर्तिनाम् । गेहिकं ह्यक्षजं सौख्यं पदं वा लोकपूजितम् ॥१६॥ लोकेऽत्र परलोके वा सुन्दरस्याभिकांक्षणम् । तपःफलेन वृत्तस्य फलेन स्याच्च मे यदि ॥२०॥ तदा मेऽभिमतं सिद्धमित्यादि चाभिकांक्षणम् । तदैकाग्रेण योगेन चिन्तनं सुखलिप्सया ॥२१॥ ध्यानं तच्च निदानाख्यमार्तं स्याज्जिनभाषितम् । अतिदुःखकरं निंद्यमार्त्तध्यानं जिनैर्मतम् ॥२२॥ एवं चतुर्विधं चार्तं दुर्ध्यानं बंधकारकम् । जन्ममृत्युजराकीर्णसंसारस्य च कारणम् ॥२३॥ आर्तध्यानेन जीवोऽयं संसाराब्धौ प्रमज्जति । करोति चास्रवं तीव्रं भवबन्धनकारकम् ॥२४॥ अनादिकालतो जीव आर्तध्यानं तनोति सः । भवो न मुच्यते तेन कर्मबन्धो न हीयते ॥२५॥ संक्लेशेन च चित्तेन महामोहोदयेन

---

प्रकारके दुःख देनेवाली महापीडा उत्पन्न हो, उस पीडाको दूर करनेके लिये एकाग्र मनसे बार बार चिंतवन करना पीडाजनक नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है, यह आर्तध्यान भी महादुःख देनेवाला है, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले आत्महितैषी पुरुषोंको इस आर्तध्यानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१६—१८॥ इस तपश्चरणके फलसे अथवा चारित्र धारण करनेके फलसे मुझे देव, इंद्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और चक्रवर्तीकेपद प्राप्त हों; इस लोकसंबंधी इंद्रियोंके सुख प्राप्त हों अथवा लोकपूजित पद प्राप्त हों; तभी मेरी इच्छा पूरी हो सकती है। अथवा संसारमें जो जो सुंदर पदार्थ हैं, उन सबकी मुझे प्राप्ति हो; इस प्रकारकी इच्छा करना और सुखकी इच्छासे एकाग्र चित्तसे बार बार चिंतवन करना निदान नामका चौथा आर्तध्यान कहलाता है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देवने कहा है। यह आर्तध्यान अत्यन्त दुःख देनेवाला है और निंद्य है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देवने बतलाया है ॥१९–२२॥ इस प्रकार चारों प्रकारका आर्तध्यान अशुभ ध्यान है, कर्मबंधको करनेवाला है और जन्म, मरण तथा बुढ़ापा आदिसे भरे हुए इस संसारका कारण है ॥२३॥ इस आर्तध्यानके कारण यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें डूब जाता है और संसारका बंधन करनेवाले तीव्र आस्रवको करता रहता है ॥२४॥ यह जीव अनादि कालसे आर्तध्यान करता आया है और इसीलिये इसका संसार नहीं छूटता तथा कर्मबंध कम नहीं होता ॥२५॥ संक्लेश परिणामोंसे अथवा तीव्र मोहकर्मके उदयसे इस संसारमें आर्तध्यान उत्पन्न

वा । आर्तध्यानं भवेदत्र तिर्यक् कुगतिकारणम् ॥२६॥ आर्तध्यानेन जीवस्य जायते दुर्गतिः परम् । श्वगर्दभादिपर्यायस्तेनैव जायते ननु ॥२७॥ आर्तध्यानेन संतप्तश्चिन्ताकुलितमानसः । जीवो हि क्रियते तेन सहमानोपि वेदनाम् ॥२८॥ आधिव्याधिसहस्राणामार्तध्यानं हि कारणम् । चित्तक्लेशकरं विद्धि तद्धि परमदुःखदम् ॥२९॥

नकुलसर्पमेषादीनां परस्परयोधनम् । कलहो भ्रातृबन्धूनां ताडनं मारणं तथा ॥३०॥ यज्ञे हि हिंसनं जीवानां वा हिंसादिकर्मणि । एवं हिंसाप्रयोगेषु ह्यानन्दो यस्य जायते ॥३१॥ रौद्रध्यानं भवेत्तस्य रौद्रभावेन कर्मणा । हिंसादिक्रूरकर्माश्रितं ध्यानं च भवेदिदम् ॥३२॥ जीवहिंसा हि लोकेस्मिन् निंद्या गर्ह्या च पापदा । क्रूरभावकरा सात्र ह्यानन्दाय च किं भवेत् ॥३३॥ धर्महेतुकृता हिंसा वानन्दाय कथं भवेत् । रौद्रध्यानी तथाप्यत्र हिंसायां सुखमश्नुते ॥३४॥ हिंसायास्तदुपायस्य कारणस्य च चिन्तनम् । एकाग्रमनसा तद्धि रौद्रध्यानं भवेदिह ॥३५॥

---

होता है । यह आर्तध्यान तिर्यञ्च् नामकी कुगतिका कारण है ॥२६॥ इस आर्तध्यानसे जीवकी दुर्गति होती है; और कुत्ता, गधा आदि नीच पशुओंकी पर्यायें इसी आर्तध्यान से मिलती हैं ॥२७॥ इस आर्तध्यानसे संतप्त होकर जिसका मन चिंतासे व्याकुल हो रहा है, ऐसा जीव तीव्र वेदनाको सहता हुआ महादुःखी होता है ॥२८॥ यह आर्तध्यान हजारों आधि-व्याधियोंका कारण है, चित्तको क्लेश उत्पन्न करनेवाला है और महादुःख उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा तू समझ ॥२९॥

न्योला-सर्पका वा मेंढ़ोंका परस्पर युद्ध देखना, भाई भाइयोंका युद्ध कराना वा ताडन-मारण करना हिंसादिक कार्योंमें वा यज्ञ आदिमें होनेवाली हिंसामें आनन्द मानना वा और भी हिंसाके प्रयोगोंमें आनंद मानना रौद्रध्यान कहलाता है, यह रौद्रध्यान रौद्रभावोंसे वा रौद्रकर्मोंसे होता है । तथा यह ध्यान हिंसादिक क्रूर कर्मोंके आश्रयसे ही होता है ॥३०–३२॥ इस संसारमें यह जीवोंकी हिंसा निन्द्य है, गर्ह्य है, पाप उत्पन्न करनेवाली है और क्रूर भावोंको उत्पन्न करनेवाली है । ऐसी हिंसासे भला आनन्द कैसे हो सकता है ? ॥३३॥ फिर भला जो हिंसा धर्मके लिये की गई है, उसमें आनन्द कैसे हो सकता है ? तथापि रौद्रध्यान करनेवाला हिंसामें ही सुख मानता है ॥३४॥ एकाग्रमनसे हिंसा वा हिंसाके उपायोंके कारणोंका चिन्तवन करना इस संसारमें रौद्रध्यान कहलाता है ॥३५॥

असत्यं दुःखदं साक्षाद्वाऽविश्वासविधायकम् । परत्र दुःखदं चास्ति प्राणी तदपि मोहतः ॥३६॥ असत्ये मनुते हर्षमात्मसन्तोषकारकम् । इति मत्वाप्यसत्यस्य चिन्तनं कुरुते पुनः ॥३७॥ रौद्रध्यानं भवेत्तद्धि चित्तव्याकुलताकरम् । असत्यकारणानां वाऽसत्यस्यात्र विचिंतनम् ॥३८॥ रौद्रं तदपि वा ध्यानं दुर्गतेर्दायकं मतम् । तस्माद्रौद्रं सदा त्याज्यं हितेच्छुकमुमुक्षुणा ॥३९॥

स्तेयकर्म हि लोकेऽस्मिन् प्रत्यक्षं दुःखदं मतम् । परलोके हि दुर्गत्यां दुःखं भवति दारुणम् ॥४०॥ स्तेयकृत्येन चानन्दः कथं खलु भवेदिह । तथापि तत्र चानन्दं मन्यते पापधीः कुधीः ॥४१॥ इति संधार्य चित्तेऽस्मिन् स्तेयकर्मविचिन्तनम् । करोति रुद्रभावेन चैकाग्रमनसा पुनः ॥४२॥ रौद्रध्यानं भवेत्तद्धि चातिसंतापदायकम् । तस्माद्रौद्रं सदा त्याज्यं भव्यजीवेन सर्वथा ॥४३॥

अत्यन्तमूर्च्छया दुष्टचेष्टया हीनकर्मणा । दासीदासादिभृत्यानां मोहतः खलु संग्रहः ॥४४॥ गृहादिपरवस्तूनां कांक्षणं

---

असत्य वचन भी प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं, अविश्वासके कारण हैं और परलोकमें भी दुःख देनेवाले हैं, तथापि ये प्राणी मोहके कारण असत्यमें आनन्द मानते हैं और असत्यसे बहुत संतुष्ट होते हैं, इस प्रकारके असत्यके आनंद और संतोषको बार बार चिन्तवन करना दूसरा रौद्रध्यान कहलाता है । यह रौद्रध्यान भी चित्तको व्याकुल करनेवाला है । इसीप्रकार असत्यके कारणोंका वा असत्यका बार बार चिन्तवन करना भी दुर्गति देनेवाला रौद्रध्यान कहलाता है । इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले आत्महितैषी पुरुषोंको इस रौद्रध्यानका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥३६–३९॥

चोरी करना भी इस संसारमें प्रत्यक्ष दुःख देनेवाला है और परलोकमें भी इससे दुर्गतियोंमें दारुण दुःख प्राप्त होता है । ऐसी चोरी करना भला आनन्द कैसे उत्पन्न कर सकता है ? तथापि पापरूप दुष्ट बुद्धिको धारण करनेवाला उस चोरीमें भी आनंद मानता है । इसप्रकार आनंदपूर्वक एकाग्र मनसे और रौद्र परिणामोंसे जो इस चोरीका बार बार चिंतवन करना है, उसको रौद्रध्यान कहते हैं । यह तीसरा रौद्रध्यान भी अत्यन्त संताप उत्पन्न करनेवाला है । इसलिये भव्य जीवोंको इस रौद्रध्यानका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥४०–४३॥

अत्यन्त मूर्छासे वा दुष्ट चेष्टासे अथवा अशुभ कर्मके उदयसे और मोहसे दास दासी आदि सेवकोंका संग्रह करना अथवा रागभावसे घर आदि परवस्तुओंकी इच्छा करना, अथवा रागभावसे पुत्र, मित्र, स्त्री आदि

रागभावतः। पुत्रमित्रकलत्राणां रागभावेन रक्षणम् ॥४५॥ कामादिसेवनं गृद्ध्या प्रीत्यान्यस्त्रीनिगूहनम्। इत्यादिरागचेष्टानि जायन्ते क्रूरकर्मणा ॥४६॥ परवस्तु निजं मत्त्वा मोहव्याकुलचेतसा। चिन्तनं हि तदर्थं तद्रौद्रध्यानं भवेदिह ॥४७॥ पंचाक्षविषयाणां हि सेवनं रौद्रकर्मणा। चिन्तनं च तदर्थं हि पापं भीमं कुकर्म वा ॥४८॥ विषयानन्दनामेदं रौद्रध्यानं भवेदिह। एवं रौद्रं चतुर्भेदं पंचमान्तं हि तद्भवेत् ॥४९॥ रौद्रध्यानेन जीवोयं नरकादिकदुर्गतौ। चिरं च सहते दुःखं ताडनादिवधादिकम् ॥५०॥ रौद्रध्यानं सदा त्याज्यं भव्येन सुखलिप्सया। रौद्रं निंद्यं त्रिलोकेषु दुर्गतेर्दायकं परम् ॥५१॥ त्यजतु अपि सुधीमन्नार्तरौद्रं च निंद्यं नरकसदनमार्गं दुःखदं क्रूरकर्म। परमसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं धरतु इह सुधर्मध्यानमानन्दकन्दम् ॥५२॥ [ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे आर्तरौद्रध्यानप्ररूपणो नाम चतुर्दशोधिकारः।

---

की रक्षा करना, गृद्धतापूर्वक कामसेवन करना, रागपूर्वक अन्य स्त्रियोंकी लालसा करना, इसप्रकार रागभावके उदयसे रागकी चेष्टाएं करना वा क्रूर कर्मोंके द्वारा रागरूप चेष्टाएं करना, अथवा मोहसे व्याकुल चित्त होकर परवस्तुओंको अपनी मानना और बार बार उनका चिंतवन करना विषयसंरक्षणानंद नामका चौथा रौद्रध्यान कहलाता है। रौद्र कर्मोंका तथा पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करना, तथा उसके लिये भयानक पापों वा कुकर्मोंका चिंतवन करना विषयानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान कहलाता है। इसप्रकार रौद्रध्यानके चार भेद हैं और यह रौद्रध्यान पांचवे गुणस्थान तक होता है ॥४४-४९॥ रौद्रध्यानके कारण यह जीव नरकादिक दुर्गतिमें जाता है और वहांपर ताडन वध आदि अनेक दुःख चिरकालतक सहन करता रहता है ॥५०॥ इसलिये भव्य जीवोंको सुख चाहनेकी इच्छासे इस रौद्रध्यानका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह रौद्रध्यान तीनों लोकोंमें निंद्य है और बुरीसे बुरी दुर्गतियोंको देनेवाला है ॥५१॥ हे बुद्धिमन् भव्य जीवो! यह रौद्रध्यान अत्यन्त निंद्य है, नरकरूपी घरका मार्ग है, दुःख देनेवाला है और क्रूर कर्म है; इसलिये इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और परम सुखका निधान, समस्त काल्याणोंका कारण और आनन्दस्वरूप-ऐसे सुधर्मध्यानको सदा धारण करना चाहिये ॥५२॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको वर्णन करनेवाला यह चौदहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# पञ्चदशोऽधिकारः ।



ध्यानेन कर्मपंकं हि हत्वा यः प्राप केवलम् । सम्यक्क्रियोपदेष्टारं वन्देऽनन्तजिनेश्वरम् ॥१॥ क्रियया जायते सम्यग्ध्यानसिद्धिः सुखावहा । अनायासेन जीवानां ततः ध्यानक्रियोच्यते ॥२॥ आदौ स्थानं विधिः पश्चाल्लक्षणं तदनंतरम् । एवंक्रमविधानेन धर्मध्यानं तनोम्यहम् ॥३॥ शुद्धभूमौ शिलापट्टे दारुपट्टे च वाद्रिके । फलके वा तृणादौ च ह्यासनानि प्रकल्पयेत् ॥४॥ निःशंकिते वसत्यादौ निर्बाधे च निराकुले । सुरक्षिते मनोरम्ये निर्भये सुखशान्तिदे ॥५॥ ग्रामेऽरण्ये च चैत्यादौ विजने जन्तुवर्जिते । स्त्रीषंडपशुपाखण्डिचौरादिरहिते शुभे ॥६॥ द्वंद्ववादित्रसंगीतकोलाहल-

---

जिन्होंने अपने ध्यानके द्वारा कर्मरूपी कीचड़को नाशकर केवल ज्ञान प्राप्त किया है और जो श्रेष्ठ क्रियाओंके उपदेशको देनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अनन्तनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जीवोंको इस ध्यानकी क्रियासे ही सुख देनेवाली ध्यानकी सिद्धि बिना किसी विशेप परिश्रमके अच्छी तरह हो जाती है, इसीलिये मैं ध्यानकी क्रियाका वर्णन करता हूँ ॥२॥ पहले ध्यानका स्थान, फिर उसकी विधि और तदनंतर ध्यानका लक्षण—इस प्रकारके अनुक्रमसे मैं धर्मध्यानका स्वरूप कहूँगा ॥३॥ किसी शुद्ध भूमिमें, शिलापट्टपर, लकड़ीके टुकड़ेपर वा पर्वतपर, तख़तेपर, वा तृणोंपर बैठकर वा खड़े होकर ध्यान करनेवालेको अपने आसनकी कल्पना करनी चाहिये ॥४॥ जो वसतिका आदि स्थान शंकारहित है, बाधारहित है, आकुलतारहित है, सुरक्षित है, मनोहर है, निर्भय है, सुख और शांतिको देनेवाला है, मनुष्योंके उपद्रवोंसे रहित है, जंतुओंके उपद्रवोंसे रहित है; स्त्री, नपुंसक, पशु, पाखण्डी और चोरोंके उपद्रवोंसे रहित है, शुभ है और उपद्रव बाजे संगीत, आदिके कोलाहलोंसे रहित है; ऐसे किसी गांवमें, वनमें, घरमें वा चैत्यालय आदिमें चतुर पुरुषोंको ध्यान

विवर्जिते । इत्थंभूते गृहादौ वा ध्यानं कुर्याद्विचक्षणः ॥७॥ म्लेच्छाधमनरैर्जुष्टं दुष्टभूपालसेवितम् । महामिथ्यात्वसंयुक्तैर्जनैः संसेवितं तथा ॥८॥ बहूपद्रवसंव्याप्तैः क्रूरैः शौंडैश्च सेवितम् । भूतप्रेतपिशाचादिस्थानं बाधाकरं परम् ॥९॥ दुर्गादिदेवतास्थानं युद्धस्थानं भयानकम् । मलमूत्रादिसंव्याप्तं दुर्गंधं मलिनं तथा ॥१०॥ मनःक्षोभकरं स्थानं चाक्षव्यामोहकारकम् । आधिव्याधिकरं तीव्रं दुष्टवायुप्रसारितम् ॥११॥ दुर्भिक्षेण महारूक्षं हिंसास्थानं विनिंदितम् । एवं हि कुत्सितस्थानं ध्यानकाले त्यजेत्सुधीः ॥१२॥ दुःस्थानं वात्र मोक्तव्यं साधुना ध्यानमिच्छुना । यतो हि कुत्सितस्थाने ध्यानं न स्यात्कदापि वा ॥१३॥

निकृष्टे पंचमे काले भरतेऽप्यार्यदेशके । जातिवंशविशुद्धेऽपि नाद्यसंहननं भवेत् ॥१४॥ आद्यसंहननाभावे शुक्लध्यानमपीह न । परीषहोपसर्गादिजयोऽपि न भवेत्कदा ॥१५॥ तीव्रं तपोऽपि नैवात्र मनःशुद्धिर्न

---

करना चाहिये ॥५-७॥ जो स्थान म्लेच्छ और अधर्मी पुरुषोंसे भरा हुआ है, दुष्ट राजा जिसपर राज्य कर रहा है, तीव्र मिथ्यात्वसे भरे हुए लोग जहां निवास कर रहे हैं, जो स्थान अनेक उपद्रवोंसे भरा हुआ है, जहांपर क्रूर और मदोन्मत्त लोग निवास करते हैं, जो स्थान भूत प्रेत वा पिशाचोंका स्थान है, जो अनेक बाधाओंको उत्पन्न करनेवाला है, जो दुर्गा आदि देवियोंका स्थान है, जो युद्धका भयानक स्थान है, जो स्थान मलमूत्रसे भरा हुआ है, दुर्गंधसहित और मलिन है, जो स्थान मनको क्षोभित करनेवाला है, इन्द्रियोंको मोहित करनेवाला है, अनेक मानसिक वा शारीरिक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, जहां की वायु दुष्ट है, जो स्थान तीव्र है, जो दुर्भिक्षिताके कारण महारूखा है, जो हिंसाका स्थान है, वा जो निंदनीय स्थान है; ऐसे ऐसे जितने कुत्सित स्थान हैं, वे सब ध्यानके समय बुद्धिमानोंको छोड़ देने चाहिये ॥८–१२॥ अथवा ध्यानकी इच्छा करनेवाले साधुओंको नीच आर अशुभ स्थानोंका अवश्य त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि कुत्सित वा निंद्यनीय स्थानमें कभी ध्यान नहीं हो सकता ॥१३॥

इस निकृष्ट पञ्चम कालमें तथा भारतक्षेत्रके आर्य देशमें जाति और कुलसे विशुद्ध मनुष्योंके भी पहलेके उत्तम संहनन नहीं होते । तथा पहलेके उत्तम संहननोंके न होनेसे शुक्लध्यान भी नहीं होता तथा परिषहोंका जीतना और उपसर्गोंका जीतना भी कभी नहीं होता ॥१४–१५॥ हीन संहननोंके कारण तीव्र तपश्चरण भी नहीं होता और मनकी शुद्धि भी अच्छीतरह नहीं होती, तथा हीन संहनन धारण करनेवालोंका मन भी

सुन्दरम्। हीनसंहननादत्र मनः स्खलति संततम् ॥१६॥ तच्चित्तं न समायाति स्थैर्यरूपं हि कष्टतः । हीनसंहननाद्धर्मध्यानमात्रं भवेदिह ॥१७॥ एप कालप्रभावोऽयं दुर्निवारो मतो जिनैः । अत एवाधुना लोके मोक्षसिद्धिर्न जायते ॥१८॥ ऐदंयुगीनसाधूनां सम्यग्दर्शनशोभिनाम् । अत्यल्पवीर्ययुक्तानां ध्यानं स्यान्निरुपद्रवे ॥१९॥ ग्रामादौ पत्तने वापि चैत्यालयमनोहरे । सुरक्षिते भवेद्ध्यानं सर्वशंकाविवर्जिते ॥२०॥ सर्वासनं तथा सर्वस्थानं ध्यानस्य सिद्धये। भवति वज्रकायानां नाल्पवीर्यात्मनां मतम् ॥२१॥ वज्रकाया महाधीराः सर्वतो भयवर्जिताः । जिनकल्पसमापन्ना चरमांगाः सुकालतः ॥२२॥ सर्वस्थानं मतं तेपामासनं विविधं तथा । सर्वत्र सर्वभावेन स्वतंत्राः सिंहवृत्तयः ॥२३॥ तेषां जिनागमे नैव स्थानस्य वा नियंत्रणम् । उपसर्गैर्महाघोरैर्देवदानवकल्पितैः ॥२४॥ स्खलति न मनाक् चित्तमुपद्रवशतैरपि। येषां तेषां न वा स्थानं नियतं हि जिनागमे ॥२५॥ इन्द्रोऽपि च न शक्तोऽस्ति विभेत्तुं निश्चलं

---

सदा स्खलित होता रहता है ॥१६॥ हीन संहनन होनेके कारण यह चित्त बड़े कष्टसे भी स्थिर नहीं होता। इसलिये इस कालमें केवल धर्मध्यान ही हो सकता है॥१७॥ यह कालका ही प्रभाव है। और भगवान जिनेन्द्र देवने इस कालको दुर्निवार वतलाया है, इसीलिये इस कालमें मोक्षकी सिद्धि नहीं होती है ॥१८॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाले इस युगके साधु वहुत ही अल्प शक्तिको धारण करनेवाले होते हैं, इसलिये इस कालमें उपद्रवरहित स्थानमें ही ध्यान हो सकता है ॥१९॥ जो गांव, नगर वा चैत्यालय मनोहर है, सुरक्षित है, और समस्त शंकाओंसे रहित है; ऐसे ही स्थानोंमें इस कालमें ध्यान हो सकता है ॥२०॥ जिनका शरीर वज्रवृषभ नाराचमय है, उनको सव आसनोंसे और समस्त स्थानोंमें ध्यानकी सिद्धि हो सकती है; परंतु अल्प शक्ति धारण करनेवालोंको नहीं ॥२१॥ वज्रमय शरीरको धारण करवाले महाधीर और वीर होते हैं, सव तरहसे भयरहित होते हैं, जिनकल्प लिंगको धारण करते हैं और श्रेष्ठ कालके अनुसार चरम शरीरको धारण करनेवाले होते हैं। ऐसे मुनियोंके लिये सव स्थान और अनेक प्रकारके आसन माने गये हैं। ऐसे मुनि सव स्थानोंमें और सव तरहके परिणामोंसे स्वतन्त्र होते हैं और सिंहवृत्तिको धारण करनेवाले निर्भय होते हैं ॥२२–२३॥ जैनशास्त्रोंमें ऐसे मुनियोंके लिये स्थानका नियन्त्रण कुछ नहीं है। जिनका हृदय देव-दानवोंके द्वारा किये हुए महाघोर उपसर्गों तथा सैकड़ों उपद्रवोंसे भी कभी स्खलित नहीं होता, उनके ध्यानके लिये

मनः। येषां तु योगिनां तेषां स्थानस्य का विचारणा ॥२६॥ तद्धैर्यं तन्महद्वीर्यं तत्स्थानं हि तदासनम्। पुरातनमुनीनां च वोपसर्गसहिष्णुता ॥२७॥ स्वप्नेऽपि तादृशं कर्तुं नो क्षमाः कलिकालजाः। मुनयो हीनवीर्यत्वाद्धीनसंहननात्तथा ॥२८॥ संवत्सरैकपर्यन्तं कायोत्सर्गं स्थिरासनम्। महामहोपवासेन साम्प्रतं कर्तुमक्षमाः ॥२९॥ उपसर्गं महाघोरं भयानकपरीषहाम्। अत एव सहन्ते न साम्प्रतं मुनयो वराः ॥३०॥ ऐदंयुगीनसाधूनां साम्प्रतं न समृद्धयः। मनःपर्ययविज्ञानमत एव भवन्ति न ॥३१॥ अतो नैव महाविद्यास्तेषां सिद्धयन्ति साम्प्रतम्। स्वर्गदं च जगद्वन्द्यं धर्मध्यानं भवेदिह ॥३२॥ अधुना हीनकालेऽस्मिन् पुरातनसुकालवत्। मूलान् गुणांश्च ये सम्यक् चाष्टाविंशतिकान् शुभान् ॥३३॥ धारयन्ति सुभावेन धन्यास्ते पृथिवीतले। तेषां हि साहसं धन्यं धन्यस्तेषां पराक्रमः ॥३४॥ हीनसंहननत्वेऽपि तपः कुर्वन्ति दुर्द्धरम्। दीक्षामिमां सुकठिनां दुर्द्धरां जातरूपिकाम् ॥३५॥ धारयन्तो यतीशास्ते पुरातन इवाधुना। अशक्यं हि

---

जैनशास्त्रोंमें कोई स्थान नियत नहीं है। ऐसे मुनि चाहे जहां ध्यान कर सकते हैं ॥२४-२५॥ जिनके निश्चल मनको भेदन करनेके लिये इन्द्र भी समर्थ नहीं हो सकता, ऐसे योगियोंके लिये भला स्थानका क्या विचार करना चाहिये? ॥२६॥ पहले मुनियोंका जो धैर्य है, जो महावीर्य है, जो स्थान है, जो आसन है और जो उपसर्ग सहन करनेकी शक्ति है; इस कलिकालके मुनियोंको स्वप्नमें भी कभी नहीं हो सकती; क्योंकि कलिकालके मुनि हीन संहननवाले और अल्प शक्तिको धारण करनेवाले होते हैं ॥२७-२८॥ अबके मुनि एक वर्ष पर्यन्त महामहोपवास धारणकर स्थिर आसनसे कायोत्सर्ग धारण करनेके लिये सर्वथा असमर्थ हैं ॥२९॥ इसीलिये इस कालके श्रेष्ठ मुनि भी महाघोर उपसर्गोंको तथा भयानक परिषहोंको कभी सहन नहीं कर सकते हैं ॥३०॥ इस युगके साधुओंको इस समय न तो बड़ी बड़ी ऋद्धियां होती हैं, न मनःपर्ययज्ञान होता है और न उनको इस समय महाविद्यायें सिद्ध होती हैं। इस कालमें स्वर्ग देनेवाला और जगद्वन्द्य ऐसा धर्मध्यान ही हो सकता है ॥३१—३२॥ इस हीन कालमें भी पहले कालके समान जो शुभ अट्ठाईस मूलगुणोंको श्रेष्ठ परिणामोंसे धारण करते हैं, वे ही मुनि इस पृथ्वीतल पर धन्य हैं। ऐसे मुनियोंका साहस भी धन्य है और उनका पराक्रम भी धन्य है ॥३३—३४॥ क्योंकि वे हीन संहनन होनेपर भी दुर्धर तपश्चरण करते हैं और वे मुनि पहले चौथे कालके मुनियोंके समान इस समयमें भी अत्यन्त कठिन नग्नरूप इस जैनेश्वरी दीक्षाको धारण करते हैं। वे मुनि न

सुशक्यं वा कुर्वन्तस्ते यतीश्वराः ॥३६॥ जगत्पूज्या जगद्वन्द्या धन्यास्ते नग्नरूपकाः । हीनसंहननत्वाच्च स्थानं तेषां सुरक्षितम् ॥३७॥ आसनं स्वानुकूलं हि ग्रामादौ च भवत्यलम् । शुद्धभूमौ शिलापट्टे दारुपट्टे च चाट्टिके ॥३८॥ तृणान्वये हि काष्ठे वा आसनानि प्रकल्पयेत् । समाधौ प्रासुके शुद्धे तृणे तृणमयेऽथवा ॥३९॥ आसनं शयनं तत्र कल्पयेत्साधुसत्तमः । पल्यङ्कमर्द्धपल्यङ्कपद्मवीरसुखासनम् ॥ ४० ॥ कायोत्सर्गं तथा वज्रमद्धपद्मासनं तथा । एवंविधान्यनेकानि ह्यासनानि जिनागमे ॥४१॥ येन येनासनेनैव स्थिरचित्तं प्रजायते । तत्तदेवासनं श्रेष्ठं विधेयं योगिभिः सदा ॥४२॥ सर्वासनेषु पर्यंकं कायोत्सर्गं विशेषतः । प्रशस्तमासनं ज्ञेयं चैदंयुगीनयोगिनाम् ॥४३॥ आसनस्य सदाभ्यासं कुर्यात्साधुर्निरन्तरम् । समाधौ चोपसर्गे च येन चित्तं स्थिरीभवेत् ॥४४॥ यदासनस्य नो स्थैर्यं किं ध्यानं तस्य वै भवेत् । स्थैर्यासनेन स योगी प्रयाति स्थिरचित्तताम् ॥४५॥ पुनः पुनः सदाभ्यासमासनस्य करोति यः । सर्वक्षेत्रे प्रसंगे सः धैर्यं धरति तत्त्वतः ॥४६॥ स्थानासनविधानानि सर्वाणि संचरेत्सुधीः । ध्यानसिद्धेर्निबंधानि शुद्धिरच

---

होने योग्य अशक्य कार्य को भी सरलताके साथ धारण कर रहे हैं ॥३५—३६॥ इसीलिये वे मुनि जगत्पूज्य जगद्वन्द्य हैं, नग्न अवस्थाको धारण करनेवाले हैं और इसीलिये धन्य हैं । परंतु हीन संहनन होनेके कारण उनका स्थान सुरक्षित ही होना चाहिये ॥३७॥ ऐसे मुनियोंका आसन किसी भी गांव आदिमें उनकी अनुकूलताके अनुसार होना चाहिये । शुद्ध भूमिमें, शिलापर, लकड़ीके तख्तेपर, तृण वा काठसे बने हुए आसनपर आसनकी कल्पना करनी चाहिये। समाधिमें भी प्रासुक शुद्ध तृणोंमें वा तृणोंके बने आसनोंमें उत्तम साधुओंको आसन लगाना चाहिये, अथवा शयन करना चाहिये । पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन, पद्मासन, वीरासन, सुखासन, कायोत्सर्ग, वज्रासन, बद्धासन, पद्मासन आदि अनेक प्रकारके आसन जिनागममें बतलाये गये हैं ॥३८—४१॥ जिस जिस आसनसे अपने चित्तकी स्थिरता हो वही वही श्रेष्ठ आसन योगियोंको धारण करना चाहिये ॥४२॥ इस युगके मुनियोंके लिये समस्त आसनोंमें विशेषकर पर्यंकासन अथवा कायोत्सर्ग आसन श्रेष्ठ आसन माना जाता है ॥४३॥ साधुओंको सदा आसनोंका अभ्यास करते रहना चाहिये। जिससे कि समाधि और उपसर्गके समय भी चित्त स्थिर बना रहे ॥४४॥ जिस मुनिका आसन ही स्थिर नहीं है, उसे भला ध्यान कैसे हो सकता है ? क्योंकि योगीका चित्त स्थिर आसनसे ही स्थिरताको प्राप्त हो सकता है ॥४५॥ जो योगी आसनोंका बार बार अभ्यास करता है, वह समस्त क्षेत्रोंमें और समस्त प्रसंगोंमें वास्तविक धैर्य धारण कर सकता है ॥४६॥ अनेक

विविधा शुभा ॥४७॥ शुद्धिं विना क्रियाः सर्वा विफलाः श्रममात्रकाः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुद्धिः कार्या निरन्तरम् ॥४८॥ द्रव्यक्षेत्रादिकानां च शुद्धिं कृत्वा प्रयत्नतः । तथा भावविशुद्धिः स्याज्जिनाज्ञापालनं भवेत् ॥४९॥ बाह्याभ्यन्तरशुद्धिं च कृत्वा मंत्रजलादिना । सर्वसंगं च भावेन त्यक्त्वा ध्यानं समाचरेत् ॥५०॥ अन्तःशुद्धिस्तु भव्यानां ध्याने किल्बिषनाशिका । भावशुद्धिकरी चास्ति चात्मवीर्यप्रवर्द्धिका ॥५१॥ बाह्यशुद्धिस्तु सर्वत्र सर्वसिद्धिप्रदायिका । मूला हि सर्वसिद्धीनां चागमाज्ञाप्रमाणतः ॥५२॥ यदा यदा ह्यविक्षिप्तं मुनेश्चित्तं भवेत्तराम् । तदा तदा हि शुद्धिं तां प्रकुर्यात् शुद्धभावतः ॥५३॥ ततो मनोविशुद्ध्यर्थं कुर्वन्तु साधवोऽमलाम् । बाह्याभ्यन्तरशुद्धिं तां भावशुद्धिविधायिकाम् ॥५४॥ विजने वा जनाकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽथवा । समाधौ स्थिरचित्तेन ध्यानं कुर्वन्तु साधवः ॥५५॥ निद्रां तन्द्रां तथालस्यं प्रमादानादरं

---

प्रकारके स्थान और आसन तथा अनेक प्रकारकी शुभ शुद्धि, ये सब ध्यानकी सिद्धिके कारण हैं । बुद्धिमानोंको इन सबका अभ्यास करना चाहिये ॥४७॥ विना शुद्धिके समस्त क्रियायें निष्फल तथा केवल परिश्रमरूप हैं, इसलिये साधुओंको अपने समस्त प्रयत्नोंसे निरंतर शुद्धि करते रहना चाहिये ॥४८॥ मुनियोंको प्रयत्नपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र और काल आदिकी शुद्धि रखनी चाहिये, क्योंकि इनकी शुद्धिसे ही भावोंकी शुद्धि होती है और भगवान् जिनेंद्र देवकी आज्ञाका पालन होता है ॥४९॥ जलशुद्धि वा मंत्रशुद्धिसे बाह्य-आभ्यंतरकी शुद्धि करके तथा भावपूर्वक समस्त परिग्रहोंका त्याग करके ध्यान धारण करना चाहिये ॥५०॥ भव्य जीवोंके द्वारा ध्यानके समय की हुई अंतरंग शुद्धि पापोंका नाश करनेवाली है, भावोंको शुद्ध करनेवाली है और आत्माकी शक्तिको बढ़ानेवाली है ॥५१॥ तथा बाह्यशुद्धि सब जगह समस्त सिद्धियोंको करनेवाली है और आगमकी आज्ञाके अनुसार समस्त सिद्धियोंका मूल कारण हैं ॥५२॥ मुनियोंका हृदय जब जब निश्चल हो तब तब शुद्ध भावोंसे शुद्धि कर लेनी चाहिये ॥५३॥ इसलिये साधुओंको अपना मन शुद्ध करनेके लिये भावशुद्धिको उत्पन्न करनेवाली निर्मल बाह्य-आभ्यंतर शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये ॥५४॥ साधुलोगोंको निर्जन स्थानमें वा मनुष्योंसे भरे हुए स्थानमें, सुलभ वा कठिन आसनमें, समाधिके समय स्थिर चित्त होकर ध्यान करना चाहिये ॥५५॥ ध्यानके समय निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, अनादर, विस्मरण, भय, क्रोध और मान आदि सबका

तथा। भयविस्मरणक्रोधमानादीनि च संत्यजेत् ॥५६॥ शरीरकंपनं नेत्रपरिस्पंदं च जृम्भणम्। वेपथुं डोलनं हिक्कां प्रमादं छर्दनं तथा ॥५७॥ प्रलापकं च स्वापं च हास्यं नृत्यं च मत्तताम्। परिवादो विवादोऽथ भंडनं तर्जनं तथा ॥५८॥ अङ्गोपाङ्गादिसंकोचवर्द्धनं कामचिन्तनम्। सम्मोहनं च लिङ्गादिस्थूलीकरणकं तथा ॥५९॥ आर्तरौद्रकरीं चिन्तां रोषं शीलप्रभञ्जनम्। इत्यादिकक्रियां सर्वां ध्यानकाले विसर्जयेत् ॥६०॥ मनः संरुध्य संकल्पविकल्पादीनि संत्यजेत्। कौतुकादिकुचेष्टां च सर्वाशां वा त्यजेत्सुधीः ॥६१॥ निश्चलत्वं स्थिराभ्यासं शांतिचित्तप्रसन्नता। परीषहसहिष्णुत्वं स्थिरचित्तं निराकुलम् ॥६२॥ वैराग्यभावसम्पत्तिः विषयत्याग एव च। कषायानामभावो हि धैर्यं क्षान्त्यलम्बनम् ॥६३॥ इत्यादिकशुभा चेष्टा क्रिया कार्या मुमुक्षुभिः। ध्यानकाले हि सर्वेषां कर्मणां जयसिद्धये ॥६४॥ पूर्वाशाभिमुखस्तत्र चोत्तराभिमुखस्तथा। ध्यानकाले तदा ध्याता तिष्ठेत् सुस्थिरभावतः ॥६५॥ ईर्यापथं समुच्चार्य प्रति-

---

त्याग कर देना चाहिये ॥५६॥ शरीरको कम्पायमान करना, नेत्रोंको बार बार स्पंदन करना, जंभाई लेना, काँपना, हिलना, छींकना, प्रमाद, वमन, प्रलाप, निद्रा, हँसी, नृत्य, उन्मत्तता, वाद-विवाद, मंडन, तर्जन, अंग-उपांगोंका संकोच वा विस्तार करना, कामका चिन्तवन करना, मोहित होना, लिंगादिकका स्थूल करना, आर्तरौद्रको उत्पन्न करनेवाले चिंतवन, क्रोध और दुःशीलका चिंतवन आदि समस्त क्रियाएँ ध्यानके समय छोड़ देनी चाहिये ॥५७–६०॥ बुद्धिमान् मुनियोंको अपना मन रोककर सब तरहके संकल्प-विकल्पोंका त्यागकर देना चाहिये। तथा कौतुक, कुचेष्टा और सब प्रकारकी आशाओंका त्याग कर देना चाहिये ॥६१॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले साधुओंको समस्त कर्मोंको जीतनेके लिये ध्यानके समय निश्चल रहना चाहिये स्थिरताका अभ्यास करना चाहिये, चित्तको शांत और प्रसन्न रखना चाहिये, परिषहोंको सहन करना चाहिये, चित्तको निराकुल और स्थिर रखना चाहिये, वैराग्यभावनाकी संपत्ति धारण करनी चाहिये, विषयवासनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, कषायोंका त्याग कर देना चाहिये तथा धैर्य और क्षमाको धारण करना चाहिये। ध्यान करते समय साधुओंको इन सब शुभ क्रियाओंको करना चाहिये ॥६२–६४॥ ध्यान करनेवाले साधुको ध्यानके समय स्थिर चित्त होकर पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुखकर बैठना चाहिये ॥६५॥ सबसे पहले ईर्यापथ-शुद्धिका पाठ पढ़ना चाहिये, प्रतिक्रमण पाठ पढ़ना चाहिये, दंडक पाठकी

क्रमणकं पठेत् । दण्डकपाठगाथां हि पठित्वा ध्यानमाचरेत् ॥६६॥ अपराजितमंत्रस्य गाथां ध्यानस्य सिद्धये । स कायोत्सर्गपूर्वं हि पठेत्स्वात्मविशुद्धये ॥६७॥ इत्यादिकशुभं कृत्यं कृत्वा च शुभभावतः । श्रीजिनाज्ञाप्रमाणेन पश्चाद्ध्यानं समाचरेत् ॥६८॥ इति विविधविधिं यः सत्क्रियासंश्रितं वा निजनिजशुभभावात् सर्वशुद्धिं विधाय । कुरु कुरु अतिशीघ्रं ध्यानकाले चिदात्मन् भवति तव सुधर्मं ध्यानयोग्यं मनोज्ञम् ॥६९॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे ध्यानक्रियाप्ररूपणो नाम पंचदशोऽधिकारः ।

---

गाथाएं पढ़नी चाहिये और फिर ध्यानका प्रारंभ करना चाहिये ॥६६॥ ध्यान करनेवाले साधुको अपने आत्माको विशुद्ध करनेके लिये और ध्यानकी सिद्धिके लिये अपराजित मंत्रकी गाथाको ( णमोकार मंत्रको ) कायोत्सर्ग-पूर्वक पढ़ना चाहिये ॥६७॥ इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार शुभ परिणामोंसे पहले ऊपर लिखी सब क्रियाएं करनी चाहिये और फिर ध्यानका प्रारंभ करना चाहिये ॥६८॥ हे चिदात्मन् ! इसप्रकार अपने अपने शुभ भावोंसे सब प्रकारकी शुद्धि करके श्रेष्ठ क्रियाओंसे शोभायमान—ऐसी ऊपर लिखी अनेक प्रकारकी विधिको ध्यानके समय तू शीघ्र ही कर । इसीसे अत्यन्त मनोहर और ध्यानके योग्य श्रेष्ठ धर्म तुझे प्राप्त होगा ॥६९॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें ध्यानकी क्रियाओंका वर्णन करनेवाला पंद्रहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

---

# षोडशोऽधिकारः ।



कर्मचक्राणि यो ध्यानवज्रेण प्रविभिद्य च । परमात्मपदं प्राप वंदे धर्मं जिनेश्वरम् ॥१॥ सम्यग्दृष्टिः प्रसन्नात्मा सज्जातिः शुद्धवंशजः । कुलाचारयुतः शान्तो जिताक्षो वीतमत्सरः ॥२॥ संसारदेहनिर्विण्णः आत्मनो हितचिन्तकः । भवभीरुर्महाधीरो जिनाज्ञाप्रतिपालकः ॥३॥ तत्त्वश्रद्धानसंपन्नश्चरणाशक्तमानसः । निर्ममो निरहंकारो निर्व्यसनश्च साहसी ॥४॥ दयालुः शुद्धचेतष्कः कपायविषयातिगः । दुष्टचिन्तनहीनः स आर्तरौद्रपराङ्मुखः ॥५॥ व्यवहारजनीतिज्ञोऽभिज्ञश्च देशकालयोः । जातिमान्यः क्रियाभिज्ञो लोकाचारप्रवर्तकः ॥६॥ इत्यादिगुणसम्पन्नो ध्याता स्याच्च

---

जिन्होंने अपने ध्यानरूपी वज्रसे कर्मोंके समूहको भेदनकर परमात्मपद प्राप्त कर लिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेव भगवान धर्मनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ आगे ध्याताका लक्षण कहते हैं—जो सम्यग्दृष्टि है, जिसका आत्मा निर्मल है, जो सज्जाति और शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुआ है, जो कुलाचारको पालन करता है, अत्यंत शांत है, इंद्रियोंको जीतनेवाला है, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित है, संसारशरीरसे विरक्त है, अपने आत्माके हितको चिंतवन करनेवाला है, संसारसे भयभीत है, महाधीरवीर है, भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करता है, जो तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है, जिसका मन चारित्रके पालन करनेमें लगा हुआ है, जो ममत्वरहित है, अहंकाररहित है, व्यसनरहित है, साहसी है, दयालु है, जिसका हृदय शुद्ध है, जो कषाय और विषयोंसे रहित है, जो दुष्ट चिंतवनसे रहित है, आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानसे पराङ्मुख है, जो व्यवहारसे उत्पन्न हुई नीतिको जाननेवाला है, जो देश और कालको जानता है, जो जातिमें मान्य है, क्रियाओंका जानकार है और लोकाचारकी प्रवृत्ति करनेवाला है । इसप्रकार जो अनेक गुणोंसे सुशोभित है

मुमुक्षुकः । श्राद्धोऽथवा मुनिर्ध्याता ध्यानी भवति तत्त्वतः ॥७॥ पतितो जातिहीनो वा शंकरो गोलकस्तथा । यो राज्यदंडितः क्रोधी मलिनाचारधारकः ॥८॥ ज्वरादिपीडितः क्षुद्रः नीचः मद्यादिसेवकः । अङ्गोपाङ्गेन हीनः सः ध्याता नैव प्रशस्यते ॥९॥ किं ध्यानं केन रूपेण कथं वा क्रियते हि तत् । अज्ञातलक्षणं वस्तु कर्तुं किं युज्यतेऽथवा ॥१०॥ ध्यानस्य लक्षणं ध्यानभेदो ध्यानफलं तथा । तत्सर्वं क्रमशो वक्ष्ये तस्मादात्महितेच्छया ॥११॥ ध्यानमेकाग्रचिन्ताया रोधनं सर्वयोगतः । समासेन हि तज्ज्ञेयं कर्मचक्रनिवारणम् ॥१२॥ एकं ध्येयं समालम्ब्य कायवाग्मनसापि वा । तत्रैकाग्रेन संलीनं ध्यानं तदिह कथ्यते ॥१३॥ एकार्थं हि समालंब्य मनसा मनुते हि तत् । अन्यत्सर्वं परावृत्य ध्यानं तदपि कथ्यते ॥१४॥ परालम्बननिर्मुक्तमात्मैवात्मनि चात्मना । आत्मानं निर्विकल्पं हि चैकाग्रेण

---

और मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, उसको ध्यान करनेवाला कहते हैं। वह ध्यान करनेवाला ध्यानी श्रावक भी हो सकता है और मुनि भी हो सकता है ॥२–७॥ जो पतित है, जो जातिहीन है, जो जातिशंकर है, वा गोलक (विधवापुत्र) है, जो राजदंडित है, जो क्रोधी है, जो मलिन आचरणोंको धारण करनेवाला है, जो ज्वरादिक रोगोंसे पीड़ित है, जो क्षुद्र है, जो नीच है, जो मद्य, मांस वा शहदको सेवन करनेवाला है और जो अंगोपांगसे हीन है, ऐसा पुरुष ध्यान करनेका पात्र कभी नहीं हो सकता ॥८–९॥ ध्यान क्या है, वह किस प्रकार किया जाता है, अथवा कैसे किया जाता है, अथवा जिसका लक्षण ही मालूम नहीं है, वह ध्यान कैसे किया जा सकता है ? इसलिये ध्यानका लक्षण, ध्यानके भेद और ध्यानका फल आदि सब अपने आत्माके हितकी इच्छासे अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१०–११॥ अन्य समस्त चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे किसी एक पदार्थका चिंतवन करना ध्यान है। यह संक्षेपसे ध्यानका लक्षण है, यही ध्यान कर्मोंके समूहको नाश करनेवाला है ॥१२॥ किसी एक पदार्थका अवलंबन लेकर मन, वचन, काय और एकाग्र मनसे लीन हो जाना ध्यान कहलाता है ॥१३॥ अथवा अन्य समस्त पदार्थोंका चिंतवन छोड़कर और किसी एक पदार्थका अवलंबन लेकर एकाग्र मनसे उसका चिंतवन करना ध्यान कहलाता है ॥ १४ ॥ अथवा किसी दूसरे पदार्थका अवलंबन सर्वथा छोड़कर, यह आत्मा मन, वचन, काय, और श्रेष्ठ परिणामोंसे एकाग्र चित्त होकर बिना किसी संकल्प-विकल्पके अपने ही आत्माके द्वारा

त्रियोगतः ॥१५॥ दार्ढ्येन यच्चिन्तयति निष्प्रकंपं सुभावतः । ध्यानं तत्कथ्यते देवैरर्हद्भिर्ध्यानपारगैः ॥१६॥ सर्वार्थेभ्यः समाकृष्यार्थ चिन्तां च चपलां पराम् । ध्येयवस्तुनि चैकाग्रनियतिर्ध्यानलक्षणम् ॥१७॥ भावश्रुतं समालम्ब्य वहिःशून्यो निजात्मनि । स्वात्मनश्चिन्तनं मुख्यं ध्यानं तदपि कथ्यते ॥१८॥ यश्चिन्तयति मुख्येन चैकमर्थं निजेच्छया । अशुभं वा शुभं ज्ञानात्तदेवं हि पुनः पुनः ॥१९॥ तद्विचारात्मकं ध्यानं योगिभिः कथितं परम् । शुभाशुभात्मकं तद्धि ध्येयभेदाद् द्विधा मतम् ॥२०॥ अन्तस्तत्त्वं समालम्ब्य चान्तरानन्ददायकम् । अन्यत्सर्वं निराकृत्य चैकाग्रेन तदेव हि ॥२१॥ चिन्तनं मननं सम्यक् तन्मयत्वेन भावतः । आध्यात्मिकं भवेद्ध्यानं स्वात्मानन्दप्रदायकम् ॥२२॥ जिनविम्बं स्वचित्तेऽस्मिन् संस्थाप्य च स्ववेदनात् । एकाग्रमनसा तत्र चार्हद्गुणविचिन्तनम् ॥२३॥ शनैः शनैश्च तद्रूपं स्वात्मन्येव सुचिन्तयेत् । बहिःशून्यं च कृत्वा हि स्वात्मना तन्मयं भवेत् ॥२४॥ एवं हि निश्चलत्वं च कृत्वा तत्र सुचेतसा । ध्यानं तत्स्वा-

अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको दृढ़ताके साथ चिंतवन किया जाता है, उसको भी ध्यानके पारगामी भगवान अरहंतदेव ध्यान कहते हैं ॥१५–१६॥ इस चंचल चिंताको समस्त पदार्थोंसे हटाकर ध्येय वस्तुमें एकाग्रतापूर्वक लीन कर देना भी ध्यान कहलाता है । ॥१७॥ अथवा भाव श्रुतका अवलम्बन लेकर और वाह्य पदार्थोंमें शून्यसा होकर अपने आत्मामें अपने आत्माका चिंतवन करना भी मुख्य ध्यान कहलाता है ॥१८॥ जो अपनी इच्छासे अपने ज्ञानपूर्वक शुभ वा अशुभरूप किसी एक पदार्थको मुख्यतासे बार बार चिंतवन करता है, उसका वह चिंतवन भी ध्यान कहलाता है। शुभ पदार्थका चिंतवन करना शुभ ध्यान है और अशुभ पदार्थका चिंतवन अशुभ ध्यान है । इसप्रकार ध्येयके भेदसे भी ध्यानके दो भेद होते हैं, ऐसा योगियोंने कहा है ॥१९–२०॥ अथवा अन्तरात्माका अवलम्बन लेकर तथा अन्य सबका त्यागकर एकाग्रतासे उसका चिंतवन करना, अच्छीतरह मनन करना, तन्मय होकर उसका ध्यान करना, आध्यात्मिक ध्यान कहलाता है, यह ध्यान भी भावपूर्वक किया जाता है, तथा अपने मन और आत्मा दोनोंको आनन्द देनेवाला है ॥२१–२२॥ अथवा अपने हृदयमें अपने ज्ञानके द्वारा जिनविम्बको विराजमानकर एकाग्र मनसे भगवान् अरहंतदेवके गुणोंका चिंतवन करना भी ध्यान है। अथवा धीरे धीरे अपने आत्मामें भगवान् अरहंतदेवके रूपका चिंतवन करना, बाहरके समस्त विकल्पोंको छोड़कर अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें तन्मय हो जाना, अपने मनके द्वारा अपने

त्मरूपं हि वस्तुतत्त्वप्रकाशकम् ॥२५॥ कायेन मनसा वाचा वर्णमालंब्य चिन्तनम् । एकाग्रेन नियंत्रा वा ध्यानं तदपि कथ्यते ॥२६॥ ध्यानं चतुर्विधं ज्ञेयमार्तरौद्रादिभेदतः । धर्म्यशुक्ले शुभे ध्याने चार्त्तरौद्रेऽशुभे मते ॥२७॥ आर्तरौद्रं परित्यक्त्वा सम्यक्त्वेन मुमुक्षुकः । धर्मध्यानं समारुह्य स्वात्मानमपि साधयेत् ॥२८॥ येन ध्यानेन जीर्यन्ते कर्माणि च निरन्तरम् । सम्यक्त्वं वर्द्धते नित्यं शुद्धं भवति मानसम् ॥२९॥ येन ध्यानबलेनैव भवकोटिपरंपरा । शीघ्रं प्रक्षीयते नित्या यथा वज्रेण सानुमान् ॥३०॥ धर्मध्यानबलेनैव भव्याः दुःखपरंपराम् । प्रयासेन विना शीघ्रं नाशयन्ति न संशयः ॥३१॥ कामादिकविकाराणि कषायव्यसनानि च । धर्मध्यानबलेनैव शाम्यन्त्यत्र स्वभावतः ॥३२॥ धर्मध्यान-बलेनैव परा शुद्धिः प्रजायते । भव्या यां प्राप्य शीघ्रं हि मोक्षमार्गं भजन्ति ते ॥३३॥ धर्मध्यानबलेनैव निर्वाणस्य समीपता । अनायासेन तां शीघ्रं लभन्ते भव्यकाः स्वयम् ॥३४॥ धर्मध्यानबलेनात्रावधिज्ञानं प्रपद्यते । भावश्रुतं समा-

---

आत्मामें निश्चल हो जाना, आत्मरूप ध्यान कहलाता है; यह ध्यान भी पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करने-वाला है ॥२३–२५॥ अथवा ध्यान करनेवालेके द्वारा मन, वचन और कायसे किसी वर्णका अलंबन कर एकाग्रता-पूर्वक उसका चिंतवन करना भी ध्यान कहलाता है ॥२६॥ वह ध्यान आर्त रौद्र आदिके भेदसे चार प्रकारका है । धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ ध्यान हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये अशुभ ध्यान हैं ॥२७॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका त्याग कर देना चाहिये और सम्यग्दर्शनपूर्वक धर्म-ध्यानको धारणकर अपने आत्माको सिद्ध कर लेना चाहिये ॥२८॥ इस ध्यानसे ही निरंतर कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है, सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और मन सदा शुद्ध बना रहता है ॥२९॥ जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाता है, उसी प्रकार इस ध्यानके बलसे सदासे चली आई जन्म-मरणरूप संसारकी करोड़ों परंपराएं बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती हैं ॥३०॥ इस धर्मध्यानके बलसे भव्य जीव विना किसी प्रयत्नके अनेक दुःखोंकी परंपराको बहुत शीघ्र नष्ट कर देते हैं ॥३१॥ कामादिक विकार, कषाय और व्यसन आदि सब धर्मध्यानके बलसे अपने आप शांत हो जाते हैं ॥३२॥ इस धर्मध्यानके ही बलसे आत्माकी उत्कृष्ट शुद्धि होती है, जिस शुद्धिको पाकर यह आत्मा शीघ्र ही मोक्षमार्गको प्राप्त कर लेता है ॥३३॥ इस धर्मध्यानके बलसे ही मोक्षलक्ष्मी समीप आ जाती है और भव्य जीव उसको विना किसी परिश्रमके शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥३४॥ इस धर्मध्यानके ही बलसे

प्नोति भव्योऽत्र सहजं शुभम् ॥३५॥ मनःपर्ययविज्ञानं समाप्नोति प्रसन्नधीः । धर्मध्यानबलेनैव केवलज्ञानसाधकम् ॥३६॥ शुक्लध्यानस्य सम्पत्तिर्जायते परमा शुभा । धर्मध्यानबलेनैव तद्ध्यानं परिगृह्यताम् ॥३७॥ शुद्धोपयोगभावस्य विभूतिः सुखदा शुभा । धर्मध्यानबलेनैव वर्द्धते हि निरन्तरम् ॥३८॥ इन्द्रनागेन्द्रदेवानामहमिन्द्रपदेशिनाम् । धर्मध्यानबलेनैव विभूतिः प्राप्यतेऽनिशम् ॥३९॥ चक्रवर्तिपदादीनां प्राप्तिः स्याद्धि सुखावहा । धर्मध्यानबलेनैव भव्यानां पुण्यसाधिका ॥४०॥ तद्ध्यानं द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः । तुर्यात्सप्तमपर्यन्तं प्रोक्तं श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥४१॥ आभ्यन्तरं हि भव्यानां ध्यानं किल्बिषदायकम् । भावशुद्धकरं चास्ति चात्मवीर्यसुवर्द्धकम् ॥४२॥ देवपूजा गुरोः सेवा जपो धर्मोपसेवनम् । संयमधारणं चैव सर्वे ते साधका मताः ॥४३॥ वीतरागेण भावेन यदा किंचिद्विचिन्तनम् । धर्मध्यानं तदाख्यातं

---

भव्य जीवोंको अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है और शुभरूप भावश्रुत ज्ञान भी सहज रीतिसे प्राप्त हो जाता है ॥३५॥ इस धर्मध्यानके ही बलसे प्रसन्न बुद्धिको धारण करनेवाला भव्य जीव केवलज्ञानका साधक ऐसे मनःपर्यय ज्ञानको बहुत शीघ्र प्राप्त कर लेता है ॥३६॥ तथा इसी धर्मध्यानके बलसे परम शुभ ऐसी केवलज्ञानकी संपत्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिये भव्यजीवोंको यह धर्मध्यान अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥३७॥ सुख देनेवाली और शुभरूप जो शुद्धोपयोगरूप भावोंकी विभूति है, वह इस धर्मध्यानके ही बलसे निरंतर बढ़ती रहती है ॥३८॥ इस धर्मध्यानके ही बलसे इन्द्र-नागेन्द्र आदि देवोंकी विभूति प्राप्त होती है और अहमिन्द्र पदके स्वामी अहमिन्द्रोंकी विभूति भी इसी धर्मध्यानसे प्राप्त होती है ॥३९॥ महापुण्यको सिद्ध करनेवाली और अत्यन्त सुख देनेवाली चक्रवर्ती आदि पदोंकी प्राप्ति भी भव्य जीवोंको इस धर्मध्यानके ही बलसे होती है ॥४०॥ बाह्याभ्यन्तरके भेदसे उस धर्मध्यानके दो भेद हैं—तथा चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक यह धर्मध्यान होता है ॥४१॥ उसमें भी अभ्यन्तर धर्मध्यान भव्य जीवोंके समस्त पापोंको नाश करनेवाला है तथा भावोंको शुद्ध करनेवाला है और आत्माकी शक्तिको बढ़ानेवाला है ॥४२॥ देवपूजा करना, गुरुकी सेवा करना, जप करना, धर्मसेवन करना और संयम धारण करना आदि सब उस धर्मध्यानके साधक हैं ॥४३॥ समस्त पापोंको जीतनेवाले मुनिलोग अपने वीतराग भावोंसे जो कुछ चिन्तवन करते हैं,

मुनीनां च जितैनसाम् ॥४४॥ यथा यथा कषाया हि चीयन्ते क्रियया यया । तथा तथा भवेद्ध्यानमात्मरूपप्रकाशकम् ॥४५॥ यदा चिन्तापरत्वेन मोहभावो विलीयते । येन येन विचारेण तद्ध्यानं वात्र कथ्यते ॥४६॥ यथा यथा यतीशेऽस्मिन् वर्द्धते वीतरागता । स्वात्मनि स्थिरता पूर्वं रमते चित्तमात्मनः ॥४७॥ येन येन विचारेण क्रियया वात्र कर्मणि । तदेव ध्यानमाख्यातं वीतरागजिनेशिना ॥४८॥ जिनागमे हि चैवं तद्धर्मध्यानं निरूपितम् । सुखशान्तिसुसिद्ध्यर्थं भव्या ध्यायन्तु निर्मलम् ॥४९॥ चमत्कारकरं धर्मध्यानं ध्यायन्तु सर्वदा । भव्याः सर्वे प्रयत्नेन संसारदुःखभीरुकाः ॥५०॥ जगति तिमिरहंता सर्वकल्याणकर्ता सकलसुखविधाता सर्वदुःखप्रहंता । परमविभवदाता स्वर्गमोक्षप्रणेता इह जयतु सुधर्मध्यानभानुस्त्रिलोके ॥५१॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे धर्मध्यानप्ररूपणो नाम षोडशोधिकारः ।

---

उसीको धर्मध्यान कहते हैं ॥४४॥ इस क्रियासे जैसे जैसे कषायोंका नाश होता जाता है; वैसे ही वैसे आत्माके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला ध्यान प्रगट होता जाता है ॥४५॥ यह जीव जिन जिन विचारोंसे जब चिन्तवनमें लीन हो जाता है और उस समय इसका जो ममत्व और मोह नष्ट हो जाता है, उसको धर्मध्यान कहते हैं ॥४६॥ इस ध्यानरूप कार्यमें इन मुनियोंके हृदयमें जैसे जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है और स्थिरतापूर्वक आत्माका चित्त जैसे जैसे आत्मामें लीन होता जाता है, जिस जिस क्रियासे वा जिस जिस चिन्तवनसे आत्मलीनता और वीतरागता बढ़ती है, वीतराग भगवान जिनेन्द्रदेव उसीको धर्मध्यान कहते हैं ॥४७-४८॥ इस जिनागममें ऊपर लिखे अनुसार धर्मध्यानका स्वरूप कहा है, इसलिये भव्य जीवोंको सुख और शांतिकी सिद्धि के लिये यह निर्मल ध्यान अवश्य धारण करना चाहिये ॥४९॥ संसारके दुःखोंसे भयभीत हुए भव्य जीवोंको अपने समस्त प्रयत्न करके चमत्कार करनेवाले इस धर्मध्यानका सदा चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥५०॥ यह धर्मध्यानरूपी सूर्य संसारभरमें मोहरूपी अन्धकारको दूर करनेवाला है, समस्त कल्याणोंको करनेवाला है, समस्त सुखोंको देनेवाला है, समस्त दुःखोंको नाश करनेवाला है, परम विभूतिको देनेवाला है और स्वर्ग-मोक्षको प्राप्त करानेवाला है; ऐसा यह सुधर्मध्यानरूपी सूर्य तीनों लोकोंमें सदा जयवंत हो ॥५१॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें धर्मध्यानके लक्षणको निरूपण करनेवाला यह सोलहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# सप्तदशोऽधिकारः ।



ध्यानेशं ध्यानदेष्टारं योगिनाथं निरंजनम् । परात्मपदमारुढं शान्तिनाथं नमाम्यहम् ॥१॥ रत्नत्रयात्मको धर्मो भाषितो हि जिनेश्वरैः । तत्तस्मादनपेतं हि धर्म्यं तदिह कथ्यते ॥२॥ सत्क्षमादिकभेदेन धर्मो हि दशधा मतः । तत्तस्मादनपेतं हि धर्मध्यानं प्रचक्षते ॥३॥ व्यवहारसुचारित्रदीप्तांगो धर्म उच्यते । तत्तस्मादनपेतं हि धर्म्मध्यानं मतं जिनैः ॥४॥ मोहक्षोभेन संत्यक्तो भावो यो हि निजात्मनः । सचारित्रेण शुद्धः स धर्मो धर्म्यं तदात्मकम् ॥५॥ धर्मध्यानस्य भेदा हि चत्वारः सन्ति चागमे । क्रमशो लक्षणं तेषां ब्रवीमि तज्जिनागमात् ॥६॥ जिनाज्ञाविचयाभिख्यमपायविचयाभिधम् । विपाकविचयाख्यं हि संस्थानविचयाख्यकम् ॥७॥ सर्वेभ्यो मुख्यकं चास्ति तत्राज्ञाविचयाभिधम् । धर्म-

---

जो ध्यानके ईश्वर हैं, ध्यानका उपदेश देनेवाले हैं, योगियोंके स्वामी हैं, निरंजन हैं और परमात्मपदपर प्राप्त हैं; ऐसे भगवान शांतिनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप रत्नत्रयात्मक बतलाया है, जो रत्नत्रयरूप धर्मका ध्यान किया जाता है; उसको धर्मध्यान कहते हैं ॥२॥ अथवा उत्तम क्षमादिकके भेदसे धर्मके दश भेद हैं, जो यह दशधर्मरूप ध्यान किया जाता है, उसको धर्मध्यान कहते हैं ॥३॥ अथवा देदीप्यमान व्यवहार चारित्रको धारण करना भी धर्म है, उस व्यवहार चारित्ररूप धर्मका ध्यान करना धर्मध्यान है ॥४॥ अथवा मोह-क्षोभसे रहित और श्रेष्ठ चारित्रसे अत्यन्त शुद्ध ऐसा जो अपने आत्माका भाव है, उसको भी धर्म कहते हैं और उसका ध्यान करना धर्मध्यान कहलाता है ॥५॥ आगममें उस धर्मध्यानके चार भेद बतलाये हैं, अब आगे आगमके अनुसार अनुक्रमसे उनके लक्षण कहते हैं ॥६॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार धर्मध्यानके भेद कहलाते हैं ॥७॥ इन चारों ध्यानोंमें आज्ञाविचय

ध्यानस्य मूलं च सर्वस्य साधकं हि तत् ॥८॥ सूक्ष्मं तत्त्वं जिनेन्द्रस्य केवलज्ञानगोचरम् । मनोऽक्षगोचरं नैव दृष्टं तत्सर्वदर्शिभिः ॥९॥ सर्वज्ञेन प्रणीतेऽस्मिन् तत्त्वे सूक्ष्मे जिनेशिना । प्रत्यक्षेण परोक्षेण बाधा काचिन्न विद्यते ॥१०॥ कुवादिभिरनुल्लंघ्यं न्यूनाधिकविवर्जितम् । संशयविपरीतादिदोषैर्विरहितं परम् ॥११॥ सत्यं प्रमाणभूतं तत् तत्त्वं विद्धि सुनिश्चितम् । जिनाज्ञापूर्वकं तस्य तत्त्वस्य मननं शुभम् ॥१२॥ एकाग्रमनसा तच्च श्रद्धापूर्वकचिन्तनम् । तदाज्ञाविचयं ध्यानं सर्वकर्मक्षयंकरम् ॥१३॥ धर्माज्ञा विविधा प्रोक्ता लौकिका पारमार्थिका । जिनेन वीतरागेण सर्वलोकहिताय वै ॥१४॥ लौकिकाचरणे वाज्ञा यादृशी प्रतिपादिता । सा तथैवेति नान्या वा चिन्तयेच्छ्रद्धयान्वितः ॥१५॥ श्रीमत्सर्वज्ञदेवस्य सुभावतोऽर्हतो ननु । सर्वथा हि निराबाधं निर्दोषं विगतभ्रमम् ॥१६॥ शासनं त्रिजगत्पूज्यं सत्यरूपं

नामका ध्यान मुख्य है। यह समस्त धर्मध्यानोंका मूल है और सबका साधक है ॥८॥ भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे केवल ज्ञानगोचर हैं, इन्द्रिय और मनके गोचर नहीं हैं। परंतु भगवान सर्वज्ञदेवने उन सबको देखा है। भगवान जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञने जिस सूक्ष्म तत्त्वका निरूपण किया है, उनमें प्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रमाणसे कभी बाधा नहीं आ सकती है, वादी-प्रतिवादी कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता, उन तत्त्वोंका जो स्वरूप है, वह न तो कम है और न अधिक है, तथा संशय, विपरीत आदि सब दोषोंसे रहित हैं। वह तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ है, प्रमाण है और सुनिश्चित है, ऐसा तुम समझो। उन सब तत्त्वोंका भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार मनन करना, एकाग्र मनसे चिंतवन करना वा श्रद्धापूर्वक उनका चिंतवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। यह धर्मध्यान समस्त कर्मोंका नाश करनेवाला है ॥९–१३॥ भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवने समस्तलोगोंका हित करनेके लिये वह धर्मकी आज्ञा भी लौकिक और पारमार्थिकके भेदसे अनेक प्रकारकी बतलाई है ॥१४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने लौकिक आचरण पालन करनेके लिये जैसी आज्ञा प्रतिपादन की है, वह उसी तरह से है; अन्य प्रकारसे नहीं है, इसप्रकार भव्य जीवोंको श्रद्धापूर्वक चिंतवन करते रहना चाहिये ॥१५॥ अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित अरहंतदेव भगवान सर्वज्ञदेवका शासन बाधाओंसे सर्वथा रहित है, निर्दोष है, भ्रमरहित है, तीनों लोकोंमें पूज्य है, यथार्थ है और पापरहित है। ऐसे जिनशासनको जो सुनता है, विश्वास करता है, रुचि करता है,

विकल्मषम् । तत्प्रत्येति शृणोत्यत्र रोचते श्रद्दधाति च ॥१७॥ ध्यायति चिन्तयत्येवं विचारयति मन्यते । तदाज्ञाविचयं ध्यानं कथितं हि जिनागमे ॥१८॥ अविरुद्धं जिनाज्ञायाश्चिन्तनं मननं तथा । रोचनं स्पर्शनं चैव ह्याज्ञाविचयमुच्यते ॥१९॥ द्रव्यपर्यायसंयुक्तं तत्त्वं श्रीजिनभाषितम् । श्रीजिनाज्ञाप्रमाणेन तद्ध्यायेच्चिन्तयेत्सुधीः ॥२०॥ या या शुद्धिश्च पिण्डादेर्वर्णिता श्रीजिनागमे । श्रीजिनाज्ञाप्रमाणेन तत्तथेति हि चिन्तयेत् ॥२१॥ प्रवर्तयेच्च तां भावाद् भूयो भूयो विचारयेत् । तदाज्ञाविचयं ध्यानं जिनाज्ञाद्योतनं परम् ॥२२॥ अनादिकालतोऽत्राहं बम्भ्रमीमि भवार्णवे । न चिन्तिता मया क्वापि जिनाज्ञा परदेवता ॥२३॥ इति चिन्तां समालम्ब्य चैकाग्रेन त्रियोगतः । जिनाज्ञाचिन्तनं श्रद्धाभरेण शुद्धभावतः ॥२४॥ तदाज्ञाविचयं ध्यानं सर्वसिद्धिकरं मतम् । आज्ञाया विचयं ध्यानं तदाज्ञाविचयं मतम् ॥२५॥ जिनशासनमाहात्म्यं कथं

---

श्रद्धान करता है, ध्यान करता है, चिंतवन करता है, विचार करता है, और मानता है उसको जैन शास्त्रोंमें आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥१६–१८॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अविरुद्ध चिंतवन करना, मनन करना, रुचि करना और स्पर्श करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१९॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने द्रव्यपर्यायके सहित जो तत्त्वोंका स्वरूप बतलाया है, उसको भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार बुद्धिमान पुरुषोंको चिंतवन करना चाहिये और ध्यान करना चाहिये। जैनशास्त्रोंमें पिंडादिककी जो जो शुद्धियां बतलाई हैं। उनको भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार उसीप्रकार चिंतवन करना चाहिये, भावपूर्वक उसीप्रकार उनकी प्रवृत्ति करनी चाहिये और बार बार उनका चिंतवन करना चाहिये। इसीको आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं। यह आज्ञाविचय ध्यान भगवानकी आज्ञाका उद्योत करनेवाला है और सर्वोत्कृष्ट है ॥२०–२२॥ मैं इस संसाररूपी समुद्रमें अनादि कालसे परिभ्रमण कर रहा हूँ, मैंने आजतक भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञारूपी उत्कृष्ट देवताका कभी चिन्तवन नहीं किया। इसप्रकारके चिन्तवनका अवलंबन लेकर मन वचन कायकी एकाग्रतासे श्रद्धापूर्वक शुद्धभावोंसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। यह धर्मध्यान समस्त अर्थोंकी सिद्धि करनेवाला है, भगवानकी आज्ञाका विचय अर्थात् ध्यान करना आज्ञाविचय कहलाता है ॥२३–२५॥ इस समस्त पृथ्वीपर जिनशासनका माहात्म्य किसप्रकार वृद्धिको प्राप्त हो, इसप्रकारके चिन्तवनपूर्वक जिनशासनके माहात्म्यका चिन्तवन

स्याद्विश्वभूतले । इति चिन्तापरत्वेन तन्माहात्म्यविचिन्तनम् ॥२६॥ जिनशासनस्य संवृद्धेश्चिन्तनं शुभभावतः । तदाज्ञाविचयं प्राहुरागमे धर्मधीश्वराः ॥२७॥ श्रीस्याद्वादसुसिद्धांतत्क्षुण्णोऽजेयः कथं भवेत् । स्वचित्ते चिन्तनं चैतत् पौनः पुन्यं दिवानिशम् ॥२८॥ मिथ्याकान्तमतैः सार्द्धं मिथ्यादुर्वादिभिः समम् । कृत्वा वादं च शास्त्रार्थं जिनशासनदीपनम् ॥२९॥ स्थापनं शासनस्यात्र भुवि कृत्वा प्रभावना । वर्द्धनं शासनस्यापि शक्त्या भक्त्या सुभावतः ॥३०॥ श्रीशासनप्रभावाय चिन्तनं च विचारणम् । तदर्थं मनसा वाचा कायेन तत्सुधारणम् ॥३१॥ स्याद्वादशासनस्यात्र वृद्धिर्या चिन्त्यते बुधैः । तदाज्ञाविचयं ध्यानं प्रोक्तं धर्मप्रभावकम् ॥३२॥ जिनेश्वररथस्यात्र भ्रामणं सूत्सवेन यत् । श्रीशासनस्य माहात्म्यद्योतकं हि कथं भवेत् ॥३३॥ तदर्थं च महाभक्त्या भूयो भूयो विचारणम् । तदाज्ञाविचयं नाम ध्यानं माहात्म्यवर्द्धकम् ॥३४॥

करना अथवा शुभ परिणामोंसे जिनशासनकी वृद्धिका चिंतवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है, ऐसा धर्मके ईश्वर भगवान अरहंतदेवने कहा है ॥२६–२७॥ यह स्याद्वादरूप सिद्धान्त अक्षुण्ण और अजेय किस प्रकार हो ? इस प्रकार रात-दिन वार बार अपने हृदयमें उस सिद्धांतका चिन्तवन करना, आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है, अथवा मिथ्या एकांत मतको माननेवालोंके साथ वा मिथ्यादृष्टिवादी प्रतिवादियोंके साथ वाद-विवादकर वा शास्त्रार्थकर जिनशासनका माहात्म्य प्रगट करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है । अथवा जिनशासनकी स्थापना करना, उसकी प्रभावना करना, अथवा शक्तिभक्तिपूर्वक श्रेष्ठ परिणामोंसे जिनशासनकी वृद्धि करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है । अथवा जिनशासनका प्रभाव प्रगट करनेके लिये विचार करना, चिन्तवन करना अथवा मन, वचन और कायसे उस जिनशासनको शुद्ध रखना भी आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है । बुद्धिमान लोग जो स्याद्वादमय इस जिनशासनकी वृद्धिका चिन्तवन करते हैं, उसको भी भगवान जिनेन्द्रदेव धर्मकी प्रभावना करनेवाला आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥२८-३२॥ भगवान जिनेन्द्रदेवके शासनके माहात्म्यको प्रगट करनेवाला, भगवान जिनेन्द्रदेवका रथ बड़े उत्सवके साथ किसप्रकार निकले इसप्रकार भक्तिपूर्वक वार वार चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है । यह ध्यानको बढ़ानेवाला है ॥३३–३४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका महाभिषेक अथवा पूजनके द्वारा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला जिनशासनका माहात्म्य किस प्रकार प्रगट हो ? इस प्रकारके

श्रीमज्जिनेन्द्रबिम्बस्य महास्नपनपूजनैः । श्रीशासनस्य माहात्म्यं कथं स्याद्विस्मयावहम् ॥३५॥ तदर्थं हि महाभक्त्यैकाग्रेनात्र सुचिन्तनम् । एवमेव जिनाज्ञायाः प्रभावस्यविचिन्तनम् ॥३६॥ तदाज्ञाविचयं ध्यानं जिनाज्ञावर्द्धनं परम् । श्रुतज्ञानं महादिव्यं त्रैलोक्यज्ञापकं शुभम् ॥३७॥ वर्णैः पदैर्विभिन्नं हि जिनेन्द्रैः कथितं परम् । श्रुतज्ञानस्य माहात्म्यं चिन्तनं मननं तथा ॥३८॥ रोचनं स्पर्शनं चैव धर्म्यध्यानं तदुच्यते । श्रीमज्जिनेन्द्रदेवेन शासनं प्रतिपादितम् ॥३९॥ रत्नत्रयात्मकं शुद्धं महद्भिरवधारितम् । तद्धि प्रतिष्ठितं स्वेषु चात्मकल्याणहेतवे ॥४०॥ शिवप्राप्तिश्चतेनैव तस्माच्छ्रेयस्करं मतम् । या चाज्ञा शासनस्यात्र जिनाज्ञा सैव कथ्यते ॥४१॥ मत्वेति शासनाज्ञायाश्चिन्तनं मननं तथा । एकाग्रेन सुदृक्शुद्धया तदाज्ञाविचयं विदुः ॥४२॥ कथं वात्र सुगृह्णीयुरिमे जीवाः सुदर्शनम् । आज्ञाश्रद्धानपूर्वं हि भवाब्धेस्तारकं परम् ॥४३॥ एकाग्रेन तदर्थं हि चान्यचिन्तां विहाय च । चिन्तनं मननं भक्त्या तदाज्ञाविचयं विदुः

---

कार्य करनेके लिये महाभक्तिपूर्वक एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना अथवा इसीतरहसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रभावचिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है । यह धर्मध्यान भी भगवानकी आज्ञाको बढ़ानेवाला है और सर्वोत्कृष्ट है । इस संसारमें श्रुतज्ञान भी महादिव्य है, तीनों लोकोंका ज्ञान उत्पन्न करानेवाला है, शुभ है, वर्ण वा पदोंसे अनेक प्रकारका है और भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है । ऐसे इस श्रुतज्ञानका माहात्म्य प्रकट करना, चिन्तवन करना, मनन करना, श्रद्धा करना आदि सब धर्मध्यान कहलाता है । भगवान जिनेन्द्रदेवने अपना शासन रत्नत्रयात्मक बतलाया है । वह शासन शुद्ध है, महापुरुष उसे धारण करते हैं ; ऐसे इस रत्नत्रयात्मक शासनको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये अपने आत्मामें धारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है ॥३५--४०॥ इस रत्नत्रयरूप जिनशासनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिये यह शासन कल्याण करनेवाला है । इस शासनकी जो आज्ञा है, वही आज्ञा भगवान जिनेन्द्रदेवकी समझनी चाहिये । यही समझकर जिनशासनकी आज्ञाका चिन्तवन करना, मनन करना, सम्यग्दर्शनकी शुद्धतापूर्वक एकाग्र मनसे उसका ध्यान करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४१--४२॥ ये संसारी जीव संसारसे पार करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शनको भगवानकी आज्ञाको श्रद्धानपूर्वक कब और किस प्रकार धारण करेंगे ? इसप्रकार अन्य सब चिन्तवनोंको रोककर एकाग्रमनसे

॥४४॥ यद्व्यवहारचारित्रक्रियाकाण्डप्रभासकम् । श्रीमज्जिनागमश्चास्ति तत्सत्यं च प्रमाणकम् ॥४५॥ तत्तादृशं हि नान्यच्च नान्यथा जातुचिद्भवत् । जिनागमस्य या चाज्ञा जिनाज्ञा सैव कथ्यते ॥४६॥ मत्वेति श्रद्धया भक्त्या जिनाज्ञाप्रतिपालनम् । अन्यचिन्तां निरुध्यैकाग्रेणाज्ञाचिन्तनं परम् ॥४७॥ मननं स्पर्शनं चैव रोचनं च विचारणम् । प्रसारणं स्वचित्तेऽस्मिन् तदाज्ञाविचयं विदुः ॥४८॥ आज्ञाविचयसद्ध्यानात्तीर्यते स भवार्णवः । लभ्यते शिवसौख्यं हि कर्मचक्रं च भिद्यते ॥४९॥ जायते दर्शनं शुद्धं भवबन्धनभेदकम् । देवेन्द्राणां परा सम्पज्जायते सुतरां हि सा ॥५०॥ आज्ञाविचयसद्ध्यानं ध्यातं तीर्थकरैरपि । गणधरैश्च तद्ध्यातं ध्यातं च योगिभिः सदा ॥५१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ध्यातव्यं कर्महानये । आज्ञाविचयसद्ध्यानं भव्येन शुद्धचेतसा ॥५२॥ जगति जिनवराज्ञां चिन्तनं यः करोति । परमविमलभावात् रोचते

---

भक्तिपूर्वक चिन्तवनकर मनन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है ॥४३–४४॥ व्यवहार, चारित्र और क्रियाकांडको प्रकाशित करनेवाला जो भगवान जिनेन्द्रदेवका आगम है, वही सत्य है और प्रमाण है। इस जिनेन्द्रदेवके आगमके समान अन्य कोई आगम नहीं है और न अन्यप्रकारसे कभी आगम हो सकता है, आगमकी जो आज्ञा है, वही भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है, ऐसा मानकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करना, अन्य समस्त चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे चिंतवन करना, मनन करना, विचार करना, उसमें प्रेम करना, उसको फैलाना और चित्तमें धारण करना आदि सब आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४५--४८॥ इस आज्ञाविचय नामके श्रेष्ठ ध्यानसे संसाररूपी समुद्र पार कर लिया जाता है, मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है, कर्मोंके सब समूह नष्ट हो जाते हैं, संसारके बध-बंधनको नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और देवोंके इंद्रोंकी सर्वोत्कृष्ट संपत्ति अपने आप आ जाती है ॥४९--५०॥ इस आज्ञाविचय धर्मध्यानको भगवान तीर्थङ्कर परमदेव भी धारण करते हैं, गणधर भी धारण करते हैं और योगीलोग भी सदा धारण करते हैं ॥५१॥ इसलिये भव्य जीवोंको अपने शुद्ध हृदयसे सब तरहके प्रयत्नकर अपने कर्मको नाश करनेके लिये इस आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानको अवश्य धारण करना चाहिये ॥५२॥ इस संसारमें भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको जो चिंतवन करता है, परम

श्रद्धाति । स हि तरति भवाब्धौ कर्मचक्रं च हत्वा स च धरति सुधर्मं सर्वसौख्यप्रदं वा ॥५३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे आज्ञाविचयध्यानप्ररूपणो नाम सप्तदशोधिकारः ॥

---

निर्मलभावोंसे जो उसपर रुचि वा श्रद्धान करता है; वह अपने समस्त कर्मोंको नाशकर इस संसार समुद्रसे अवश्य पार हो जाता है तथा समस्त सुखोंको देनेवाले इस श्रेष्ठ धर्मको प्राप्त हो जाता है ॥५३॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें आज्ञाविचयधर्मध्यान-को निरूपण करनेवाला यह सत्रहवां अधिकार समाप्त हुआ ।



विनाशकम् । मिथ्यामतावसक्तानां कथं च स्यात्समुद्धरः ॥२८॥ मिथ्यामताच्च तेषां हि समुद्धारो हि चिन्त्यते । अपायविचयं ध्यानं तन्मतं हि जिनेश्वरैः ॥२९॥ जीवा गृहीतमिथ्यात्वभावेन प्रेरिता भृशम् । संसाराब्धौ प्रकुर्वन्ति मज्जनोन्मज्जनं चिरम् ॥३०॥ हिताहितं न जानन्ति मिथ्याधर्मं चरन्ति च । तेनैव हेतुना दुःखं सहन्ते ते हि दारुणम् ॥३१॥ अद्यापि न गृहीतस्तैः सद्धर्मो जिनभाषितः । केनोपायेन तेषां हि धर्मप्राप्तिर्दृढा भवेत् ॥३२॥ तदर्थं चिन्तनं नूनमेकाग्रमनसा हि यत् । अपायविचयं ध्यानं तदिह स्यात्सुखावहम् ॥३३॥ अनादिकालसंभूतं भ्रममोहसमुद्भवम् । कथं निवार्यते तद्धि दीर्घसंसारकारकम् ॥३४॥ तद्भ्रमस्य विनाशाय शुद्धबुध्या विचिन्तनम् । अपायविचयाभिख्यं ध्यानं तदिह कथ्यते ॥३५॥ अद्यापि मे न संजातं सम्यक्त्वं कर्महारकम् । तेन भ्रमामि संसारे तन्मे स्यादिह वा कथम् ॥३६॥ तत्प्राप्त्यर्थं निजे चित्ते

---

पापोंके नाशका चिन्तवन करना, घोर पापोंसे छुड़ानेके लिये चिन्तवन करना पापोंका नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। तीव्र मिथ्यात्वमें लगे हुए जीवोंका उद्धार कैसे होगा ? इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीवोंके उद्धारका बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२३–२९॥ गृहीतमिथ्यात्वसे प्रेरित हुए ये जीव इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालसे डूबते उछलते रहते हैं, वे जीव अपने हित वा अहितको नहीं जानते और मिथ्याधर्मको पालन करते हैं, इसीलिये वे जीव सदा दारुण दुःख सहन किया करते हैं। इन जीवोंने आजतक भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ श्रेष्ठ धर्म धारण नहीं किया है। उस धर्मकी प्राप्ति इन जीवोंको किस उपायसे होगी ? इसप्रकार एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना, सुख देनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३०–३३॥ दीर्घ संसारको उत्पन्न करनेवाला तथा महामोहसे उत्पन्न हुआ अनादिकालसे चला आया यह भ्रम किस प्रकार दूर हो सकता है। उस भ्रमको दूर करनेके लिये शुद्ध बुद्धिसे बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका ध्यान कहलाता है ॥३४—३५॥ इस संसारमें मुझे कर्मोंका नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन आजतक प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये मैं इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा हूँ, वह सम्यग्दर्शन मुझे कब प्राप्त होगा ? उसकी प्राप्तिके लिये अपने हृदयमें बार बार चिन्तवन करना जिनमार्गको प्रकाशित करनेवाला उपाय-

विचयाद्योगी प्रददात्यभयं महत् ॥७॥ अपायविचयेनैव तीर्थंकरा भवन्ति ते । सर्वसत्त्वानुकम्पांगा जीवमात्राभयप्रदाः ॥८॥ मिथ्यामतवशेनात्मा करोति धर्मघातनम् । सत्यं हितकरं धर्मं द्वेष्टि निन्दति वा परम् ॥९॥ मिथ्यामतप्रभावेण करोति स्वात्महिंसनम् । बम्भ्रमीति च संसारे नानादुःखनिदानके ॥१०॥ केनोपायेन सद्बुद्धिर्ह्यस्य स्याद्विगतभ्रमा । कदास्य जैनधर्मस्य प्राप्तिः स्याद्धि सुखावहा ॥११॥ तदर्थं शुद्धभावेन भूयो भूयो विचारणम् । अन्यचिन्तां निराकृत्य तस्यैकाग्रेण चिन्तनम् ॥१२॥ अपायविचयं ध्यानं तत्स्यात्सद्धर्मदायकम् । सर्वसौख्यकरं शीघ्रं जीवानां भवमोचकम् ॥१३॥ तीव्रमिथ्यात्वभावेन विवेकविकला जनाः । सद्धर्मध्वंसकं पापं कुर्वन्ति स्वार्थचेष्टया ॥१४॥ स्त्रीणां पुनर्विवाहं ते कुर्वन्ति पापलिप्सया । तत्प्रचारोपदेशं वा मिथ्यात्वेन च कुर्वते ॥१५॥ तेन पापेन ते जीवा दीना श्वभ्रे पतन्ति च । महाक्लेशं महापीडां सहन्ते ते च दुर्धियः ॥१६॥ केनोपायेन सद्बुद्धिरेषां स्याद्विगतभ्रमा । इत्यपापस्य तेषां हि चिन्तनं यत्पुनःपुनः ॥१७॥ सर्वचिन्तां

---

पुरुषोंको महाअभयदान देते हैं ॥५-७॥ इसी अपायविचय धर्मध्यानसे समस्त जीवोंको अनुकंपित करनेवाले और जीवमात्रको अभयदान देनेवाले तीर्थंकर होते हैं ॥८॥ मिथ्यात्व कर्मके उदयसे यह आत्मा धर्मका घात करता है, आत्माका हित करनेवाले यथार्थ धर्मसे द्वेष करता है वा उसकी खूब निन्दा करता है । मिथ्यात्व मनके प्रभावसे यह जीव अपने आत्माका घात करता है और अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसारमें परिभ्रमण करता रहता है । ऐसा यह जीव किस उपायसे श्रेष्ठ बुद्धिको धारण करेगा ? कब अपने भ्रमको दूर करेगा ? तथा सुख देनेवाली जैनधर्मकी प्राप्ति इसे कब होगी ? इसके लिये शुद्ध भावोंसे बार बार विचार करना, अन्य सब चिन्तवनोंको रोककर एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान है । यह ध्यान सद्धर्मको देनेवाला है और संसारसे छुड़ानेवाला है ॥९-१३॥ तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे ये जीव विवेकरहित हो जाते हैं और अपने स्वार्थके वश होकर धर्मको नाश करनेवाले महापाप उत्पन्न करते रहते हैं । वे जीव पापोंकी प्रवृत्ति करनेकी इच्छासे स्त्रियोंका पुनर्विवाह करते हैं और तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे उसका प्रचार करते हैं वा उपदेश देते हैं, उसी पापके उदय से वे दीन जीव नरकमें पड़ते हैं और दुर्बुद्धिको धारण करनेवाले वे जीव महापीडा और महाक्लेशोंको सहते हैं । ऐसे जीवोंका भ्रम कब दूर होगा ? और उनको कब सद्बुद्धि होगी ? इसप्रकार उनके पापोंको दूर करनेके लिये मन, वचन और कायकी

॥ १४६ ॥

निराकृत्यैकाग्रेण च त्रियोगतः। अपायविचयं ध्यानं दुर्बुद्धेर्नाशकं परम ॥१८॥ महामिथ्यात्वसंयुक्ता जीवाः कुर्वन्त्यघं महत्। अन्तर्जातिविवाहेन विजातिग्रहणेन वा ॥१९॥ नानादुःखकरं निंद्यं मोक्षमार्गविघातकम्। तेन पापेन ते जीवाः संसारे पर्यठन्ति च ॥२०॥ जन्ममृत्युभयक्लेशं वराकाः प्राप्नुवन्ति ते। केनोपायेन चैतेषां निवृत्तिः स्यात्कुपापतः ॥२१॥ अन्यचिन्तां निराकृत्य तस्यैकाग्रेण चिन्तनम्। अपापविचयं ध्यानं तत्स्यात्पापविलोपकम् ॥२२॥ तीव्रमिथ्यात्वमासाद्य जीवाश्चाक्षसुखेप्सया। घोरपापकरं भ्रष्टं निंद्यं शास्त्रं लिखन्ति च ॥२३॥ सत्यधर्माद्विरुद्धं हि मोक्षमार्गविनाशकम्। ते लिखन्ति कुशास्त्रेषु मिथ्यामतसुपोषकम् ॥२४॥ व्यभिचारे न दोषोऽस्ति न दोषः पलभक्षणे। अभक्ष्यभक्षणे नैव मधुमद्यादिसेवने ॥२५॥ न कश्चिदस्ति सर्वज्ञो न वीरोऽस्ति जिनोऽथवा। न पुण्यं नैव पापं वा न मोक्षं च लिखन्ति ते ॥२६॥ दयादृष्टिं समादाय तेषामुद्धरणाय वै। घोरापायाद्धि चैकाग्रैस्तदपायस्य चिन्तनम् ॥२७॥ अपायविचयं ध्यानं विदुः पाप-

---

एकाग्रतासे अन्य समस्त चिन्ताओंको रोककर बार बार चिन्तवन करना दुर्बुद्धिको नाश करनेवाला सर्वोत्कृष्ट अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१४–१८॥ तीव्र मिथ्यात्वसे घिरे हुए जीव अंतर्जातीय वा विजातीय विवाहकर अनेक प्रकारके दुःख उत्पन्न करनेवाले, मोक्षमार्गको नाश करनेवाले और महानिन्द्य ऐसे महापापोंको उत्पन्न करते हैं। जिन पापोंके उदयसे वे जीव इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं और उसमें वे दुःखी जीव जन्म, मरण और भय आदिक अनेक क्लेशोंको सहन करते हैं। ऐसे ये जीव किस उपायसे इन महापापोंसे छूट सकते हैं? इसप्रकार अन्य सब चिन्ताओंसे हटकर एकाग्र मनसे चिन्तवन करना समस्त पापोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१९–२२॥ तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे ये जीव केवल इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छासे घोर पाप उत्पन्न करनेवाले निन्द्य और भ्रष्ट शास्त्रोंको लिखते हैं। यथार्थ धर्मके विरुद्ध और मोक्षमार्गको नाश करनेवाले शास्त्र लिखते हैं। वे लोग उन शास्त्रोंमें मिथ्यामतकी पुष्टि लिखते हैं; व्यभिचारमें कोई दोष नहीं है, मांसभक्षणमें कोई दोष नहीं है, अभक्ष्यभक्षणमें कोई दोष नहीं है, मद्य और मधु आदिके सेवनमें कोई दोष नहीं है, इस संसारमें कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। न महावीर आदि तीर्थंकर ही हुए हैं, संसारमें न कोई मोक्ष है, न पुण्य है और न कोई पाप है। इसप्रकार वे सब झूठी बातें लिखते हैं, ऐसे जीवोंपर दयादृष्टि रखकर उनका उद्धार करनेके लिये एकाग्रमनसे उनके

विनाशकम् । मिथ्यामतावसक्तानां कथं च स्यात्समुद्धरः ॥२८॥ मिथ्यामताच्च तेषां हि समुद्धारो हि चिन्त्यते । अपायविचयं ध्यानं तन्मतं हि जिनेश्वरैः ॥२९॥ जीवा गृहीतमिथ्यात्वभावेन प्रेरिता भृशम् । संसाराब्धौ प्रकुर्वन्ति मज्जनोन्मज्जनं चिरम् ॥३०॥ हिताहितं न जानन्ति मिथ्याधर्मं चरन्ति च । तेनैव हेतुना दुःखं सहन्ते ते हि दारुणम् ॥३१॥ अद्यापि न गृहीतस्तैः सद्धर्मो जिनभाषितः । केनोपायेन तेषां हि धर्मप्राप्तिर्दृढा भवेत् ॥३२॥ तदर्थं चिन्तनं नूनमेकाग्रमनसा हि यत् । अपायविचयं ध्यानं तदिह स्यात्सुखावहम् ॥३३॥ अनादिकालसंभूतं भ्रममोहसमुद्भवम् । कथं निवार्यते तद्धि दीर्घसंसारकारकम् ॥३४॥ तद्भ्रमस्य विनाशाय शुद्धबुध्या विचिन्तनम् । अपायविचयाभिख्यं ध्यानं तदिह कथ्यते ॥३५॥ अद्यापि मे न संजातं सम्यक्त्वं कर्महारकम् । तेन भ्रमामि संसारे तन्मे स्यादिह वा कथम् ॥३६॥ तत्प्राप्त्यर्थं निजे चित्ते

---

पापोंके नाशका चिन्तवन करना, घोर पापोंसे छुड़ानेके लिये चिन्तवन करना पापोंका नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। तीव्र मिथ्यात्वमें लगे हुए जीवोंका उद्धार कैसे होगा ? इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीवोंके उद्धारका बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२३—२९॥ गृहीतमिथ्यात्वसे प्रेरित हुए ये जीव इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालसे डूबते उछलते रहते हैं, वे जीव अपने हित वा अहितको नहीं जानते और मिथ्याधर्मको पालन करते हैं, इसीलिये वे जीव सदा दारुण दुःख सहन किया करते हैं। इन जीवोंने आजतक भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ श्रेष्ठ धर्म धारण नहीं किया है। उस धर्मकी प्राप्ति इन जीवोंको किस उपायसे होगी ? इसप्रकार एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना, सुख देनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३०—३३॥ दीर्घ संसारको उत्पन्न करनेवाला तथा महामोहसे उत्पन्न हुआ अनादिकालसे चला आया यह भ्रम किस प्रकार दूर हो सकता है। उस भ्रमको दूर करनेके लिये शुद्ध बुद्धिसे बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका ध्यान कहलाता है ॥३४—३५॥ इस संसारमें मुझे कर्मोंका नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन आजतक प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये मैं इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा हूँ, वह सम्यग्दर्शन मुझे कब प्राप्त होगा ? उसकी प्राप्तिके लिये अपने हृदयमें बार बार चिन्तवन करना जिनमार्गको प्रकाशित करनेवाला उपाय-

भूयो भूयो विचार्यते। सदुपायाभिधं ध्यानं तत्स्यान्मार्गप्रकाशकम् ॥३७॥ कदाहं कर्मसंघातं मिथ्याज्ञानेन संचितम्। जिनधर्मकुठारेण छिनद्मि तृणवद्भृशम् ॥३८॥ तदर्थं चिन्तनं चैकाग्रेण योगत्रयेण वा। तदपयाभिधं ध्यानं मिथ्यातिमिरनाशकम् ॥३९॥ कथं स्यामत्र निर्द्वन्द्वो भावलिंगी यतिर्ह्यहो। कर्मारयो विपक्षास्ते कथं नश्यन्ति मेऽधुना ॥४०॥ इति चिन्तापरत्वेन भूयो भूयो विचारणम्। एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानमपायनामभाक् ॥४१॥ कथं जाज्वल्यमानो हि कपायाग्निः प्रशाम्यति। विषयाशासमीरैर्यो भस्मयन् विश्वभूतलम् ॥४२॥ वेन दंदह्यमानोऽहं तापान्मूर्च्छामुपागतः। अाज्ञाना-त्सेवितो मिथ्याधर्माग्निः शान्तये मुदा ॥४३॥ हा हा मोहान्न हि ज्ञातं जिनधर्मसुधारसम्। तत्प्राप्तिश्च कथं स्यान्मे तदुपायस्य चिन्तनम् ॥४४॥ एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानमपायसंज्ञकम्। कपायाग्निश्च मिथ्याग्निस्तेन शाम्यति निश्चयम् ॥४५॥ कर्मेन्धनं कदा भस्मीकरोमि ध्यानवह्निना। जन्ममृत्युविनाशार्थं जिनदीक्षां कदा दधे ॥४६॥ कथं स्वात्मनि चात्मानं स्थापयामि तथा-

---

विचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३६—३७॥ जिसप्रकार कुल्हाड़ेसे लकड़ी काटी जाती है, उसीप्रकार मिथ्याज्ञानसे इकट्ठे हुए कर्मोंके समूहको मैं जिनधर्मरूपी कुठारसे कब नाश करूँगा? उन कर्मोंका नाश करनेके लिये मन, वचन और कायकी एकाग्रतासे बार बार चिन्तवन करना मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३८—३९॥ मैं भावलिंगी मुनि कब होऊँगा? और ये मेरे विपक्षी कर्मरूप शत्रु किसप्रकार नष्ट होंगे? इसप्रकार चिन्तवनकर एकाग्र मनसे बार बार विचार करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४०—४१॥ यह देदीप्यमान कपायरूपी अग्नि विषयोंकी आशारूपी वायुके लगनेसे समस्त संसारको भस्म कर रही है, उसी अग्निसे जला हुआ मैं उसके संतापसे मूर्च्छाको प्राप्त हो रहा हूँ, वह कषायरूपी अग्नि कब शांत होगी? इसीप्रकार मैं अपने अज्ञानसे मिथ्यात्वरूपी अग्निको सेवन कर रहा हूँ, उस कपाय और मिथ्यात्वरूपी अग्निको शांत करनेके लिये मैंने मोहनीय कर्मके उदयसे जिनधर्मरूपी अमृतको नहीं जाना। उस जैनधर्मकी प्राप्ति मुझे किस प्रकार होगी? उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपायका चिन्तवन करना उपायविचय वा अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। इस धर्मध्यानसे कपायरूपी अग्नि और मिथ्यात्वरूपी अग्नि अवश्य ही शांत हो जाती है ॥४२—४५॥ मैं ध्यानरूपी अग्निसे कर्मरूपी ईंधनको कब भस्म करूंगा? तथा जन्म मरणको नाश करनेके लिये जिनदीक्षा

त्मना। निर्विकल्पसमाधौ वा धारियामि कथं मुदा ॥४७॥॥ इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रमनसा हि यत्। चिंतनं तदपायाख्यं ध्यानं कर्मविनाशकम् ॥४८॥ सम्यग्रत्नत्रयं कर्मनाशायात्र कथं दधे। उपायविचयं ध्यानं तदुपायस्य चिन्तनम् ॥४९॥ कथं स्यात्सर्वजीवस्य रक्षा मे जिनधर्मतः। तदर्थं चिन्तनं ध्यानमुपायविचयाभिधम् ॥५०॥ व्यतीतोऽनन्तकालो मे भ्रमतो हा भवाटवीम्। अद्यापि न मया प्राप्तं तस्यास्तीरं विमोहिना ॥५१॥ श्रीजिनधर्मपांथस्य साहाय्येन च प्राप्यते। साहाय्यं हि कथं मे स्यात्स पांथोऽत्र च सङ्कटे ॥५२॥ तत्तीरप्राप्तये शुद्धभावेन चिन्तयाम्यहम्। येन भवाटवीतीरं सुखी प्राप्य भवाम्यहम् ॥५३॥ इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रमनसा पुनः। चिन्तनं तदपायाख्यं ध्यानं दुर्गतिदायकम् ॥५४॥ मिथ्यात्वेन च ह्यन्धोऽहं तत्त्वं पश्यामि नैव वा। तस्मादेव भवागर्ते पतितो जनुपांधवत् ॥५५॥ चिरकालं हि तत्रैव सहे दुःखं सुदा-

कब धारण करूंगा? और अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें कब स्थापन करूंगा अथवा इस अपने आत्माको प्रसन्न होकर निर्विकल्पक समाधिमें कब स्थापन करूंगा? इसप्रकारके चिंतवनपूर्वक एकाग्रमनसे चिंतवन करना कर्मोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४६–४८॥ कर्मोंको नाश करनेके लिये मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति कब होगी? इसप्रकार रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये उपायोंका चिन्तवन करना उपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४९॥ मेरे इस जैनधर्मसे सब जीवोंकी रक्षा किसप्रकार होगी? इसप्रकार चिन्तवन करना उपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥५०॥ हाय! हाय! इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण करते हुए मुझे अनंत काल व्यतीत हो गया तो भी विमोहित होनेवाले मुझे आजतक उसका किनारा प्राप्त नहीं हुआ, उस संसाररूपी वनका किनारा इस जैनधर्मरूपी पांथकी सहायतासे ही प्राप्त हो सकता है, परंतु इस संकटमें उस जैनधर्मरूपी पांथका सहारा कब मिल सकता है? इसप्रकार उस संसारका किनारा प्राप्त करनेके लिये मैं शुद्ध भावोंसे चिंतवन करूंगा, जिससे कि संसाररूपी वनका किनारा पाकर मैं अत्यन्त सुखी हूँगा। इसप्रकार चिंतवन करते हुए एकाग्रमनसे चिंतवन करना दुर्गतिको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥५१–५४॥ मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मैं जन्मान्ध पुरुषके समान अंधा हो रहा हूं, इसीलिये मैं तत्त्वोंको देख नहीं सकता और इसीलिये मैं इस संसाररूपी गढ़ेमें पड़ा हुआ हूं। उसी संसाररूपी गढ़ेमें पड़ा हुआ मैं दारुण दुःखको सहन कर रहा हूं, उस संसाररूपी गढ़ेसे शीघ्र ही सुख देनेवाला मेरा उद्धार कब होगा? अथवा उस गढ़ेसे उठाकर

रुणम् । तस्मात्स्यान्मे कथं शीघ्रमुद्धारः खलु सौख्यदः ॥५६॥ मामुद्धृत्य हि तस्माद्वा कोऽसौ निष्कासयत्यपि । लोके हि श्रूयते चात्र तस्मान्निष्कासने पटुः ॥५७॥ एको हि जिनधर्मोऽस्ति स ग्राह्यो हि मयाऽधुना । इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रेण च चिन्तनम् ॥५८॥ भवदुःखोद्भवापायस्य चिन्तनविचारणे । तदपायाभिधं ध्यानं भवदुःखविनाशकम् ॥५९॥ व्यसनानि कदा रुन्धे नानादुःखकराणि च । कथं केन प्रकारेण तदपायस्य चिन्तनम् ॥६०॥ त्रिलोकजयिनां कामं कथं जेष्यामि साम्प्रतम् । कथं वा मोहराजं तं जेष्यामि भवदायकम् ॥६१॥ तदर्थमत्र चैकाग्रचिन्तासंरोधपूर्वकम् । चिन्तनं मननं ध्यानं तदपायाभिधं मतम् ॥६२॥ कर्मास्रवनिरोधो मे कथं स्यात्सौख्यदायकः । स्वचित्तेऽत्र तदर्थं हि स्थापयामि कथं पुनः ॥६३॥ गुप्तिसमितिचारित्रधर्मादीन् वा शिवात्मकान् । इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रमनसा स्वयम् ॥६४॥ चिन्तनं मननं चित्ते भूयो भूयो विचारणम् । अपायविचयं ध्यानं कर्मास्रवनिरोधकम् ॥६५॥ देहात्मको हि दृश्येऽहं यद्यपि कर्मबन्धतः । तथाप्यहं जडो नैव नैवास्मि विचेतनः ॥६६॥ मयि वा मत्स्वरूपोऽहं मद्गुणेन दृगादिना । नान्योहं

---

मुझे कौन बाहर निकालेगा ? लोकमें सुना जाता है कि उस संसाररूपी गढ़से निकालनेमें एक जैनधर्म ही चतुर है । इसलिये अब मुझे उसी जैनधर्मको धारण करना चाहिये । इस प्रकारके चिन्तवनपूर्वक एकाग्र मनसे संसारके दुःखोंसे उत्पन्न होनेवाले अपाय वा नाशका चिंतवन करना, उसका मनन करना संसारके समस्त दुःखोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥५५-५९॥ अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले इन व्यसनोंको मैं कब और किसप्रकार रोकूंगा ? इसप्रकार व्यसनोंके नाशका चिन्तवन करना अथवा तीनों लोकोंको जीतनेवाले इस कामको अब मैं कैसे जीतूंगा ? अथवा संसारको बढ़ानेवाले इस मोहराजको मैं कैसे जीतूंगा ? इसप्रकार अन्य सब चिंताओंको रोककर एकाग्रमनसे चिंतवन वा मनन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥६०-६२॥ समस्त सुखोंको देनेवाला, कर्मोंके आस्रव-निरोधकरूप संवर किस प्रकार होगा ? और उस संवरके लिये मैं अपने हृदयमें गुप्ति, समिति, चारित्र और धर्म आदि कल्याण करनेवालोंको किसप्रकार धारण करुंगा ? इसप्रकारके चिंतवनपूर्वक एकाग्र मनसे अपने मनमें विचार करना, मनन करना और बार बार चिन्तवन करना कर्मोंके आस्रवको रोकनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥६३-६५॥ यद्यपि मैं कर्मबन्धके कारण शरीररूप दिखाई देता हूं, तथापि न तो मैं जड़ हूं और न अचेतन हूं । मैं सम्यग्द-

नान्यथाभूतो नान्यरूपो भवाम्यहम् ॥६७॥ यदा मे कर्मबन्धः स्याद्भिन्नः स्वात्मप्रदेशतः । भविष्यामि तदाहं वै शुद्धः स्वर्ण इवाद्भुतः ॥६८॥ कदा मे कर्मबन्धोऽसौ नाशं यायात्तपोऽग्निभिः । इति कर्मविनाशाय चिन्तनं यत्पुनः पुनः ॥६९॥ चित्तैकाग्रनिरोधेन चानन्यमनसा स्वयम् । अपायविचयं ध्यानं तत्स्यात्कर्मप्रजालकम् ॥७०॥ ज्ञानादिकमदाष्टाभ्यो न स्याद्दोषो दृगादिषु । तदपायनिरासार्थं चिन्तनं यत्पुनः पुनः ॥७१॥ अपायविचयं ध्यानं मदाष्टकनिवारणम् । शल्यत्रयेण मेऽद्यापि घातितं शुद्धदर्शनम् ॥७२॥ शल्यत्रयनिरासार्थं चिन्तनं यत्पुनः पुनः । अपायविचयं ध्यानं शल्यत्रयनिवारणम् ॥७३॥ अयं मूढजनश्चात्र तत्त्वं वेत्ति न तत्त्वतः । अन्यथा मनुते देवमन्यथा मनुते गुरुम् ॥७४॥ अन्यथा हि विजानाति धर्मं हि पापकर्मसु । हा मोहकर्मणा सोऽयं वञ्चितो भ्रमितश्च वा ॥७५॥ केनोपायेन मोहोऽसौ जेतव्यो दुर्जयो हि सः । इति मोहनिरासार्थं चिन्तनं यत्पुनः पुनः ॥७६॥ चित्तैकाग्रनिरोधेन चानन्यमनसा हि वा । अपायविचयध्यानं तत्स्या-

र्शनादिक गुणोंके द्वारा अपने आत्मामें आत्मस्वरूप हूं; मैं आत्मासे न तो अन्य हूं, न अन्यथा हूं और न अन्यरूप हूं। मेरे आत्माके प्रदेशोंसे जब यह कर्मोंका बंध भिन्न हो जायगा तब मैं शुद्ध सुवर्णके समान अद्भुत चमत्कारको धारण करनेवाला हो जाऊंगा। वह मेरा कर्मबन्ध तपरूप अग्निसे कब नाशको प्राप्त होगा? इसप्रकार कर्मोंका नाश करनेके लिये अन्य सब चिंतवनोंको रोककर एकाग्रमनसे बार बार चिंतवन करना कर्मोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥६६-७०॥ ज्ञानादिकसे होनेवाले आठ मदोंके द्वारा मेरे सम्यग्दर्शनादिकमें दोष न आवे, इस प्रकार उन दोषोंका नाश करनेके लिये बार बार चिंतवन करना आठों मदोंको निवारण करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है। अबतक माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंने मेरे सम्यग्दर्शनका घात कर रक्खा है, यही समझकर तीनों शल्योंको दूर करनेके लिये बार बार चिन्तवन करना तीनों शल्योंको निवारण करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥७१-७३॥ ये अज्ञानी जीव वास्तवमें यथार्थ तत्त्वोंका स्वरूप नहीं जानते हैं, देव गुरु और धर्मके स्वरूपको भी अन्यथा समझते हैं ऐसे अज्ञानी लोग पाप कार्योंमें ही धर्म मान लेते हैं। दुःख है कि ऐसे अज्ञानी मोह कर्मके उदयसे ठगे गये हैं और इसीलिये वे परिभ्रमण कर रहे हैं। ऐसा वह दुर्जय मोह किस प्रकार जीता जा सकता है? किस उपायसे जीता जा सकता है? इसप्रकार मोहका नाश करनेके लिये अन्य समस्त

न्मोहनिवारकम् ॥७७॥ कालव्याघ्रमुखान्मां हि रक्षको जिन एव सः । अन्यः कोऽपि समर्थो न दीनं वालं हि संसृतौ ॥७८॥ कालव्याघ्रात्कथं रक्षा केनोपायेन मे भवेत् । इतीह स्वात्मरक्षार्थं तदपायस्य चिन्तनम् ॥७९॥ अन्यचिन्तानिरोधने चैकाग्रेण विचारणम् । अपायविचयं ध्यानं कालविध्वंसकं मतम् ॥८०॥ सर्वे जीवाः कथं शीघ्रं भवेयुः सुखिनो भृशम् । आसंसारोद्भवं दुःखं तेषां शाम्यति वा कथम् ॥८१॥ निध्याय चैवं मनसि तदपायस्य चिन्तनम् । सर्वजीवसुखार्थं हि चिन्तैकाग्रनिरोधतः ॥८२॥ तदपायाभिधं ध्यानं भव दुःख विनाशकम् । स्वर्गमोक्षप्रदं चैतच्छुद्धस्वात्मविचिन्तनम् ॥८३॥ भव्यानां हि परा शुद्धिः क्षोभक्षोदविवर्जिता । भविष्यति कदा केनोपायेन शिवसाधिका ॥८४॥ चिन्तयेत्तदुपायं हि योगी ध्याने निरन्तरम् । तदुपायाभिधं ध्यानं सदुपाये नियोजकम् ॥८५॥

---

चिन्तवनोंका निरोधकर एकाग्र मनसे वार वार चितवन करना मोहको निवारण करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥७४–७७॥ इस कालरूपी बाघके मुखसे रक्षा करनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेव ही हैं। इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस दीन वालकको कालसे रक्षा करनेवाला अन्य कोई नहीं है। इस कालरूपी बाघसे मेरी रक्षा किन किन उपायोंसे हो सकती है? इसप्रकार अपनी आत्मरक्षाके लिये काल ( जन्म-मरण ) के नाशका एकाग्र मनसे अन्य सब चिन्तवनोंको रोककर वार वार चिन्तवन करना जन्म-मरणरूप कालको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥७८–८०॥ ये समस्त संसारी जीव कब सुखी होंगे? संसारसे उत्पन्न हुए इनके दुःख किसप्रकार शांत होंगे? इसप्रकार मनमें धारणकर समस्त जीवोंका सुख चाहनेके लिये एकाग्रमनसे संसारके दुःखोंके नाशका वार वार चिन्तवन करना संसारके दुखोंको नाश करनेवाला, स्वर्गमोक्ष देनेवाला और आत्माके शुद्ध स्वरूपको चिन्तवन करानेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥८१–८३॥ समस्त दुःख और क्षोभसे रहित तथा मोक्षको देनेवाली इन भव्य जीवोंके आत्माकी शुद्धि किस उपायसे होगी? इसप्रकार जो योगी अपने ध्यानमें आत्माकी शुद्धिके उपायको निरंतर चिन्तवन करता रहता है, उसको श्रेष्ठ उपायमें नियुक्त करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥८४—८५॥ मोक्षमार्गका उपाय एक यह जैनधर्म ही है, पहले जो तीर्थंकर आदि मोक्षमें गये हैं, वे इसी जैनधर्मसे गये हैं तथा आगे

उपायो मोक्षमार्गस्य जिनधर्मः स एव हि। पुरा तेनैव मोक्षं च गतास्तीर्थंकरादयः ॥८६॥ गमिष्यन्तीह तेनैव जिनधर्मेण धार्मिकाः। जिनधर्मस्य जीवानां प्राप्तिः स्याच्च कथं ननु ॥८७॥ केनोपायेन वा तेषां तदुपायस्य चिन्तनम्। तदुपायाभिधं ध्यानं मोक्षमार्गस्य दीपकम् ॥८८॥ कीदृशैः सदुपायैर्वा सद्धर्मे मे मतिर्भवेत्। तेषां हि सदुपायानां चिन्तनं वा विचारणम् ॥८९॥ येन येन विचारेण याभिर्याभिः क्रियादिभिः। सुदृग्बोधव्रतादीनां हानिः स्यादात्मनो यदि ॥९०॥ तेषां तत्र निरासार्थं चित्तैकाग्रनिरोधतः। चिन्तनं शुद्धभावेन तदपायस्य यत्पुनः ॥९१॥ अपायविचयं ध्यानं सर्वपापनिवारकम्। कथितं श्रीजिनेन्द्रेण शिवाय दुःखहानये ॥९२॥ अतिविषयकुमार्गे भ्राम्यमाणो वराकः सहजकुमतिशिक्षाप्रेर्यमाणोऽन्धजीवः। जननमरणदुःखं दारुणं संचिनोति इह तदपि सुधर्मं नैव प्राप्नोति भक्त्या ॥९३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे अपायविचयध्यानप्ररूपणो नाम अष्टादशोऽधिकारः।

---

भी धार्मिक पुरुष इसी जैनधर्मसे मोक्ष जायेंगे, उस जैनधर्मकी प्राप्ति इन जीवोंको किस उपायसे और किस प्रकार होगी? इसप्रकार जैनधर्मकी प्राप्तिके उपायोंका चिन्तवन करना मोक्षमार्गको दिखलानेके लिये दीपकके समान उपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥८६-८८॥ अथवा ऐसे कौनसे उपाय हैं? जिनसे मेरी बुद्धि श्रेष्ठ धर्ममें लीन हो जाय, इसप्रकार उन उपायोंका चिन्तवन वा विचार करना भी उपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥८९॥ जिन जिन विचारोंसे वा जिन जिन क्रियाओंसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्र वा आत्माके गुणोंकी हानि होती हो, उन विचारों वा क्रियाओंको दूर करनेके लिये अन्य सब चिन्ताओंको रोककर शुद्ध भावोंसे बार बार चिंतवन करना समस्त पापोंको रोकनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है, इसीसे समस्त दुःख दूर होते हैं और इसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥९०—९२॥ अज्ञानजनित स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली कुबुद्धि और कुशिक्षासे प्रेरित हुआ यह दीन और अन्धा जीव विषय-कुमार्गमें अत्यन्त परिभ्रमण करता हुआ जन्म-मरणके दारुण दुःखोंको इकट्ठा करता रहता है तो भी भक्तिपूर्वक इस श्रेष्ठ धर्मको कभी धारण नहीं करता ॥९३॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें अपायविचयनामक धर्मध्यानको निरूपण करनेवाला यह अट्ठारहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# एकोनविंशोऽधिकारः।



कर्मणामुदयो यस्य चित्ते नैव विकारकः। तं वीतरागं योगीशमरनाथं नमाम्यहम् ॥१॥ अनादिकालतो जीवः पूर्वसंचितकर्मणाम्। भुज्यते चोदयेनैव भवावलिं सुदुर्द्धराम् ॥२॥ कर्मणां हि विपाको यः सुखदुःखादिकारकः। श्वभ्रतिर्यग्नृदेवादेर्विचित्रगतिदायकः ॥३॥ कर्मणामुदयस्तत्र चिन्त्यते हि मुमुक्षुणा। अन्यचिन्तानिरोधेन चैकाग्रमनसा हि सः ॥४॥ विपाकविचयं ध्यानं कर्मफलप्रदर्शकम्। श्रीमज्जिनेन्द्रदेवेन कथितं तज्जिनागमे ॥५॥ कर्मणामुदयो योऽत्र संसारोऽस्ति स एव वा। कर्मणामुदयो यावत्संसारस्तावदेव हि ॥६॥ इति मत्वा सुभव्येन कर्मोदयविचारणा। क्रियतेऽत्र सदैकाग्रचिन्ता संरोधपूर्वकम् ॥७॥ विपाकविचयं तद्धि ध्यानं निर्वेदवर्द्धकम्। निरंतरं सुभव्येन ध्यातव्यं कर्महानये

---

जिनके हृदयमें कर्मोंका उदय कुछ विकार उत्पन्न नहीं करता, ऐसे योगिराज वीतराग भगवान् अरनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यह जीव पहले संचित हुए कर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाली अत्यंत दुर्धर ऐसी जन्म-मरणरूपी संसारकी परंपराको अनादि कालसे भोगता चला आया है ॥२॥ इन कर्मोंका विपाक सुख दुःखादिकको देनेवाला है और नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवादिककी विचित्र गतियोंको देनेवाला है ॥३॥ इसप्रकार मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव अन्य सब चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे कर्मोंके उदयका जो चिंतवन करते हैं, उसको कर्मोंके फलको दिखलानेवाला विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने जिनागममें बतलाया है ॥४—५॥ जो कर्मोंका उदय है, वही संसार है। क्योंकि जबतक कर्मोंका उदय रहता है तभीतक संसार रहता है ॥६॥ यही समझकर भव्य जीवोंको कर्मोंके उदयका विचार करना चाहिये तथा अन्य समस्त चिंताओंको रोककर एकाग्र मनसे चिंतवन करना चाहिये।

॥८॥ सर्वे संसारिणो जीवा भुञ्जते हि चतुर्गतौ । कर्मोदयेन पीडां तां जन्ममृत्युभयात्मिकाम् ॥९॥ क्षणं क्षणमुदेत्यत्र नाना-दुःखप्रवर्तकः । सर्वसंसारिणां सोऽयं जन्ममृत्योश्च कारकः ॥१०॥ नहि वारयितुं शक्यः केनापीह कथंचन । कर्मणामुदयस्तीव्रो महान् हालाहलोपमः ॥११॥ कर्मोदयाच्च रङ्कोऽपि क्षणाद्राजा प्रजायते । राजा रङ्कायते सद्यो विचित्रा कर्मणां गतिः ॥१२॥ न मंत्रं न तपो देवपूजा वा नैव बांधवः । त्रातुं कोऽपि समर्थो न जन्तुं कर्मोदयात्किल ॥१३॥ सुखासुखं न शक्नोति दातुं हर्तुमिहात्र कः । एकं पुराकृतं कर्म लीलया कुरुतेऽखिलम् ॥१४॥ शक्रोऽपि न समर्थो वा बलात् कर्तुं तमन्यथा । कर्मणामुदयो लोके भोक्तव्यो नियमेन सः ॥१५॥ शुभाशुभक्रियां जीवस्त्रियोगेन करोति याम् । सैवात्र कर्म ह्याख्यातं विपाकोऽस्ति च तत्फलम् ॥१६॥ कर्म बध्नाति जीवोऽयं सततं हि त्रियोगतः । उदयोपि भवत्येव सततं तस्य कर्मणः ॥१७॥

---

इसीको वैराग्यको बढ़ानेवाला विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं। अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये भव्य जीवोंको निरंतर ही इसको धारण करना चाहिये ॥७—८॥ इसी कर्मके उदयसे ये संसारी जीव चारों गतियोंमें जन्म-मरण-भयरूप अनेक दुःखोंको सहन करते हैं ॥९॥ जन्म-मरणको उत्पन्न करनेवाला और अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला यह कर्मोंका उदय समस्त संसारी जीवोंके क्षण क्षणमें उदय होता रहता है ॥१०॥ यह कर्मोंका उदय अत्यंत तीव्र है और हलाहल विषके समान है, इसको कोई किसीप्रकार रोक नहीं सकता ॥११॥ इस कर्मके उदयसे क्षणभरमें ही रंकसे राजा हो जाता है और राजासे रंक हो जाता है। इन कर्मोंकी गति बड़ी ही विचित्र है ॥१२॥ इन कर्मोंके उदयसे इन जीवोंकी रक्षा करनेमें न तो कोई मंत्र समर्थ है, न कोई तप समर्थ है, न कोई देवपूजा समर्थ है और न कोई भाई-बंधु समर्थ है ॥१३॥ इस संसारमें सुख वा दुःख देनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है। केवल पहले किया हुआ एक कर्म ही लीलापूर्वक सब कुछ किया करता है ॥१४॥ उस कर्मके उदयको इंद्र भी अपने बलसे नहीं बदल सकते। इस संसारमें ऐसा यह कर्मोंका उदय नियमसे भोगना पड़ता है ॥१५॥ यह जीव मन, वचन और कायके योगसे जो शुभ अथवा अशुभ क्रियाओंको करता है, उसीको कर्म कहते हैं और उसके फलको कर्मोंका विपाक कहते हैं ॥१६॥ यह जीव मन, वचन और कायके द्वारा निरंतर कर्मोंका बंध करता रहता है और निरंतर ही कर्मोंका उदय होता रहता है ॥१७॥ यह जीव अनंतकालसे अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता आ रहा है,

अनन्तकालतो जीवो नानायोनौ हि पर्यटन्। नात्र किंचित्सुखं लेभे कर्मणां दुर्विपाकतः ॥१८॥ खिद्यते ताम्यति व्येति जायते परिनृत्यति। रौति मूर्च्छति जीवोऽयं कर्मणामुदये सति ॥१९॥ काम्यति युध्यते शेते हिनस्ति क्रुध्यति स्वयम्। रज्यति मुह्यति द्वेष्टि कर्मोदयादयं जनः ॥२०॥ धावति वल्गति स्तौति निन्दति पापतः परान्। हर्षति रोचते पुण्याज्जीवः कर्मोदयादिह ॥२१॥ चतुर्गतौ च संसारे नानावेषं च धारयन्। कर्मणामुदयाज्जीवो नाट्य इव नटायते ॥२२॥ पिता भवति पुत्रोऽसौ पुत्रः पित्रायतेतराम्। राजा भवति मार्जारः श्वा देवोऽपि च जायते ॥२३॥ अतिभीमेऽत्र संसारे कर्मणामुदयादिह। सर्वत्र सर्वभावेन जीवो नृत्यति लीलया ॥२४॥ सुखं न जायते जीवस्याल्पकर्मोदयादिह। दुःखरूपे च संसारे दुःखमेव हि जायते ॥२५॥ जलबुद्बुदसादृश्यं सुखं किंचिच्च दृश्यते। कृतकर्मविपाकाच्च दुःखस्य कारणं हि तत् ॥२६॥ दुःखमयेऽत्र संसारे कर्मोदयात्सुतंत्रिते। जन्ममृत्युभवं दुःखं जीवः प्राप्नोति दारुणम् ॥२७॥ कर्मोदयः स

---

परंतु कर्मोंके अशुभोदयसे इसको रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ है ॥१८॥ कर्मोंके उदय होनेपर यह जीव खेदखिन्न होता है, दुःखी होता है, नष्ट होता है, उत्पन्न होता है, नृत्य करता है, रोता है और मूर्च्छाको प्राप्त होता है ॥१९॥ इसी कर्मसे उदयसे यह जीव इच्छा करता है, लड़ता है, सोता है, हिंसा करता है, क्रोध करता है, राग करता है, मोह करता है और द्वेष करता है ॥२०॥ यह जीव पाप कर्मोंके उदयसे दौड़ता है, बकता है, दूसरेकी निन्दा करता है वा स्तुति करता है, अथवा पुण्यकर्मके उदयसे प्रसन्न होता है वा रुचि करने लगता है ॥२१॥ कर्मोंके उदयसे यह जीव चतुर्गतिरूप संसारमें अनेक भेषोंको धारण करता हुआ नाट्यशालामें नटके समान नाचता रहता है ॥२२॥ कर्मोंके उदयसे अत्यन्त भयानक इस संसारमें यह जीव पितासे पुत्र हो जाता है, पुत्रसे पिता हो जाता है, राजासे बिल्ली हो जाता है और कुत्तासे देव हो जाता है। इसप्रकार यह जीव सब जगह और सब भावोंसे लीलापूर्वक नृत्य किया करता है ॥२३—२४॥ इन कर्मोंके उदयसे इस जीवको थोड़ासा भी सुख प्राप्त नहीं होता। यह संसार दुःखरूप है, इसलिये इसमें सदा दुःख ही दुःख प्राप्त होता रहता है ॥२५॥ किये हुए कर्मोंके उदयसे यदि पानीके बुद्बुदाके समान थोड़ी देर तक टिकनेवाला थोड़ासा सुख दिखाई देता है, तथापि वह आगामी दुःखोंका ही कारण होता है ॥२६॥ कर्मोंके उदयके वशीभूत होनेवाले और दुःखमय इस संसारमें यह जीव जन्म-मरणसे उत्पन्न

संसारो न चान्योऽस्तीह वा क्वचित् । कृत्स्नकर्मोदयाभावो मोक्षोऽस्ति नियमेन सः ॥२८॥ कर्मोदयादनन्तास्ते जीवा नित्य-निगोतके । अनन्तकालतोऽद्यापि सहन्ते वेदनां पराम् ॥२९॥ तत्रैकोच्छ्वासमात्रे हि चाष्टादशप्रमाणकम् । कुजन्ममरणं नित्यं कुर्वन्ति कर्मयोगतः ॥३०॥ श्वभ्रे कर्मोदयाज्जीवो वधबन्धादिकं भृशम् । ताडनं मारणं चैव दुःखं वा सहते परम् ॥३१॥ छेदनं भेदनं तीव्रं भर्त्सनं दहनं तथा । कर्मोदयातस जीवोऽयं लभते वेदनां पराम् ॥३२॥ बहुसागरपर्यंतं दुःखं प्राप्नोति भीमकम् । न कोऽपि रक्षकस्तत्र प्रतीकारोऽपि नास्ति वै ॥३३॥ हिंसास्तेयानृताब्रह्मसंगादिपापतो ननु । कर्मोदयादयं तत्र सहते वेदनां पराम् ॥३४॥ जीवानां वधबंधेन मायाचारेण कर्मणा । दुर्नीतिनाऽसदाचारेणान्येन पापकर्मणा ॥३५॥ दुर्गतौ जायते जीवो तिर्यग्योनौ च संततम् । कर्मोदयाच्च तत्रापि परतन्त्रः सदा दुःखी ॥३६॥ अतिभीमेऽत्र संसारे कर्मणा-

---

होनेवाले अनेक दारुण दुःखोंको प्राप्त हुआ करता है ॥२७॥ इस संसारमें जो कर्मोंका उदय है, वही संसार है, कर्मोंके उदयके सिवाय अन्य कोई संसार नहीं है; तथा समस्त कर्मोंके उदयका अभाव होना ही नियमसे मोक्ष है ॥२८॥ इन्हीं कर्मोंके उदयसे अनंतानंत जीव अनंतानंत कालसे नित्य निगोदमें पड़े हुए हैं और आजतक सबसे अधिक वेदनाको सह रहे हैं ॥२९॥ वे जीव कर्मोंके उदयसे जितनी देरमें एक श्वास लिया जाता है, उतनी देरमें अठारह वार कुजन्म-मरण धारण करते रहते हैं, इसीप्रकार सदासे जन्म-मरण करते आ रहे हैं ॥३०॥ कर्मोंके उदयसे ही यह जीव नरकमें उत्पन्न होता है, वहां पर वध-बंधनके अनेक दुःख सहन करता है तथा ताडनमारण आदिके महादुःखोंको सहन करता है। उसी नरकमें कर्मोंके उदयसे यह जीव छेदन, भेदन, तीव्र भर्त्सन तथा दहन आदिकी तीव्र वेदनाओंको सहन करता रहता है। उन नरकोंमें यह जीव अनेक सागर पर्यंत भयानक दुःख सहन करता रहता है। उन दुःखोंसे बचानेवाला वहांपर कोई नहीं है और न उन दुःखोंका कोई प्रतीकार वा उपाय है ॥३१–३३॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहरूप पापकर्मोंके उदयसे यह जीव उन नरकोंमें तीव्र वेदनाओंको सहन करता रहता है ॥३४॥ जीवोंका वध, बंधन करनेसे, मायाचार करनेसे, कुटिल नीतिसे, असदाचारसे वा अन्य पाप कर्मोंसे यह जीव तिर्यंच योनिकी अनेक दुर्गतियोंमें निरंतर उत्पन्न होता रहता है और उन कर्मोंके उदयसे वहां भी परतंत्र होता हुआ सदा दुःखी रहता है ॥३५–३६॥ कर्मोंके उदयसे यह जीव अत्यंत भयानक इस संसारमें किन किन

मुदयादिह। कानि कानि च दुःखानि जीवो न सहते चिरम् ॥३७॥ कर्मतंत्रात्पराधीनः वंदीव किं करोति न। सर्वत्र च त्रिलोकेषु कर्मोदयोऽतिदुर्द्धरः ॥३८॥ तं निरोद्धुं न कोऽपीह समर्थो बलवान् क्षमः। ध्यानतपोऽग्निना कर्मोदयः स हि विनश्यते ॥३९॥ कर्माधीनतया जीवो दुःखं सहेत यादृशम्। तादृशं कर्मनाशार्थं स्वतंत्रेण सहेत वा ॥४०॥ तपोध्यानादिभिश्चात्र स्वल्पं कालं सुभावतः। स निर्जरामरो भूत्वा स्वतंत्रो जायते स्वयम् ॥४१॥ यदि कर्म निरोद्धुं तच्चेच्छा ते वरिवर्ति वा। आत्मन् त्वं कुरु सद्ध्यानं कर्मविपाकजं शुभम् ॥४२॥ कर्मणामुदयस्तत्र योगीगत्यादिभेदतः। चिन्तयेत्कर्म नोकर्म भावकर्म पुनः पुनः ॥४३॥ विपाकचिन्तनेनात्र योगी जानाति कर्मणाम्। संसृतौ द्रव्यपर्यायभेदं गतागतं तथा ॥ ४४॥ तेनात्र चिन्तनेनैव निर्वेदो जायते परम्। भवभोगाङ्गदेहेभ्यो विरतिर्जायते परा ॥४५॥ ततो हि कर्मनाशार्थं यत्नं करोति भावतः। ध्यानं विपाकजं कृत्वा शिवं याति सुनिश्चितम् ॥४६॥ यद्यपि शुद्धरूपोऽहं तथापि कर्मपाकतः। अनादितो

दुःखोंको चिरकाल तक सहन नहीं करता अर्थात् समस्त दुःखोंको सहन करता रहता है ॥३७॥ कर्मोंके उदयसे पराधीन हुआ यह जीव तीनों लोकोंमें सब जगह कैदीके समान क्या क्या कार्य नहीं करता है अर्थात् सब कुछ करता है। यह कर्मोंका उदय अत्यन्त दुर्धर है ॥३८॥ उस कर्मके उदयको रोकनेके लिये कोई भी बलवान् समर्थ नहीं है। यह कर्मोंका उदय ध्यान और तपश्चरणरूपी अग्निसे ही नष्ट किया जा सकता है ॥३९॥ यह जीव कर्मोंके आधीन होकर जैसे दुःखोंको सहन करता है, वैसे दुःख कर्मोंके नाश करनेके लिये स्वतन्त्र होकर तप वा ध्यान आदिके द्वारा निर्मल परिणामोंसे थोड़े काल तक भी सहन कर ले तो अजर अमर होकर यह जीव सदाके लिये स्वतन्त्र हो जाय। हे आत्मन्! यदि उन कर्मोंके उदयको रोकनेकी तेरी इच्छा है तो तू कर्मोंके विपाकको चिंतवन करनेवाला विपाकविचय नामके धर्मध्यानको धारण कर ॥४०-४१॥ योगियोंको गति आदिके भेदसे कर्मोंके उदयका चिंतवन करना चाहिये। और कर्म नोकर्म और भावकर्मोंका चिंतवन करना चाहिये, कर्मोंके उदयका चिंतवन करनेसे योगियोंको संसारमें होनेवाले द्रव्यपर्यायके भेद तथा कर्मोंका आस्रव, संवर, निर्जरा आदि सबका ज्ञान हो जाता है। इन सबका चिंतवन करनेसे उत्कृष्ट वैराग्य उत्पन्न होता है और संसार, शरीर, भोग तथा इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्कृष्ट वैराग्य उत्पन्न होता है। इसलिये जो जीव कर्मोंका नाश करनेके लिये निर्मल परिणामोंसे प्रयत्न करता है। इस विपाकविचय नामके धर्मध्यानको धारणकर कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करता

जडो मूर्तो जातोऽहं पररूपकः॥४७॥ त्रिलोकदर्शिका शक्तिर्नष्टा मे कर्मयोगतः। नष्टं मेऽनन्तविज्ञानं चराचरप्रकाशकम् ॥४८॥ नष्टो मेऽनन्तवीर्योऽसौ जगदाश्चर्यकारकः। पूर्णस्वाधीनमात्मोत्थमनन्तमविनश्वरम् ॥४९॥ नष्टं मे तत्सुखं हा हा कर्मविपाकतोऽधुना। अव्याबाधत्वशक्तिर्मे नष्टा हा चित्स्वरूपिका ॥५०॥ कर्मणामुदयं तस्माद्रुन्धे ध्यानाग्निनाऽधुना। कर्मोदयं हि रुध्वा वा स्वतन्त्रो हि भवाम्यहम् ॥५१॥ तदर्थं चिन्तनं चैकाग्रचिन्तारोधपूर्वकम्। कर्मविपाकजं तद्धि ध्यानं कर्मविनाशनम् ॥५२॥ यथा यथा हि योगी स ध्यायति कर्मणां फलम्। तथा तथा स संसाराद्बिभेति लभते शिवम् ॥५३॥ कर्मणां हि विपाकं वा चिन्तयन् स पुनः पुनः। यतते चात्मशुद्ध्यर्थं ध्यानाध्ययनकर्मसु ॥५४॥ कर्मविपाकजं ध्यानं ध्यातं तीर्थकरैरपि। गणधरैरपि ध्यातं कर्मनिर्नाशहेतवे ॥५५॥ कर्मविपाकजाद्ध्यानान्नश्यन्ते कर्मशत्रवः। लभ्यते

है, वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥४३-४६॥ यद्यपि मैं शुद्धस्वरूप हूं तथापि कर्मके उदयद्वारा अनादि कालसे जड़, मूर्त और पररूप हो रहा हूं। इसी कर्मके निमित्तसे तीनों लोकोंको दिखलानेवाली मेरी शक्ति नष्ट हो गई है और चर-अचरको प्रकाशित करनेवाला मेरा अनन्त ज्ञान नष्ट हो गया है। इस कर्मके उदयसे जगत्को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला मेरा अनंत वीर्य नष्ट हो गया है तथा आत्मासे उत्पन्न हुआ पूर्ण स्वाधीन और कभी न नाश होनेवाला अनंत सुख भी इसी कर्मके उदयसे नष्ट हो गया है। इसी कर्मके उदयसे मेरी चैतन्यस्वरूप अव्याबाध शक्ति नष्ट हो गई है। इसलिये अब मैं ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंके उदयको रोकूंगा और कर्मोंके उदयको रोककर स्वतंत्र हो जाऊंगा। इसप्रकार अन्य समस्त चिन्तवनोंको रोककर एकाग्र मनसे कर्मोंके उदयके रोकनेका चिन्तवन करना कर्मोंको नाश करनेवाला विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४७-५२॥ यह योगी जैसे जैसे कर्मोंके उदयका चिन्तवन करता रहता है, वैसे ही वैसे संसारसे भयभीत होता है और मोक्षको प्राप्त करता है ॥५३॥ कर्मोंके उदयको बार बार चिंतवन करता हुआ वह योगी अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये ध्यान-अध्ययन आदि कार्योंमें सदा प्रयत्न करता रहता है ॥५४॥ कर्मोंके विपाकसे उत्पन्न हुआ यह विपाकविचय ध्यान पहले तीर्थकरोंने भी धारण किया है और कर्मोंका नाश करनेके लिये गणधर देवोंने इसे भी धारण किया है ॥५५॥ कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए इस विपाकविचय धर्मध्यानसे कर्मरूप सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं, मोक्षका सुख प्राप्त हो जाता है और महान् आनन्द प्रगट होता है

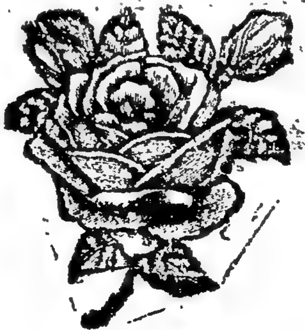
शिवसौख्यं हि महानन्दश्च जायते ॥५६॥ इह जगति च जीवः कर्मणां पाकतोऽत्र भ्रमति विविधयोनौ जन्म मृत्युं करोति। अतिशयपरतन्त्रो दुःखमन्वेति नित्यं धरतु सुखनिवासं कर्महान्यै सुधर्मम् ॥५७॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे विपाकविचयनिरूपणो नाम एकोनविंशोऽधिकारः।

---

॥५६॥ इस संसारमें यह जीव कर्मोंके उदयसे अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है और सदा जन्म-मरण धारण करता रहता है। उन्हीं कर्मोंके उदयसे अत्यन्त परतंत्र हुआ यह जीव सदा दुःखोंको भोगा करता है। इसलिये भव्य जीवोंको उन कर्मोंका नाश करनेके लिये समस्त सुखोंका स्थान ऐसा श्रेष्ठधर्म सदा धारण करते रहना चाहिये ॥५७॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें विपाकविचय नामके धर्मध्यानको निरूपण करनेवाला यह उन्नीसवां अधिकार समाप्त हुआ।



# विंशतितमोऽधिकारः ।



लोकालोकं विजानाति पश्यति युगपत्सदा । वन्द्यते ज्ञानभानुः स श्रीमल्लितीर्थनायकः ॥१॥ अनादिनिधनं नित्यमनन्तं व्यापकं विभु । आकाशं सर्वतो ज्येष्ठमनन्तानन्तशक्तिमत् ॥२॥ अकृत्रिमं स्वयम्भूतमवगाहनशक्तिभृत् । लोकालोकप्रभेदेन द्विधा प्रोक्तं जिनेशिना ॥३॥ यत्र जीवादयश्चार्थाः सन्ति स लोक उच्यते । केवलं व्यवहारत्वादाकाशं केवलं च तत् ॥४॥ षड्द्रव्यसंचितो लोकस्त्रिभिर्वातैश्च वेष्ठितः । स्वयं प्रतिष्ठितस्तेन भाति वाश्चर्यकारकः ॥५॥

---

जो लोक अलोकको जानते हैं और एक साथ देखते हैं और जो ज्ञानके सूर्य हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान् श्रीमल्लिनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ यह आकाश अनादि है, अनिधन है, नित्य है, अनंत है, व्यापक है, विभु है, सबसे बड़ा है और अनंत शक्तिको धारण करनेवाला है ॥२॥ वह आकाश अकृत्रिम है, स्वयंभू है और अवगाहन शक्तिको धारण करनेवाला है । भगवान जिनेन्द्रदेवने उसी आकाशके लोक अलोकके भेदसे दो भेद बतलाये हैं ॥३॥ जिस आकाशमें जीवादिक पदार्थ विद्यमान हैं, उसे व्यवहार नयसे लोकाकाश कहते हैं; वास्तवमें वह आकाश ही है ॥४॥ उस लोकाकाशमें छहों द्रव्य भरे हुए हैं; घन वात, अम्बु वात और वात; इन तीन प्रकारकी वायुओंसे घिरा हुआ है । वह स्वयं प्रतिष्ठित है किसीका बनाया हुआ नहीं है । और इसीलिये आश्चर्य करनेवाला वह बहुत ही शोभायमान होता है ॥५॥ उस लोकाकाशके तीन विभाग हैं—एक अधोलोक, दूसरा मध्यलोक और तीसरा ऊर्ध्वलोक । अधोलोक मूढ़ा ( वेंतके आसन ) के आकारका है, मध्यलोक थालीके आकारका है और ऊर्ध्वलोक पखावजके आकारका है; इसप्रकार तीन भागोंसे

अधोवेत्रासनाकारो मध्ये झल्लरिको मतः। अन्ते हि मुरजाकारस्त्रिविभागैर्विभाति यः ॥६॥ अनादिनिधनो लोकः स्वयंभूर्हि सनातनः। स केनापि कृतो नैव विलीनो न धृतो न वा ॥७॥ पंचद्रव्यविहीनं चाकाशमस्ति हि केवलम्। अनादिनिधनं नित्यमवगाहनशक्तिभृत् ॥८॥ लोके सर्वत्र जीवोऽयं भ्राम्यति कर्मयोगतः। स जन्ममृत्युभिर्नित्यं दुःखं प्राप्नोति दारुणम् ॥९॥ लोकः क्षेत्रं च संस्थानं सर्वे पर्यायवाचकाः। जन्ममृत्युजरादीनां क्षेत्रं लोकः प्रकीर्त्यते ॥१०॥ यत्र सर्वत्र जीवोऽयं करोति जननादिकम्। सोऽपि पंचपरावर्तैर्भ्रमतीह निरन्तरम् ॥११॥ लोकस्य चिन्तनं चैकाग्रचिन्ता-रोधपूर्वकम्। संस्थानविचयं ध्यानं तदस्ति क्षेत्रवाचकम् ॥१२॥ तत्र लोके ह्यधोभागे नारकाः सन्ति शाश्वतम्। क्षेत्रजं दारुणं तत्र दुःखमस्ति निरन्तरम् ॥१३॥ तेषां हि नारकाणां तु देहो लेश्या च विक्रिया। भावो निरन्तरं क्रूरतमोऽशुभश्च जायते ॥१४॥ ताडनं मारणं बन्धं भर्त्सनं छेदनं तथा। अङ्गानां भेदनं चैव प्राणानां परिपीडनम् ॥१५॥ भर्जनं वालुकायंत्रे दहनं तप्ततैलके। पातनं चाग्निकुण्डे वा वैतरण्यां प्रपातनम् ॥१६॥ एवं हि नारकास्तत्र कुर्वन्ति च परस्परम्। अति-

---

वह सुशोभित होता है ॥६॥ यह लोकाकाश अनादिनिधन है, स्वयंभू है, सनातन है, न किसीने किया है, न किसीने धारण किया है और न कोई इसे नष्ट करता है ॥७॥ जिसमें जीवादिक द्रव्य नहीं है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। वह अलोकाकाश भी अनादिअनिधन है और अवगाहन शक्तिको धारण करता है ॥८॥ कर्मोंके निमित्तसे यह जीव समस्त लोकाकाशमें परिभ्रमण करता है, तथा जन्म-मृत्युके द्वारा सदा दारुण दुःख भोगता रहता है ॥९॥ लोक, क्षेत्र वा संस्थान सब पर्यायवाचक शब्द हैं, जन्म-मरण आदिका जो क्षेत्र है उसीको लोक कहते हैं ॥१०॥ इसी लोकमें यह जीव पाँच परिवर्तनोंके द्वारा जन्म-मरण करता हुआ निरंतर परिभ्रमण किया करता है ॥११॥ अन्य सब चिन्ताओंको रोककर एकाग्र मनसे इसी लोकका चिन्तवन करना क्षेत्रको सूचित करनेवाला संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१२॥ उस लोकाकाशके अधोभागमें सदा नारकी रहा करते हैं और उस क्षेत्रसे उत्पन्न हुए दारुण दुःखोंको निरंतर सहन किया करते हैं ॥१३॥ उन नारकियोंका शरीर, लेश्या, विक्रिया और भाव निरंतर अत्यंत क्रूर और अत्यन्त अशुभ होते हैं ॥१४॥ वहांपर नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको ताडन, मारण, बंधन, भर्त्सन, अंग तथा उपांगोंका छेदन-भेदन और प्राणोंका पीडन आदि करके अनेक प्रकारके दुःख दिया करते हैं, बालुके यंत्रमें भूनते हैं, गर्म

शीतं च वात्युष्णं क्षेत्रजं दुःखमस्ति वा ॥१७॥ यो मांसभक्षणासक्तो लोलुपो विषयादिषु। स जीवो नरके दुःखं लभते नात्र संशयः ॥१८॥ मधुसेवनतो जीवः श्वभ्रे गच्छति भीमके। मद्यपायी मतिभ्रष्टो चिरं गच्छति दुर्गतौ ॥१९॥ सप्तव्यसनकैर्युक्त इन्द्रियासक्तमानसः । मिथ्याधर्मे हि संलीनः श्वभ्रे दुःखं बिभर्ति सः ॥२०॥ हिंसास्तेयानृताब्रह्मसंगादिपापतो ननु । अन्यायाभक्षतो जीवः श्वभ्रे गच्छति भीमके ॥२१॥ सत्यदेवं परित्यज्य मिथ्यादेवं भजन्ति ये। भ्रमात्तेऽत्र जडा दीर्घसंसारे पर्यटन्ति वा ॥२२॥ गुरुद्रोहं प्रकुर्वन्ति सन्मार्गं लोपयन्ति ये। मोहात्सर्वं हि वैयात्यं कुर्वन्ति सुखलिप्सया ॥२३॥ जिनागमविरुद्धं यल्लेखनं प्रतिभाषणम्। नूनं ते नरके घोरे प्रयान्ति मलिनात्मकाः ॥२४॥ सज्जातिलोपनाल्लोके महापापं प्रजायते। तेन पापेन जीवोऽयं चिरं भ्रमति दुर्गतौ ॥२५॥ सज्जातिलोपनं येन कृतं तेन च पापिना।

---

तेलमें जलाते हैं, अग्निकुण्डमें पटक देते हैं, वैतरणी नदीमें पटक देते हैं। इस प्रकार वे नारकी परस्पर एक दूसरेको दुःख दिया करते हैं। इसके सिवाय वहांकी भूमि या तो अत्यन्त उष्ण है या अत्यन्त शीत है, उसके दुःख भी उनको सहने पड़ते हैं ॥१५–१७॥ जो जीव मांसभक्षणमें आसक्त हैं, अथवा जो विषयसेवनके लोलुप हैं ऐसे जीव नरकमें पड़कर दुःख भोगते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१८॥ जो जीव शहद खाते हैं, वे भी भयानक नरकमें पड़ते हैं तथा मद्य पीकर अपनी बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले भी चिरकालतक नरकरूप दुर्गतिमें पड़े रहते हैं ॥१९॥ जो जीव सातों व्यसनों का वा किसी एक दो भी व्यसनोंका सेवन करते हैं, जिनका मन इन्द्रियोंके विषयोंमें तल्लीन है और जो मिथ्या धर्मोंमें लीन रहते हैं, ऐसे जीव नरकमें पड़कर महादुःखोंको भोगा करते हैं ॥२०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापोंसे तथा अन्याय और अभक्ष्य-भक्षणसे यह जीव अवश्य ही भयानक नरकमें जा पड़ता है ॥२१॥ जो जीव भ्रमसे यथार्थ देवको छोड़कर मिथ्या देवोंका सेवन करते हैं, वे मूर्ख सदा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं ॥२२॥ जो जीव गुरुद्रोह करते हैं, श्रेष्ठ मार्गका लोप करते हैं, मोहनीय कर्मके उदयसे सुखकी इच्छा करते हुए समस्त कार्य विपरीत ही करते हैं, जिनागमके विरुद्ध लिखते हैं वा भाषण देते हैं ऐसे मलिन आत्माको धारण करनेवाले वे लोग घोर नरकमें अवश्य पड़ते हैं ॥२३–२४॥ इस संसारमें सज्जातिका लोप करनेसे महापाप उत्पन्न होता है और उस पापसे यह जीव चिरकालतक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है। जिस मोही जीवने सज्जातिका

मुनिवंशस्य विध्वंसं मोहात् किं किं करोति न ॥२६॥ विषयकामचेष्टार्थं सद्धर्मं लोपयन्ति ये। स्वोक्त्यान्यथा प्रकुर्वन्ति मोहाद्येऽत्र जिनागमम् ॥२७॥ दूषयन्ति सदाचारं मोहाद्विषयलम्पटाः। वर्द्धयन्ति ह्यनाचारं श्वभ्रं यान्ति हि तेऽधमाः॥२८॥ अस्पृश्यैः शूद्रकैः सार्द्धमभक्ष्यं भक्षयन्ति ये। कुर्वन्ति मलिनाचारं विषयैः प्रेरिता ननु ॥२९॥ विधवानां विवाहं ये जल्पन्ति प्रेरयन्ति वा। हीनाचारं महामोहात्प्रकाशयन्ति भूतले ॥३०॥ विवेकविकला हीनाः कुज्ञानेन मदोद्धताः। अन्तर्दुष्टा बहिःशिष्टास्तेऽत्राधोगामिनो मताः ॥३१॥ देवधर्मगुरुशास्त्रसंघादीनां कुबुद्धितः। चैत्यचैत्यालयादीनां निन्दां कुर्वन्ति पापतः ॥३२॥ हिताहितं न जानन्ति बालाः पापं चरन्ति च। श्वभ्रादिदुर्गतौ नूनं दीर्घकालं भजन्ति ते ॥३३॥ अधोलोकस्य संस्थानं चिन्त्यते च विचार्यते। एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानं संस्थानसंज्ञकम् ॥३४॥ तच्चिन्तनेन जीवोऽयं क्षेत्राद् दुःखद्विभेति सः।

---

लोप किया है, उसने मुनियोंके वंशको ही विध्वंस कर डाला है—ऐसा समझना चाहिये सो ठीक ही है। क्योंकि मोहसे यह जीव क्या क्या नहीं करता है अर्थात् सब कुछ करता है ॥२५–२६॥ जो जीव विषय और कामसेवन करनेके लिये श्रेष्ठ धर्मका लोप करते हैं, जो मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे अपनी युक्तिसे जिनागमको अन्यथा करते हैं, जो विषय-लम्पटी जीव मोहकर्मके उदयसे सदाचारमें दोष लगाते हैं और अनाचारको बढ़ाते हैं, वे नीच नरकमें अवश्य पड़ते हैं ॥२७–२८॥ जो जीव अस्पृश्य शूद्रोंका साथ या अभक्ष्यभक्षण करते हैं, विषयोंसे प्रेरित होकर जो मलिनाचारको फैलाते हैं, जो विधवाविवाहका निरूपण करते हैं वा विधवा-विवाह करनेकी प्रेरणा करते हैं, जो तीव्र मोहनीय कर्मके उदयसे इस संसारमें हीनाचारको फैलाते हैं, जो अपनी अज्ञानताके कारण विवेकरहित हैं, सर्वथा हीन हैं, मदोन्मत्त हैं, अंतरंगमें महादुष्ट हैं, परंतु बाहरसे शिष्ट दिखाई पड़ते हैं, ऐसे जीव भी नरकमें ही पड़ते हैं ॥२९–३१॥ जो लोग अपनी कुबुद्धिसे वा पाप कर्मके उदयसे देव, धर्म, गुरु, शास्त्र और संघ आदिकी निंदा करते हैं, चैत्य (प्रतिमा) और चैत्यालय आदिकी निंदा करते हैं, जो हित-अहितको नहीं जानते हैं अथवा जो मूर्ख पाप करते हैं; वे लोग चिरकालतक नरकादिक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥३२–३३॥ जो लोग एकाग्र मनसे अधोलोकके संस्थानका चिन्तवन करते हैं वा विचार करते हैं, उसको संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥३४॥ इस संस्थानविचयका चिंतवन करनेसे यह जीव क्षेत्रोंके दुःखसे भयभीत होता है और श्रेष्ठधर्म धारण करता हुआ पापोंको छोड़कर

करोति स्वात्मकल्याणं पापं त्यक्त्वा सुधर्मतः ॥३५॥ मध्यलोके हि तिर्यञ्चो मानवाः कर्मप्रेरिताः । जन्म मृत्युं प्रकुर्वन्ति नूनं ते पापकर्मणा ॥३६॥ तिर्यग्योनौ च दुर्गत्यां जीवा दुःखं भजन्ति च । अनादिकालतस्तत्र महामोहेन मोहिताः ॥३७॥ नित्यनिगोतके जीवा जन्म मृत्युं वदन्ति च । तेषां दुःखस्य पारं न त्रसत्वं तेऽपि नागताः ॥३८॥ येऽत्र त्रसाश्च तिर्यञ्चस्तेऽपि चात्यन्तदुःखिनः । व्याकुलाश्च पराधीना अशक्ता दुःखपूरिताः ॥३९॥ वधबंधनजं तीव्रं शीतोष्णक्षुत्तृपादिकम् । दुःखं वहन्ति ते जीवाः तिर्यग्योनौ निरन्तरम् ॥४०॥ जीवानां वधबंधेन मायाचारेण कर्मणा । अतिविश्वासघातेनान्यस्य द्रव्याप्रदानतः ॥४१॥ अन्यायेन दुराचारदुर्नीत्यादिकुकर्मणा । तिर्यग्योनौ च दुर्गत्यां जीवा दुःखं भजन्ति वा ॥४२॥ मध्यक्षेत्रे च लोकेऽस्मिन् तिर्यग्दुःखस्य चिन्तनम् । अन्यचिन्तानिरोधेन चैकाग्रमनसा हि तत् ॥४३॥ संस्थानविचयं ध्यानं भवदुःखनिवर्तकम् । निर्वेदकारणं शुद्धया ध्यातव्यं तद्धि धीमता ॥४४॥ नृगतौ हि महादुःखमाधिव्याधि-

---

अपने आत्माका कल्याण करता है ॥३५॥ मध्यलोकमें कर्मोंके प्रेरित हुए मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं, जो पापकर्मके उदयसे सदा जन्म-मरण प्राप्त किया करते हैं ॥३६॥ तीव्र मोहनीयकर्मसे मोहित हुए ये जीव अनादिकालसे तिर्यंच योनिकी अनेक दुर्गतियोंमें अनेक प्रकारके दुःख सहन करते रहते हैं ॥३७॥ नित्य निगोदमें पड़े हुए जीव जन्म-मरणको धारण करते रहते हैं, उनके दुःखका कभी पार ही नहीं आता; क्योंकि उन्होंने आजतक त्रसपर्याय नहीं पाई है ॥३८॥ जो त्रस तिर्यंच हैं, वे भी बहुत दुःखी हैं; क्योंकि वे सदा व्याकुल रहते हैं, पराधीन रहते हैं, अशक्त होते हैं और महादुःखी होते हैं ॥३९॥ वे तिर्यंच जीव तिर्यंच योनिमें वध-बन्धनके तीव्र दुःख सहन करते रहते हैं; शीत, उष्ण, भूख और प्यास आदिकी महावेदनाको सहन करते रहते हैं। इस प्रकार वे महादुःख सहन किया करते हैं ॥४०॥ ये जीव जीवोंका वध-बंधन करनेसे, मायाचारिताके काम करनेसे, अत्यन्त विश्वासघात करनेसे, परद्रव्यका हरण करनेसे, अन्याय, दुराचार और दुर्नीति आदि नीच कार्योंके करनेसे तिर्यंच योनिकी दुर्गतिमें अनेक प्रकारके दुःख भोगा करते हैं ॥४१–४२॥ अन्य सब चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे इस मध्यलोकके क्षेत्रमें वा समस्त लोकमें रहनेवाले तिर्यंचोंके दुखोंका चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान है। यह ध्यान संसारके दुःखोंको नाश करनेवाला है और परम वैराग्यका कारण है। बुद्धिमान् पुरुषोंको इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥४३–४४॥ मनुष्य-

समुद्भवम् । चिन्ताशोकपरीतापापमानचित्तजं परम् ॥४५॥ कलहरोगदारिद्र्यपीडाभीत्यादिकं महत् । इष्टवियोगजं चैवानिष्टसंयोगजं परम् ॥४६॥ एवं हि नृगतौ दुःखं लभन्तेऽत्र निरंतरम् । दुर्लभस्तु नृपर्यायः स्वर्गमोक्षसुसाधकः ॥४७॥ तं प्राप्य ये न कुर्वन्ति हितं स्वस्य सुखेप्सया । ते वंचिता हि मोहेन संसाराब्धौ ब्रुडन्ति च ॥४८॥ तस्मात्सुखेप्सया जीवाः कुर्वन्तु विविधं तपः । जिनलिंगं समाधृत्य पापं मुक्त्वा सुभावतः ॥४९॥ एवं हि मध्यलोकस्य चिन्तनं मननं तथा । चैकाग्रमनसा तद्धि ध्यानं संस्थानसंज्ञकम् ॥५०॥ ऊर्ध्वलोकस्य संस्थाने उत्पादश्चामृताशिनाम् । तत्र हि स्वर्गजा देवा निवसन्ति महाधियः ॥५१॥ यद्यपि स्वल्पपुण्येन स्वर्गे देवगतावहो । जीवास्तत्र लभन्ते च सुखं पंचाक्षजं परम् ॥५२॥ दिव्यांगरूपसंपन्नाः स्वतंत्रा हि मनोहराः । निर्भयाः सुखसाम्राज्यं भुञ्जते ते दिवानिशम् ॥५३॥ मुकुटाहारकेयूरशोभिता

---

गतिमें भी महादुःख होते हैं । आधि-व्याधिसे उत्पन्न होनेवाले महादुःख होते हैं; चिंता, शोक, संताप, अपमान आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुःख; मनसे उत्पन्न होनेवाले दुःख; कलह, रोग, दरिद्रता, पीड़ा, भय आदिसे उत्पन्न होनेवाले महादुःख और इष्टवियोग वा अनिष्टसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले महादुःख इस मनुष्य गतिमें भोगने पड़ते हैं । इसप्रकार मनुष्यगतिमें निरंतर दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं । यह मनुष्यपर्याय स्वर्ग–मोक्षका साधक है और इसीलिये अत्यन्त दुर्लभ है । इस मनुष्यपर्यायको पाकर सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे जो अपने आत्माका कल्याण नहीं करते हैं, वे मोहनीय कर्मके उदयसे ठगे जाते हैं और संसाररूपी समुद्रमें डूबते हैं । इसलिये आत्माके सुखकी इच्छासे भव्य जीवोंको निर्मल परिणामोंसे समस्त पापोंको छोड़कर जिनलिंग धारण करना चाहिये और अनेक प्रकारके तपश्चरण करने चाहिये । इस प्रकार एकाग्र मनसे मध्यलोकका चिन्तवन करना, मनन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४५–५०॥ ऊर्ध्वलोकके क्षेत्रमें देव उत्पन्न होते हैं और स्वर्गमें उत्पन्न हुए महाबुद्धिमान् देव वहां निवास करते हैं ॥५१॥ यद्यपि देवगतिमें स्वर्गमें थोड़से पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं और वहांपर पंचेन्द्रियोंके श्रेष्ठ सुख प्राप्त करते हैं ॥५२॥ वे देव दिव्य शरीर और दिव्य रूपको धारण करते हैं, स्वतन्त्र होते हैं, मनोहर और निर्भय होते हैं और रात-दिन सुखसामग्रीका उपभोग करते रहते हैं ॥५३॥ वे देव मुकुट, हार, बाजूबन्द आदि आभरणोंसे सुशोभित रहते हैं, ऋद्धियोंको धारण करते हैं और संगीत, नृत्य तथा वादित्र आदिके द्वारा सदा दिव्य

ऋद्धिधारकाः । संगीतवाद्यनृत्याद्यैर्दिव्यं शर्म भजन्ति ते ॥५४॥ वैक्रियिकशरीरं वाऽवधिज्ञानं हि चोत्तमम् । जीवास्तत्र लभन्ते हि सर्वसौख्यकरं परम् ॥५५॥ न जराव्याधिदारिद्र्यमलमूत्रादिजं तथा । गर्भवासोद्भवं दुःखं न तत्र जातुचित् क्वचित् ॥५६॥ अष्ट मूलगुणान् येऽत्र धारयन्ति सुभावतः । जिनाज्ञां श्रद्धया स्वर्गे दिविजा हि भवन्ति ते ॥५७॥ ये पंचाणुव्रतं सम्यक् धारयन्तीह भावुकाः । जिनागमप्रमाणेन दिवि देवा भवन्ति ते ॥५८॥ ये सप्तव्यसनं त्यक्त्वा कुर्वन्ति संयमं परम् । आगमश्रद्धया भक्त्या जायन्ते तेऽमरेश्वराः ॥५९॥ ये सम्यग्दर्शनं शुद्धं धारयन्तीह निर्मलम् । ते चाष्टमहिमोपेता देवेन्द्रा हि भवन्ति वा ॥६०॥ दर्शनपूर्वकं सम्यक् कुर्वन्ति विविधं तपः । महामहर्द्धिसम्पन्ना देवदेवा भवन्ति ते ॥६१॥ जिनालयं सुनिर्माप्य पूजयन्ति जिनेश्वरम् । ते हि स्वर्गपदं लब्ध्वा जायन्ते पदवीधराः ॥६२॥ प्रतिष्ठां जिनबिम्बस्य कुर्वन्ति शुद्धभावतः । देवेश्वरपदं धृत्वा शिवं वा यान्त्यनुक्रमात् ॥६३॥ पंचामृतं जिनेन्द्रस्य बिम्बस्य

---

सुख भोगते रहते हैं ॥५४॥ उनका शरीर वैक्रियिक होता है और उनको उत्तम अवधिज्ञान होता है । वहांपर वे देव समस्त सुख देनेवाली उत्तम सामग्री प्राप्त करते हैं ॥५५॥ वहांपर न तो कभी बुढ़ापा, व्याधि, दरिद्रता, मल-मूत्र आदिका दुःख होता है और न कभी गर्भसे उत्पन्न होनेका महादुःख भोगना पड़ता है ॥५६॥ वे देव स्वभावसे ही आठ मूल गुणोंको धारण करते हैं और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको श्रद्धापूर्वक धारण करते हैं । ऐसे वे देव स्वर्गमें होते हैं ॥५७॥ जो भव्य जीव इस मध्यलोकमें जिनागमकी आज्ञाके अनुसार पांचों अणुव्रतोंको अच्छीतरह पालन करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देव होते हैं ॥५८॥ जो आगमकी अटल श्रद्धाकर और भक्तिपूर्वक सातों व्यसनोंका त्यागकर श्रेष्ठ संयमको धारण करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देवोंके स्वामी होते हैं ॥५९॥ जो जीव इस सम्यग्दर्शनको शुद्ध और निर्मल रीतिसे पालन करते हैं, वे अणिमा-महिमा आदि आठों ऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंके भी इन्द्र होते हैं ॥६०॥ जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनपूर्वक अनेक प्रकारके तपश्चरण करते हैं, वे महाऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंके भी इन्द्र होते हैं ॥६१॥ जो जीव जिनालय बनवाकर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं, वे स्वर्गके पदोंको पाकर चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि पदवीधर पुरुष होते हैं ॥६२॥ जो भव्य जीव शुद्ध भावोंसे जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा कराते हैं, वे इन्द्रोंके पदोंको पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६३॥ जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका अत्यन्त शुभ पंचामृता-

कुर्वते शुभम् । सम्यक्त्वं तद्भवे धृत्वा ते भवन्त्यमरेश्वराः ॥६४॥ क्षिपन्ति जिनबिम्बस्य पद्मोपरि सुपद्मकम् । स्वर्गे देवांगनाभिस्ते पूज्यन्ते हि निरन्तरम् ॥६५॥ लेपयन्ति सुबिम्बस्य पद्मांघ्रि गंधजै रसैः । ते हि स्वर्गे सुधागंधैः पूज्यंते दिविजैः सदा ॥६६॥ सरागसंयमैर्भावैः श्रीशासनप्रकाशनैः । प्रभावनाविशेषैश्च स्वर्गलोके प्रजायते ॥६७॥ स्वर्गेऽपि तत्त्वतो नास्ति सौख्यं स्वात्मभवं परम् । शाश्वतं निर्विकारं हि सर्वकर्ममलातिगम् ॥६८॥ परं तत्रापि चात्यन्तं महादुःखं हि मानसम् । संसारवर्द्धकं नूनं चिन्तासन्तापकारकम् ॥६९॥ त्रिलोकेऽपि नहि क्वापि कदाचिद्विद्यते सुखम् । तत्र सर्वत्र दुःखं हि जन्ममृत्युभयादिभिः ॥७०॥ सहन्ते हि परं दुःखं जीवाः कर्मोदयादिह । यावच्च कर्मसम्बन्धस्तावद्दुखं भवेन्ननु ॥७१॥ केवलं सुखिनः सिद्धाः कर्मकलङ्कदूरगाः । जन्ममृत्युव्यतीतास्ते त्रिलोकशिखरे स्थिताः ॥७२॥ एवं

भिषेक करते हैं, वे उसी भवमें सम्यग्दर्शन धारण कर इन्द्रका पद प्राप्त करते हैं ॥६४॥ जो भव्यजीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बके चरण कमलोंपर सुन्दर कमल चढ़ाते हैं,वे स्वर्ग में जाकर अनेक देवांगनाओंसे सदा पूजे जाते हैं ॥६५॥ जो भव्यजीव जिनबिम्बके चरण कमलोंपर चन्दनके रसका लेप करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देवोंके द्वारा अमृतरूपी गंधसे सदा पुजे जाते हैं ॥६६॥ जो जीव शुभ भावोंसे सरागसंयम धारण करते हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेवके शासनको प्रकाशित करते हैं और विशेष रीतिसे प्रभावना करते हैं; वे जीव स्वर्गलोकमें जाकर देव होते हैं ॥६७॥ वास्तवमें देखा जाय तो स्वर्गमें भी सदा रहनेवाला निर्विकार और समस्त कर्मरूपी मलसे रहित ऐसा अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ उत्कृष्ट स्वर्ग नहीं है । किंतु वहांपर मनसे उत्पन्न हुआ महा-दुःख बहुत ही अधिक होता है, जो कि संसारको बढ़ानेवाला होता है और चिंता-संतापको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥६८--६९॥ इन तीनों लोकोंमें वास्तवमें कहीं भी सुख नहीं हैं, किंतु इन तीनों लोकोमें सब जगह जन्म-मरण और भय आदिसे होनेवाला दुःख ही दुःख भरा हुआ है ॥७०॥ ये जीव कर्मोंके उदयसे ही परम दुःख सहन करते हैं । इसलिये जब तक कर्मोंका संबंध है, तब तक इस जीवको अवश्य ही दुःखोंको सहन करना पड़ता है ॥७१॥ यदि संसारमें कोई सुखी है तो कर्ममलकलंकसे रहित, जन्म-मरणसे सर्वथा रहित और तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान ऐसे सिद्ध परमेष्ठी ही सुखी हैं ॥७२॥ इस प्रकार बुद्धिमानोंको

लोकस्वरूपं हि ज्ञात्वा जैनागमात्सुधीः । ध्यायेच्च लोकसंस्थानं जन्ममृत्युकदर्थितम् ॥७३॥ पुनः पुनर्निजे चित्ते चिन्तयेच्च विचारयेत् । एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानं संस्थानसंज्ञकम् ॥७४॥ संस्थानविचयं ध्यानं मुख्यध्यानं प्रकीर्तितम् । सर्वध्यानेषु तच्छ्रेष्ठं परं वैराग्यकारणम् ॥७५॥ एकेनैव हि संस्थानध्यानेन कर्मशत्रवः । पलायन्ते यतः शीघ्रं तस्माच्छ्रेष्ठतमं मतम् ॥७६॥ संस्थानविचयं ध्यानं पुरा ध्यातं मुनीश्वरैः । गणधरैश्च योगीशैः कर्मविच्छेदहेतवे ॥७७॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भव्येन च मुमुक्षुणा । संस्थानविचयं ध्यानं ध्यातव्यमधुनापि च ॥७८॥ सघनपवनवारैः सर्वतो वेष्टितोऽसौ स हि गुरुतरलोकोऽकृत्रिमोऽनादिसिद्धः । जननमरणदुःखं तत्र जीवः समेति यदि धरति सुधर्मं कर्मनाशं करोति ॥७९॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे संस्थानविचयधर्मध्याननिरूपणो नाम विशंतितमोऽधिकारः ।

---

जिनागमके अनुसार लोकका स्वरूप जानकर जन्म-मरणको दूर करनेवाला लोकसंस्थान नामका धर्मध्यान वा संस्थानविचय नामका धर्मध्यान धारण करना चाहिये ॥७३॥ इसप्रकार एकाग्र मनसे तीनों लोकोंके स्वरूपका अपने हृदयमें बार बार चिंतवन करना और बार बार विचार करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥७४॥ यह संस्थानविचय नामका धर्मध्यान सब ध्यानोंमें मुख्य है और सबमें श्रेष्ठ है, तथा परम वैराग्यका कारण है ॥७५॥ इस एक ही संस्थानविचय ध्यानसे समस्त कर्मरूपी शत्रु शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, इसीलिये यह ध्यान सबमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥७६॥ यह संस्थानविचय नामका धर्मध्यान अपने अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये पहले अनेक मुनीश्वरोंने धारण किया है, गणधरोंने धारण किया है और योगिराजोंने धारण किया है ॥७७॥ इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपने समस्त प्रयत्न करके आज भी इसी संस्थानविचय नामके धर्मध्यानको धारण करना चाहिये ॥७८॥ यह बहुत बड़ा लोकाकाश घनवात, अम्बुवात और वात; इन तीन प्रकारकी वायुओंसे चारों ओरसे वेष्ठित है, तथा अकृत्रिम और अनादि सिद्ध है, इसमें यह जीव जन्म-मरणके अनेक दुःखोंको सहन करता रहता है, यदि यह जीव श्रेष्ठ धर्मको धारण कर ले तो कर्मोंका नाशकर सिद्ध पद प्राप्त कर सकता है ॥७९॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें संस्थानविचय नामके धर्मध्यानको निरूपण करनेवाला यह बीसवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# एकविंशतितमोऽधिकारः ।



दग्धं ध्यानाग्निना कर्मेन्धनराशिं किलात्मनः । येनात्र योगिनाथेन वन्दे तं मुनिसुव्रतम् ॥१॥ संस्थानान्तर्गतं ध्यानं चतुर्धा वर्णितं जिनैः । पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥२॥ पञ्चभेदात्मकं द्रव्यं नानाकारेण संस्थितम् । वा शरीरगतं द्रव्यं पिण्ड इत्यभिधीयते ॥३॥ पिण्डे तिष्ठति यश्चात्मा विकारपरिवर्जितः । तत्तस्यालम्बनत्वेन पिण्डस्थध्यानमुच्यते ॥४॥ पिण्डस्थे धारणाः पञ्च जिनेन्द्रैः प्रतिपादिताः । समालम्बेन तासां हि स्यात्स्वात्मानुभवो महान् ॥५॥ धारणाभिर्मनः शीघ्रं स्थिरतां याति चात्मनि । शुद्धात्मचिन्तने ताभिर्दृढता स्याच्छुभप्रदा ॥६॥ सा ध्यानाभ्यास-

---

जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निसे अपने आत्माके समस्त कर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है, ऐसे योगियोंके स्वामी भगवान मुनिसुव्रतनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ संस्थानके अंतर्गत जो ध्यान है, उसे वह भगवान जिनेन्द्रदेवने चारप्रकारका बतलाया है। पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत; ये चार उसके भेद हैं ॥२॥ अनेक प्रकारसे ठहरा हुआ और शरीरमें प्राप्त हुआ ऐसा जो पांच प्रकारका द्रव्य है, उसको पिंड कहते हैं ॥३॥ इस पिंडमें जो आत्मा विकाररहित ठहरा हुआ है, उसका अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसको पिंडस्थ ध्यान कहते हैं ॥४॥ पिंडस्थ ध्यानमें भगवान जिनेन्द्रदेवने पांच प्रकारकी धारणा बतलाई है। इन पांचों धारणाओंके समालम्बनसे अपने आत्माका महान् अनुभव होता है ॥५॥ इन धारणाओंसे यह मन अपने आत्मामें शीघ्र ही स्थिर हो जाता है और इन्हीं धारणाओंसे शुद्ध आत्माके चिन्तवन करनेमें शुभ भावोंको उत्पन्न करनेवाली अत्यन्त दृढ़ता होती है ॥६॥ वह धारणा ध्यानका अभ्यास करनेवालोंके लिये

कल्याणमाद्या सोपानिका मता । तया सुलभरूपेण ध्यानं स्याद्विगतश्रमम् ॥७॥ पार्थिवी च तथाग्नेयी श्वसना वारुणी परा । तत्त्वरूपवती ज्ञेया धारणा हि यथाक्रमम् ॥८॥ मध्यलोकसमं योगी धारयेत्क्षीरसागरम् । शांतं रम्यं च निःशब्दं कल्लोलादिविवर्जितम् ॥९॥ गम्भीरं दुग्धवद्गौरं मच्चित्ताह्लादनकारकम् । यच्चिन्तनेन चित्तेऽस्मिन् स्याद्भयं न मनागपि ॥१०॥ तन्मध्ये चिन्तयेद्धीरोऽब्जं सहस्रदलान्वितम् । पीतवर्णं सुहेमाभं जम्बूद्वीपप्रमाणकम् ॥११॥ तन्मध्ये च स्मरेद्योगी कर्णिकां पीतवर्णिकाम् । मुख्यमेरुप्रमाणाभां रम्यामानन्दकारिकाम् ॥१२॥ सिंहासनं च चंद्राभं कर्णिकायां विचिंतयेत् । आत्मानं स्थापयेत्तत्र प्रशांतं दिव्यकायकम् ॥१३॥ कुकर्मनाशनोद्युक्तं रागादिनाशने पटुम् । निर्विकारं स्थिरं चित्तं पञ्चाक्षविषयातिगम् ॥१४॥ सद्ध्याता तादृशं रूपं भूयो भूयः समभ्यसेत् । ध्यायेच्च चिन्तयेन्नित्यमेकाग्रमनसा सदा ॥१५॥

---

पहली सीढ़ी है। इस धारणासे श्रमको दूर करनेवाला उत्तम ध्यान सहज रीतिसे प्राप्त हो जाता है ॥७॥ पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती; ये धारणाके यथाक्रमसे पांच भेद हैं ॥८॥ किसी भी योगीको मध्यलोकके समान क्षीरसागरकी कल्पना करनी चाहिये। वह क्षीरसागर शांत हो, मनोहर हो, शब्दरहित हो और कल्लोल वा लहरोंसे रहित हो ॥९॥ वह क्षीरसागर गंभीर हो, दूधके समान गौर वर्ण हो, और मनको आह्लादन करनेवाला हो; ऐसे क्षीरसागरके चिन्तवन करनेसे हृदयमें थोड़ासा भी श्रम नहीं रहता ॥१०॥ धीर वीर योगीको उस क्षीरसागरके मध्यभागमें जम्बूद्वीपके समान, सुवर्णके समान देदीप्यमान पीले रंगका, एक हजार दलवाले कमलका चिंतवन करना चाहिये ॥११॥ उस कमलके मध्यभागमें मेरुके समान पीले रंगकी एक कर्णिकाका चिंतवन करना चाहिये, वह कर्णिका मनोहर, आनंद उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिये ॥१२॥ उस कर्णिकामें चन्द्रमाके समान एक सिंहासनका चिंतवन करना चाहिये। उस सिंहासनपर दिव्य शरीरको धारण करनेवाले अत्यन्त शांत आत्माको स्थापन करना चाहिये ॥१३॥ वह आत्मा अशुभ कर्मोंके नाश करनेमें तल्लीन है, रागद्वेषको नष्ट करनेमें चतुर है, निर्विकार है, उसका चित्त स्थिर है और वह पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे रहित है। ध्यान करनेवालेको इसप्रकारके आत्माके स्वरूपके चिंतवनका बार बार अभ्यास करना चाहिये। तथा एकाग्र मनसे नित्य ही ऐसे आत्माका ध्यान और चिंतवन करना चाहिये ॥१४–१५॥ इसको पार्थिवी धारणा कहते हैं। तदनंतर उस योगीको नाभिमंडलके मध्यमें चित्तको

शनैर्विचिन्तयेद्योगी चित्ताह्लादस्य कारकम् । नाभिमण्डलमध्यस्थं पद्मं षोडशपत्रकम् ॥१६॥ प्रफुल्लं सर्वतो रम्यमक्षसन्तोषकारकम् । मञ्जुलं चिन्तयेद्योगी स्वरमालाविराजितम् ॥१७॥ तत्र पद्मे महाप्राणं रेफरुद्धं कलान्वितम् । सानुस्वारं महामन्त्रं कर्णिकायां विचिंतयेत ॥१८॥ तत्पद्मस्थितमालां तां मन्त्ररूपां स्वरोद्भवाम् पुनः पुनः स्वचित्तेऽस्मिन् ध्यानाभ्यासाय चिन्तयेत् ॥१९॥ निर्गच्छन्तीं ततो रेफादग्निज्वालां शुभां स्मरेत् । तेन ज्वालाकलापेन दहेदब्जं हृदि स्थितम् ॥२०॥ अष्टपत्रं हि यत्तस्य तत्कर्माष्टकमुच्यते । अधोमुखं हि संस्थाप्य महामन्त्रोद्धताननात् ॥२१॥ तदब्जमग्निज्वालाभिर्दहेन्निर्भयचेतसा । दग्धेऽब्जे हि ततः पश्चाच्चिन्तयेदग्निमण्डलम् ॥२२॥ देहस्य च वह्निर्मार्गे त्रिकोणं ज्वालयाञ्चितम् । वह्निबीजात्समुद्भूतं ज्वलन्तं दिव्यभासुरम् ॥२३॥ स्वस्तिकाङ्कं च निर्धूम-

---

आह्लादित करनेवाले सोलह दलके कमलको धीरे धीरे चिंतवन करना चाहिये ॥१६॥ वह कमल खिला हुआ हो, सब ओरसे मनोहर हो, इंद्रियोंको संतोष उत्पन्न करनेवाला हो, अत्यन्त सुन्दर हो और मालारूप लिखे गये सोलह स्वरोंसे शोभायमान हो ॥१७॥ उस कमलकी कर्णिकामें अनुस्वारसहित, कलासहित और रेफसे रुका हुआ महाप्राण रूप "र्हं" महामंत्रका चिंतवन करना चाहिये ॥१८॥ उस कमलमें जो स्वरोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप माला है, उसको अपने हृदयमें ध्यानका अभ्यास करनेके लिये बार बार चिंतवन करना चाहिये ॥१९॥ इसको श्वसना धारणा कहते हैं। तदनंतर उस योगीको उस रेफसे निकलती हुई शुभरूप अग्निकी ज्वालाका चिंतवन करना चाहिये तथा उस अग्निकी ज्वालाके समूहसे हृदयमें विराजमान उस कमलको जलाना चाहिये ॥२०॥ उस कमलके आठ पत्रोंको आठ कर्म समझना चाहिये। उनको अधोमुख करके स्थापन करना चाहिये और महामंत्रका मुख ऊपरकी ओर रखना चाहिये ॥२१॥ तदनंतर निर्भय चित्त होकर उस अग्निकी ज्वालासे उस कमलको जलाना चाहिये। जब वह कमल जल जाय, उसके बाद अग्निमंडलका चिंतवन करना चाहिये ॥२२॥ शरीरके बाहर उस अग्निकी ज्वालासे भरे हुए एक त्रिकोणका चिंतवन करना चाहिये, वह त्रिकोण वह्निरूप बीजसे उत्पन्न हुई ज्वालासे जाज्वल्यमान होना चाहिये, दिव्य तेजसे प्रकाशमान होना चाहिये, उसपर स्वस्तिकका चिह्न होना चाहिये, वह अग्निकी ज्वाला धूमरहित होनी चाहिये और ऊर्ध्ववायुसे प्रेरित होनी चाहिये अर्थात् ऊपर जानेवाली वायुके झकोरेसे उसकी ज्वाला

मूर्द्ध वायुप्रप्रेरितम् । अन्तर्दहति मन्त्राग्निर्बहिरग्निसुमण्डलम् ॥२४॥ ततश्च स्वशरीरं वाग्नेकलापेन निर्दहेत् । भस्मभावं सामासाध्य शरीरमब्जमादहेत् ॥२५॥ दाह्याभावात्स्वयं वह्निः शाम्यत्येव शनैः शनैः । यावन्न याति शान्ति स तावन्निर्भयचेतसा ॥२६॥ संततं चिन्तयेद्धीमान् वह्निमण्डलकं परम् । एवं हि चिन्त्यमानेऽस्मिन् स्थिरचित्तं प्रजायते ॥२७॥ आकाशमार्गमाव्याप्य संचरंतं सुवेगतः । दारयन्तं धराधीशं शोभयन्तं घनाघनम् ॥२८॥ चक्रवालं विसर्पन्तं भुवनाभोगपूरितम् । कम्पयन्तं दिशः सर्वा दर्शयन्तं महाबलम् ॥२९॥ एतादृशं महावायुं चिन्तयेच्छुद्धचेतसा । तेन वायुबलेनैव तद्रजः क्षिप्यतेऽप्यरम् ॥३०॥ शुद्धरूपं स संप्राप्य वायुं च शान्तिमानयेत् । एवं हि चिंत्यमानेन शुद्धरूपे लयो भवेत् ॥ ३१ ॥ ततो हि मेघमालां च धारासंपातसंयुताम् । तडिद्विद्योतिताकाशामिन्द्रचापसमन्विताम्

---

ऊपरको जानी चाहिये। इसप्रकार मंत्ररूप अग्नि अंतःकरणको जला रही है और बाहरका अग्निमंडल बाहरी भागको जला रहा है, इसतरह चिंतवन करना चाहिये ॥२३—२४॥ तदनंतर उस अग्निकी ज्वालासे अपने शरीरको जलाना चाहिये और जब तक भस्म न हो जाय तब तक शरीर और कमलको जलाते रहना चाहिये। इसप्रकारका चिंतवन करना चाहिये ॥२५॥ जब जलनेके लिये कोई पदार्थ न रहेगा तब धीरे धीरे वह अग्नि अपने आप ही शांत हो जायगी। जबतक वह अग्नि शांत न हो तबतक निर्भय चित्त होकर उस बुद्धिमान्‌को सदा उस उत्कृष्ट अग्निमंडलका चिंतवन करते रहना चाहिये। इसप्रकार चिंतवन वा ध्यान करनेसे यह चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है ॥२६—२७॥ इसको आग्नेयी धारणा कहते हैं। तदनंतर वारुणी धारणाका चिंतवन करना चाहिये। अपने शुद्ध हृदयसे एक महावायुका ध्यान करना चाहिये। वह वायु समस्त आकाशमार्गमें व्याप्त हो, बड़े वेगसे संचार कर रहा हो, बड़े बड़े पर्वतोंको भी विदीर्ण कर रहा हो, हलके वा भारी रूपसे शोभायमान हो, अपने मंडलको फैला रहा हो, समस्त भूमंडलमें भर गया हो, समस्त दिशाओंको कंपायमान कर रहा हो और अपना महाबल दिखला रहा हो; ऐसे महावायुका शुद्ध हृदयसे चिंतवन करना चाहिये। उस महावायुसे उस शरीर और कमलकी धूलि शीघ्रताके साथ उड़ रही है, ऐसा चिंतवन करना चाहिये। इसप्रकार आत्माका स्वरूप शुद्ध बनाकर उस वायुको शांत कर देना चाहिये। इसप्रकार चिंतवन करनेसे यह आत्मा अपने शुद्धरूपमें लीन हो जाता है ॥२८—३१॥ इसको वारुणी धारणा

॥३२॥ प्रशांतामपि धाराभिः कुर्वंती वृष्टिमुल्वणाम् । सुधारूपां मनोज्ञां वा चित्ताह्लादप्रदायिकाम् ॥३३॥ भस्म प्रक्षालयेत्ताभिः मन्दं मन्दं शरीरजम् । चिंतयन् तां हि योगी स स्वस्थतां लभते पराम् ॥३४॥ अर्द्धचंद्रसमाकारं शुभं वरुणमण्डलम् । कथितं वीरनाथेन मनोक्षजयकारकम् ॥३५॥ वरुणमण्डलेनैव शुद्धरूपं च चिंतयेत् । सिंहासनसमारूढं दिव्यातिशयसंयुतम् ॥३६॥ प्रणष्टदुष्टकर्माणं दिव्यज्ञानेन भासुरम् । अर्हद्रूपसमाकारं निर्मलं शुद्धरूपकम् ॥३७॥ सप्तधातुविनिर्मुक्तं जिनेन्द्रसदृशं परम् । आत्मानं शुद्धरूपं तत् स्वात्मनि स्वं च चिंतयेत् ॥३८॥ महाविभवसम्पन्नं लोकालोकप्रकाशकम् । अनंतमहिमोपेतं स्वात्मानं चिंतयेत्सुधीः ॥३९॥ इत्थं हि पंचतत्त्वं यः स्मरेन्निर्भयचेतसा । मन्त्रवित्स

---

कहते हैं । आगे तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—सबसे पहले एक मेघमाला ( बादलोंके समूह ) का चिंतवन करना चाहिये, जो धीरे धीरे बरस रही हो, बिजलीकी चमकसे समस्त आकाशको प्रकाशमान करती हो, जिसमें इन्द्रधनुष पड़ रहा हो, जो अपनी धाराओंसे अत्यंत शांत और भारी वृष्टि कर रही हो, वह वृष्टि भी अमृतरूप हो, मनोज्ञ हो और मनको आह्लादन करनेवाली हो । उस मेघकी वर्षासे धीरे धीरे शरीरसे उत्पन्न हुई भस्मका प्रक्षालन करना चाहिये ( अर्थात् शरीर और कमलके जलनेसे जो भस्म हुई थी, वह उस मेघकी वर्षासे धुल रही है; ऐसा चिंतवन करना चाहिये ) । इसप्रकारकी मेघमालाका चिंतवन करनेसे उस योगीकी आत्मा अत्यन्त स्वस्थ वा निराकुल हो जाती है ॥३२—३४॥ भगवान् महावीर स्वामीने मन और इंद्रियोंको जीतनेवाले इस शुभरूप वायुमंडलका आकार अर्धचन्द्रके समान बतलाया है ॥३५॥ योगीको इस वरुणमंडलके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करना चाहिये । उसे इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये कि मेरा यह आत्मा सिंहासन पर विराजमान है, दिव्य अतिशयोंसे सुशोभित है, इसने अपने सब पापकर्म नष्ट कर दिये हैं, यह दिव्य ज्ञानसे देदीप्यमान है, भगवान् अरहंतदेवके आकारके समान आकारको धारण करता है, निर्मल है, शुद्ध स्वरूप है, सप्त धातुओंसे रहित है, सर्वोत्कृष्ट है और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समान है; ऐसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको अपने ही आत्मामें अपने आप चिंतवन करना चाहिये ॥३६—३८॥ यह मेरी आत्मा महाविभूतियोंसे शोभायमान है, लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है और अनन्त महिमासे सुशोभित है; बुद्धिमान योगीको ऐसे अपने शुद्ध आत्माका चिन्तवन करना चाहिये । इसको तत्त्व-

महायोगी जयेत्कर्माष्टकं परम् ॥४०॥ मनोवशं समायाति बलं वीर्यं च वर्द्धते। ध्यानशक्तिर्दृढा याति ऋद्धयो यांति तं सदा ॥४१॥ भूतप्रेतोद्भवां बाधामुपसर्गं सुदुस्तरम्। सहते स्वात्मवीर्येण स योगी तत्त्वचिन्तकः ॥४२॥ मनोवशं प्रकर्तुं स समर्थोऽचलधीरसौ। जिनशासनदेवास्ते तद्वशं यान्ति निश्चयात् ॥४३॥ अतो हि पंचतत्त्वं तदभ्यस्येच्छुद्धभावतः। निजात्मरूपमुद्दिश्य ध्यायेत्तत्त्वं जिनागमात् ॥४४॥ इति परमसुतत्त्वं पंचपृथ्व्यादिरूपं स्मरति जयति भक्त्या चिन्तयेत्स्वात्मचित्ते। इह स हि लभतेऽसौ शुद्धरूपं निजस्य परमविभवयुक्तं शुद्धबुद्धं सुधर्मम् ॥४५॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे पिण्डस्थध्यानस्थितपंचतत्त्ववर्णनो नाम एकविंशतितमोऽधिकारः।

---

रूपवती धारणा कहते हैं ॥३९॥ मंत्रोंको जाननेवाला जो महायोगी निर्भय चित्त होकर इसप्रकार पांचों तत्त्वोंका स्मरण करता है, वह आठो कर्मोंको अवश्य जीतता है ॥४०॥ इन पांचों तत्त्वोंका चिन्तवन करनेसे मन वशमें हो जाता है, बल और वीर्य (शक्ति) बढ़ जाता है, ध्यानशक्ति दृढ़ हो जाती है और सब ऋद्धियां उसके समीप आ जाती हैं ॥४१॥ इन तत्त्वोंको चिन्तवन करनेवाला महायोगी अपने आत्माकी महाशक्तिसे भूत प्रेतोंसे उत्पन्न हुई समस्त बाधाओंको और कठिनसे कठिन उपसर्गोंको सहन कर लेता है ॥४२॥ अचल बुद्धिको धारण करनेवाला वह महायोगी इन पांचों तत्त्वोंका चिन्तवन करनेसे अपने मनको वश करनेमें समर्थ हो जाता है और जिनशासन देवता सब उसके वश हो जाते हैं यह निश्चित सिद्धांत है ॥४३॥ इसलिये निर्मल परिणामोंसे पांचों तत्त्वोंके चिन्तवन करनेका अभ्यास करना चाहिये और जिनागमके अनुसार अपने आत्माके स्वरूपको उद्देश्यकर पांचों तत्त्वोंका ध्यान करना चाहिये ॥४४॥ पृथ्वी, श्वसना, वारुणी, आग्नेयी, तत्त्वरूपवती ये पांच तत्त्व वा पांच धारणाएँ बतलाई गई हैं, वे परमोत्कृष्ट हैं। जो योगी अपने चित्तमें इन पांचों तत्त्वोंका स्मरण करता है वा भक्तिपूर्वक जप करता है, और चिन्तवन करता है वह इस संसारमें अपने शुद्ध स्वरूपको अवश्य ही प्राप्त हो जाता है तथा परम विभूतिसे सुशोभित शुद्ध और बुद्धस्वरूप अपने आत्मरूप श्रेष्ठधर्मको अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥४५॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें पिण्डस्थध्यानमें पांचों तत्त्वोंको निरूपण करनेवाला यह इक्कीसवां अधिकार समाप्त हुआ।

# द्वाविंशतितमोऽधिकारः ।



योगतत्त्वस्य वेत्तारं पदस्थध्यानसिद्धये । नमिनाथं सुयोगीशं वंदे योगीश्वरार्चितम् ॥१॥ शब्दब्रह्ममयं वंदे परमाश्चर्यकारकम् । स्वात्मतत्त्वस्वरूपं वा वीतरागं विकल्मषम् ॥२॥ योगतत्त्वस्य सोपानं सर्वसिद्धिकरं परम् । प्रत्यक्षफलदं नौमि शब्दब्रह्म महेश्वरम् ॥३॥ देवताभूतवेताला राक्षसाः किन्नराः सुराः । सर्वे देवा वशं यांति संततं शब्दब्रह्मणा ॥४॥ सुद्धयानस्यादिमं बीजमृद्धिसिद्धिप्रदायकम् । मन्त्ररूपमयं शब्दब्रह्माणं च नमाम्यहम् ॥५॥ अनादिनिधनो वर्णः स्वयं सिद्धो विचित्रकः । अनंतशक्तिसंव्याप्तः कथितो हि जिनागमे ॥६॥ यथा यथा सुभावेन ध्याता निर्मलचेतसा ।

---

जो नमिनाथ भगवान् योगतत्त्वके जानकार हैं, योगियोंके स्वामी हैं और योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य हैं; ऐसे भगवान् नमिनाथको मैं पदस्थ ध्यानकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो देव बीतराग हैं, दोषरहित हैं, परम आश्चर्य करनेवाले हैं और समयसारमय हैं; ऐसे शब्दब्रह्ममय परमदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥२॥ जो योगरूप तत्त्वकी सीढ़ी हैं, समस्त सिद्धियोंको करनेवाले हैं और प्रत्यक्ष फल देनेवाले हैं, ऐसे शब्दब्रह्ममय महेश्वरको मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥ इस शब्दब्रह्मके द्वारा देवता, भूत, वेताल, राक्षस, किन्नर, देव आदि सब देव सदाके लिये वश हो जाते हैं ॥४॥ यह शब्दब्रह्म मंत्ररूप है, ऋद्धि-सिद्धियोंको देनेवाला है और श्रेष्ठध्यानका मूल कारण है; ऐसे शब्दब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूं ॥५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके आगममें अकारादिक वर्ण अनादि-निधन माने हैं, स्वयं सिद्ध माने हैं, विचित्र माने हैं और अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले माने हैं ॥६॥ ध्यान करनेवाले अपने निर्मल हृदयसे श्रेष्ठ परिणामोंसे जैसे जैसे तन्मय होकर शब्द-

तन्मयत्वेन तं शब्दब्रह्माणं ध्यायति स्फुटम् ॥७॥ तथा तथा स योगीशः परब्रह्म प्रपद्यते । शब्दब्रह्म ततो देवैः परमात्मा प्रगीयते ॥८॥ अनादिवर्णमालां तामर्हद्बीजोद्भवां शुभाम् । ध्यायेच्च स्थिरचित्तेन सदा चेतोजयाय वै ॥९॥ कल्पयेद् हृदि चादौ वा पद्मं षोडशपत्रकम् । वर्णमूलां स्वतः सिद्धां स्थापयेच्च स्वरावलिम् ॥१०॥ चतुर्दशदलाकारं पद्मं संस्थाप्य चेतसि । प्रतिपत्रञ्च संन्यस्य ब्रह्मस्वरं प्रभान्वितम् ॥११॥ विद्यानां मूलबीजं तत् प्रधानं सर्ववर्णके । ध्यायेच्च स्थिरचित्तेन प्रशांतमनसाऽथवा ॥१२॥ कर्णिकां प्रति प्रत्येकं संस्थाप्यानुक्रमात्स्वरम् । ध्यायेच्च क्रमशः सर्वान् स्थिरबुद्ध्या सुभावतः ॥१३॥ यदा हि कर्णिका मध्ये 'अ' इति स्वरमंत्रकम् । न्यस्य ध्यायति योगीशस्तदा स स्वस्थतां भजेत् ॥१४॥ एवं रीत्या स्वरान् सर्वान् शीर्षके हृदि मस्तके । संस्थाप्य शुद्धचित्तेन ध्यायेच्च सर्वसिद्धये ॥१५॥ दिक् पल्लवासना मुद्रा-

---

ब्रह्मका ध्यान करता है, वैसे ही वैसे वह योगिराज परब्रह्मको प्राप्त होता जाता है । इसीलिये भगवान् सर्वज्ञ देव शब्दब्रह्मको ही परमात्मा कहते हैं ॥७-८॥ यह अनादिकालसे चली आई वर्णमाला भगवान् अरहंतदेवके स्वरूपको कहनेवाली बीजाक्षररूप है, शुभ है । अपने मनको जीतनेके लिये स्थिरचित्त होकर इसीका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥९॥ सबसे पहले अपने हृदयमें सोलह दलके कमलका चिंतवन करना चाहिये और उसमें वर्णोंकी मूलभूत स्वतःसिद्ध स्वरोंकी पंक्तिका स्थापना करनी चाहिये ॥१०॥ अथवा अपने हृदयमें चौदह दलके कमलकी कल्पना करनी चाहिये और प्रत्येक दलमें प्रभावशाली एक एक ब्रह्मस्वरकी स्थापना करनी चाहिये ॥११॥ यह स्वरकमल समस्त विद्याओंका मूल बीज है, सब वर्णोंमें प्रधान है, इसलिये स्थिरचित्त होकर शांत मनसे इसका ध्यान करना चाहिये ॥१२॥ अथवा उस कमलकी कर्णिकापर अनुक्रमसे सब स्वरोंका स्थापन करना चाहिये और फिर स्थिरचित्त होकर श्रेष्ठ परिणामोंसे अनुक्रमसे उन सबका ध्यान करना चाहिये ॥१३॥ जब यह योगी कर्णिकाके मध्यभागमें 'अ' इस मंत्ररूप स्वरको स्थापनकर ध्यान करता है, तब वह योगी अपने आप स्वस्थ हो जाता है ॥१४॥ इसीप्रकार सब स्वरोंको मस्तकपर, शिरपर अथवा हृदयपर स्थापनकर समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये शुद्ध चित्तसे ध्यान करना चाहिये ॥१५॥ दिक्, पल्लव, आसन और मुद्रा आदिके भेदसे इन मंत्रोंके कितने ही भेद हो जाते हैं । इसलिये इनके भेदसे विशेष रीतिसे

दिभेदतो हि मंत्रकम्। ध्यायेन्निरन्तरं ब्रह्म स्वरमालां विशेषतः ॥१६॥ हृदि संस्थाप्य सत्पद्मं पञ्चविंशतिपत्रकम्। प्रतिपत्रं न्यसेद्वर्णंसावर्गान्तं सकर्णिकम् ॥१७॥ ध्यायेच्च क्रमशो नित्यं प्रतिवर्णं शनैः शनैः। एकाग्रमनसा योगी वान-न्यमनसा स्थिरम् ॥१८॥ अन्यत्पद्मं च पत्राष्टं स्थापयेन्मुखपद्मके। अन्तःस्थसान्तवर्णान्तं ध्यायेच्च शुद्धभावतः ॥१९॥ ध्यानसिद्धिर्भवेत्तस्य महाकल्याणकारिका। मनो हि शान्तितां याति धैर्यता च प्रजायते ॥२०॥ 'ओ'मेतच्च महामंत्रं परमेष्ठिप्रवाचकम्। विद्यानामादिमस्थानं ध्यानबीजं मतं जिनैः ॥२१॥ भाले नेत्रे ललाटे च शीर्षके नाभिमण्डले। 'ओं' संस्थाप्य महामंत्रं ध्यायेत्कर्मविनाशकम् ॥२२॥ सर्वदेवमयं मंत्रं सर्वयोगीश्वरार्चितम्। सर्वशक्तिप्रपूर्णं हि सर्व-सिद्धिकरं परम् ॥२३॥ एकाग्रमनसा नित्यं स्थिरभावेन यो जनः। ध्यायेदेतन्महामंत्रं संसारात् संतरीति सः ॥२४॥ पदस्थध्यानमाध्यातुमिच्छद्भिश्च मुमुक्षुभिः। 'ओ'मिति ध्यायतां तस्मात्कर्मनाशाय धीधनैः ॥२५॥

---

ब्रह्मस्वरमालाका निरंतर ध्यान करना चाहिये ॥१६॥ अपने हृदयमें पचीस दलका कमल स्थापित करना चाहिये और उन दलोंपर 'क' से लेकर 'म' पर्यंत अक्षर लिखने चाहिये, कर्णिकापर स्वर लिखना चाहिये। फिर उस योगीको एकाग्र मनसे अन्य सब चिंतवनोंको छोड़कर धीरे धीरे अनुक्रमसे प्रत्येक वर्णका ध्यान करना चाहिये ॥१७—१८॥ अथवा अपने मुखकमलमें आठ दलके कमलकी कल्पना करनी चाहिये और उन पर 'य र ल व श ष स ह' इन आठ अक्षरोंको स्थापनकर शुद्ध भावोंसे उनका ध्यान करना चाहिये ॥१९॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे महाकल्याण करनेवाली ध्यानकी सिद्धि होती है, मन शांत हो जाता है और धीरता उत्पन्न हो जाती है ॥२०॥ यह भी एक महामंत्र है, परमेष्ठीका वाचक है, समस्त विद्याओंका प्रथम स्थान है और ध्यान का बीज है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥२१॥ अपने ललाटपर मस्तकपर, नेत्रोंमें, नाभिमण्डलमें 'ओम्' इस महामंत्रको स्थापनकर कर्मोंका नाश करनेके लिये उसका ध्यान करना चाहिये ॥२२॥ 'ओम्' यह महामंत्र सर्वदेवमय है, समस्त योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य है, समस्त शक्तियोंसे पूर्ण है और समस्त सिद्धियोंको करनेवाला है। जो मनुष्य एकाग्र मनसे, स्थिर भावोंसे नित्य ही इस महामंत्रका ध्यान करता है, वह संसारसे अवश्य पार हो जाता है ॥२३—२४॥ इसीलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले और बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले तथा पदस्थ ध्यानको धारण करनेकी इच्छा करनेवाले योगियोंको 'ओम्' इस महामंत्रका ध्यान अवश्य करना चाहिये ॥२५॥

सर्वमंत्रेषु मूलं हि मंत्रराजं सुरार्चितम् । योगिभिश्च सदा वन्द्यं लोकोत्तरं जगन्नुतम् ॥२६॥ सर्वसिद्धिकरं श्रेष्ठं सर्वविघ्नविनाशकम् । महामङ्गलदातारं सर्वपापप्रणाशकम् ॥२७॥ अनादिनिधनं सिद्धमपराजितसंज्ञकम् । स्वर्गापवर्गदं कामं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ॥२८॥ ध्यातव्यं योगिभिर्नित्यं भवदुःखस्य हानये । शाकिनीभूतवेताला नश्यन्ति राक्षसाः स्वयम् ॥२९॥ आकाशगामिनी विद्या अञ्जनवत्प्रसिद्ध्यति । पञ्चत्रिंशतपदोपेतं परमेष्ठिस्वरूपकम् ॥३०॥ णमोकारं महामंत्रं प्रत्यक्षफलदायकम् । अजः सर्पयुगः श्वा वा नकुलो वानरस्तथा ॥३१॥ णमोकारस्य माहात्म्यात् जाता वृन्दारकाः खलु । सम्यग्दृष्टिस्तु तद्ध्यानान्मोक्षं च लभते परम् ॥३२॥ णमोकारस्य माहात्म्यं गणेशो वक्तुमक्षमः । तीर्थंकरै जिनेन्द्रैश्च ध्यातं तन्मंत्रराजकम् ॥३३॥ ये ये पुरा गता मोक्षे गमिष्यंति च योगिनः । मंत्रराजणमोकारमहात्म्यं तद्धि बुद्ध्यताम् ॥३४॥ श्वासोच्छ्वासप्र-

---

समस्त मंत्रोंका मूल मंत्र णमोकार मंत्र है, यह मंत्र देवोंके द्वारा पूज्य है, योगियोंके द्वारा वन्दनीय है, लोकोत्तर है और जगत्‌के द्वारा नमस्कार करने योग्य है। यह मंत्र समस्त सिद्धियोंको करनेवाला है, श्रेष्ठ है, समस्त विघ्नोंको नाश करनेवाला है, महामंगल देनेवाला है, सब पापोंको नाश करनेवाला है, अनादि-निधन है, सिद्ध है और अपराजित इसका नाम है। यह मंत्र स्वर्ग-मोक्षको देनेवाला है, इच्छाओं पूर्ण करनेवाला है और समस्त अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाला है ॥२६–२८॥ संसारके दुःखोंको नाश करनेके लिये योगियोंको सदा इसका ध्यान करना चाहिये। इसके ध्यान करनेसे शाकिनी, भूत, वेताल और राक्षस आदि सब नष्ट हो जाते हैं, अंजनचोरके समान आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाती है। यह पैंतीस अक्षरका णमोकार महामंत्र पंच परमेष्ठीस्वरूप है और प्रत्यक्ष फल देनेवाला है। बकरा, सर्प-सर्पिणी, कुत्ता, न्यौला, वानर आदि बहुतसे जीव इस णमोकार मंत्रके ही माहात्म्यसे स्वर्गमें जाकर देव हुए हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष इस महामंत्रके ध्यानसे अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥२९–३२॥ इस णमोकार मंत्रके माहात्म्यको गणधरदेव भी कहनेमें समर्थ नहीं हैं, तीर्थंकर जिनेन्द्रदेवने भी इस मंत्रराजका अवश्य ध्यान किया है ॥३३॥ जो जो योगी पहले मोक्ष गये हैं, वा आगे जायंगे, वह उनका मोक्ष जाना णमोकार महामंत्रका ही माहात्म्य समझना चाहिये ॥३४॥ भव्य जीवोंको भक्तिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, शुद्धतापूर्वक, शुद्धभावोंसे विधिपूर्वक श्वासो-

माणेन ध्यायेच्च विधिपूर्वकम्। सुभक्त्या श्रद्धया शुद्धया शुद्धभावेन भावुकः ॥३५॥ नाभिमण्डलके स्थाप्य षोडशदलपद्मकम्। षोडशाक्षरसम्भूतां विद्यां ध्यायेच्च तत्र वै ॥३६॥ परमेष्ठिस्वरूपां तां महासिद्धिकरां शुभाम्। योगीश्वरैः सदा ध्येयामगम्यां ब्रह्मजां पराम् ॥३७॥ निर्मलां शिवदां शुद्धां कर्मपर्वतभेदिकाम्। सर्वसौख्यप्रदां सर्वदुःखसंतापहारिकाम् ॥३८॥ एकाग्रमनसा योगी ध्यायेत्तां शुद्धभावतः। संसारचक्रनाशाय शिवसाधनहेतवे ॥३९॥ षड्वर्णात्ममहाविद्या परमात्मप्रवाचिका। शुद्धा शिवस्वरूपा वा ध्यातव्या च मुमुक्षुभिः ॥४०॥ तस्या ध्यानेन शीघ्रं हि चार्हद्रूपं हि स्वात्मनः। अनायासेन शुद्धं तद्योगिनां ननु जायते ॥४१॥ अणिमागरिमाद्याश्च दुर्लभास्ताः समर्द्धयः। जायन्ते योगिनां शीघ्रं सुखदा हि विभूतयः ॥४२॥ पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चानां परमेष्ठिनाम्। ध्यायेच्च स्थिरभावेन

---

च्छ्वासके प्रमाणसे इस मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥३५॥ इसीप्रकार नाभिमण्डल पर सोलह दलके कमलकी कल्पना करनी चाहिये और उसपर सोलह अक्षरके महामंत्रका ध्यान करना चाहिये। ( सोलह अक्षरका मंत्र यह है—"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः" अथवा "अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाया साहू" ) ॥३६॥ यह सोलह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई महामंत्ररूप विद्या परमेष्ठिस्वरूप है, महासिद्धियोंको करनेवाली है, शुभ है, योगीश्वरोंके द्वारा सदा ध्यान करने योग्य है, अगम्य है, परब्रह्मसे प्रगट हुई है, सर्वोत्कृष्ट है, निर्मल है, मोक्ष देनेवाली है, शुद्ध है, कर्मरूप पर्वतको नाश करनेवाली है, समस्त सुखोंको देनेवाली है और समस्त दुःख तथा संतापको दूर करनेवाली है। इसलिये योगियोंको जन्म-मरणरूप संसारचक्रको नाश करनेके लिये तथा मोक्षके साधन प्राप्त करनेके लिये एकाग्र मनसे तथा शुद्ध भावोंसे इस सोलह अक्षररूप महाविद्यात्मक महामंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥३७–३९॥ "अरहंत सिद्ध" इन छह वर्णोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप महाविद्या परमात्माकी वाचक है, शुद्ध है और मोक्षस्वरूप है, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवालेको इसका भी ध्यान करना चाहिये ॥४०॥ इसके ध्यान करनेसे योगियोंके आत्माका स्वरूप विना किसी परिश्रमके शीघ्र ही शुद्ध अरहंतस्वरूप हो जाता है ॥४१॥ इस ध्यानके प्रभावसे योगियोंको अणिमा-गरिमा आदि दुर्लभ ऋद्धियां और शीघ्र ही सुख देनेवाली विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं ॥४२॥ "अ सि आ उ सा" इन पांच अक्षरोंसे बनी हुई मंत्ररूप महाविद्या पंच परमेष्ठीकी वाचक है। इसलिये योगियोंको संसारका जाल नाश करनेके लिये स्थिर

लोकजालस्य हानये ॥४३॥ महाप्रभावदीप्ताङ्गा परमज्ञानसाधिका । महासौख्यकरा शान्ता ध्यातव्या शान्तिदा सदा ॥४४॥ अर्हद्रूपमयीं विद्यां चतुर्वर्णात्मिकां शुभाम् । अरिहंतत्त्वसिद्ध्यर्थं ध्यायेच्च शुद्धभावतः ॥४५॥ अल्पाक्षरापि साश्चर्यकारिका चाथ सिद्धिदा । योगिनाथैः सदा ध्येया ध्यातव्या शिवहेतवे ॥४६॥ प्रत्यक्षफलदा सर्वकल्याणकारिका शुभा । शीघ्रं ददाति भव्यानां सर्वाभीष्टफलं सदा ॥४७॥ सिद्धरूपां महाविद्यां युग्मवर्णात्मिकां शुभाम् । स्वस्वरूपोपलब्ध्यर्थं ध्यायेच्च स्थिरचेतसा ॥४८॥ अनाहतं महामंत्रं ध्यानसिद्धिकरं शुभम् । चिन्तयेत् स्थिरभावेन संस्थाप्य नाभिमण्डले ॥४९॥ मंत्रेषु मुख्यमंत्रं तदृद्धिवृद्धिसमृद्धिदम् । नानाश्चर्यकरं तद्धि प्रत्यक्षफलदायकम् ॥५०॥ ध्यानेन स्मरणेनात्र जपेन तद्ददात्यलम् । मनोरथं च जीवानामभीष्टं दुर्लभं ननु ॥५१॥ प्रत्यक्षफलदं शुद्धं जगत्कल्याणकारकम् ।

---

भावोंसे इस मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥४३॥ यह मंत्ररूप विद्या भी महाप्रभावशाली है, दीप्यमान है, परमज्ञानको सिद्ध करनेवाली है, महासुख उत्पन्न करनेवाली है, शांत है और शांति देनेवाली है। इसलिये योगियोंको इसका भी सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥४४॥ "अरहंत" इन चार अक्षरोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप महाविद्या अरहंतस्वरूप है और शुभ है, इसलिये अरहंत पदको सिद्ध करनेके लिये शुद्ध भावोंसे इस मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥४५॥ यह मंत्ररूप महाविद्या अल्पाक्षररूप होकर भी महाआश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है, सिद्धियोंको देनेवाली है और महायोगीलोग सदा इसका ध्यान करते रहते हैं, इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये इसका ध्यान करना चाहिये ॥४६॥ यह विद्या प्रत्यक्ष फल देनेवाली है, समस्त कल्याणोंको करनेवाली है, शुभ है और भव्य जीवोंको शीघ्र ही समस्त अभीष्ट फलोंको देनेवाली है ॥४७॥ इसी प्रकार "सिद्ध" इन दो अक्षरोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप महाविद्या सिद्धरूप है और शुभ है, इसलिये अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके लिये स्थिर चित्तसे इसका ध्यान करना चाहिये ॥४८॥ इसी प्रकार अनाहत महामन्त्र भी ध्यानकी सिद्धि करनेवाला है और शुभ है, इसलिये इसको नाभिमण्डलमें स्थापनकर स्थिर परिणामोंसे चिंतवन करना चाहिये ॥४९॥ यह अनाहत महामंत्र सब मंत्रोंमें मुख्य है; ऋद्धि, वृद्धि और समृद्धियोंको देनेवाला है, अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है और प्रत्यक्ष फल देनेवाला है ॥५०॥ इस अनाहत मंत्रके ध्यान करनेसे स्मरण करनेसे वा जप करनेसे जीवोंके दुर्लभ अभीष्ट मनोरथ बहुत शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं ॥५१॥ 'ह्रीं' यह

'ह्रीं' च बीजाक्षरं ध्यायेच्चतुर्विंशतिरूपकम् ॥५२॥ चतुर्विंशतितीर्थानां महाविभवदायकम्। देवनागेन्द्रभूपानां जिनैर्वश्यकरं मतम् ॥५३॥ भ्रूमध्ये शीर्षके भाले संस्थाप्य भावपूर्वकम्। हृत्पद्मकर्णिकामध्ये वान्यत्र शुद्धभावतः ॥५४॥ एकाग्रमनसा तत्र शुद्धध्यानबलेन च। पुनः पुनश्च संध्यायेत्प्रसन्नमनसाऽथवा ॥५५॥ अर्हं बीजाक्षरं सिद्धं ब्रह्मरूपस्य वाचकम्। भाले संस्थाप्य तद्भक्त्या ध्यायेच्च शान्तिहेतवे ॥५६॥ स्वात्मसिद्धिः सतां शीघ्रं जपनेनास्य जायते। आत्मा स्वात्मनि वा याति स्थिरतां धैर्यपूर्वकम् ॥५७॥ पञ्चबीजाक्षरं तत्र पञ्चानां परमेष्ठिनाम्। प्रणवेन युतं शुद्धं पञ्चवर्णसमन्वितम् ॥५८॥ विविधपल्लवोपेतं वश्यादिकरणक्षमम्। श्रद्धया परया भक्त्या शुद्धया ध्यायेच्च संततम् ॥५९॥ क्रूरकर्मोद्भवं पापं तत्क्षणाच्छाम्यति स्वयम्। सर्वकार्याणि सिद्ध्यन्ति शुद्धमंत्रप्रभावतः ॥६०॥ श्रद्धान्वितो हि यो

---

बीजाक्षर भी चतुर्विंशति तीर्थंकरस्वरूप है, प्रत्यक्ष फल देनेवाला है, शुद्ध है और जगत्का कल्याण करनेवाला है; इसलिये इसका भी ध्यान करना चाहिये ॥५२॥ यह महामंत्र चौबीसों तीर्थंकरोंकी महाविभूतिको देनेवाला है और देव, नागेन्द्र तथा नरेन्द्र आदिको वश करनेवाला है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥५३॥ इस मन्त्रको भौओंके मध्यमें, मस्तकपर और ललाटपर भावपूर्वक स्थापन करना चाहिये, अथवा हृदयरूपी कमलकी कर्णिकामें वा अन्यत्र शुद्ध भावोंसे स्थापन करना चाहिये ॥५४॥ अथवा एकाग्रमनसे देदीप्यमान ध्यानके बलसे अथवा प्रसन्न मनसे बार बार इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिये ॥५५॥ 'अर्हम्' यह बीजाक्षर भी सिद्धस्वरूप है और ब्रह्मस्वरूपका वाचक है, इसलिये परिणामोंको शान्त करनेके लिये इस मन्त्रको ललाटपर स्थापनकर भक्तिपूर्वक इसका ध्यान करना चाहिये ॥५६॥ इस मन्त्रका जप करनेसे सज्जन पुरुषोंको अपने आत्माकी सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है, तथा यह आत्मा अपने आत्मामें धैर्यपूर्वक स्थिर हो जाता है। ॥५७॥ 'अर्हम्' इस बीजाक्षरमें पञ्चपरमेष्ठियोंके वाचक पांच अक्षर हैं। यह शुद्ध मन्त्र प्रणवके साथ पञ्चवर्ण सहित अनेक प्रकारके पल्लवोंसे सुशोभित वश करनेमें वा अन्य कार्योंके करनेमें समर्थ होता है; इसलिये श्रेष्ठ श्रद्धा, भक्ति और शुद्धतापूर्वक इस मन्त्रका सदा ध्यान करना चाहिये ॥५८–५९॥ इस शुद्ध मन्त्रके प्रभावसे क्रूर कर्मोंसे उत्पन्न हुए पाप उसी क्षणमें स्वयं शांत हो जाते हैं, तथा समस्त कार्य अपने आप शांत हो जाते हैं ॥६०॥ जो बुद्धिमान् श्रद्धा धारणकर इस मन्त्रका ध्यान करता है, चिंतवन करता है, वा जप करता है

ध्यायेच्चिन्तयेच्च जपेत्सुधीः । शान्तिपुष्ट्यादिकार्याणि तस्य सिद्धयन्ति शीघ्रतः ॥६१॥ 'ओं णमो अरिहंताण'मिति सप्ताक्षरात्मकम् । अर्हतो वाचकं मंत्रं ध्यायेच्च सर्वसिद्धये ॥६२॥ 'णमो सिद्धाण' माध्यायेत्पञ्चाक्षरात्मकं परम् । प्रणवेन युतं सिद्धस्वरूपवाचकं शुभम् ॥६३॥ मंत्रस्यास्य प्रभावेण सिद्धयन्ति सर्वसिद्धयः । कर्मकलंकपंकं हि नश्यति तत्क्षणात्स्वयम् ॥६४॥ 'ओं णमो आयरीयाण'मिति सप्ताक्षरात्मकम् । आचार्यवाचकं श्रेष्ठं सर्वकल्याणकारकम् ॥६५॥ ध्यायेच्छुद्धसुभावेन स्वात्मचारित्रवृद्धये । दुष्कर्मपापनाशार्थं भक्त्या च विधिपूर्वकम् ॥६६॥ ध्यायेत् 'णमो उवज्झायाण'मिति सप्तवर्णकम् । प्रणवेन युतं शुद्धं परब्रह्मात्मकं शुभम् ॥६७॥ सर्वाविद्याविनाशार्थं परमज्ञानसिद्धये । भावभक्त्या निजे चित्ते श्रद्धया च दिवानिशम् ॥६८॥ सुध्यायेच्च 'णमो लोए सव्वसाहूण'मक्षरम् । नवाक्षरात्मकं शुद्धं मनोवाञ्छितसिद्धिदम् ॥६९॥ प्रतिदिनं जपेन्नित्यं जिनलिङ्गसुधारकम् । वीतरागं महात्मानं योगिनाथं दिगम्बरम् ॥७०॥ तस्य च

---

उसके शांति, पुष्टि आदि समस्त कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं ॥६१॥ "ओं णमो अरिहंताणं" यह अरहंतका वाचक सात अक्षरोंका मन्त्र है, इसलिये समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये इसका ध्यान करना चाहिये ॥६२॥ "णमो सिद्धाणं" यह पांच अक्षरोंका उत्कृष्ट मन्त्र हैं, यह भगवान् सिद्ध परमेष्ठीका वाचक है और शुभ है, इसलिये प्रणवके साथ इसका ध्यान करना चाहिये ॥६३॥ इस मंत्रके प्रभावसे समस्त सिद्धियां सिद्ध हो जाती हैं और कर्म-कलंककी कीचड़ अपने आप उसी क्षणमें नष्ट हो जाती है ॥६४॥ "ओं णमो आइरीयाणं" यह सात अक्षरोंका मन्त्र आचार्यका वाचक है और श्रेष्ठ तथा समस्त कल्याणोंको करनेवाला है ॥६५॥ इस मंत्रको भी अपने आत्माके चारित्रकी वृद्धिके लिये और पाप कर्मोंका नाश करनेके लिये शुद्धभावोंसे विधिपूर्वक बड़ी भक्तिसे चिन्तवन करना चाहिये ॥६६॥ "णमो उवज्झायाणं" यह सात अक्षरका मन्त्र है। यह मन्त्र भी शुद्ध है, परमब्रह्मस्वरूप है, और शुभ है; इसलिये समस्त अविद्याओंको नाश करनेके लिये और परम ज्ञान की प्राप्तिके लिये, भाव-भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक अपने हृदयमें रात-दिन प्रणवके साथ इसका ध्यान करना चाहिये ॥६७-६८॥ इसी प्रकार "णमोलोए सव्वसाहूणं" यह नौ अक्षरोंका मन्त्र है, यह भी शुद्ध है, मनोवांच्छित पदार्थोंको सिद्ध करनेवाला है, जिनलिंगको सुधारनेवाला है, वीतराग है, महात्म्यको धारण करनेवाला है, योगियोंका स्वामी है और दिगम्बर अवस्थाका सूचक है। इसका भी प्रतिदिन ध्यान करना चाहिये और

जपनेनात्र स्वात्मबोधः प्रजायते । प्रकाश्यते शिवो मार्गः शाश्वतः सौख्यदायकः ॥७१॥ णमोकारयुतं चत्तारि इति दण्डकं सदा । ध्यायेच्च चिन्तयेद्योगी जपेद्वा शुद्धभावतः ॥७२॥ तस्य नित्यं जपेनात्र महाशान्तिः प्रजायते । नश्यन्ति सर्वविघ्नानि जायन्तेऽत्र सुखानि वा ॥७३॥ चतुर्विंशतितीर्थानां नामानि शुभभावतः । चिन्तयेच्च जपेद्भक्त्या ध्यायेच्च सर्वसिद्धये ॥७४॥ जपेच्च ओं नमः सिद्धेभ्यश्च षडक्षरात्मकम् । सर्वत्र सर्वकार्येषु भक्त्या नित्यं दिवानिशम् ॥७५॥ नियमेन प्रसिद्ध्यन्ति जपनेनास्य सत्वरम् । सर्वकार्याणि जीवानां विघ्नं नश्यति तत्क्षणात् ॥७६॥ एनं मन्त्रं हि प्रत्येककार्येषु सर्वसिद्धये यतिर्वात्र गृहस्थो हि अभ्यसेत्तु निरन्तरम् ॥७७॥ स शुद्धो वाप्यशुद्धो वा रोगी रङ्कः शुभाशुभः । दीनो हीनोऽत्र पंगुर्वा ह्येनं

---

सदा जप करना चाहिये ॥६९–७०॥ इस मन्त्रका जप करनेसे आत्मज्ञान प्रगट होता है और सुख देनेवाला सदा रहनेवाला मोक्ष-मार्ग प्रगट होता है ॥७१॥ इसीप्रकार "णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। चत्तारिमङ्गलं अरहंत मङ्गलं सिद्धमङ्गलं साहूमङ्गलं केवलि पण्णत्तो धम्मोमङ्गलं चत्तारि लोगुत्तमा अरहंत लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्धसरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि" इसको दण्डक कहते हैं। योगियोंको अपने शुद्धभावोंसे इसका भी ध्यान करना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये और जप करना चाहिये ॥७२॥ इस मन्त्रके जप करनेसे महाशांति प्रगट होती है, सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं और सब सुख प्रगट हो जाते हैं ॥७३॥ समस्त कार्योंको सिद्ध करनेके लिये शुभ भावोंसे चौबीसों तीर्थङ्करोंके नामोंका चिंतवन करना चाहिये, भक्तिपूर्वक जप करना चाहिये और ध्यान करना चाहिये ॥७४॥ "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" यह छह अक्षरोंका मन्त्र भी शुभ है, इसको सब जगह समस्त कार्योंमें भक्तिपूर्वक रात-दिन सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥७५॥ इसके जप करनेसे जीवोंके समस्त कार्य नियमपूर्वक शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं और सब विघ्न उसी समयमें नष्ट हो जाते हैं ॥७६॥ चाहे कोई मुनि हो और चाहे कोई गृहस्थ हो, समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक जीवको सदा इसके जपनेका अभ्यास करते रहना चाहिये ॥७७॥ वह जीव चाहे शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो,

मन्त्रं जपेत्सदा ॥७८॥ अंधः कुष्ठी गलद्रक्तो ह्यशुचिर्मलमूत्रतः । तथापि च जपेदेनं मंत्रराजं सुखाकरम् ॥७९॥ महाप्रभावको मंत्रो महाशक्तिप्रदायकः । महामङ्गलभूतोऽसौ महासौख्यकरो मतः ॥८०॥ सर्वावस्थासु यो भक्त्या जपेन्नित्यं क्षणे क्षणे । निर्विघ्नं तस्य कार्याणि नित्यं सिद्ध्यन्त्यसंशयम् ॥८१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कार्यप्रारंभके शुभे। जपेच्च ओं नमः सिद्धेभ्य इति मंत्रराजकम् ॥८२॥ जिनमित्यक्षरं युग्मं जपेन्नित्यं दिवानिशम् । सर्वत्र सर्वकार्येषु भावभक्त्या सुखाकरम् ॥८३॥ चिन्तयति जिनं भक्त्या स्मरति नौति वार्चति । जपति ध्यायति भव्यो यः सवै पुरुषोत्तमः ॥८४॥ त्रिलोकेऽस्मिन् स चैको हि ध्येयोऽत्र श्रीजिनः सताम् । अन्यमंत्रं सदा त्यक्त्वा ध्यायतां स जिनोऽनिशम् ॥८५॥ तावदेव कुमंत्रेषु जीवो भ्रमति मोहतः । यावन्न जिनदेवोऽसौ दृष्टो भक्तिभरेण वा ॥८६॥ तावदेव कुयोगेषु मानवः कुरुते स्थितिम् । यावन्न जिनदेवोऽसौ दृष्टः प्रशान्तयोग-

---

चाहे रोगी हो चाहे रंक हो, चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, चाहे दीन हो, चाहे हीन हो और चाहे लँगड़ा हो, सबको इस मन्त्रका जप सदा करते रहना चाहिये ॥७८॥ चाहे अंधा हो, चाहे कोढ़ी हो, चाहे उसके शरीरसे रुधिर बह रहा हो, चाहे मल-मूत्रसे अपवित्र हो, तो भी उसको सुख देनेवाले इस मन्त्रराजका जप अवश्य करना चाहिये ॥७९॥ यह मंत्र महाप्रभाव उत्पन्न करनेवाला है, महाशक्तिको देनेवाला है, महामङ्गलभूत है और महासुख उत्पन्न करनेवाला है । जो मनुष्य भक्तिपूर्वक समस्त अवस्थाओंमें प्रतिक्षण सदा इसका जप करता है, उसके समस्त कार्य निर्विघ्नपूर्वक अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं ॥८०-८१॥ इसलिये "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" इस मंत्रराजको सब तरहके प्रयत्न करके प्रत्येक कार्यके प्रारंभमें वा शुभ कार्योंमें जपना चाहिये ॥८२॥ "जिन" यह दो अक्षरोंका मंत्र भी सुख देनेवाला है, इसलिये सब जगह सब कार्योंमें भक्तिपूर्वक रात-दिन इसका जप करना चाहिये ॥८३॥ जो भव्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है, भक्तिपूर्वक उनका स्मरण करता है, उनको नमस्कार करता है, उनका चिंतवन करता है, जप करता है और ध्यान करता है, उसको इस संसारमें पुरुषोत्तम समझना चाहिये ॥८४॥ एक भगवान् जिनेन्द्रदेव ही तीनों लोकोंमें सज्जनोंके द्वारा ध्यान करने योग्य हैं, इसलिये अन्य सब मंत्रोंको छोड़कर 'जिन जिन' इसी मंत्रका जप करना चाहिये ॥८५॥ यह जीव मोहनीय कर्मके उदयसे तभीतक कुमंत्रोंमें परिभ्रमण करता है, जब तक कि भक्तिपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं होते ॥८६॥ यह मनुष्य कुयोगोंमें तभीतक ठहर सकता

भाक् ॥८७॥ जिन एव भवाम्भोधौ तारको भवहारकः । तस्माज्जिनं जिनं भक्त्या जपेच्च शुद्धभावतः ॥८८॥ जिनो देवो जिनो देवो देवदेवः जिनो जिनः । जिनो एव सदा ध्येयो वन्द्यो पूज्यश्च तारकः ॥८९॥ जिनं जिनं जिनं चात्मन् स्मर चिन्तय भावय । प्राणै कण्ठगतैश्चापि जातु विस्मर मा जिनम् ॥९०॥ श्रद्धया परया भक्त्या शुद्धया च शुद्धभावतः । यः स्मरति जिनं देवं जपति स सुदृष्टिकः ॥९१॥ तावदेव कुधर्मेषु विमुह्यति जनो भुवि । यावन्न हि जिनो दृष्टोऽनन्तशक्तिप्रधारकः ॥९२॥ जिन एव महादेवो जिन ईश्वर उच्यते । जिनो हि परमात्मासौ जिनो ब्रह्मा शिवो मतः ॥९३॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वकार्येषु सर्वदा । ध्यातव्यः श्रीजिनो नित्यं शुद्धभावेन धीमता ॥९४॥ कायव्यापारकं रुद्ध्वा चान्तर्जल्पेन योगिभिः । शनैः शनैः परो मन्त्रो ध्यातव्यश्च सुखेप्सया ॥९५॥ त्यक्त्वान्यां सर्वचिन्तां हि चैकाग्रमनसात्र वा । एकं मंत्रपदं ध्येयं शुद्धोचारण-

है, जबतक कि शांतयोगको धारण करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं होते ॥८७॥ इस संसाररूपी समुद्रमें भगवान् जिनेन्द्रदेव ही संसारको नाश करनेवाले हैं और संसारसे पार कर देनेवाले हैं, इसलिये भक्तिपूर्वक शुद्धभावोंसे जिन वा जिनेन्द्रदेवका जप करना चाहिये ॥८८॥ भगवान् जिनेन्द्रदेव ही देव हैं जिनेन्द्रदेव ही देव हैं, देवोंके देव जिन ही हैं, जिन ही हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव ही ध्यान करने योग्य हैं, वंदना करने योग्य हैं, पूज्य हैं और संसारसे पार कर देनेवाले हैं ॥८९॥ हे आत्मन् ! तू भगवान् जिनेन्द्रदेवका चिंतवन कर, भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण कर और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भावना कर । कंठगत प्राण होने पर भी तू भगवान् जिनेन्द्रदेवको मत भूल ॥९०॥ जो पुरुष परम श्रद्धा, परम भक्ति, शुद्धता और शुद्ध भावपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण करता है और उनका जप करता है, उसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ॥९१॥ यह जीव इस संसारमें तभीतक कुधर्ममें मोहित होता है, जबतक कि अनंत शक्तिको धारण करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं होते ॥९२॥ भगवान् जिनेन्द्रदेव ही महादेव हैं, जिनेन्द्रदेव ही ईश्वर हैं, जिनेन्द्रदेव ही परमात्मा हैं, जिनेन्द्रदेव ही ब्रह्मा हैं और भगवान् जिनेन्द्रदेव ही शिव हैं ॥९३॥ इसलिये बुद्धिमान् भव्य जीवोंको सब तरहके प्रयत्न करके समस्त कार्योंमें शुद्धभावोंसे सदा भगवान् जिनेन्द्रदेव—का ही ध्यान करना चाहिये ॥९४॥ योगियोंको सुखकी इच्छासे शरीरके व्यापारको रोककर अंतःकरणमें जप करते हुए धीरे धीरे इस सर्वोत्कृष्ट मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥९५॥ अन्य समस्त चिंताओंको छोड़कर

पूर्वकम् ॥९६॥ अन्यैः स्वेनाऽश्रुतं वर्णं श्रद्धया शुद्धभावतः। क्षणं क्षणं हि तद्वर्णं ध्यायेद्वा ध्यानसिद्धये ॥९७॥ कुम्भके निश्चलं कृत्वा स्थिरचित्तेन तत्र वै। पूरके च स्थिरं कृत्वा ध्यातव्यं मंत्रवर्णकम् ॥९८॥ मायाबीजेन संयुक्तं प्रणवं मन्त्रशेखरम्। अष्टपत्रात्मके पद्मे सकर्णिके जपेद्ध्रुवम् ॥९९॥ सर्वोपद्रवनाशार्थं शान्त्यर्थं विघ्नहानये। जपेन्मन्त्रमिमं भक्त्या शिवार्थी भावुकः सदा ॥१००॥ स्मरति जपति भक्त्या श्रीपदस्थं सुमन्त्रमिह परमविशुद्ध्या श्रद्धयासौ शिवार्थी। परमसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं नयति स हि सुधर्मं स्वात्मरूपं शिवं वा ॥१०१॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे पदस्थध्यानवर्णनो नाम द्वाविंशतितमोऽधिकारः।

---

एकाग्र मनसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक एक इसी मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥९६॥ अथवा जो जिन शब्द अन्य लोगोंने स्वयं कभी नहीं सुना है उसका भी भावोंसे श्रद्धापूर्वक ध्यानकी सिद्धिके लिये क्षण क्षण में ध्यान करते रहना चाहिये ॥९७॥ स्थिर चित्त होकर कुंभक, पूरक और रेचक वायुओंके द्वारा मनको निश्चलकर मंत्रके वर्णोंका ध्यान करना चाहिये ॥९८॥ कर्णिकासहित आठ दलका कमल बनाकर उसपर माया-बीजसहित प्रणवपूर्वक मंत्रोंके मुकुटभूत इस जिन-मंत्रका अवश्य ध्यान करना चाहिये ॥९९॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको समस्त उपद्रवोंको नाश करनेके लिये, शांतिके लिये और विघ्नोंको दूर करनेके लिये भक्तिपूर्वक इस मंत्रका सदा जप करते रहना चाहिये ॥१००॥ ये पदस्थ ध्यानके मंत्र परम सुखके निधान हैं और समस्त कल्याणोंके कारण हैं, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले जो भव्य जीव परम श्रद्धा, परम भक्ति और परम शुद्धिपूर्वक इन मंत्रोंका जप करते हैं वा इनको स्मरण करते हैं; वे शुद्ध आत्मस्वरूप अथवा मोक्षस्वरूप श्रेष्ठ धर्मको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥१०१॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें पदस्थध्यानको वर्णन करनेवाला यह बाईसवां अधिकार समाप्त हुआ।

# त्रयोविंशतितमोऽधिकारः ।



भवसन्तानहन्तारं वरधर्मप्रकाशकम् । योगीश्वरैः सदा वन्द्यं नेमिनाथं नमामि तम् ॥१॥ यो मोहादीनरीन् हत्वा रजोविघ्नप्रणाशकः । श्रीमन्तमरिहन्तं तं नमामि ध्यानसिद्धये ॥२॥ निर्भयं परमानन्दं स्वतन्त्रं स्वात्मसंस्थितम् । चतुष्कघातिकर्मारीन् जेतारं नौमि तं जिनम् ॥३॥ रत्नत्रयमयश्चात्मा रत्नत्रयमयो जिनः । वन्द्यते हि मया भक्त्या कर्मारिविजयाज्जिनः ॥४॥ तं परमेष्ठिनं देवं त्रिजगत्परमेश्वरम् । सर्वज्ञं परमात्मानमर्हन्तं नौमि तीर्थकम् ॥५॥ ध्यानेन येन कर्मारि-

---

जो नेमिनाथ भगवान् जन्म-मरणरूप संसारकी संतानको नाश करनेवाले हैं, श्रेष्ठ धर्मको प्रकाशित करनेवाले हैं और योगीश्वरोंके द्वारा सदा वन्दनीय हैं; ऐसे भगवान् नेमिनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो अरहंत भगवान् मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं तथा विघ्नरूप अन्तराय कर्मको नाश करनेवाले हैं; ऐसे भगवान् अरहंत देवको अपने ध्यानकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥२॥ जो अरहंत देव भयरहित हैं, परमानन्दस्वरूप हैं, स्वतन्त्र हैं, अपने आत्मामें स्थिर हैं और चारों घातक कर्मरूपी शत्रुओं-को जीतनेवाले हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेव भगवान् अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥ यह मेरा आत्मा भी रत्न-त्रयमय है और भगवान् जिनेन्द्रदेव भी रत्न-त्रयमय हैं तथा वे जिनेन्द्र कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे हुए हैं; ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥४॥ जो अरहंत भगवान् परमेष्ठी हैं, तीनों जगत्के ईश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, परमात्मा हैं और तीर्थंकर हैं; ऐसे भगवान् अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥५॥ जिन योगिनाथ भगवान् अरहंतदेवने अपने निर्मल परिणामोंसे ध्यानके द्वारा समस्त कर्मोंका समूह

चक्रो नष्टो हि मूलतः । अर्हंता योगिनाथेन वन्देऽहं तं सुभावतः ॥६॥ जीवन्मुक्तोऽपि योगीशो निर्दोषः सर्वविच्छुचिः । देवदेवैर्नृपैः पूज्यः सोऽर्हन् च पूज्यते मया ॥७॥ अर्हन्तं भगवन्तं तं पूज्येशं परमेश्वरम् । ध्यायेच्च ध्यानरूपस्थे ध्याता चैकाग्रचेतसा ॥८॥ घातिकर्मविनिर्मुक्तं सकलं परमेष्ठिनम् । योगीश्वरं महासाधुं सिद्धयोगं निरञ्जनम् ॥९॥ योगातीतं महर्षिं तं कृतकृत्यं महाप्रभुम् । सर्वयोगीश्वरैः पूज्यं ब्रह्मर्षिं च यतीश्वरम् ॥१०॥ ध्यानीशं परमर्षिं तं स्नातकं च विकल्मपम् । ऋद्धिवृद्धि-समृद्धयाढ्यं नानर्द्धिभूषितं जिनम् ॥११॥ अनन्तमहिमोपेतं सर्वविद्येश्वरं विभुम् । सर्वनरेन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्राद्यैश्च पूजितम् ॥१२॥ संसारचक्रनिर्मुक्तं जन्मातीतमजं शिवम् । धर्मचक्रप्रणेतारं कर्मचक्रविनाशकम् ॥१३॥ क्षुधादिदोपनिर्मुक्तं सर्वमलनिराकृतम् । सप्तधातुविनिर्मुक्तं जरामरणदूरगम् ॥१४॥ शुद्धस्फटिकसंकाशं दिव्यकांचनसन्निभम् । अन्तर्बहिर्मलातीतं पूतं परमपावनम् ॥१५॥ दोपातीतं भवातीतं चेच्छातीतं विकायकम् । निर्मोहं निर्मदं शान्तं निर्विकारं निरञ्ज-

मूलसे नष्ट कर दिया है, ऐसे अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥६॥ जो अरहंतदेव जीवन्मुक्त हैं, योगियोंके स्वामी हैं, निर्दोष हैं, सर्वज्ञ हैं, पवित्र हैं और देव इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य हैं, ऐसे भगवान् अरहंतदेवकी मैं पूजा करता हूं ॥७॥ ध्यान करनेवालेको एकाग्र मनसे रूपस्थ ध्यानमें सब पूज्योंके स्वामी परमेश्वर भगवान् अरहंतदेवका ध्यान करना चाहिये ॥८॥ भगवान् अरहंतदेव घातक कर्मोंसे रहित हैं, शरीरसहित हैं, परमेष्ठी हैं, योगीश्वर हैं, महासाधु हैं, सिद्धयोग हैं, निरंजन हैं, योगरहित हैं, महर्षि हैं, कृतकृत्य हैं, महाप्रभु हैं, समस्त योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य हैं, ब्रह्मर्षि हैं, यतीश्वर हैं, ध्यानियोंके ईश्वर हैं, परम ऋषि हैं, स्नातक हैं, कर्ममलसे रहित हैं, ऋद्धि, वृद्धि और समृद्धियोंसे सुशोभित हैं, अनेक ऋद्धियोंसे विभूषित हैं, जिन हैं, अनंत महिमाको धारण करते हैं, समस्त विद्याओंके ईश्वर हैं, विभु हैं, समस्त नरेन्द्र, देवेन्द्र और नागेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य हैं, संसारचक्रसे रहित हैं, जन्म-मरण रहित हैं, अज हैं, शिव हैं, धर्म हैं, धर्मचक्रको निरूपण करनेवाले हैं, कर्मचक्रको नाश करनेवाले हैं, क्षुधा-तृषा आदि दोषोंसे रहित हैं, रागद्वेषादिक समस्त कल्मषोंको दूर करनेवाले हैं, सप्त धातुओंसे रहित हैं, बुढ़ापा-मरण आदिसे दूर हैं, शुद्ध स्फटिकके समान हैं, अथवा दिव्य सुवर्णके समान हैं, अंतरङ्ग बहिरङ्ग मलोंसे रहित हैं, पवित्र हैं, परम पवित्र हैं, दोष-रहित हैं, संसारसे रहित हैं, चेष्टासे रहित हैं, शरीररहित हैं, मोहरहित हैं, मदरहित हैं, शांत हैं, विकाररहित हैं,

नम् ॥१६॥ निष्कामं निष्क्रियं दुःखसंतापशोकवर्जितम् । अतीन्द्रियं मनोतीतं रागादिदोषवर्जितम् ॥१७॥ क्रोधमानविनिष्क्रान्तं मायालोभविवर्जितम् । निर्लेपं निर्भयं धीरं वीरं कर्मविनाशने ॥१८॥ निर्द्वन्द्वं सङ्गसंहीनं गतदोषं विरागकम् । निर्मत्सरं निरान्तकं निस्पृहं च निराकुलम् ॥१९॥ नैराश्यं च निरीच्छं च लोकश्रेष्ठं दिगम्बरम् । निर्भूषणं च निर्वस्त्रं निःशस्त्रं जालरूपकम् ॥२०॥ निष्कल्मषं महाशान्तं निधिनाथं महेश्वरम् । दिव्यविभूतिसम्पन्नं दिव्यसाम्राज्यभूषितम् ॥२१॥ छत्रत्रयसमायुक्तं चामरैर्व्यञ्जितं सदा । सिंहासनसमासीनं प्रातिहार्यविभूषितम् ॥२२॥ अन्तरिक्षस्थितं दिव्यपद्मोपरि विराजितम् । महाश्चर्यकरं तत्र ह्यचिन्त्यं विश्वमोहकम् ॥२३॥ अनन्तज्ञानसम्पन्नमनन्तदर्शनान्वितम् । अनन्तसौख्यसंयुक्तं चामरैर्व्यंजितं सदा ॥२४॥ सर्वज्ञं सर्वद्रष्टारं सार्वं सर्वहितङ्करम् । सर्वकल्याणकर्तारं शङ्करं च शिवेश्वरम् ॥२५॥ सर्वार्थबोधकाद्बुद्धं शंकरत्वाद्धि शङ्करम् । ब्रह्माणं ब्रह्मनिरताद्विष्णुं सर्वमयं विभुम् ॥२६॥ देवतानामधीशत्वान्महा-

---

दोषरहित हैं, इच्छारहित हैं, क्रियारहित हैं, दुःख, संताप और शोकसे रहित हैं, अतीन्द्रिय हैं, मनसे रहित हैं, राग-द्वेषरहित हैं, क्रोध-मानसे रहित हैं, माया लोभसे रहित हैं, निर्लेप हैं, निर्भय हैं, कर्मोंके नाश करनेमें धीर-वीर हैं, द्वंद्वरहित हैं, परिग्रहरहित हैं, द्वेषरहित हैं, रागरहित हैं, मत्सरतारहित हैं, आतङ्करहित हैं, स्पृहारहित हैं, आकुलतारहित हैं, आशारहित हैं, इच्छारहित हैं, लोकोत्तर हैं, दिगम्बर हैं, आभूषणरहित हैं, वस्त्ररहित हैं, शस्त्ररहित हैं, उत्पन्न हुए (बालक)के समान दिगम्बर हैं, कल्मषतारहित हैं, महाशान्त हैं, निधियोंके स्वामी हैं, महाईश्वर हैं, दिव्य विभूतियोंसे सुशोभित हैं, दिव्य साम्राज्यसे विभूषित हैं, उनके मस्तकपर तीन छत्र शोभायमान होते हैं, चमर ढुलते रहते हैं, वे सिंहासनपर विराजमान रहते हैं, प्रातिहार्योंसे सुशोभित रहते हैं, सिंहासनपर भी अंतरीक्ष दिव्य महा कमलपर विराजमान रहते हैं, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, अचिंत्य हैं, तीनों लोकोंको आकर्षित करनेवाले हैं, अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, और अनंत सुखसे सुशोभित हैं, उनपर चमर सदा ढुलते रहते हैं, वे सर्वज्ञ हैं, सबको देखनेवाले हैं, सबका भला करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं, शङ्कर हैं, शिवके ईश्वर हैं, समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं—इसलिये बुद्ध हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं,—इसलिये शंकर हैं, ब्रह्ममें लीन हैं—इसलिये ब्रह्मा हैं; ज्ञानके द्वारा सबको जानते हैं—इसलिये विष्णु वा विभु हैं वा सर्वमय हैं, देवोंके स्वामी होनेके कारण महादेव हैं, तीनों लोक उनको नमस्कार करते हैं, वे

देवं जगन्नुतम् । ज्योतीरूपं परं ज्येष्ठं सुगतं पुरुषोत्तमम् ॥२७॥ पूजार्हत्वाद्धि चार्हन्तं कर्मारिविजयाज्जिनम् । तत्त्वविचारकत्वाच्च मीमांसं सर्ववेदिनम् ॥२८॥ सर्वतो हि विशुद्धत्वाच्छुद्धं नारायणं ननु । सर्वकर्मारिहननाद्धरं हरीशनायकम् ॥२९॥ मोहान्धकारभेदत्वाज्जगत्सूर्यं महाप्रभुम् । जगदाह्लादकत्वाच्च जगच्चन्द्रं सुधाकरम् ॥३०॥ सर्वभूतैः प्रपूज्यत्वाद्भूतनाथं प्रमाणकम् । श्रेष्ठत्वात्परमात्मानं योगिगम्याद्यतीश्वरम् ॥३१॥ ज्ञानामृतमहापूरैः सुलाविलजगत्त्रयम् । स्याद्वादनायकं दिव्यं देवदेवं स्वयम्भुवम् ॥२३॥ हरीशपूज्यपादाब्जमिन्द्रनागेन्द्रवंदितम् । शरण्यं मङ्गलं लोकोत्तमं सत्त्वहितङ्करम् ॥३३॥ एतादृशं हि चार्हन्तं नृसुरासुरपूजितम् । ध्यायेत्कर्मविनाशार्थं स्थिरचित्तेन भक्तितः ॥३४॥ त्रातारं सर्वलोकानां रक्षितारं पितामहम् । छेत्तारं भववल्लीनां तारकं सुखकारकम् ॥३५॥ तीर्थनाथं महातीर्थं सर्वतीर्थनमस्कृतम् । लोकालोकविभायुक्तं पूर्णसामर्थ्यधारकम् ॥३६॥ आदिमध्यान्तहीनं तं वर्द्धमानं सनातनम् । सत्यप्रमाणभूतं च दयालंकृतविग्रहम् ॥३७॥

---

ज्योतिरूप हैं सर्वज्येष्ठ हैं, सुगत हैं, पुरुषोत्तम हैं, सबके द्वारा पूजा करने योग्य हैं—इसलिये अर्हत हैं, कर्मोंको नाश करनेके कारण जिन हैं, तत्त्वोंका पूर्ण विचार करनेके कारण मीमांसक हैं, समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता हैं, सर्व ओरसे विशुद्ध होनेके कारण शुद्ध हैं, नारायण हैं, कर्मोंका नाश करनेके कारण हर हैं, इन्द्रोंके भी स्वामी हैं, मोहरूपी अन्धकारको नाश करनेके कारण जगत्‌के सूर्य हैं, महादेदीप्यमान हैं, जगत्‌को आह्लाद करनेके कारण जगत्‌के चन्द्रमा हैं, उनसे वचनरूपी अमृत सदा झरता है, समस्त जीवोंके द्वारा पूज्य होनेके कारण भूतनाथ कहलाते हैं, वे भगवान् प्रमाणभूत हैं, श्रेष्ठ होनेके कारण परमात्मा हैं, योगियोंके गम्य होनेके कारण यतीश्वर हैं, उन्होंने ज्ञानामृतके महापूरसे तीनों जगत्‌को भर दिया है, वे भगवान् स्याद्वादके स्वामी हैं, देवोंके देव हैं, स्वयंभू हैं, उनके चरणकमल इन्द्रोंके द्वारा भी पूज्य हैं, इन्द्र नागेन्द्र सब उनकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् शरणभूत हैं, मङ्गल हैं, लोकोत्तम हैं और समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अरहंत देवको अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये स्थिर चित्तसे भक्तिपूर्वक ध्यान करना चाहिये ॥ ९–३४ ॥ वे भगवान् अरहंत देव तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं, स्वयं सुरक्षित हैं, पितामह हैं, संसाररूपी बेलको नाश करनेवाले हैं, संसारको पार कर देनेवाले हैं, सुख देनेवाले हैं, तीर्थनाथ हैं, महातीर्थ हैं, समस्त तीर्थोंके द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं, लोक-आलोकके स्वरूपको निरूपण करनेवाले हैं, पूर्ण सामर्थ्यको धारण करनेवाले

सत्यसत्यप्रणेतारं मिथ्यामतविनाशकम् । भ्रमादिदोषनिर्मुक्तं प्रत्यक्षीकृज्जगत्त्रयम् ॥३८॥ एतादृशं हि चार्हन्तं ध्याये-संचिन्तयेत्सुधीः । पूजयेत्सुजपेद्भक्त्या स्मरेद्वा तद्गुणाप्तये ॥३९॥ धर्मध्यानबलेनात्र जिनामूर्तिं विचिंतयेत् । ध्याता स्वात्मनि संकल्प्य अर्हन्तं दिव्यतेजसम् ॥४०॥ ध्यायेत्तद्गुणसंकीर्त्या स्वात्मानं जिनभावतः । जिनश्चात्मा जिनश्चात्मा स्वात्मैष स जिनो जिनः ॥४१॥ जिन एव भवेदात्मा तस्मादात्मा जिनो मतः । सर्वदोषविनिर्मुक्तमात्मानं मन्यते जिनम् ॥४२॥ भावयेद्भाव-भक्त्या तं तादात्मा स्याज्जिनो ध्रुवम् । तस्मात्तद्गुणसंकीर्त्या श्रद्धया वा जपेज्जिनम् ॥४३॥ प्रतिबिम्बं जिनेन्द्रस्य चान्तः स्थाप्य हृदिस्थले । ध्याताथवा हितं ध्यायेदेकाग्रमनसाऽनिशम् ॥४४॥ अर्हतश्च गुणान्धृत्वा तत्रैव चिन्तयेत्पुनः । अर्हतां

---

हैं, आदि, मध्य और अंतसे रहित हैं, वर्द्धमान हैं, सनातन हैं, यथार्थ प्रमाणभूत हैं, उनका शरीर दयासे सुशोभित है, सत्य सत्य भाषाको निरूपण करनेवाले हैं, मिथ्या मतको नाश करनेवाले हैं, भ्रम आदि दोषोंसे रहित हैं और तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अरहंतदेवका बुद्धिमान भव्य जीवोंको उनके गुण प्राप्त करनेके लिये ध्यान करना चाहिये, उनका चिंतवन करना चाहिये, उनकी पूजा करनी चाहिये, उनका जप करना चाहिये और उनका स्मरण करना चाहिये ॥३५–३९॥

आगे इस ध्यानके चिंतवन करनेका उपाय बतलाते हैं । सबसे पहले धर्मध्यानके बलसे भगवान् जिनेन्द्रदेवके आकारका चिंतवन करना चाहिये । ध्यान करनेवाले ध्याताको अपने आत्मामें दिव्य तेजको धारण करनेवाले भगवान् अरहंतदेवका संकल्प करना चाहिये और फिर अपने आत्माको जिनेन्द्ररूप समझ कर उनके गुणोंका कीर्तन करते हुए उनका ध्यान करना चाहिये । ये जिनेन्द्रदेव ही मेरा आत्मा है, जिनराज ही मेरा आत्मा है, अथवा मेरा आत्मा ही जिन है, जिन है, यह आत्मा ही जिनेन्द्र हो जाता है; इसलिये आत्मा ही जिनेन्द्र माना जाता है । इसप्रकार जब अपने आत्माको समस्त दोषोंसे रहित जिनेन्द्र ही मानता है, तथा भाव-भक्तिसे उसका चिंतवन करता है, तब आत्मा अवश्य ही जिन हो जाता है । इसलिये ध्यान करनेवालेको श्रद्धापूर्वक अरहंत देवके गुणोंका संकीर्तन करते हुए जिनेन्द्रदेवका जप करना चाहिये ॥४०–४३॥ अथवा ध्यान करनेवालेको अपने हृदयके भीतर भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबका स्थापन करना चाहिये और फिर एकाग्र मनसे हित

पञ्चकल्याणं तत्रैव चिन्तयेत्सुधीः ॥४५॥ अर्हतां सुगुणव्रातं ध्यायन्ध्यायन् विचिन्तयेत् । कृत्वा च मानसाध्यक्षं जिनबिम्बेऽर्हतां गुणम् ॥४६॥ जिनबिम्बं समालम्ब्य मनोध्यक्षेण चिन्तयेत् । भावरूपान्वितं देवमर्हन्तं हि जिनेश्वरम् ॥४७॥ कृत्वा च मानसाध्यक्षं जिनबिम्बं मनोहरम् । सत्प्रातिहार्यसंयुक्तं यक्षीयक्षादिवंदितम् ॥४८॥ त्यक्त्वा विकल्पसंकल्पं भक्त्या तन्मयतां व्रजेत् । ध्यानं कृत्वा जिनेन्द्रस्य स्वात्मानं भावयेत्सुधीः ॥४९॥ जिनाकृतिं समालंब्य मनुतेऽर्हद्गुणार्णवम् । जिन-रूपं निजं ध्यायेत्तत्रैव च पुनः पुनः ॥५०॥ नासाग्रे दृष्टिमारोप्य प्रशान्तवदनः सुधी । जातरूपधरो ध्याता प्रतिपद्य जिना-कृतिम् ॥५१॥ शनैश्शनैर्निजे चित्ते स्वात्मानं भावयेज्जिनम् । अहं जिनो जिनश्चाहं स्वात्मैव मे जिनो मतः ॥५२॥ तस्मा-

---

करनेवाले उन भगवान्का ध्यान करना चाहिये ॥४४॥ बुद्धिमान ध्याताको उसी प्रतिबिंबमें अरहंत भगवान्के गुणोंको धारणकर चिंतवन करना चाहिये, अथवा उसी प्रतिबिंबमें भगवान् अरहंतदेवके पांचों कल्याणकोंका चिंतवन करना चाहिये ॥४५॥ अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबमें अरहंतके गुणोंको मनसे प्रत्यक्षकर उनके गुणसमूहोंका चिंतवन करते हुए उनका ध्यान करना चाहिये ॥४६॥ भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका आलम्बन लेकर अपने परिणामोंमें आये हुए भगवान् अरहंतदेवको मनसे प्रत्यक्षकर उनका चिंतवन करना चाहिये ॥४७॥ बुद्धिमान ध्याताको अपने समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर श्रेष्ठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित यक्ष-यक्षियोंके द्वारा सदा बन्दनीय—ऐसे भगवान् अरहंतदेवके मनोहर प्रतिबिंबको मनसे प्रत्यक्ष देखना चाहिये और फिर भक्तिपूर्वक तन्मय होकर भगवान् जिनेन्द्रदेवका ध्यानकर अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिये ॥४८—४९॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबका आलम्बन लेकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणसमुद्रका ध्यान करना चाहिये और अपने आत्माको भगवान् जिनेन्द्रदेवका रूप समझकर वारवार उनका ध्यान करना चाहिये ॥५०॥ बुद्धिमान ध्याताको अपना मुख शांत रखना चाहिये, अपनी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखनी चाहिये और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समान दिगम्बर अवस्था धारणकर धीरे धीरे अपने चित्तमें जिनेन्द्रमय अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिये । मैं जिन हूँ, जिन ही मैं हूँ, मेरा आत्मा ही जिन है, इसलिये भक्तिपूर्वक 'जिन, जिन, जिन' इस प्रकार भावरूप 'जिन'का स्मरण करना चाहिये । तथा अपने

ज्जिनं जिनं भक्त्या भावरूपं स्मरेज्जिनम् । तन्मयतां समासाद्य चार्हन्तं तत्र चिन्तयेत् ॥५३॥ अनन्यशरणो भूत्वा भवसन्तानहानये । एकाग्रेण च तद्बिम्बं ध्यायेत्सुस्थिरचेतसा ॥५४॥ तस्य ध्यानेन शीघ्रं हि जायते भावशुद्धता । नियमेन सुभव्यानामर्हद्रूपप्रकाशिका ॥५५॥ अभव्यानामपि श्रेष्ठं महापुण्यं यशस्करम् । जायते सर्वजन्तूनां महाश्चर्यकरं परम् ॥५६॥ विपत्तिश्च महासाध्या दैवी नश्यति निश्चयात् । स्वर्गापवर्गसिद्धिस्तु स्वयमायाति भावतः ॥५७॥ भावयेत्सततं योगी जिनरूपं निजात्मनि । त्यक्त्वा सर्वविकल्पं वा जिनबिम्बं भजेत्सुधीः ॥५८॥ चतुर्विंशतितीर्थानां जिनकेवलिनां तथा । सिद्धानां प्रतिबिम्बानि ध्यातव्यानि मुमुक्षुणा ॥५९॥ बिम्बानि भावरूपाणि सूर्युपाध्यायलिंगिनाम् । तद्गुणान् तत्र संध्यायेत् पञ्चानां परमेष्ठिनाम् ॥६०॥ अकृत्रिमाणि बिम्बानि जिनेन्द्राणां जितात्मनाम् । लोके सन्तीह वा तानि ध्यायेच्च स्वात्म-

---

आत्माको जिनेन्द्रमय बनाकर अपने ही आत्मामें भगवान् अरहंतदेवका ध्यान करना चाहिये ॥५१—५३॥ ध्यान करनेवालेको अपनी संसार परंपराका नाश करनेके लिये भगवान् अरहंतदेवको ही शरण मानना चाहिये और निश्चल चित्तसे वा एकाग्र मनसे भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका ध्यान करना चाहिये ॥५४॥ इस ध्यानके प्रभावसे भव्य जीवोंको भगवान् अरहंतदेवके रूपको प्रकाशित करनेवाले अत्यन्त निर्मल भाव अवश्य हो जाते हैं तथा अभव्य जीवोंको भी सब जीवोंको आश्चर्य प्रगट करनेवाला और यशको बढ़ानेवाला महाश्रेष्ठ पुण्य प्रगट होता है। इस ध्यानसे महाअसाध्य दैवी विपत्तियां भी अवश्य नष्ट हो जाती हैं और भावपूर्वक ध्यान करनेसे स्वर्ग-मोक्षकी सिद्धि अपने आप समीप आ जाती है ॥५५—५७॥ बुद्धिमान योगियोंको अपने आत्मामें भगवान् जिनेन्द्रदेवके रूपका सदा चिन्तवन करते रहना चाहिये और समस्त विकल्पोंको छोड़कर जिनबिंबका ध्यान करना चाहिये ॥५८॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले योगीको चौबीसों तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंका, जिन केवलीकी प्रतिमाओंका तथा सिद्धोंकी प्रतिमाओंका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥५९॥ इसीप्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधुओंके भावरूप प्रतिबिंबोंकी कल्पनाकर उनमें उनके गुणोंका चिंतवन करना चाहिये तथा इसीप्रकार पांचों परमेष्ठियोंके गुणोंका चिन्तवन करना चाहिये ॥६०॥ अपने आत्माको जीतनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम प्रतिमाएं इस लोकमें जहां जहां विराजमान हैं, उन सबका अपने शुद्ध

सिद्धये ॥६१॥ परं समयसारस्य मूर्तिं कृत्वा सुभावतः। संस्थाप्य हृदये तां वै ब्रह्मरूपां विचिन्तयेत् ॥६२॥ कायोत्सर्गेण संस्थाय कायोत्सर्गमयीं कृतिम्। मत्वा निःसंगमत्मानमर्हन्तं चिन्तयेज्जिनम् ॥६३॥ ध्यानकाले सदैवात्र कायोत्सर्गजिनाकृतिम्। श्रेष्ठा सुध्यानगम्या वा चार्हद्रूपप्रकाशिका ॥६४॥ पूजयेद्भावयेद्भक्त्या स्मरेच्च चिन्तयेज्जपेत्। ध्यायेन्नमेच्च वा स्तूयात् कायोत्सर्गजिनाकृतिम् ॥६५॥ अनारतं ततो ध्यायेत् संस्थाप्य हृदि मन्दिरे। जिनबिम्बं महाभक्त्या दृढश्रद्धाभरेण वा ॥६६॥ इत्यभ्यासबलेनात्र जिनबिम्बस्य चिन्तनम्। स्थिरं कृत्वा मनस्तेन शनैस्तन्मयतां व्रजेत् ॥६७॥ अन्तर्दृष्ट्या निजं चित्तं संलीय च निजात्मनि। गूढं संस्थाप्य चात्मानं ध्यायेत्तत्र जिनाकृतिम् ॥६८॥ येन येन सुभावेन चान्तर्दृष्ट्या निमील्य च। स्वात्मानं स्वात्मनि तेन तद्रूपस्थं जिनं भजेत् ॥६९॥ परमात्मा स एवाहं सोऽहं सोऽहं प्रपद्य च। स्वके

---

आत्माकी सिद्धिके लिये ध्यान करना चाहिये ॥६१॥ अपने निर्मल परिणामोंसे समयसाररूप शुद्ध आत्माकी मूर्ति बनाकर और उसको अपने हृदयमें स्थापनकर उस ब्रह्म-स्वरूप मूर्तिका ध्यान करना चाहिये ॥६२॥ कायोत्सर्गसे खड़े होकर अपने आत्माकी मूर्तिको कायोत्सर्गरूप कल्पना करनी चाहिये और अपने आत्मामें समस्त परिग्रहसे रहित अरहंतकी कल्पनाकर अपने आत्माको अरहंतरूप चिंतवन करना चाहिये ॥६३॥ ध्यानके समयमें भगवान् अरहंतदेवके रूपको प्रकाशित करनेवाली कायोत्सर्ग प्रतिमा श्रेष्ठ और ध्यानके योग्य मानी गई है। इसलिये कायोत्सर्ग जिन-प्रतिमाकी भक्तिपूर्वक सदा पूजा करनी चाहिये, भावना करनी चाहिये, उसका स्मरण करना चाहिये, जप करना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये, उसको नमस्कार करना चाहिये और उसकी स्तुति करनी चाहिये ॥६४—६५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाको अपने हृदय-मन्दिरमें स्थापनकर अत्यन्त भक्तिसे तथा दृढ़ श्रद्धापूर्वक उसका निरंतर ध्यान करना चाहिये ॥६६॥ इसप्रकार ध्यानका अभ्यासकर और मनको अत्यन्त स्थिरकर जिनप्रतिमाका चिन्तवन करना चाहिये और फिर चिंतवन करते हुए तन्मय हो जाना चाहिये ॥६७॥ अपने चित्तको अंतर्दृष्टिसे अपने आत्मामें लीन कर लेना चाहिये और जिनेन्द्रदेवकी आकृतिके समान अपने आत्माको गूढ स्थापनकर उसका चिन्तवन करना चाहिये ॥६८॥ यह आत्मा जिन २ परिणामोंसे अपने आत्माको अपने आत्मामें अंतर्दृष्टिसे लीन कर लेता है, उन्हीं परिणामोंसे वह आत्मरूप भगवान् जिनेन्द्रदेवका ध्यान करता है ॥६९॥ "जो परमात्मा है वही मैं हूँ,

तन्मयतां कृत्वा स्वात्मानं चिन्तयेज्जिनम् ॥७०॥ सोऽहमर्हन्नसौ सोऽहं न मेदः स्वपरात्मनोः। अर्हन्नेव स चात्मायमिति ध्यायेत्स्वके सदा ॥७१॥ देवोऽर्हन्नेव नान्योऽस्ति परमात्मा स एव च। यः परात्मा स एवाहमिति ध्यायेत्स्वकं सदा ॥७२॥ इत्यभ्यास बलेनात्मा परमात्मा भवेदथ। तद्भावनापुटे धृत्वा ततो ध्यायेज्जिनाकृतिम् ॥७३॥ भगवतोऽर्हद्बिम्बस्य ध्यानेन हि सुयोगिनाम्। चूर्णयन्ते पुराकर्मचक्राणि च क्षणादिह ॥७४॥ कोटिभवान्तारोपात्तपापानि विगलन्ति च। जीवानामर्हतो बिम्बस्य ध्यानाच्च जपादिह ॥७५॥ अनादिसंसृतेः सङ्घः जिनबिम्बस्य दर्शनात्। शीघ्रं पलायये तस्माज्जिनबिम्बं स्मरेज्जपेत् ॥७६॥ दुःखोत्करं महाविघ्नं प्रलयं याति शीघ्रतः। सर्वसौख्यं समायाति जिनाकृतिजपेन वा ॥७७॥ अरयोऽपि भजन्तेऽत्र मित्रतां हि स्वतः स्वयम्। सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि मङ्गलानि भवन्ति च ॥७८॥ अगम्यं गम्यतां याति ह्यशक्यं याति शक्यताम्।

---

वही मैं हूँ, वही मैं हूँ, इसप्रकार अपने आत्मामें तन्मय होकर परमात्मरूप होकर अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥७०॥ जो मैं हूँ वही अरहंत हैं और जो अरहंत हैं वही मैं हूँ, मेरे आत्मामें और परमात्मामें कोई भेद नहीं है, अरहंतदेव ही यह मेरा आत्मा हैं इसप्रकार अपने अपने आत्मामें सदा ध्यान करना चाहिये ॥७१॥ 'देव भगवान् अरहंतदेव ही हैं अन्य नहीं हैं तथा वे ही परमात्मा हैं और जो परमात्मा है वही मैं हूँ' इसप्रकार अपने आत्माका सदा ध्यान करना चाहिये ॥७२॥ इस ध्यानके अभ्याससे यह आत्मा परमात्मा हो जाता है, उस परमात्माको अपनी भावनाके पुटमें रखकर उसमें भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आकृतिका ध्यान करना चाहिये ॥७३॥ भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका ध्यान करनेसे योगियोंके पहिलेके संचित हुए समस्त कर्मोंके समूह क्षणभरमें चूर्ण हो जाते हैं ॥७४॥ भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका ध्यान वा जप करनेसे जीवोंके करोड़ों भवोंसे चले आये समस्त पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ॥७५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका दर्शन करनेसे अनादिकालसे चली आई जन्म-मरणरूप संसारकी परिपाटी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है, इसलिये भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका सदा स्मरण करना चाहिये और सदा जप करना चाहिये ॥७६॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका जप करनेसे समस्त दुःखोंके समूह और महाविघ्न शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं ॥७७॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबका ध्यान करनेसे अनायास ही योगियोंके शत्रु भी अपने आप मित्र बन जाते हैं, समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं,

[illegible] ॥८७॥

इति [illegible] ।

मनमें चंचल होते रहते हैं, अथवा ध्यान न करनेसे मन्द हो जाते हैं, अशुभ कर्म मन्द हो जाते हैं, सब असाध्य कार्य साध्य हो जाते हैं, सब मनोरथ सफल हो जाते हैं और स्वर्ग मोक्षकी लक्ष्मी स्वयं प्राप्त हो जाती है इसलिये बुद्धिमान [illegible] भगवान् [illegible] अरहंतदेवकी प्रतिबिम्बका ध्यान करना चाहिये ॥८७—८८॥ [illegible] भगवान् अरहंतदेवका [illegible] करना चाहिये, [illegible] करना चाहिये और [illegible] करना चाहिये [illegible] भगवान् अरहंतदेवकी प्रतिबिम्बका ध्यान करना चाहिये, पूजन करना चाहिये और [illegible] करना चाहिये ॥८९॥ जो [illegible] मान, [illegible], सब [illegible] भगवान् जिनेन्द्रदेवकी इस प्रकार [illegible] करता है, [illegible] करता है, [illegible] ध्यान करता है, [illegible] भगवान् जिनेन्द्रदेवकी [illegible] करता है वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके [illegible] पदको प्राप्त करता है ॥९०॥

[illegible]
[illegible] ।

# चतुर्विंशतितमोऽधिकारः



महाध्यानी महाज्ञानी सौम्यमूर्तिर्महाप्रभुः। वंद्यतेऽसौ महादेवः पार्श्वनाथो जिनेश्वरः ॥१॥ श्रीसिद्धं परमात्मानं निष्कलङ्कममूर्तकम्। ईश्वरं च चिदानन्दं वन्देऽहं तद्गुणाप्तये ॥२॥ सर्वथा मूर्तिमत्कृत्स्नकर्माभावे ह्यमूर्तता। येषामस्ति सुसिद्धानां रूपातीतास्ततो हि ते ॥३॥ येषां हि कर्मणां सत्ता रूपयुक्ता च विद्यते। ते हि मूर्ताः सरूपाश्च सशरीरा भवन्ति वा ॥४॥ येषां तु नास्ति सा सत्ता रूपातीतास्ततो हि ते। अतो ध्यानं हि सिद्धानां रूपातीतं मतं जिनैः ॥५॥ विशुद्धानां सुसिद्धानां बुद्धानां हतकर्मणाम्। ध्यानं हि तेषां पूज्यानां रूपातीतं मतं जिनैः ॥६॥ सर्वरूपविहीनानां सर्वकर्मक्षयात्मनाम्। अदेहानां विशुद्धानामनक्षानां सुखात्मनाम् ॥७॥ निर्द्वन्द्वानां च सर्वव्यापारविरहितात्मनाम्। ध्यानं यदत्र सिद्धानां

---

जो महाध्यानी हैं, महाज्ञानी हैं, सौम्य मूर्ति हैं, महाप्रभु हैं और महादेव हैं (सर्वोत्कृष्ट देव हैं); ऐसे जिनेन्द्रदेव भगवान् पार्श्वनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो निष्कलंक हैं, अमूर्त हैं, ईश्वर हैं, चिदानन्दमय हैं और परमात्मा हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीको मैं उनके गुण प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥२॥ कर्म सब मूर्त हैं, उन सब कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें अमूर्तता स्वयं सिद्ध हैं; इसीलिये सिद्ध भगवान् रूपातीत वा रूपरहित कहलाते हैं ॥३॥ जिन जीवोंके रूपरहित कर्मोंकी सत्ता है, उनको सरूपी और मूर्त कहते हैं; ऐसे जीव शरीर सहित ही होते हैं ॥४॥ जिन जीवोंके वह रूपमती कर्मोंकी सत्ता नहीं है, ऐसे सिद्धोंको रूपातीत कहते हैं; इसीलिये सिद्धोंके ध्यानको रूपातीत कहते हैं ॥५॥ जो सिद्ध परमेष्ठी अत्यन्त विशुद्ध हैं, समस्त कर्मोंसे रहित हैं और पूज्य हैं; ऐसे सिद्धोंका ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है ॥६॥ भगवान् सिद्ध परमेष्ठी सब तरहके रूप रस गन्ध स्पर्शोंसे रहित हैं, समस्त कर्मोंसे रहित हैं, शरीरसे रहित हैं, विशुद्ध हैं, इन्द्रियसे रहित

रूपातीतं मतं हि तत् ॥८॥ सर्वध्यानेषु मुख्यं तत् ध्यानमस्ति च सिद्धिदम् । परमात्मा भवेदात्मा साक्षात्तेन यतः क्षणात् ॥९॥ सिद्धा हि सर्वतो ज्येष्ठाः सर्वश्रेष्ठास्त्रिलोकतः । देवैर्योगीश्वरैः पूज्या भवातीता निरञ्जनाः ॥१०॥ निष्कलाः परमात्मानस्ते सन्ति कृतकृत्यकाः । शाश्वताः सुखसम्पन्नाः शुद्धज्ञानधनाः शुभाः ॥११॥ सिद्धानां ध्यानतश्चात्मा साक्षात्सिद्धः प्रजायते । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा लब्ध्वा च निजसम्पदाम् ॥१२॥ संसारः क्षीयतेऽनादिः रोगो नश्यति जन्मजः । तेन ध्यानेन जीवानां प्राप्यते निश्चलं सुखम् ॥१३॥ आगमाङ्गस्य योज्ञाता भावश्रुतेन चात्र वा । रूपातीतस्य स ध्याता ध्यानस्येति मतो जिनैः ॥१४॥ अमूर्तं निष्कलं देवमव्यक्तं हि निरञ्जनम् । द्रव्यनोभावकर्मातीतं च सर्वमलापहम् ॥१५॥ व्योमाकारं निराकारं साकारं च प्रदेशतः । लोकाग्रवासिनं चान्त्यशरीरात्किञ्चिदूनकम् ॥१६॥ चिदानन्दमयं शुद्धदर्शनात्मकमच्युतम् । शुद्धसम्यक्त्व देदीप्तमव्याबाधमनाकुलम् ॥१७॥ अनन्तवीर्यसम्पन्नमनन्तसुखसागरम् । अजरममरं जन्मा-

---

हैं, सुखस्वरूप हैं, निर्द्वंद्व हैं और समस्त व्यापारोंसे रहित हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीका ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है ॥७–८॥ यह रूपातीत ध्यान समस्त ध्यानोंमें मुख्य है, समस्त सिद्धियोंको देनेवाला है और इसीसे यह आत्मा क्षणभरमें साक्षात् परमात्मा हो जाता है ॥९॥ ये सिद्ध भगवान् तीनो लोकोंमें सबसे बड़े हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं, देव और योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य हैं, संसाररहित हैं, निरंजन हैं, शरीर रहित हैं, परमात्मा हैं, कृतकृत्य है, नित्य हैं, अनन्त सुखी हैं, शुद्ध ज्ञानरूपी धनको धारण करनेवाले हैं और परम शुभ हैं; ऐसे भगवान् सिद्धोंका ध्यान करनेसे यह आत्मा समस्त कर्मोंको नाश करके और अपनी आत्मरूप संपत्तिको प्राप्त करके साक्षात् सिद्ध हो जाता है ॥१०–११–१२॥ इन्हीं सिद्ध परमेष्ठियोंके ध्यानसे यह अनादि संसार नष्ट हो जाता है, जन्म-मरणका रोग नष्ट हो जाता है और इसी रूपातीत ध्यानसे जीवोंको मोक्षका निश्चल सुख प्राप्त हो जाता है ॥१३॥ जो भावश्रुतज्ञानके द्वारा आगमके बारह अंगोंका जानकार है, वही रूपातीत ध्यानको धारण कर सकता है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१४॥ भगवान् सिद्ध परमेष्ठी अमूर्त हैं, शरीररहित हैं, परमदेव हैं, अव्यक्त हैं, निरंजन हैं, द्रव्य कर्म नोकर्म और भाव कर्मसे रहित हैं, समस्त मलोंसे रहित हैं, अकाशके आकाररूप हैं, निराकार हैं, प्रदेशोंके द्वारा साकार हैं, लोक-

तीतं विभुं सनातनम् ॥१८॥ शुद्धज्ञानमयं सिद्धं परमात्मानमव्ययम् । अनादिनिधनं नित्यं शाश्वतं निरुपद्रवम् ॥१९॥ अव्याहतं परं सूक्ष्मं स्वप्रतिष्ठितमक्षयम् । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वतापविवर्जितम् ॥२०॥ निष्कलंकं निरातंकं शान्तं दान्तमतीन्द्रियम् । संसारसागरोत्तीर्णं चिदानन्दमयं शिवम् ॥२१॥ परमात्यंतिकावस्थां प्राप्तं द्रव्यमयं शुभम् । अचलस्थितिकं नित्यं पुनर्जन्मविवर्जितम् ॥२२॥ ब्रह्माणमीशमीशानमीश्वरं परमेष्ठिनम् । एतादृशं भवातीतं सिद्धं ध्यायेच्छिवाप्तये ॥२३॥ व्यक्तीभूता गुणाः सर्वे स्वात्मजा दुर्लभा ननु । येषांस्तान् खलु सिद्धानां स्मरामि भावभक्तितः ॥२४॥ परद्रव्याच्च ये भिन्ना अभिन्ना स्वात्मवस्तुतः । शुद्धज्ञानमयाः शुद्धाः सिद्धा नः पान्तु चाक्षयाः ॥२५॥ कर्माष्टकविनिर्मुक्ता गुणाष्टकविभूषिताः । अष्टमीपृथिवीनाथाः सिद्धा नः पान्तु सौख्यदाः ॥२६॥ सिद्धा यद्यप्यमूर्ता हि निराकारा निरञ्जनाः । तथापि

शिखरपर विराजमान हैं, अन्तिम शरीरसे कुछ कम अकारमय हैं, चिदानन्दमय हैं, शुद्ध दर्शनस्वरूप हैं, नाशरहित हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं, समस्त बाधाओंसे रहित हैं, समस्त आकुलताओंसे रहित हैं, अनन्त वीर्यसे सुशोभित हैं, अनन्त सुखके समुद्र हैं, अजर हैं, अमर हैं, जन्मसे रहित हैं, विभु हैं, सनातन हैं, शुद्ध ज्ञानमय हैं, परमात्मा हैं, व्ययरहित हैं, अनादि हैं, अनिधन हैं, नित्य हैं, शास्वत हैं, उपद्रवरहित हैं, अव्याहत हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं, सूक्ष्म हैं, अपने ही आत्मामें स्थिर हैं, अक्षय हैं, समस्त उपद्रवोंसे रहित हैं, समस्त नामोंसे रहित हैं, कलंकरहित हैं, आतंकरहित हैं, शांत हैं, इन्द्रियोंको दमन करनेवाले हैं, इंद्रियोंसे रहित हैं, संसाररूप महासागरके पारगामी हैं, चिदानन्दमय हैं, कल्याणस्वरूप हैं, परम अंतिम अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं, आत्म द्रव्यमय हैं, शुभ हैं, अचल स्थितिको धारण करनेवाले हैं, नित्य हैं, पुनर्जन्मसे रहित हैं, ब्रह्मा हैं, ईश हैं, ईशान हैं, ईश्वर हैं, परमेष्ठी हैं और संसारसे रहित हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ध्यान करना चाहिये ॥१५–२३॥ जिन सिद्धोंके आत्मासे उत्पन्न हुए और अत्यन्त दुर्लभ ऐसे समस्त गुण प्रगट हो रहे हैं, ऐसे उन सिद्ध भगवान्‌को मैं भाव और भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूं ॥२४॥ जो सिद्ध परमेष्ठी परद्रव्यसे सर्वथा भिन्न हैं, तथा अपने आत्मद्रव्यसे सर्वथा अभिन्न हैं, शुद्ध ज्ञानमय हैं, शुद्ध हैं और अक्षय हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठी हम लोगोंकी रक्षा करें ॥२५॥ जो सिद्ध परमेष्ठी आठों कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठों कर्मोंसे सुशोभित हैं, जो आठवीं पृथ्वीके स्वामी हैं, अनन्त सुख देनेवाले हैं; ऐसे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी हम लोगोंकी रक्षा करें ॥२६॥ सिद्ध परमेष्ठी यद्यपि अमूर्त हैं, निराकार

पुरुपाकाराः कथं ननु भवन्ति ते ॥२७॥ शुद्धादर्शे यथाकारो जिनबिम्बस्य यद्भवेत् । तथाकारो हि सिद्धानामाकाररहितात्मनाम् ॥२८॥ यादङ्निर्गतबिम्बस्य मूपिकोदरतोऽथवा । तादृक् च गगनाकारं सिद्धानां हि भवेत्खलु ॥२९॥ आकारो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तामूर्तप्रभेदतः । रूपवन्मूर्तवस्तूनामाकारः स्यादनेकधा ॥३०॥ द्रव्याणामिह मूर्तानामाकारस्य च कल्पना । द्रव्याणां गतरूपाणाममूर्तानां भवेदिह ॥३१॥ धर्मादीनां च सिद्धानामाकारः स्वप्रदेशतः । स्याद्रव्यात्मप्रदेशानामाकारस्तु स्वभावतः ॥३२॥ प्रदेशसहितं द्रव्यं निराकारं कथं भवेत् । आकारः स्यात्ततो मूर्तामूर्तद्रव्यस्य निश्चयात् ॥३३॥ नाशिताशेपसंसारं जन्ममृत्युविवर्जितम् । निर्विकारं पुनर्जन्म व्यतीतं शाश्वतं शिवम् ॥३४॥ ध्यायेदविचलं श्रेष्ठं परिवर्तनवर्जितम् । नित्यं सनातनं शान्तं निष्क्रियं विमलं शुभम् ॥३५॥ चिन्मयं च परं ज्योतिः स्वमयं परमाक्षरम् । आत्मद्रव्यमयं शुद्धं परसङ्गविवर्जितम् ॥३६॥ स्वगुणात्सर्वथाऽभिन्नं लोकालोकप्रकाशकम् । स्वात्मगुणमयं द्रव्यं शुद्धकनक-

---

हैं, निरञ्जन हैं, तथापि वे पुरुपाकार कैसे कहे जा सकते हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि जिस प्रकार शुद्ध दर्पणमें भगवान्के प्रतिबिम्बका आकार होता है, उसीप्रकार आकाररहित सिद्धोंका भी पुरुपाकार समझना चाहिये। अथवा जिसप्रकार जिस सांचेमेंसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिबिम्ब निकाल ली गई है, उस सांचेका जैसा आकार है, वैसा ही आकाशके अकार सिद्ध परमेष्ठीका आकार समझना चाहिये ॥२७–२९॥ मूर्त-अमूर्तके भेदसे आकारके दो भेद होते हैं। रूपसहित जो मूर्त पदार्थ हैं, उनका आकार अनेक प्रकारका होता है। जो मूर्त द्रव्योंमें आकारकी कल्पना होती है, उसी प्रकार आकारकी कल्पना रूपरहित अमूर्त द्रव्यकी भी होती है ॥३०–३१॥ धर्मादिक द्रव्य अथवा सिद्धोंका आकार अपने आत्मप्रदेशोंसे होता है। क्योंकि द्रव्योंके अपने प्रदेशोंका आकार स्वभावसे ही होता है ॥३२॥ फिर भला जो द्रव्य प्रदेशसहित हैं वे निराकार कैसे हो सकते हैं ? इसलिये यह निश्चय समझना चाहिये कि मूर्त-अमूर्त दोनों द्रव्योंका आकार अवश्य होता है ॥३३॥ इसलिये जिन्होंने समस्त संसारका नाश कर दिया है, जो जन्म-मरणसे रहित हैं, विकाररहित हैं, पुनर्जन्मसे रहित हैं, शास्वत हैं, कल्याणरूप हैं, स्थिर हैं, नित्य हैं, परिवर्तनरहित हैं, सनातन हैं, शांत हैं, क्रियारहित हैं, मलरहित हैं, शुभ हैं, चिन्मय हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, आत्ममय हैं, परमाक्षर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तथा अक्षय हैं, आत्म द्रव्यस्वरूप हैं, शुद्ध हैं, परपदार्थोंके समागमसे सर्वथा रहित हैं, अपने

गुणाव-
सन्निभम् ॥३७॥ अमूर्तानां हि सिद्धानाममूर्ता एव तद्गुणाः । तथापि च गुणास्तेषां चिन्त्यते मनसात्र वा ॥३८॥ गुणाव-
लम्बनं कृत्वा शनैः शनैर्विचिन्तयेत् । कारयेच्च मनस्तत्र तन्मयत्वेन चात्मनि ॥३९॥ अनन्यमनसा ध्यायेत्सिद्धशुद्ध-
गुणान् स्वयम् । जायते हि ततो ध्यानात्स्वात्मनि स्वात्मसंस्थितिः ॥४०॥ रूपातीतसुध्यानेन महामोहः प्रणश्यते । आत्मा
विशुद्धतां याति शुद्धस्फटिकवत्सदा ॥४१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सुध्यायेन्नित्यरूपकम् । अनन्यशरणो भूत्वा सिद्धं शुद्धं
विचिन्तयेत् ॥४२॥ विगतसकलरूपं सर्वकर्मारिनाशात्परमसमयसारं शुद्धबुद्धं विशुद्धम् । परपरणतिहीनं चिन्मयं ज्योति-
रूपं स्मरति जपति भक्त्या तं सुधर्मो मुनीन्द्रः ॥४३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे रूपातीतध्यानवर्णनो नाम चतुर्विंशतितमोऽधिकारः ।

---

आत्मगुणोंसे सर्वथा अभिन्न हैं, लोक आलोकको प्रकाशित करनेवाले हैं, आत्मगुणमय हैं, दिव्य हैं और शुद्ध सुवर्णके समान हैं; ऐसे सिद्ध भगवान्‌को सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥३४--३७॥ यद्यपि अमूर्त सिद्धोंके गुण भी अमूर्त ही होते हैं, तथापि मनके द्वारा उनका चिंतवन किया जाता है ॥३८॥ सिद्धोंके उन गुणोंका अवलम्बन लेकर धीरे धीरे उन सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये और तन्मय होकर आत्मामें अपने मनको निश्चल करना चाहिये ॥३९॥ सिद्धोंके शुद्ध गुणोंको एकाग्र मनसे चिंतवन करना चाहिये । इन गुणों के चिंतवन करनेसे अपने आत्माकी स्थिति अपने ही आत्मामें स्थिर हो जाती है ॥४०॥ इस रूपातीत ध्यानसे महामोह नष्ट हो जाता है और शुद्ध स्फटिकके समान यह आत्मा सदाके लिये अत्यंत विशुद्ध हो जाता है । इसलिये सब तरहके प्रयत्न करके और अनन्य शरण होकर अर्थात् अन्य सबका शरण छोड़कर केवल सिद्धोंके ही शरणमें आकर रूपरहित शुद्ध और सदा रहनेवाले सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये ॥४१-४२॥ समस्त कर्मोंके नाश होनेसे जो सब तरहके रूप रस गंध स्पर्शसे रहित हैं, परम समयसारस्वरूप हैं, शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, विशुद्ध हैं, पररूप परिणतिसे सर्वथा रहित हैं, चैतन्यमय हैं और ज्योतिःस्वरूप हैं; ऐसे भगवान् सिद्ध परमेष्ठीको यह मुनिराज सुधर्मसागर भक्तिपूर्वक सदा स्मरण करता है और सदा जप करता है ॥४३॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें रूपातीत ध्यानको वर्णन करनेवाला यह चौबीसवां अधिकार समाप्त हुआ

# पञ्चविंशतितमोऽधिकारः ।



दयाधर्मप्रणेतारं सर्वसत्त्वहितङ्करम । दयालुं भगवन्तं तं वर्द्धमानं नमाम्यहम् ॥१॥ शुक्लध्यानबलेनात्र कृतं कर्मविदारणम् । परात्मपदमारूढं वन्देऽहं परमेश्वरम् ॥२॥ धर्मध्यानबलेनात्र स्वात्मशुद्धिं विधाय च । भावश्रुतधरो धीरः पूर्वज्ञः पूर्णपुण्यवान् ॥३॥ शान्तः परमवैराग्यभावितात्मा जिनेन्द्रियः । शुक्लध्यानं स वै ध्यातुं पात्रं हि शुद्धबोधभाक् ॥४॥ ध्यानं शुचिगुणाच्छुल्कं कपायपङ्कसंक्षयात् । शुद्धं तेजोमयं शुभ्रं निष्प्रकम्पं च निष्क्रियम् ॥५॥ अक्षातीतं मनोतीतं संकल्पादिविवर्जितम् । स्वात्मयोगसमुद्गूढं स्वात्मनिष्ठं स्वभावजम् ॥६॥ मोहादिदोषनिर्मुक्तं

---

जो दयाधर्मका निरूपण करनेवाले हैं, समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं और दयालु हैं, ऐसे भगवान् वर्द्धमान स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जिन्होंने शुक्लध्यानके बलसे समस्त कर्मोंका नाश कर दिया है और जो परमात्म पदपर विराजमान हैं; ऐसे परमेश्वर सिद्ध परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जो पुरुष भावश्रुतको धारण करनेवाला है, धीर-वीर है, अंग और पूर्वोंका जानकार है, पूर्ण पुण्यवान् है, शांत हैं, जिसके आत्मामें परम वैराग्यकी भावना जागृत है, जो जितेन्द्रिय है और शुद्ध ज्ञानको धारण करनेवाला है; ऐसा भव्य जीव धर्मध्यानके बलसे अपने आत्माको शुद्धकर शुक्लध्यानके ध्यान करनेका पात्र होता है ॥३–४॥ जो ध्यान अत्यन्त निर्मल गुणोंके कारण शुक्लध्यान कहलाता है, जो कपायरूप कीचड़के नाश होनेसे अत्यन्त शुद्ध है, जो तेजोमय है, निर्मल है, निष्प्रकंप है, निष्क्रिय है, इंद्रियोंसे रहित है, मनसे रहित है, संकल्प-विकल्पोंसे रहित है, जो केवल आत्माके निमित्तसे अत्यन्त गूढ़ है, स्वात्मनिष्ठ है, स्वाभाविक है, मोहादिक दोषोंसे रहित है, कपायरूपी मलसे रहित है और शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है; ऐसे ध्यानको शुक्लध्यान

सुकषायमलातिगम् । शुद्धस्फटिकसंकाशं शुक्लध्यानं तदुच्यते ॥७॥ पृथग्वितर्कवीचारं शुक्लध्यानं तदादिमम् । तदेकत्वं वितर्कं हि वीचारपरिवर्जितम् ॥८॥ शुक्लध्यानं द्वितीयं तु योगिनां शुद्धचेतसाम् । सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं तृतीयभेदगम् ॥९॥ क्रियाविरहितं ध्यानं शुक्लं तुर्यं भवेदिह । शुक्लध्यानस्य भेदा हि चत्वारः सन्ति चागमे ॥१०॥ द्वादशाङ्गधराणां स्तः भावश्रुतात्मनां खलु । आद्ये शुक्ले च ते ध्याने कषायरहितात्मनाम् ॥११॥ अन्त्ये शुक्ले परं श्रेष्ठे केवलज्ञानचक्षुषाम् । सर्वथा वीतरागणां स्तो द्वे चात्र विकल्मशाम् ॥१२॥ श्रुतज्ञानस्य सम्बन्धाद् द्वे स्तः छद्मस्थयोगिनाम् । निःशेषालम्बनाभावाद् द्वे स्तः केवलिनोऽत्र वा ॥१३॥ त्रियोगेन च तत्रापि ह्याद्यं शुक्लं मतं जिनैः । द्वितीयमेकयोगेन तृतीयं ननु योगिनाम् ॥१४॥ अयोगिनां तु तुर्यं स्यादुपचारेण वात्र च । इति क्रमेण शुक्लं हि ध्यानं स्याच्च चतुर्विधम् ॥१५॥ वितर्कस्य पृथक्त्वञ्च वीचारसहितेन वा । तद्ध्यानमस्ति वीचारः सपृथक्त्वं वितर्ककम् ॥१६॥ वितर्कस्य च

कहते हैं ॥५–७॥ उस शुक्लध्यानके चार भेद हैं—पहला पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान है। शुद्धचित्तको धारण करनेवाले योगियोंके होनेवाला, वीचाररहित एकत्व वितर्क नामका दूसरा शुक्लध्यान है। सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान है और क्रियारहित व्युपरतक्रिया निवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान है। इस प्रकार शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥८–१०॥ जो मुनि भाव श्रुतको धारण करनेवाले द्वादशांगके पाठी हैं और कषायरहित हैं, उनके पहले और दूसरे दोनों शुक्लध्यान होते हैं ॥११॥ तथा अंतके दोनों ध्यान सर्वोत्कृष्ट हैं और पापरहित परम वीतराग केवल ज्ञानियोंके होते हैं ॥१२॥ पहले दूसरे दोनों शुक्लध्यान श्रुतज्ञानके आलंबनसे होते हैं, इसलिये ये दोनों ही ध्यान छद्मस्थ योगियोंके ही होते हैं तथा अन्तके दोनों शुक्लध्यान समस्त आलंबनोंके अभावसे होते हैं, इसलिये वे केवल ज्ञानियोंके ही होते हैं ॥१३॥ पहला पृथक्त्व वितर्क नामका शुक्लध्यान तीनों योगोंसे होता है, दूसरा एकत्व-वितर्क नामका शुक्लध्यान किसी एक योगसे होता है, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान काययोगसे होता है, और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान अयोगियोंके होता है। इस प्रकार शुक्लध्यानके चार भेद अनुक्रमसे होते हैं ॥१४–१५॥ जिस ध्यानमें पृथक्त्व, वितर्क और वीचार तीनों हो उस ध्यानको सवीचार पृथक्त्व वितर्क कहते हैं। यह पहला शुक्लध्यान है ॥१६॥ जिस ध्यानमें वितर्क हो, परंतु वीचार न हो उसको अवीचार एकत्व-वितर्क

वीचारो नास्ति यत्र सुयोगिनाम् । एकत्वेन च तद्ध्यानमवीचारं वितर्ककम् ॥१७॥ यतोऽर्थानामनेकत्वं तत्पृथक्त्वमिहोच्यते । श्रुतज्ञानं वितर्कः स्याद्भावश्रुतेन चात्र वै ॥१८॥ अर्थव्यञ्जनयोगानां ध्याने यत्परिवर्तनम् । संक्रमो वास्ति वीचारो ज्ञेयो विविधरूपकः ॥१९॥ अर्थादर्थान्तरप्राप्तिः ध्येये स्यात्पुनः पुनः । संक्रमः स हि विज्ञेयो ध्येयार्थपरिवर्तनम् ॥२०॥ व्यंजनाद् व्यंजने क्रांतिर्व्यंजनसंक्रमोऽस्ति सः । योगाद्योगान्तरप्राप्तिर्योगसंक्रातिरुच्यते ॥२१॥ अर्थव्यञ्जनयोगेषु संक्रमः स्यात्पुनः पुनः । संक्रमः स हि विज्ञेयः शुक्लध्यानेऽत्र योगिनाम् ॥२२॥ प्रारम्भे हि वचोयोगः संक्रम्य हि तनुर्भवेत् । परिवर्तनमेवं स्याद् योगाद् योगान्तरोऽत्र वै ॥२३॥ प्रारम्भे च गृहीतोऽर्थः स ततोऽर्थान्तरो भवेत् । एवं स्यादर्थसंक्रातिरर्थस्य परिवर्तनम् ॥२४॥ एकमर्थं समादाय गृह्णात्यर्थान्तरं पुनः । एवं हि विविधार्थेषु श्रुतेषु क्रमते

---

ध्यान कहते हैं, यह दूसरा शुक्लध्यान है ॥१७॥ जहांपर ध्येयरूप पदार्थ अनेक होते हैं, उसको पृथक्त्व कहते हैं; तथा भावश्रुतज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान है, उसको वितर्क कहते हैं ॥१८॥ ध्यानमें जो अर्थव्यंजन योगोंका परिवर्तन होता है, संक्रमण होता है, उसको वीचार कहते हैं, वह वीचार अनेक रूपसे होता है ॥१९॥ ध्येय पदार्थमें जो बार-बार अर्थसे अर्थान्तरकी प्राप्ति होती है, उसको ध्येय अर्थको परिवर्तन करनेवाला अर्थसंक्रमण कहते हैं ॥२०॥ व्यञ्जन शब्दको कहते हैं, व्यञ्जनसे व्यञ्जनका जो संक्रमण हो जाता है, शब्दसे शब्दान्तर रूप हो जाता है, एक शब्दसे ध्यान करता हुआ उसी पदार्थके वाचक दूसरे शब्दसे ध्यान करने लगता है, उसको व्यञ्जनसंक्रान्ति कहते हैं। इसी प्रकार जो योगसे योगांतर की प्राप्ति होती है, उसको योगसंक्राति कहते हैं ॥२१॥ पहले पृथक्त्व वितर्क ध्यानमें योगियोंके अर्थव्यञ्जन और योगोंमें बार-बार संक्रमण होता रहता है। उसीको वीचार वा संक्रमण कहते हैं ॥२२॥ ध्यानमें जो पहले वचनयोग लगा हुआ था, वह बदल कर काययोग हो जाता है। इस प्रकार योगसे योगान्तर होना योगविचार कहलाता है ॥२३॥ इसी प्रकार ध्यान करते समय जो पदार्थ ध्येयरूप बनाया था, वह बदलकर दूसरा पदार्थ ध्येयरूप हो जाता है। इस प्रकार ध्यानमें जो ध्येयरूप पदार्थका बदल जाना है; उसको अर्थसंक्राति कहते हैं ॥२४॥ श्रुतज्ञान के विषयभूत जो अनेक पदार्थ हैं, उनमेंसे एकको ग्रहण करता है और फिर उसको छोड़कर दूसरा ग्रहण कर लेता है, इस प्रकारका जो बदलना है; उसको अर्थवीचार कहते हैं ॥२५॥ शब्दसे शब्दान्तर, अर्थसे अर्थान्तर

त्रसः ॥२४॥ शब्दाच्छब्दान्तरं याति ह्यर्थादर्थान्तरं पुनः। योगाद् योगान्तरं स हि संक्रामति पुनः पुनः ॥२६॥ शुक्लध्यानेन यस्य स्यान्निर्मलात्मा विशुद्धिभाक्। निष्कषायो महाशान्तः सुचारित्रमयात्मकः ॥२७॥ एकत्वध्यानमाधत्ते स धीरः क्षीणमोहकः। पूर्वज्ञो योगसम्पन्नस्तत्त्वज्ञाता प्रसन्नधीः ॥२८॥ एकेनैव सुयोगेन पृथक्त्वरहितेन वा। वितर्कसहितं ध्यानं वीचारपरिवर्जितम् ॥२९॥ तदेकत्ववितर्कं स्याद्ध्यानं चात्यन्तनिर्मलम्। योगिनां क्षीणमोहानां धीराणां निर्मलात्मनाम् ॥३०॥ द्रव्यं वा द्रव्यपर्यायमेकयोगेन ध्यायति। स सूक्ष्ममेकमर्थं वा ध्यायति शुद्धभावतः ॥३१॥ तदेकत्ववितर्कं स्याद् ध्यानकर्मविनाशकम्। स्वात्मनि स्वात्मनस्तत्र स्थितिः स्यादचलाथवा ॥३२॥ स हि निष्कम्पभावेन स्वात्मानं ध्यायति स्फुटम्। तन्मयत्वं समासाद्य रमते स्वात्मनि ध्रुवम् ॥३३॥ क्षणाद्विलीयते तेन वाति

---

और योगसे योगांतर संक्रमण करनेको वीचार कहते हैं ॥२६॥ इस प्रकारके पृथक्त्व-वितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानसे जिसका आत्मा अत्यन्त निर्मल और विशुद्ध हो जाता है। कषायरहित, महाशांत और सम्यक् चारित्रमय हो जाता है। तथा जिसका मोहनीय कर्म सब नष्ट हो गया है, जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका ज्ञाता है, योगको धारण करनेवाला है, तत्त्वोंका ज्ञाता है, और जिसका हृदय प्रसन्न है; ऐसा श्रेष्ठ मुनि एकत्व-वितर्क ध्यानको धारण करता है ॥२७–२८॥ जो ध्यान किसी एक ही योगसे होता है, जिसमें पृथक्त्वपना नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थव्यञ्जन योगका परिवर्तन नहीं होता और इसीलिये जो वीचाररहित कहलाता है और जो वितर्क या श्रुतज्ञान सहित हैं, ऐसे अत्यन्त निर्मल ध्यानको एकत्व-वितर्क ध्यान कहते हैं। यह ध्यान मोहनीय कर्मको सदा नष्ट करनेवाले धीर, वीर और निर्मल आत्माको धारण करनेवाले योगियोंको होता है ॥२९–३०॥ इस ध्यानको करनेवाला योगी अपने निर्मल परिणामोंसे किसी भी एक योगसे द्रव्य वा पर्यायरूप एक ही सूक्ष्म पदार्थको चिंतवन करता है, उसीको एकत्व-वितर्क ध्यान कहते हैं। यह ध्यान कर्मोंको नाश करनेवाला है और अपने ही आत्मामें अपने ही आत्मा की निश्चल स्थिरतारूप है ॥३१–३२॥ वह ध्यान करनेवाला निष्कंपरूप परिणामोंसे अपने आत्माका चिंतवन करता है, तथा आत्ममय होकर अपने ही आत्मामें निश्चलताके साथ लीन हो जाता है ॥३३॥ उसी समय

कर्मकदम्बकम् । प्राप्नोत्यात्मातिनैर्मल्यं शुद्धं काञ्चनसन्निभम् ॥३४॥ घातिकर्ममलातीतो भवत्यात्मा सुनिर्मलः । तदाचिन्त्यप्रभावो हि व्यक्ती भवति वा स्फुटम् ॥३५॥ एवं ध्यानप्रभावेण हत्वा घातिचतुष्टयम् । स योगी लभते शीघ्रं तदनन्तचतुष्टयम् ॥३६॥ स हि चार्हत्पदं लब्ध्वा योगी केवलबोधभृत् । जायते त्रिजगत्पूज्यो लोकालोकप्रकाशकः ॥३७॥ जीवन्मुक्तः परात्मासौ परमात्मा महेश्वरः । सर्वदोषविनिर्मुक्तः शुद्धः स्फटिकसन्निभः ॥३८॥ निर्द्वन्द्वः परमज्योतिर्ज्योतीरूपो निरञ्जनः । चिदात्मा च चिदानन्दो वीतरागः शिवेश्वरः ॥३९॥ अनन्तसुखसम्पन्नः शान्तो दान्तो ह्यतीन्द्रियः । देवदेवः स देवाधिदेवस्त्रैलोक्यवन्दितः ॥४०॥ सोऽर्हन् स भगवान् देवः सर्वज्ञ ईश्वरो विभुः । ब्रह्मा विष्णुर्महादेवः शङ्करः सुगतः प्रभुः ॥४१॥ नारायणो महाबुद्धो दिव्यतेजाः प्रभास्वरः । महाविभूतिसम्पन्नश्छत्रत्रयविराजितः ॥४२॥

---

वह योगी अपने समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर देता है और शुद्ध सुवर्णके समान अपने आत्माको अत्यंत निर्मल बना लेता है ॥३४॥ घातिया कर्मरूपी मलसे रहित हुआ वह आत्मा अन्यन्त निर्मल हो जाता है और उस समय उस आत्माका अचिंत्य प्रभाव प्रकट हो जाता है ॥३५॥ इस प्रकार एकत्व-वितर्क ध्यानके प्रभावसे वह योगी चारों घातिया कर्मोंको नाश कर डालता है और अनंत चतुष्टयरूप महाविभूतिको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥३६॥ उस समय अर्हन्त पदको पाकर वह योगी केवलज्ञानी हो जाता है तथा लोक-अलोक प्रकाशित करनेवाला और तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हो जाता है ॥३७॥ उस समय वह योगी परमात्मा कहलाता है, उसकी आत्मा सर्वोत्कृष्ट होती है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, उसीको महेश्वर कहते हैं, वह भूख-प्यास आदि समस्त दोषोंसे रहित होता है और स्फटिकके समान अत्यंत शुद्ध होता है ॥३८॥ उस समय उन परमात्माको निर्द्वन्द, परम ज्योतिःस्वरूप, ज्योतिर्मय, निरञ्जन, चिदात्मा, चिदानन्द, वीतराग और शिवेश्वर कहते हैं ॥३९॥ वे अनन्त सुखी होते हैं, शांत, दांत, अतीन्द्रिय, देवदेव, देवाधिदेव और तीनों लोकोंके द्वारा वंदनीय कहे जाते हैं ॥४०॥ वे अर्हन्त भगवान, देव, सर्वज्ञ ईश्वर, विभु, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, शङ्कर, सुगत, प्रभु, नारायण और महाबुद्ध कहलाते हैं। उनका तेज दिव्य होता है, उनके शरीरकी कांति देदीप्यमान होती है, वे महाविभूतिसे सुशोभित होते हैं, तीन छत्रसहित विराजमान होते हैं,

सुरासुरैः सदा पूज्यो योगीन्द्रश्च सुवन्दितः। तेन ध्यानेन योगी स जायते त्रिजगत्प्रभुः ॥४३॥ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति केवली। उपचारेण वा सूक्ष्ममचलं स्वात्मसंस्थितम् ॥४४॥ सर्वकर्मविनाशार्थं स्वात्मरूपोपलब्धये। आयुषोऽन्ते च स्थानान्ते भवान्ते तनुनाशकम् ॥४५॥ निष्प्रकम्पं क्रियाहीनमयोगी ध्यायति ध्रुवम्। व्युपरतिक्रियाध्यानं तुर्यं मोक्षप्रदं महत् ॥४६॥ स्वल्पसमयमात्रेण हत्वा कर्मकदम्बकम्। तेन ध्यानेन योगी स शिवं प्राप्नोति निर्भयम् ॥४७॥ कृत्स्नकर्मविहीनः स सिद्धः शुद्धो निरञ्जनः। जन्मातीतोऽप्यजो नित्यः पुनर्जन्मविवर्जितः ॥४८॥ अनादिनिधनः स्वात्मरूपो विकारवर्जितः। स्वतन्त्रोऽचलरूपो वा पराह्लादमयो भवेत् ॥४९॥ एवं ध्यानप्रभावेण जीवः संसारचक्रकम्। निःशेषकर्मचक्रं वा हत्वा याति शिवं पदम् ॥५०॥ ध्यानस्य महिमा चात्राचिन्त्या लोकोत्तरा मता। तां वक्तुं मादृशो बालः

सुर असुर सब उनकी पूजा करते हैं और योगीश्वर सदा उनकी वंदना किया करते हैं। इस प्रकार उस एकत्व वितर्क ध्यानसे वे योगी तीनों लोकोंके स्वामी हो जाते हैं ॥४१—४३॥ तदनंतर वे केवली भगवान अपने समस्त कर्मोंको नाश करनेके लिये और अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामके तीसरे शुक्ल ध्यानको धारण करते हैं। वह ध्यान अत्यन्त सूक्ष्म है, निश्चल है और केवल अपने आत्मामें निश्चलरूप है। इसके बाद जब आयुका अन्त होता है, चौदहवें गुण स्थानका अन्त होता है और संसारका अन्त होता है; उस समय वे अयोगी भगवान् निष्प्रकंप और क्रियारहित व्युपरत क्रियानिवृत्तिरूप मोक्ष देनेवाले सर्वोत्कृष्ट चौथे शुक्ल ध्यानको धारण करते हैं। वे महायोगी केवली भगवान् उस चौथे शुक्लध्यानके द्वारा थोड़े ही समयमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर देते हैं और समस्त भयोंसे रहित मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं ॥४४—४७॥ तदनन्तर वे परमात्मा समस्त कर्मोंसे रहित, सिद्ध, शुद्ध, निरञ्जन, जन्मरहित, अज, नित्य, पुनर्जन्मसे रहित, अनादि, अनिधन, स्वात्मरूप, विकारसे रहित, स्वतंत्र, अचल और समस्त जीवोंको आह्लाद करनेवाले हो जाते हैं ॥४८—४९॥ इस प्रकार ध्यानके प्रभावसे यह जीव संसारचक्रको और समस्त कर्मोंके समूहको नाशकर मोक्ष-पदको प्राप्त हो जाता है ॥५०॥ इस संसारमें ध्यानकी महिमा

समर्थः स्यात्कथं ननु ॥५१॥ बृहस्पतिगणेशा न सम्यग्वक्तुं कदापि ते। समर्था ध्यानमाहात्म्यं को वक्ति स्वल्पचेष्टया ॥५२॥ येन ध्यानेन चात्मा हि परमात्मा प्रजायते। का कथा वान्यसिद्धीनां सुतरां ता भवन्ति वा ॥५३॥ ध्यानेन सर्वसम्पत्तिर्लक्ष्मीर्ध्यानेन जायते। ऋद्धिः सिद्धिः समृद्धिर्वा महर्द्धिः सुतरां भवेत् ॥५४॥ इन्द्रनागेन्द्रदेवानां चक्रितीर्थकरात्मनाम्। संजायते पदं शीघ्रं परमैश्वर्यकारणम् ॥५५॥ नश्यन्ते विपदः सर्वाः पलायन्ते हि सङ्कटाः। दुःखं दारिद्र्यदुर्भाग्ये नश्यन्ते तत्क्षणात्स्वयम् ॥५६॥ असाध्यः साध्यतां याति दूरादपि च योगिनाम्। ध्यानस्याचिन्त्यमहिमा सदा वाचामगोचरा ॥५७॥ स्वात्महितप्रपित्सूनां मुमुक्षूणां सुनिश्चितम्। ध्यानमेकं परं साध्यं कर्म कलङ्कमुक्तये ॥५८॥ चिन्तां त्यज भयं मुञ्च खेदं मा गा मनागपि। ध्यानेनात्मन् च संसारं कर्मचक्रं हरिष्यसि ॥५९॥ आत्मंस्त्वमेव साक्षात्स परमात्मा निरञ्जनः।

---

अचिंत्य है, लोकोत्तर है, फिर भला उसको कहनेके लिये मेरे समान बालक कैसे समर्थ हो सकता है? ॥५१॥ इस ध्यानकी महिमाको बृहस्पति भी नहीं कह सकते और गणधरदेव भी अच्छी तरह नहीं कह सकते हैं, फिर भला बहुत थोड़ी चेष्टासे कौन कह सकता है? ॥५२॥ जिस ध्यानके प्रभावसे यह आत्मा परमात्मा हो जाता है वहांपर अन्य सिद्धियोंकी तो बात ही क्या है? अन्य समस्त सिद्धियां अपने आप सिद्ध हो जाती हैं ॥५३॥ इस ध्यानसे ही समस्त संपत्तियां प्राप्त होती हैं, ध्यानसे ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, तथा ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि और महाऋद्धियां इसी ध्यानसे अपने आप आ जाती हैं ॥५४॥ इसी ध्यानके प्रभावसे इन्द्र, नागेन्द्र, देव, चक्रवर्ती और तीर्थंकरोंके परम ऐश्वर्य उत्पन्न करनेवाले उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं ॥५५॥ इस ध्यानके प्रभावसे सब विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, सब संकट भाग जाते हैं और दुःख, दारिद्र्य, दुर्भगता आदि उसी समय अपने आप नष्ट हो जाते हैं ॥५६॥ इस ध्यानके प्रभावसे योगियोंके असाध्य कार्य भी दूरसे ही सिद्ध हो जाते हैं। इस ध्यानकी महिमा अचिंत्य है और वाणीके अगोचर है ॥५७॥ जो योगी अपने आत्माका हित चाहते हैं और मोक्षकी इच्छा करते हैं, उनके कर्मरूपी कलंकोंको नाश करनेके लिये यह सुनिश्चितरूप एक ध्यान ही परम साध्य है ॥५८॥ हे आत्मन्! तू चिंता छोड़, भय छोड़ और थोड़ासा भी खेद मत कर। तू इस ध्यानसे इस जन्म-मरणरूप संसारको और कर्मोंके समूहको अवश्य नष्ट करेगा ॥५९॥ हे आत्मन्! इस ध्यानसे तू ही साक्षात् निरञ्जन परमात्मा हो जायगा। क्योंकि ध्यानके द्वारा यह आत्मा ही

आत्मैव परमात्मास्ति सन्देहं चात्र मा भज ॥६०॥ यावत्स्वात्मस्वरूपं हि चिन्तितं न त्वयाथवा । तावत्त्वमसि संसारी दुःखी कर्ममयोऽशुचिः ॥६१॥ यदा त्वं चिन्तयस्यात्मन् शुद्धं स्वात्मनि संस्थितम् । स्वात्मानं परमात्मानं पश्यसि त्वं निरञ्जनम् ॥६२॥ परमात्मात्मनोर्भेदो कश्चिन्नास्ति कदापि वा । आत्मैव परमात्मास्ति चैको नान्योऽद्वितीयकः ॥६३॥ तस्माद्धात्रय चेत्थं त्वमात्मन् सुशिवसिद्धये । आत्मैव मे परात्मा हि कर्महंतातिनिर्मलः ॥६४ ॥ आत्मैव मे च सिद्धात्मा परमात्मा महेश्वरः । तस्मात्सोऽहं भजाम्यत्र स्वात्मानं स्वपदाप्तये ॥६५॥ आत्मैव मे परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकः । परं सुखस्य वीजं मे आत्मैवास्ति न संशयः ॥६६॥ आत्मैव मे जगद्द्रष्टा स्रष्टा ब्रह्मा गुणाकरः । शङ्करश्च स्वयं बुद्धः परमेष्ठी सनातनः ॥६७॥ आत्मैव मे परं मोक्षः कर्म संहारकारकः । आत्मैव मे सुदृग्बोधचारित्रत्रितयात्मकः ॥६८॥ आत्मैव मे

---

परमात्मा हो जाता है, इसमें तू किसी प्रकारका संदेह मत कर ॥६०॥ अथवा यों समझना चाहिये कि जबतक तूने अपने आत्माका चिंतवन नहीं किया है तबतक तू संसारी है, दुःखी है, कर्ममय है और अपवित्र है ॥६१॥ हे आत्मन् ! जब तू अपने आत्मामें स्थित अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करेगा, तब तू अपने आत्माको कर्ममलसे रहित परमात्मरूप देखेगा ॥६२॥ आत्मा और परमात्मामें कोई किसी-प्रकारका भेद नहीं है। यह एक आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा इस आत्मासे भिन्न वा अन्य नहीं है ॥६३॥ इस लिये हे आत्मन् ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये इसप्रकार चिंतवन कर कि यह मेरा आत्मा ही कर्मोंको नाश करनेवाला अत्यन्त निर्मल परमात्मा है ॥६४॥ मेरा आत्मा ही सिद्धात्मा है, वही परमात्मा है, वही महेश्वर है, इसलिये परमात्मस्वरूप में अपने आत्मपदकी प्राप्तिके लिये अपने ही आत्माका चिंतवन करूँगा ॥६५॥ मेरा आत्मा ही परम ज्योतिःस्वरूप है, लोक–अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, तथा मेरा यह आत्मा ही परम सुखका बीज है। इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं है ॥६६॥ यह मेरा आत्मा ही जगत्को देखनेवाला है, यही जगत्को उत्पन्न करनेवाला है, यही ब्रह्मा है, यही गुणाकर है, यही आत्मा शंकर है, स्वयं बुद्ध है, यही परमेष्ठी है और यही सनातन है ॥६७॥ यह मेरा आत्मा ही कर्मोंका नाश करनेवाला परम मोक्ष है और यही मेरा आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अर्थात् रत्नत्रयरूप है ॥६८॥ यही मेरा आत्मा क्रोधादिक भावोंसे रहित क्षमाका

क्षमागारः क्रोधादिभाववर्जितः। आत्मैव शाश्वतं द्रव्यमन्यत्सर्वं विनश्वरम् ॥६९॥ आत्मैव मेऽचलो नित्यो ह्यादिमध्यान्तवर्जितः। स नित्यस्थितिको स्वामी स्वयम्भूरविनश्वरः॥७०॥ आत्मैव मे परं बन्धुस्त्राता पाता पितामहः। त्रिजगज्जयिनः कामात्संसारात्पापकर्मतः॥७१॥ आत्मैव मे परं पूज्योऽगतो विगतकल्मषः। आत्मैव मे परं देवो जगद्वन्द्यः सुतारकः॥७२॥ आत्मैव मे परं ब्रह्म चतुर्वेदी चतुर्मुखः। आत्मैव मे महादेवः शिवाभूः शिवनंदनः॥७३॥ आत्मनो ज्ञानमाध्यानमात्मनः स्मरणं परम। आत्मनो मे परेज्या स्याद् हे जिनेश भवे भवे॥७४॥ अर्हद्देवोऽपि आत्मैव सुगतो हतदुर्गतिः। आत्मा देवाधिदेवो हि सर्वदेवनमस्कृतः॥७५॥ जिनश्चात्मा जिनश्चात्मा ह्यात्मैव स जिनो जिनः। आत्मैव मे शरण्यं हि जिनरूपो भवाम्बुधौ॥७६॥ तीर्थश्चात्मास्ति ह्यात्मैव तीर्थनाथो जगद्विभुः। आत्मैव मे परं देवो स एव देव-

---

घर है और यही मेरा आत्मा नित्य द्रव्य है। इसके सिवाय अन्य सब पदार्थ नाशवान् हैं ॥६९॥ यह मेरा आत्मा ही अचल है, नित्य है, आदि-मध्य-अन्तरहित है, यही मेरा आत्मा नित्य स्थितिको धारण करता है, यही आत्मा स्वामी है, स्वयंभू है, अविनश्वर है ॥७०॥ यह मेरा आत्मा ही परम बन्धु है, यही आत्मा पितामह है; तथा यही आत्मा तीनों जगत्को जीतनेवाले कामसे, संसारसे और पापकर्मोंसे रक्षा करनेवाला वा बचानेवाला है ॥७१॥ यह मेरा आत्मा ही परम पूज्य है, गतिरहित है, पापरहित है, तथा यही मेरा आत्मा परम देव है, जगद्वन्द्य है और संसारसे पार कर देनेवाला है ॥७२॥ यह मेरा आत्मा ही परमब्रह्म है, आत्मा ही चारों अनुयोगोंको जाननेवाला चतुर्वेदी है और यही आत्मा चतुर्मुख है, यही मेरा आत्मा महादेव है, शिवाभू (कल्याणमय) है और यही मेरी आत्मा शिवनन्दन है॥७३॥ हे जिनेन्द्रदेव! भव भवमें मुझे आत्माका ही ज्ञान प्राप्त हो, आत्माका ही ध्यान हो, आत्माका ही उत्कृष्ट स्मरण हो और मेरे आत्माकी ही पूजा हो॥७४॥ यही मेरा आत्मा अरहंतदेव है, यही मेरा आत्मा सुगत वा बुद्ध है, यही आत्मा समस्त दुर्गतियोंको नाश करनेवाला है, यही मेरा आत्मा देवाधिदेव है और यही मेरा आत्मा सब देवोंके द्वारा नमस्कार किया जाता है॥७५॥ ये जिनेन्द्र ही मेरा आत्मा है, जिनेन्द्र ही मेरा आत्मा है, मेरा आत्मा ही जिनेन्द्र हैं, जिनेन्द्र हैं। तथा यही मेरा आत्मा संसाररूपी समुद्रमें शरणरूप है और भगवान् जिनस्वरूप है॥७६॥ यह मेरा आत्मा ही तीर्थ है, यही मेरा आत्मा तीर्थनाथ है, जगद्विभु है, यही मेरा आत्मा

मन्दिरम् ॥७७॥ रत्नत्रयमयश्चात्मा रत्नत्रयमयो जिनः । मोक्षमार्गो हि स्वात्मैव मोक्ष आत्मैव निश्चतम् ॥७८॥ आत्मैव मे सदा ध्येयो ह्यात्मा ध्याता महाप्रभुः । आत्मैव हीश्वरः शुद्धो बुद्धो मीमांसको विभुः ॥७९॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ध्यातव्यः स मुमुक्षुणा । सर्वविकल्पसंकल्पं त्यक्त्वाऽऽत्मैव सदा च मे ॥८०॥ यो ध्यायति निजात्मानं शुद्धबुद्ध्या हि चात्मना । स शीघ्रं परमात्मानं प्राप्नोत्येव सुनिश्चितम् ॥८१॥ येन ध्यानसुधासिन्धुः पीतो भक्तिभरेण वा । स आत्मा परमात्मा स्यादत्र नाश्चर्यसंशयौ ॥८२॥ इति सहजविशुद्धो जायते ध्यानतोऽसौ विरहितपरभावो निष्कलङ्कः परात्मा । विगतभवविभावो यो हि आत्मैव सिद्धः स्वपरिणतिनिमग्नः स्वात्मरूपः सुधर्मः ॥८३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे शुद्धध्यानवर्णनो नाम पञ्चविंशतितमोऽधिकारः ।

---

परम देव है और यही मेरा आत्मा देवालय है ॥७७॥ यही मेरा आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है, तथा भगवान् जिनेन्द्रदेव भी रत्नत्रयमय हैं । यही मेरा आत्मा मोक्षका मार्ग है और यही मेरा आत्मा निश्चयरूपसे मोक्षस्वरूप है ॥७८॥ यही मेरा आत्मा सदा ध्यान करने योग्य है, यही आत्मा ध्यान करनेवाला है, यही आत्मा महाप्रभु है और यही आत्मा ईश्वर है, शुद्ध है, बुद्ध है, मीमांसक है और विभु है ॥७९॥ इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपने समस्त संकल्प-विकल्पोंको त्यागकर तथा समस्त प्रयत्न करके इसी अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥८०॥ जो आत्मा अपने आत्माके द्वारा शुद्ध बुद्धिसे अपने आत्माका चिंतवन करता है, वह शीघ्र ही परमात्मपदको प्राप्त हो जाता है; यह निश्चित सिद्धांत है ॥८१॥ जिस भव्य जीवने भक्तिपूर्वक इस ध्यानरूपी अमृतके समुद्रका पान किया है, वह आत्मा अवश्य परमात्मा बन जाता है, इसमें न कोई आश्चर्य है और न कोई संदेह है ॥८२॥ इस ध्यानके प्रभावसे यह आत्मा ही स्वभावसे विशुद्ध हो जाता है, परभावोंसे रहित हो जाता है, निष्कलंक हो जाता है, सर्वोत्कृष्ट हो जाता है, संसारके विभावोंसे रहित हो जाता है, अपने ही आत्माकी परिणतिमें लीन हो जाता है, शुद्ध स्वात्मस्वरूप हो जाता है और श्रेष्ठ धर्मस्वरूप हो जाता है ।८३॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें शुक्लध्यानको निरूपण करनेवाला यह पच्चीसवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# अन्तिममंगलं प्रशस्तिश्च

श्रीशासनं वीरजिनस्य जीयात् लोकत्रये मङ्गलकारि नित्यम् । सत्यं पवित्रं नरदेवपूज्यं प्रमाणभूतं भुवि सर्वमान्यम् ॥१॥ जिनेन्द्रधर्मो वरसौख्यदाता दयामयः सत्यपरः प्रकृष्टः । प्रमाणभूतश्च विरोधहीनो जीयाच्चिरं मङ्गलदायकोऽसौ ॥२॥ जयन्तु ते श्रीपरमेष्ठिनोऽत्र शुद्धात्मरूपा प्रवरा अनूपाः । लोकोत्तमा मङ्गलदाः शरण्यास्त्रैलोक्यवन्द्याः शिवदाः सुधर्माः ॥३॥ श्रीप्रातिहार्यातिशयैः प्रपन्नो नरेन्द्रनागेन्द्रसुरेन्द्रवन्द्यः । योगीश्वरैः पूजितपादपद्मः सोऽर्हंश्च देवः शिवदः सुजीयात् ॥४॥ शुद्धस्वरूपो निजभावलीनो विनष्टकर्माष्टकलङ्कपङ्कः । भवाद्व्यतीतो जननादिहीनः सिद्धः प्रबुद्धः सुखदः

भगवान् महावीर स्वामीका शासन तीनों लोकोंमें सदा मङ्गल करनेवाला है, सत्य है, पवित्र है, मनुष्य और देवोंके द्वारा पूज्य है, प्रमाणभूत है और संसार भरमें सर्वमान्य है ॥१॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवका धर्म दयामय है, उत्तम सुखको देनेवाला है, सत्यार्थ है, उत्कृष्ट है, प्रमाणभूत है, विरोधरहित है और सदा मङ्गल करनेवाला है, ऐसा यह जैनधर्म सदा जयशील रहे ॥२॥ इस लोकमें अरहंतादिक पांचों परमेष्ठी शुद्ध आत्माको धारण करनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अनुपम हैं, लोकोत्तम हैं, मङ्गलदायक हैं, शरणभूत हैं, तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं, मोक्ष देनेवाले हैं और श्रेष्ठ धर्मस्वरूप हैं; ऐसे पांचों परमेष्ठी सदा जयशील हों ॥३॥ भगवान् अरहंत देव आठों प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं, नरेन्द्र, नागेन्द्र और देवेन्द्रोंके द्वारा वंदनीय हैं, योगीश्वरलोग जिनके चरण-कमलोंकी सदा पूजा करते रहते हैं और जो मोक्ष देनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अरहंत देव सदा जयशील हों ॥४॥ जो सिद्ध भगवान् शुद्ध स्वरूप हैं, अपने भावोंमें सदा लीन हैं, जिन्होंने आठों कर्मरूपी कलङ्ककी कीचड़ सर्वथा नष्ट कर दी है, जो संसारसे रहित हैं, जन्म-मरणसे रहित हैं, सुख

स जीयात् ॥५॥ हितोपदेशी वरशान्तिदाता भवाब्धितस्तारणतीर्थरूपः। आचारचारित्रधरेण पूज्यः आचार्यवर्यः सततं स जीयात् ॥६॥ मिथ्यात्वमोहाद्धरबुद्धिहीनान् कुमार्गगानुद्धतवादिवीरान्। सम्यक्त्वबोधेन युनक्ति सत्ये मार्गे स तान् पाठक आशु जीयात् ॥७॥ मूलोत्तरान् दिव्यगुणान् प्रधत्ते संसारभोगादिकतो विरक्तः। स्वात्मस्वरूपे दृढतां दधानः साधु-र्दयालुर्गुणवान् स जीयात् ॥८॥ सूरीश्वरः शान्तिकरः प्रकृष्टो गुणे गरिष्ठो मुनिसद्वरिष्ठः। श्रीशान्तिसिन्धुर्वरराज्यमान्यो जीयाच्चिरं सोऽपि 'सुधर्म'पाता ॥९॥ सिद्धात्मनो विशुद्धांस्तान् जिनात्तान् जितमत्सरान्। कर्मकलङ्कनिर्मुक्तान् केवलज्ञान-भास्करान् ॥१०॥ परमेष्ठिपदं प्राप्तान् देवदेवैः सुपूजितान्। श्रीतारङ्गाभिधाद्दुर्गात् शिवं प्राप्तान् जगन्नुतान् ॥११॥ वरदत्तादि-सिद्धेशान् सार्द्धकोटित्रयान् मुनीन्। भक्त्या पुनः पुनर्नौति मुनिः 'सुधर्मसागरः' ॥१२॥ मङ्गलं कामदं ते नो दध्युः परम-

देनेवाले हैं और ज्ञानमय हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठी सदा जयशील हों ॥५॥ जो आचार्य हितोपदेशी हैं, श्रेष्ठ शांतिको देनेवाले हैं, संसारको पार करनेके लिये जो तीर्थरूप हैं, जो आचार और चारित्र धारण करनेवालोंके द्वारा पूज्य हैं; ऐसे आचार्य सदा जयशील हों ॥६॥ जो जीव मिथ्यात्व और मोहनीय कर्मके उदयसे श्रेष्ठ बुद्धिसे रहित हो रहे हैं, जो कुमार्गगामी हो रहे हैं और उद्धत हो रहे हैं; ऐसे बड़े-बड़े वादियोंको भी जो अपने सम्यग्ज्ञानसे सत्यमय यथार्थ मार्गमें लगाते हैं; ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी शीघ्र ही जयशील हों ॥७॥ जो साधु दिव्य मूल गुणोंको तथा उत्तर गुणोंको धारण करते हैं, जो संसार और भोगादिकसे विरक्त हैं, जो अपने आत्मस्वरूपमें अत्यंत दृढ़ता धारण करते हैं; ऐसे दयालु और गुणवान् साधु परमेष्ठी सदा जयशील हों ॥८॥ जो आचार्य 'शान्तिसागर' शान्ति करनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, गुणोमें श्रेष्ठ हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो राज्यमान्य हैं और मुझ 'सुधर्मसागर'की अथवा श्रेष्ठधर्मकी रक्षा करनेवाले हैं, ऐसे आचार्य 'शांति-सागर' चिरकाल तक सदा जयशील रहें ॥९॥ जो वरदत्तादि मुनि सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं, अत्यंत विशुद्ध हैं, जितेन्द्रिय हैं, मत्सर आदि दोषोंसे रहित हैं, कर्म-कलंकोंसे रहित हैं, केवल ज्ञानरूपी सूर्यसे सुशोभित हैं, परमेष्ठी पदको प्राप्त हो चुके हैं, देवोंके भी देव जिनकी पूजा करते हैं, जो तारंगा नामके सिद्ध-क्षेत्रसे मोक्षको प्राप्त हुए हैं और समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है, ऐसे वरदत्त आदि साढ़े तीन करोड़ मुनिराजोंको ये 'सुधर्मसागर' मुनि भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१०-१२॥ परम पवित्र

को मुह्यति सचेतनः ॥२६॥ दीर्घसंसारबीजं हि विषवद्दुःखदायकम्। नानोद्रेककरं सौख्यमक्षजं विद्धि तत्त्वतः ॥२७॥ नानादुःखकरं तीव्रं शान्त्यमृतपराङ्मुखम्। भयैराकुलितं नित्यं सौख्यं विद्धि तदक्षजम् ॥२८॥ आधिव्याधिकरं नित्यं दुःखसंतापदायकम्। संसारभ्रमणस्यैव कारणं ह्यक्षजं सुखम् ॥२९॥ आप्राप्तमात्ररम्येऽस्मिन्नक्षजे दुःखदे सुखे। भयसंतापसंमिश्रे को मोहः स्वात्मवेदिनाम् ॥३०॥ मधुलिप्तासिधारावत्किंपाकवत्तदक्षजम्। आस्वादसे किमर्थं त्वमात्मन् सौख्यं भयावहम् ॥३१॥ त्वां वंचितुं प्रवृत्तानीन्द्रियाणि रम्यभावतः। पातयित्वा भवाब्धौ त्वां दुःखं दास्यन्ति तत्त्वतः ॥३२॥ अक्षसौख्ये हि रागं वा कुरु मा तत्त्वबोधतः। स्वात्मनः कुरु सद्ध्यानं लभसे सौख्यमात्मजम् ॥३३॥ इन्द्रियोद्रेकमारुध्य स्वमनः स्ववशं नय। पश्यात्मन्नात्मनः सौख्यं स्वस्मिन् ध्यानेन संततम् ॥३४॥ विषयेभ्यो निवर्त्तन्ते यदाक्षाणि

---

सुख वास्तवमें दीर्घ-संसारके कारण हैं, विषयके समान दुःखदायक हैं और अनेक प्रकारकी उद्रेकताको उत्पन्न करनेवाले हैं; ऐसा तू समझ ॥२७॥ ये इन्द्रियजन्य सुख अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले हैं, अत्यन्त तीव्र शांतिरूपी अमृतको नष्ट करनेवाले हैं और भयसे सदा भरपूर रहते हैं। हे आत्मन्! तू ऐसा समझ ॥२८॥ ये इंद्रियजन्य सुख अनेक प्रकारकी आधि-व्याधियोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, सदा दुःख और संतापको देनेवाले हैं और संसारपरिभ्रमणके कारण हैं। ॥२९॥ इन्द्रियजन्य सुख सेवन करते समय मनोहर जान पड़ते हैं, परंतु वास्तवमें दुःख देनेवाले हैं तथा भय और संतापसे भरपूर हैं; भला ऐसे इन इन्द्रियजन्य सुखोंमें आत्माके स्वरूपको जाननेवाला जीव कैसे मोहित हो सकता है? ॥३०॥ हे आत्मन्! ये इन्द्रियजन्य सुख शहत लपेटी तलवारकी धाराके समान अथवा किंपाकफलके समान अंतमें दुःख देनेवाले हैं तथा अत्यन्त भयानक हैं, ऐसे इन सुखोंका आस्वादन तू क्यों करता है? ॥३१॥ ये इंद्रियां अपनी मनोहरता धारणकर तुझे ठगनेके लिये प्रवृत्त हुई हैं, इसलिये तुझे इस संसाररूपी समुद्रमें गिराकर वास्तवमें महादुःख देंगी ॥३२॥ इसलिये हे आत्मन्! तू आत्मज्ञानको धारण कर, इन इंद्रियजन्य सुखोंमें राग मत कर तथा आत्माका श्रेष्ठ ध्यान कर, जिससे कि तुझे आत्मसुखकी प्राप्ति हो ॥३३॥ हे आत्मन्! तू इंद्रियोंके उद्रेकको रोककर अपने मनको अपने वश कर। तथा ध्यानके द्वारा तू अपनेही आत्मामें अपने आत्माके सुखको देख ॥३४॥ जब ये इन्द्रियां आत्मज्ञानके द्वारा अपने विषयोंसे हट जायंगी, तभी तुझे ध्यानके द्वारा आकुलतारहित आत्मसुख दिखाई

स्वबोधतः। शीघ्रं पश्यसि ध्यानेन ह्यात्मसौख्यमनाकुलम् ॥३५॥ अध्यात्मजं गतद्वन्द्वं शाश्वतं च निराकुलम्। निराबाधं सुखं चात्मन् लभसे त्वक्षरोधतः ॥३६॥ अपास्य चाक्षजं सौख्यं स्वात्मनि त्वमनाकुलम्। पश्यात्मन् विमलं सौख्यं ध्यानेन स्वात्मनः स्वयम् ॥३७॥ हृषीकविषयोत्पन्ने सुखे लुब्धो यदि त्वकम्। तदात्मन् वद ते ध्यान कथमाध्यात्मिकं भवेत् ॥३८॥ विषयैर्व्याकुलो भूतयक्षव्यामोहतो यदि। चित्तं तर्हि कथं ध्यानं कथं वा संयमो भवेत् ॥३९॥ अक्षैस्ते विह्वलीभूतं यदि चित्तं मनागपि। तदा त्वं पापकुण्डेऽस्मिन् पतितस्त्यक्तसंयमः ॥४०॥ विषयाशाभिभूतानामिन्द्रियाधीनचेतसाम्। तेषां ध्यानं भवेन्नैव यत्नेनापि समुज्ज्वलम् ॥४१॥ अजिताक्षो नरो लुब्धो ध्यातुं किं स समीहते। तुषाः किं वा प्ररोहन्ति सिच्यमानाः सुवारिणा ॥४२॥ निसर्गचपलैरक्षैर्यदि व्याप्तं हि मानसम्। तस्य तत्किं भवेद्ध्यानं किं वा काषायनिग्रहः ॥४३॥ इन्द्रियैरनिशं यस्य व्याकुलं चलमानसम्। महाव्रतं कथं तस्य ध्यानं वा पापरोधकम् ॥४४॥ अक्षाणां वशगो ध्याता

देगा ॥३५॥ हे आत्मन्! इंद्रियोंका निरोध करनेसे तुझे समस्त उपद्रवोंसे रहित, निराकुल, शाश्वत और निराबाध आध्यात्मिक सुख प्राप्त होगा ॥३६॥ इसलिये हे आत्मन्! तू इंद्रियजन्य सुखोंको छोड़कर ध्यानके द्वारा अपनेही आत्मामें निराकुल और निर्मल आत्माके सुखको स्वयं देख ॥३७॥ हे आत्मन्! यदि तू इंद्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखमें लुभा जायगा तो फिर बतला कि तेरे आध्यात्मिक ध्यान कैसे हो सकेगा ?॥३८॥ हे आत्मन्! इन्द्रियोंसे मोहित होकर यदि तेरा चित्त विषयोंमें व्याकुल हो जायगा तो फिर तुझे कैसे ध्यान हो सकेगा और कैसे संयम हो सकेगा ? ॥३९॥ हे आत्मन्! यदि तेरा मनइन्द्रियोंसे थोड़ासा भी विह्वल हो जायगा तो तेरा संयम छूट जायगा और तू पापकुण्डमें अवश्य गिर पड़ेगा ॥४०॥ जो जीव विषयोंकी आशाके वशीभूत हैं और जिनका हृदय इन्द्रियोंके आधीन है, उनके यत्न करनेपर भी निर्मल ध्यान कभी नहीं हो सकता ॥४१॥ जिसने इंद्रियोंको नहीं जीता है, ऐसा लुब्धक मनुष्य भला ध्यान करनेकी इच्छा कैसे कर सकता है ? क्या भूसी बोकर और अच्छे पानीसे सींचने पर भी उत्पन्न हो सकती है ? कभी नहीं ॥४२॥ ये इन्द्रियां स्वभावसे ही चंचल हैं, यदि इन चंचल इन्द्रियोंसे मन व्याप्त हो रहा है तो क्या उसके ध्यान हो सकता है ? अथवा कषायोंका निग्रह हो सकता है ? कभी नहीं ॥४३॥ जिस मनुष्यका चंचल मन इन्द्रियोंसे सदा व्याकुल रहता है, उसको महाव्रत कैसे हो सकता है ? तथा पापोंको रोकनेवाला ध्यान कैसे

परतन्त्रः सदा मतः। न हि ध्यातुं समर्थः सः स्वात्मानं सोऽपि मूढधीः ॥४५॥ यथा यथा मुनिर्ध्याता हृषीकविजयी भवेत्। तथा तथा मनोवेगः प्रशाम्यति सुनिश्चितम् ॥४६॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्वाक्षरोधो विधीयताम्। अक्षरोधेन सद्ध्यानं भवेदिह निराकुलम् ॥४७॥ अक्षरोधः कृतो येन तेनैव सुखमात्मजम्। लब्धं सुसंयमं धृत्वा कृत्वा ध्यानं सुनिर्मलम् ॥४८॥ तीर्थंकरादयः पूर्वं गता ये शिवमन्दिरम्। ते चाक्षविजयेनैव तस्मात्त्वमपि तत्कुरु ॥४९॥ मोक्षसिद्धिर्भवेन्नैव विनाक्षविजयेन हि। तस्मादक्षजयः कार्यः ह्यन्यथा ननु संसृतिः ॥५०॥ तस्मादिन्द्रियरागं च त्यक्त्वा त्वं शुद्धबोधतः। सुधर्मं शिवसिद्ध्यर्थं धर रागादिवर्जितम् ॥५१॥ विरम विरम नित्यं चेन्द्रियाणां व्यपायात् नय नय नय शीघ्रं स्वात्मवश्यं हि चित्तम्। कुरु कुरु कुरु शुद्धं ध्यानमात्मस्वरूपं धर धर हि सुधर्मं शाश्वतं निर्विकल्पम् ॥५२॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे इन्द्रियविजयप्ररूपणो नाम नवमोऽधिकारः ॥

---

हो सकता है ? ॥४४॥ जो ध्यान करनेवाला इन्द्रियोंके वश होगा, वह सदा परतंत्र ही रहेगा, फिर भला वह मूर्ख अपने आत्माका ध्यान करनेमें कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥४५॥ यह ध्यान करनेवाला मुनि जैसे जैसे इंद्रियोंको जानता जाता है, वैसे ही वैसे मनका वेग निश्चयरूपसे अत्यन्त शांत होता जाता है ॥४६॥ इसलिये सब तरहके प्रयत्न करके इंद्रियोंका निरोध करना चाहिये। क्योंकि इंद्रियोंका निरोध करनेसे ही निराकुल श्रेष्ठ ध्यान प्रगट होता है ॥४७॥ जो जीव इंद्रियोंका निरोध कर लेता है, वह संयम और निर्मल ध्यान धारणकर आत्मजन्य सुखको अवश्य प्राप्त होगा ॥४८॥ पहले समयमें तीर्थंकर आदि जो शिवमहलमें जाकर विराजमान हुए हैं, वे इन्द्रियोंको जीतकर ही वहां पहुँचे हैं, इसलिये हे आत्मन् ! तू भी इन्द्रियोंको जीत ॥४९॥ इस संसारमें इन्द्रियोंको जीते विना मोक्षकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती। इसलिये भव्य जीवोंको इंद्रियोंकी विजय अवश्य करनी चाहिये। अन्यथा इंद्रियविजयके विना संसारका परिभ्रमण अवश्यम्भावी है ॥५०॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू अपने शुद्ध आत्मज्ञानसे इंद्रियोंके रागको छोड़ और मोक्ष प्राप्त करनेके लिये रागरहित श्रेष्ठ धर्मको धारण कर ॥५१॥ हे आत्मन् ! तू इंद्रियोंके द्वारा होनेवाले अपने आत्माके नाशसे अलग हो, दूर हो तथा अपने चित्तको शीघ्र ही आत्माके वशमें कर, आत्मस्वरूप शुद्ध ध्यानको भी शीघ्र धारण कर और निर्विकल्पक नित्य रहनेवाले श्रेष्ठ धर्मको शीघ्र ही धारण कर ॥५२॥

यह मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें इन्द्रियविजयको वर्णन करनेवाला नौवां अधिकार समाप्त हुआ।

# दशमोऽधिकारः ।



मनो वशीकृतं येन ध्यानं धृत्वा सुनिर्मलम् । रागद्वेषविहीनं तं पुष्पदन्तं नमाम्यहम् ॥१॥ तन्मनोनिग्रहेणैव ध्यानाध्ययनसिद्धयः । पंचाक्षजयपूर्वं ताः सिद्धयन्ति शिवदाः पराः ॥२॥ यदा यदा मुनेश्चित्तं स्ववशं यात्यसंशयम् । तदा तदा मुनेर्ध्यानं भवेद्दृढतरं शुभम् ॥३॥ एकमेव मनो यस्य स्ववशं यात्यसंशयम् । तस्यैव निश्चलं ध्यानमनायासेन जायते ॥४॥ मनोरोधाद्भवेद्ध्यानं मनोरोधाच्च यमः । मनोरोधात्क्षयेत्पापं मनो रुध्यात्पुनः पुनः ॥५॥ तद्ध्यानं सैव सिद्धिः सा स्थिरता सैव तत्त्वतः । येनाविद्यां परित्यज्य मनस्तत्त्वे स्थिरीभवेत् ॥६॥ मनःस्थैर्यं विधातव्यं ध्याने तन्मुख्यसाधकम् । तस्मिन् स्थिरीकृते साक्षात् ध्यानसिद्धिर्भवेत्परा ॥७॥ सुदृढा ध्यानसम्पत्तिः कर्मसंतानरोधिका । मनोरोधेन

---

जिन्होंने निर्मल ध्यान धारणकर अपने मनको वशमें कर लिया है और जो रागद्वेषसे रहित हैं, ऐसे भगवान् पुष्पदन्तको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ सर्वोत्कृष्ट और मोक्षको देनेवाली ध्यान अध्ययनकी सिद्धियां इंद्रियोंको जीतने और मनको निग्रह करनेसे सिद्ध होती है ॥२॥ मुनियोंका हृदय जैसे जैसे अपने वशमें होता जाता है, वैसे ही वैसे उन मुनियोंका ध्यान विना किसी संदेहके अत्यन्त दृढ़ और शुभ होता जाता है ॥३॥ जिस मुनिका एक मनही अपने वशमें हो जाता है, उसी मुनिके विना संदेहके और विना किसी प्रयत्नके निश्चल ध्यान हो जाता है ॥४॥ मनको वशमें करनेसे ही ध्यान होता है, मनको वशमें करनेसे ही संयम होता है और मनको वशमें करनेसे ही पापोंका क्षय होता है; इसलिये इस मनको वार वार वशमें करना चाहिये ॥५॥ वास्तवमें ध्यान वही है, सिद्धि वही है और स्थिरता वही है कि जिससे यह मन अविद्याका त्यागकर तत्त्वोंमें स्थिर हो जाय ॥६॥ ध्यान करनेवालेको सबसे पहिले अपना मन स्थिर करना चाहिये। क्योंकि मनका स्थिर करना ध्यानमें मुख्य साधक है। मनके स्थिर हो जानेपर सर्वोत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि प्रत्यक्ष हो जाती है। ॥७॥ कर्मकी

चैकेन विश्वसिद्धिः प्रजायते ॥८॥ मनःसंरोधनेनैव परा शुद्धिः प्रजायते । शरीरेन्द्रियशुद्धिस्तु तेनैव च स्वयं भवेत् ॥९॥ एकैव सा मनःशुद्धिरलं ध्यानादिकर्मसु । यया च प्राप्यते सिद्धिरन्तस्तत्त्वस्य देहिनाम् ॥१०॥ चित्तशुद्धिः स्थिरीभूता यस्य साधोर्निरन्तरा । मनोरथांस्तु सर्वान् स ध्यानेन लभते ध्रुवम् ॥११॥ आदौ कृत्वा मनःशुद्धिं पश्चाद्ध्यानं समाचरेत् । मनःशुद्धिं विना ध्यानं न भूतो न भविष्यति ॥१२॥ मनःशुद्धिमकृत्वा यः गंगादौ हि पुनः पुनः । करोति देहशुद्धिं वा संसाराब्धौ स मज्जति ॥१३॥ मनो रुद्धं न येनात्र ध्यानं सोत्र करोति किम् । मनोरोधबलेनैव तद्ध्यानं स्यात्स्वतः स्वयम् ॥१४॥ चित्तशुद्धिमनासाध्य ध्यानं कर्तुं य इच्छति । वालुकापीडनं कृत्वा तैलमिच्छति मूढधीः ॥१५॥ कोटिजन्मान्तरे यद्धि पापं क्षिपति वृत्ततः । स्वल्पेन समयेनात्र क्षिपते चित्तरोधतः ॥१६॥ पापास्रवं हि संरुद्ध्य चित्तशुद्ध्या

---

परंपराको रोकनेवाली अत्यन्त दृढ़ ध्यानरूपी संपत्ति एक मनको वश करनेसे ही होती है। तथा इसी मनको वशकरने से समस्त सिद्धियां सिद्ध हो जाती हैं ॥८॥ मनको वश करनेसे आत्माकी उत्कृष्ट शुद्धि हो जाती है और शरीर तथा इंद्रियोंकी शुद्धि भी मनको वश करनेसे स्वयं हो जाती है ॥९॥ यह एक मनकी शुद्धि ही ध्यानादिक कार्योंके लिये मुख्य साधन है, इसी मनकी शुद्धिसे प्राणियोंके अंतरात्माकी सिद्धि हो-जाती है ॥१०॥ जिस साधुके मनकी शुद्धि निरंतर स्थिर रहती है, उसके समस्त मनोरथ एक ध्यानसे ही सिद्ध हो जाते हैं ॥११॥ साधुको सबसे पहिले मनकी शुद्धि करनी चाहिये और फिर ध्यान करना चाहिये। क्योंकि मनकी शुद्धिके बिना ध्यान न कभी हुआ है और न कभी होगा ॥१२॥ जो पुरुष मनकी शुद्धि किये बिना गङ्गा आदि नदियोंमें शरीरशुद्धि करते हैं, वे संसाररूपी समुद्रमें अवश्य डूबते हैं ॥१३॥ जिसने अपने मनको वशमें नहीं किया है, वह इस संसारमें ध्यान ही क्यों करता है? क्योंकि मनको वशकर लेनेसे वह ध्यान अपने आप हो जाता है ॥१४॥ जो मनुष्य मनको शुद्ध किये बिना ध्यान करनेकी इच्छा करता है, वह मूर्ख बालूको पेलकर तेल निकालना चाहता है ॥१५॥ जो पाप करोड़ों जन्मोंमें चारित्र धारण करनेसे नष्ट होता है, वह पाप मनको वशमें कर लेनेसे थोड़े ही समयमें नष्ट हो जाता है ॥१६॥ निर्मल बुद्धिको धारण करनेवाले और मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपना मन शुद्धकर पापके आस्रवको रोकना चाहिये और ध्यान

प्रसन्नधीः । ध्यानाध्ययनकर्माणि ह्यभ्यसेत्सन्मुमुक्षुकः ॥१७॥ मोहमायादिसंलीनं विषयादिषु रंजितम् । मनः संरुध्य तत्त्वेषु स्वाध्याये वा नियोजयेत् ॥१८॥ स्वध्यायतत्परो नित्यं यमनियमधारकः । विना क्लेशेन साधुः स करोति स्ववशं मनः ॥१९॥ स्वाध्यायभावनाद्यैश्च स्वमनः स्ववशं नयेत् । तद्वशीकरणे मंत्रं स्वाध्याय एव निश्चितम् ॥२०॥ स्वाध्यायादेव चित्तस्य स्थिरता सुतरां भवेत् । तस्माच्च मुनिभिः प्रोक्तं न स्वाध्यायात्परं तपः ॥२१॥ स्वतंत्रचारिणी तीव्रा गतिः चित्तस्य चञ्चला । स्वाध्यायेनैव भव्यैः सा रुध्यते नात्र संशयः ॥२२॥ स्वाध्यायेन ततः साधुर्मनो हि स्ववशं नयेत् । नान्यः कश्चिदुपायोस्ति मनःसंरोधकारकः ॥२३॥ येषां तु चञ्चलं चित्तं वशं नायाति यत्नतः । स्वाध्यायेनैव तेषां तु तद्वशं यात्यसंशयम् ॥२४॥ श्रीमज्जिनेन्द्रदेवैश्च मनःसंरोधहेतवे । एक एव उपायः स स्वाध्यायः कथितोऽथवा ॥२५॥ अतिचपलसुचित्तं ध्यानविघ्नं करोति , ह्यनवरतसुतीव्रां पापकक्षां तनोति । रचयतु शुभभावाच्चित्त-

---

अध्ययन आदि कार्योंका अभ्यास करना चाहिये ॥१७॥ यह मन मोह वा माया आदिमें लीन हो रहा है, तथा विषयोंमें तल्लीन हो रहा है, ऐसे इस मनको रोककर तत्त्वोंमें लगाना चाहिये अथवा स्वाध्यायमें लगाना चाहिये ॥१८॥ जो साधु स्वाध्यायमें सदा लीन रहता है और यम नियमोंको धारण करता है, वह विना किसी क्लेशके मनको वशमें कर लेता है ॥१९॥ भव्य जीवोंको स्वाध्यायकी भावनासे ही अपने मनको वशमें करना चाहिये, क्योंकि मनको वशमें करनेके लिये यह स्वाध्याय ही सुनिश्चित मंत्र है ॥२०॥ यह मन स्वाध्यायमें अपने आप स्थिर हो जाता है। इसीलिये "स्वाध्यायसे बढ़कर अन्य कोई तप नहीं है" इस प्रकार अनेक मुनियोंने उपदेश दिया है ॥२१॥ इस मनकी गति स्वतंत्र है, तीव्र है और चञ्चल है। ऐसे इस मनकी गतिको भव्य जीव स्वाध्यायसे ही रोकते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२२॥ इसलिये साधुओंको स्वाध्यायसे ही अपना मन वश करना चाहिये। इसके सिवाय मनको रोकनेवाला अन्य कोई उपाय नहीं है ॥२३॥ जिनका चञ्चल चित्त किसी भी यत्नसे वश नहीं होता है, वह स्वाध्यायसे ही वश हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२४॥ अथवा यों समझना चाहिये कि भगवान जिनेन्द्रदेवने मनको रोकनेके लिये एक स्वाध्याय ही सबसे अच्छा उपाय बतलाया है ॥२५॥ अत्यन्त चञ्चल हुआ यह चित्त ध्यानमें विघ्न करता है

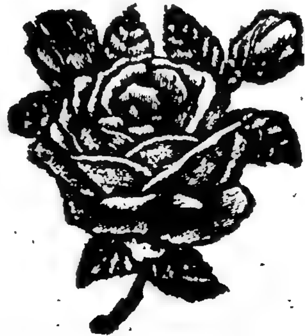
संरोधकं वा । इह भवति सुधर्मो शास्त्रसंलीनचित्तः ॥२६॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे मनोवशीकरणप्ररूपणो नाम दशमोऽधिकारः ॥

---

और निरंतर तीव्र पाप उत्पन्न करता रहता है, इसलिये भव्य जीवोंको शुभभावोंसे चित्तको वशमें कर लेना चाहिये, जिससे कि शास्त्रोंमें चित्तको लगानेवाला श्रेष्ठधर्म प्राप्त हो ॥२६॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरप्रणीत सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें मनको वश करनेका उपदेश देनेवाला यह दशवां अधिकार समाप्त हुआ।



# एकादशोऽधिकारः ।



सदाचारप्रणेतारं तपःसमितिपालकम् । भावभक्त्या ह्यहं वन्दे शीतलं तं जिनेश्वरम् ॥१॥ समित्यादिधरो धीरस्तपश्चरणतत्परः । करोति मुनिनाथोऽसौ कर्माद्रिचूर्णनं ननु ॥२॥ पंचमहाव्रतानां हि न स्यात्सम्यक् प्रपालनम् । समित्यादेर्विना क्वापि न भूतो न भविष्यति ॥३॥ तस्मात्तेषां स्वरूपोऽत्र संक्षेपाद्वर्ण्यते मया । आगमेभ्यो विशेषं तत् ज्ञातव्यं मुनिसत्तमैः ॥४॥ ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसत्क्रियाः । पंच समितयः प्रोक्ता जिनागमे जिनेश्वरैः ॥५॥ जीवरक्षाशुभावेन दया चित्तेन संयमी । दिवा सूर्योदये सम्यङ्मार्जिते पथि सत्तमे ॥६॥ गमनं तीर्थयात्रार्थं वंदनार्थं गुरूनपि । करोति दृष्टिशुद्ध्या हि सेर्यासमितिरुच्यते ॥७॥ सर्वजीवहितं वाथ सर्वकल्याणकारकम् । हितं मितं

जो सदाचारको निरूपण करनेवाले हैं और तप तथा समितियोंको पालन करनेवाले हैं, ऐसे भगवान शीतलनाथको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जो मुनिराज समितियोंका पालन करते हैं, धीरवीर हैं और तपश्चरण करनेमें तत्पर हैं, वे ही मुनि कर्मरूपी पर्वतको चूर चूर कर डालते हैं ॥२॥ इन समितियोंको पालन किये बिना पांचों महाव्रतोंका अच्छी तरह पालन न तो आज तक हुआ है और न कभी हो सकता है ॥३॥ इसलिये मैं अब उन समितियोंका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे कहता हूँ । मुनिराजोंको इनका विशेष स्वरूप आगमसे जान लेना चाहिये ॥४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने जिनागममें "ईर्यासमिति, भाषासमिति एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति" ये पांच समितियां बतलाई हैं ॥५॥ जो संयमी जीवोंकी रक्षा करनेके भावसे अथवा दया धारणकर दिनमें सूर्योदयके बाद दले मले उत्तम मार्गमें नेत्रोंसे चार हाथ भूमिको शुद्ध करता हुआ तीर्थयात्राके लिये अथवा गुरुओंकी वन्दना करनेके लिये गमन करता है, उसको ईर्यासमिति कहते हैं ॥६–७॥ जीवोंकी रक्षा करनेमें सदा तत्पर रहनेवाला जो साधु सब जीवोंका

वचो वक्ति जीवरक्षणतत्परः ॥८॥ कटुकां कर्कशां भाषां ब्रूते नैव स संयमी । भाषा समितिरस्य स्यान्मनोऽक्षजयसाधिका ॥९॥ कुलजातिविशुद्धे हि सुश्रावकनिकेतने । केवलं व्रतसिद्ध्यर्थं मनोनिग्रहपूर्वकम् ॥१०॥ द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तं वा स्वोद्देश्यविवर्जितम् । आहारग्रहणं शुद्धमेषणा समितिश्च सा ॥११॥ शास्त्रं कमण्डलुश्चैव साधनं हि सुसंस्तरम् । दृष्टिपिच्छिकया पूतमाददेच्च न्यसेन्मुनिः ॥१२॥ सर्वत्र जीवरक्षार्थं दयाभावेन संयमी । निक्षेपादाननामा सा जिनैः समितिरुच्यते ॥१३॥ एकान्ते निर्जने स्थाने जीवजन्तुविवर्जिते । दृष्टि पिच्छिकया पूते मलमूत्रं विसर्जयेत् ॥१४॥ जीवानां रक्षणार्थं हि दयार्थं वाथ संयमी । मनोऽक्षजयसिद्ध्यर्थं चोत्सर्गसमितिर्मता ॥१५॥ भावशुद्धिकराः सम्यग्मनोऽक्षजयसाधकाः । व्रतरक्षणसूर्याभाः पंच समितयो मताः ॥१६॥ दृश्यते मुनिमार्गोऽत्र दयायास्सुप्रदर्शकः । महाश्रेष्ठः समित्यादिभिश्च लोकोत्तरो ननु ॥१७॥ षडावश्यककर्माणि कुर्वन् योगी समावृतः । मनोऽक्षविजयं कृत्वा सद्ध्यानं

---

हित करनेवाले और सबका कल्याण करनेवाले हितरूप और परिमित वचन को कहता है, तथा जो संयमी कड़वी और कर्कश भाषाको कभी नहीं बोलता, वह मन और इंद्रियोंको जीतनेवाली भाषासमिति कहलाती है ॥८-९॥ जो मुनि विशुद्ध कुल और जातिको धारण करनेवाले श्रावकके घर जाकर केवल व्रतोंको पालन करनेकी इच्छासे मनको वशकर तथा बत्तीस दोष और उद्दिष्ट आहारको छोड़कर शुद्ध आहार ग्रहण करता है, उसको एषणासमिति कहते हैं ॥१०-११॥ जो मुनि सब जगह जीवोंकी रक्षा करनेके लिये वा दया धारणकर शास्त्र, कमंडलु आदि उपकरणोंको वा संसारको नेत्रोंसे देखकर और पीछेसे शुद्धकर रखता है, वा उठाता है; उसको आदाननिक्षेपणसमिति कहते हैं ॥१२-१३॥ जो संयमी मुनि जीवोंकी रक्षा करनेके लिये वा दयापालन करनेके लिये अथवा मन और इन्द्रियकी विजय प्राप्त करनेके लिये जीव जन्तुओंसे रहित एकांत निर्जन स्थानमें नेत्रोंसे देखकर और पीछेसे शुद्धकर शुद्ध भूमिमें मलमूत्रका त्याग करता है; उसको उत्सर्गसमिति कहते हैं ॥१४-१५॥ ये पांचों समितियां भावोंको अच्छी तरह शुद्ध करनेवाली हैं, मन और इंद्रियोंको जीतनेवाली हैं और व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये सूर्यके समान हैं ॥१६॥ संसारमें यह मुनिमार्ग दयारूप धर्मको अच्छी तरह दिखलानेवाला है, महाश्रेष्ठ है और समिति आदिके द्वारा समस्त संसारमें श्रेष्ठ है ॥१७॥ जो योगी छहों आवश्यक कर्मोंको करता है, समता धारण करता है, तथा मन और इंद्रियोंको जीतता है; वह

लभते परम् ॥१८॥ तप इच्छानिरोधः स्यादिच्छात्र तु मनोभवा । तपश्चित्तस्य वश्यार्थं तपः स्याच्च निरीहकम् ॥१९॥ द्विषड्भेदं तपः ख्यातं बाह्याभ्यन्तरभेदतः । तत्प्रत्येकस्य षड्भेदं वीतरागेण भाषितम् ॥२०॥ अनशनावमौदर्यं वृत्तसंख्यारसोज्झनम् । विविक्तासनकायक्लेशौ वा बाह्यतपांसि च ॥२१॥ कृत्वा कालावधिं चादौ भावशुद्धिं विधाय च । वशीकृत्येन्द्रियं सम्यक् कषायविषयं तथा ॥२२॥ त्रिधाथवा चतुर्धा हि यत्र भुक्तिविसर्जनम् । उपवासतपो ज्ञेयं नानाभेदैस्तु संयुतम् ॥२३॥ एकस्मिन् दिवसे भुक्ती द्वे प्रोक्ते हि जिनागमे । एकभुक्तेः परित्यागः उपवासो मतो जिनैः ॥२४॥ एकभुक्तिं समारभ्य द्विचतुर्भुक्तिवर्जनम् । तपसोऽन्तर्गतं सर्वं तस्य भेदा अनेकधा ॥२५॥ नीरसं भोजनं चाम्लं भोजनन्त्वेकवारकम् । एकभुक्त्यादयः सर्वे तपोभेदा हि संति वै ॥२६॥ अष्टाविंशतिनारीणां द्वात्रिंशत्पुरुषस्य च । ग्रासाः साधारणाः सन्ति क्षुत्तृप्तिकारकाः खलु ॥२७॥ सहस्रव्रीहिमानस्य चैको ग्रासो विधीयते।

---

अवश्य ही उत्तम ध्यान धारण करता है ॥१८॥ इच्छाका निरोध करना तप है तथा इच्छा मनसे उत्पन्न होती है । जो इच्छाका अभाव है, वही तप है तथा तप मनको वश करनेके लिये किया जाता है ॥१९॥ उस तपके बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे दो भेद हैं, उनमें भी प्रत्येकके छह छह भेद हैं, ऐसा भगवान वीतराग देवने कहा है ॥२०॥ "अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश" यह छह प्रकारका बाह्य तप कहलाता है ॥२१॥ भावोंको शुद्धकर इंद्रियोंको वशकर और कषायविषयोंको अच्छी तरह जीतकर किसी कालकी मर्यादा तक तीन अथवा चार प्रकारके आहारका त्यागकर देना उपवास कहलाता है । इस उपवासके अनेक भेद हैं ॥२२–२३॥ जिनागममें एक दिनमें दो बार भोजन बतलाया है, उसमेंसे एक बारके भोजनका त्याग कर देना भगवान जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपवास कहलाता है ॥२४॥ एक बारके भोजनको लेकर दो बार वा चार बारके भोजनका त्याग आदि करना सब तपश्चरणमें ही अन्तर्गत है, इस प्रकार इस तपश्चरणके बहुतसे भेद हो जाते हैं ॥२५॥ नीरस भोजन करना, आचाम्ल भोजन करना, एक बार भोजन करना वा एक भुक्ति करना आदि सब इस अनशन तपश्चरणके ही भेद हैं ॥२६॥ साधारण रीतिसे भूखको मिटानेवाले पुरुषके बत्तीस ग्रास कहे जाते हैं और स्त्रीके अट्ठाईस ग्रास कहे जाते हैं ॥२७॥ एक हजार चावलोंका एक ग्रास कहलाता है । अपनी भूखमेंसे

तदेकग्रासपञ्चोनमवमौदर्यमत्र वा ॥२८॥ दिवसे चैकवारं ह्यवमौदर्यं तपो मतम् । तत्र चेच्छा निरोधत्वात्तपो लक्षणतो मतम् ॥२९॥ रथ्यादिगृहभेदेन फलपुष्पादिनाथवा । भिक्षाया नियमं कृत्वा वृत्तेः संख्याभिधीयते ॥३०॥ तद्वृत्तिपरिसंख्यानं तपः स्यात्सुखकारकम् । अनेन तपसा शीघ्रमक्षा वश्या भवन्ति च ॥३१॥ रसाः पंचविधास्तेपु चैकादिरसवर्जनम् । रसत्यागतपो ज्ञेयमिन्द्रियनिग्रहक्षमम् ॥३२॥ निर्जने शुभदे स्थाने ग्रामादौ नगरे तथा । जिनचैत्यालये वासः शयनं क्रियते मुदा ॥३३॥ शय्यासनं विविक्तं तत् सम्प्रोक्तं सुतपो मतम् । सर्वत्रेच्छानिरोधत्वात्तपो लक्षणतो मतम् ॥३४॥ आतापनसुयोगेन वाभ्राकाशादिना तथा । तज्जिनाज्ञाप्रमाणेन क्लेशो हि सह्यते मुदा ॥३५॥ शरीरकष्टदानेन स्वकष्टसहनेन वा । कायक्लेशतपस्तद्धि जिनदेवैः प्रमाणितम् ॥३६॥ इच्छानिरोधतश्चात्र कायक्लेशतपो मतम् । अन्तरंगतपो न स्यात्सुबाह्यतपसा विना ॥३७॥ तस्माद्बाह्यतपो मुख्यमादौ कार्यं तदेव हि । मनोवश्यं भवत्येव बाह्येन तपसा

---

एक ग्रास वा दो चार ग्रास कम आहार लेना अवमौदर्य तप कहलाता है ॥२८॥ दिनमें एक बार भोजन करना अवमौदर्य तप है । क्योंकि उसमें भी इच्छाका निरोध होता है और इच्छाका निरोध करना ही तप है ॥२९॥ किसी गली वा घरोंका नियम लेकर वा पुष्प फल आदिके देखनेका नियम लेकर भिक्षाके लिये निकलना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप कहलाता है ॥३०॥ यह वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप बहुत ही सुख देने वाला है । इस वृत्तिसंख्यान नामके तपसे इंद्रियां शीघ्र ही वश हो जाती हैं ॥३१॥ पांच प्रकारके रसोंमेंसे किसी एक दो चार वा पांचों रसोंका त्याग करना इंद्रियोंका निग्रह करनेवाला रसपरित्याग नामका तप कहलाता है ॥३२॥ किसी निर्जन, शुद्ध गांव, नगर, चैत्यालय आदि स्थानोंमें प्रसन्न होकर निवास करना वा शयन करना विविक्तशय्यासन नामका तप कहलाता है । इस तपमें भी इच्छाका निरोध होता है, इसलिये ही इसको तप कहते हैं ॥३३-३४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार आतापन योग धारणकर वा अभ्राकाश योग धारणकर क्लेश-सहन करना शरीरको कष्ट देना वा स्वयं कष्ट सहन करना कायक्लेश नामका तप कहलाता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥३५-३६॥ कायक्लेश तपमें भी इच्छाका निरोध होता है, इसलिये इसको तप कहते हैं । विना बाह्य तपके अन्तरंग तप कभी नहीं हो सकता ॥३७॥ इसलिये इस मुख्य बाह्य तपको सबसे पहले धारण करना चाहिये । इस बाह्य तपसे यह मन अवश्य वश में हो जाता है ॥३८॥ मन वशमें होनेसे

ननु ॥३८॥ मनोवश्येऽक्षविजयः सुतरां जायते ननु । तस्मान्मनोऽक्षवश्यार्थं तपो हि मुख्यकारणम् ॥३९॥ इच्छानिरोधतः सम्यक् मनोऽक्षवश्यता भवेत् । श्रद्धाभक्तिभरेणापि तपो बाह्यं समुच्यताम् ॥४०॥ प्रायश्चितात्तादिभेदेन तपश्चाभ्यन्तरं मतम् । कर्मविच्छेदकं तत्तु स्वात्मधर्मप्रकाशकम् ॥४१॥ प्राप्तदोषसुशुद्ध्यर्थं सुव्रते स्थापनाय वा । प्रायश्चित्तं विदध्याच्च दोषोपशमनाय वै ॥४२॥ मुनीनां च मनःशुद्धिः प्रायश्चित्तेन जायते । प्रायश्चित्ततपस्तस्मादन्तरंगतपो मतम् ॥४३॥ भावशुद्धिश्च चारित्रशुद्धिरात्मगुणस्य च । प्रायश्चित्तं ततो मुख्यं तपःशुद्धिविधायकम् ॥४४॥ देवशास्त्रगुरूणां च रत्नत्रयसुधारणम् । धर्मवत्सज्जनानां वा धर्मरत्नत्रयस्य च ॥४५॥ श्रीजिनचैत्यचैत्यालयानां श्रीशासनस्य च । विनयो भावभक्त्या हि क्रियते मुनिसत्तमैः ॥४६॥ तेषां हि गुणसिद्ध्यर्थं प्रभावनाप्तये तथा । विनयाख्यं तपः प्रोक्तं तद्धि श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥४७॥ पूज्यानां विनयेनात्र गुणास्तेषां भवन्ति च । विनयात्स्वगुणोत्कर्षो गुणप्राप्तिश्च जायते ॥४८॥ बालवृद्धमुनीनां च रोगादिपीडितात्मनाम् ।

इन्द्रियोंका विजय अपने आप हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि मन और इंद्रियोंको वश करनेके लिये तप ही मुख्य कारण है ॥३९॥ इच्छाका निरोध करनेसे मन और इंद्रियां अच्छी तरह वश हो जाती हैं, इसलिये बाह्य तपश्चरण श्रद्धा और भक्तिपूर्वक धारण करना चाहिये ॥४०॥ आभ्यन्तर तपश्चरणके प्रायश्चित्त आदि अनेक भेद हैं, यह आभ्यंतर तपश्चरण कर्मोंको नाश करनेवाला है और आत्माके धर्मको प्रकाशित करनेवाला है ॥४१॥ लगे हुये दोषोंको शुद्ध करनेके लिये अथवा व्रतोंमें दृढ़ता धारण करनेके लिये और दोषोंको शांत करनेके लिये प्रायश्चित्त तपश्चरण धारण करना चाहिये ॥४२॥ इस प्रायश्चित्तसे मुनियोंके मनकी शुद्धि होती है, इसीलिये यह प्रायश्चित्त अन्तरंग तप कहलाता है ॥४३॥ यह प्रायश्चित्त भावोंकी शुद्धि करता है, चारित्रको शुद्ध करता है और आत्माके गुणोंको शुद्ध करता है; इसीलिये यह प्रायश्चित्त मुख्य तप माना जाता है ॥४४॥ श्रेष्ठ मुनियोंको भाव और भक्तिपूर्वक देव शास्त्र गुरुओंका, रत्नत्रय धारण करनेवालोंका, धार्मिक सज्जनोंका, धर्मका, रत्नत्रयका, चैत्य चैत्यालयोंका और जिनशासनका विनय सदा करते रहना चाहिये ॥४५-४६॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने देवादिकोंके गुणोंकी सिद्धिके लिये और प्रभावना करनेके लिये विनय नामका तपश्चरण बतलाया है ॥४७॥ पूज्य पुरुषोंका विनय करनेसे उनके गुण बढ़ते हैं, विनयसे

तीर्थयात्राविहारेण चात्यन्तखेदितात्मनाम् ॥४९॥ तेषामाहारसुश्रुषौषधिवासादितः खलु । वैयावृत्यं सुभक्त्यैव विधातव्यं मुनीश्वरैः ॥५०॥ धर्मवत्सज्जनानां तु धर्मप्रीत्या सुभावतः । परस्परं विधातव्यं वैयावृत्त्यं मनोहरम् ॥५१॥ सन्मानाहारदानाद्यपग्रहादिविधानकैः । रथोत्सवप्रतिष्ठायां वैयावृत्यं विशेषतः ॥५२॥ धर्मप्रभावनार्थं हि धर्मवृद्ध्यै गुणाप्तये । वैयावृत्यं सदा कार्यं मुनीनां तु विशेषतः ॥५३॥ वैयावृत्त्यस्य माहात्म्यं सम्यग्जानन्ति तीर्थपाः । वैयावृत्त्येन चैकेन ह्यनन्तश्रीः प्रजायते ॥५४॥ स्वाध्यायः पंचधा ज्ञेयः वाचनादिप्रभेदतः । मनोक्षरोधतः हेतोः स्वाध्यायो हि परं तपः ॥५५॥ स्वाध्यायाद्धि मनः साक्षात्सम्यग्ज्ञाने प्रवर्तते । स्वाध्यायाच्च भवेत्तस्मान्मनोक्षनिग्रहो महान् ॥५६॥ स्वाध्यायान्न परं श्रेष्ठमात्मबोधकरं परम् । मोहान्धचक्षुषां नृणां स्वाध्यायो दिव्यमौषधम् ॥५७॥

---

आत्माके गुणोंका उत्कर्ष होता है और गुणोंकी प्राप्ति होती है ॥४८॥ जो मुनि बालक हैं, वा वृद्ध हैं, रोगसे पीड़ित हैं, तीर्थयात्राके विहारसे अत्यन्त खेदखिन्न हैं; ऐसे मुनियोंको आहार, औषधि, वसति आदिका दान देकर तथा उनकी सेवा-सुश्रूषाकर भक्तिपूर्वक मुनियोंको वैयावृत्य करना चाहिये ॥४९-५०॥ मुनियोंको धर्मप्रेम धारणकर श्रेष्ठ भावोंसे धार्मिक सज्जनोंका वैयावृत्य करना चाहिये, तथा परस्पर भी वैयावृत्य करना चाहिये ॥५१॥ रथोत्सवके समय अथवा प्रतिष्ठा आदि कर्मोंके समय आदर सत्कारकर, आहारदान देकर, तथा और भी उपकारकर विशेष वैयावृत्य करना चाहिये ॥५२॥ धर्मकी प्रभावना करनेके लिये धर्मकी वृद्धिके लिये और गुणोंको प्राप्त करनेके लिये मुनियोंका विशेष रीतिसे सदा वैयावृत्य करते रहना चाहिये ॥५३॥ इस वैयावृत्यके माहात्म्यको तीर्थंकर ही अच्छी तरह जानते हैं, क्योंकि इस एक ही वैयावृत्यसे अनंत चतुष्टयरूप लक्ष्मी उत्पन्न होती है ॥५४॥ वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशके भेदसे स्वाध्यायके पांच भेद हैं, इस स्वाध्यायमें भी मन और इंद्रियोंका निरोध होता है, इसलिये यह भी श्रेष्ठ तप कहलाता है ॥५५॥ स्वाध्यायसे यह मन साक्षात् सम्यग्ज्ञानमें प्रवृत्त होता है। इसीलिये स्वाध्यायसे इंद्रिय और मनका निरोध माना जाता है ॥५६॥ स्वाध्यायसे बढ़कर आत्मज्ञान उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है। जिनके ज्ञाननेत्र मोहरूपी अन्धकारसे मलिन हो रहे हैं, उनके लिये यह स्वाध्याय दिव्य औषध है ॥५७॥ यह स्वाध्याय मोहरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये श्रेष्ठ सूर्य है। इस स्वाध्यायसे ही लोक

स्वध्यायो हि परं भानुर्मोहध्वान्तविनाशकः । जायते स्वात्मविज्ञानं लोकालोकप्रकाशकम् ॥५८॥ स्वाध्यायतपसा नूनं कर्मग्रंथिः प्रभिद्यते । आत्मा शीघ्रं शिवं याति कर्मकाष्ठविभेदनात् ॥५९॥ अन्यचिन्तां निराकृत्यैकाग्रयोगेन चिन्तनम् । ध्येयस्य तद्भवे ध्यानं चतुर्धा वर्णितं जिनैः ॥६०॥ सर्वसंगपरित्यागान्निस्सङ्गत्वं प्रपद्यते । ममत्वमोहभावस्य यत्र त्यागो विधीयते ॥६१॥ तद्व्युत्सर्गतपो ज्ञेयमाकिंचन्यप्रदर्शकम् । शरीरे निग्रहत्वं वा परवस्तुसुदूरगम् ॥६२॥ तपो द्वादशभेदं तत्संक्षेपेणैव वर्णितम् । तपो वर्णयितुं नैव शक्तोहमल्पबोधतः ॥६३॥ तपः शक्तिप्रमाणेन कर्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः । तपःसमं त्रिलोकेऽस्मिन्नान्यत्कर्मक्षयंकरम् ॥६४॥ तपसा भिद्यते कर्म यथा वज्रेण पर्वताः ।, तीर्थंकरैर्धृतं कर्माद्रिचूर्णाय स्वयं हि तत् ॥६५॥ त्रिकाले च त्रिलोकेऽस्मिन् न स्यान्मोक्षस्तपो विना । संसाराब्धेस्तुतपो नौका पारं संकुरुते

---

अलोकको प्रकाशित करनेवाला आत्मज्ञान प्रगट होता है ॥५८॥ इस स्वाध्यायरूपी तपश्चरणसे कर्मोंकी गांठ शीघ्र ही खुल जाती है, तथा कर्मोंकी गांठ खुल जानेसे अर्थात् कर्मरूपी कलङ्कके नाश हो जानेसे यह आत्मा शीघ्र ही मोक्षमें जा पहुँचता है ॥५९॥ अन्य समस्त चिंतवनोंको हटाकर किसी ध्येय पदार्थको एकाग्र चित्तसे चिंतवन करना ध्यान कहलाता है । यह ध्यान भगवान जिनेन्द्रदेवने चार प्रकारका बतलाया है ॥६०॥ जब यह जीव समस्त परिग्रहोंको त्यागकर परिग्रहरहित अवस्थाको प्राप्त होता है तथा मोह और ममत्व भावोंका सर्वथा त्याग कर देता है, उसको व्युत्सर्ग नामका तप कहते हैं, यह व्युत्सर्ग तप आकिंचन्यको प्रकाशित करनेवाला है, शरीरसे निस्पृहता दिखलानेवाला है और परवस्तुओंसे सर्वथा अलग है ॥६१-६२॥ इस प्रकार इस बारह प्रकारके तपश्चरणको संक्षेपसे वर्णन किया है । मैं अल्पज्ञानी हूँ, इसलिये मैं तपश्चरणका वर्णन भी नहीं कर सकता ॥६३॥ मोक्षकी इच्छा करनेवालोंको अपनी शक्तिके अनुसार तपश्चरण करना चाहिये । क्योंकि इस तपश्चरणके समान तीनों लोकोंमें कर्मोंका नाश करनेवाला अन्य कोई नहीं है ॥६४॥ जिस प्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाते हैं, उसी प्रकार इस तपश्चरणसे कर्म भी चूर चूर हो जाते हैं । इन कर्मरूपी पर्वतोंको चूर चूर करनेके लिये तीर्थंकर भी स्वयं इस तपश्चरणको धारण करते हैं ॥६५॥ तीनों कालोंमें और तीनों लोकोंमें इस तपके विना कभी मोक्ष नहीं हो सकता । यह तप इस संसाररूपी समुद्रसे नावके समान अवश्य

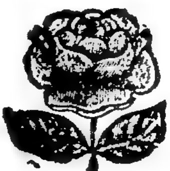
ध्रुवम् ॥६६॥ तपसा स्वर्गसम्पत्तिस्तपसा चक्रिणः पदम् । सर्वर्द्धयः प्रजायन्ते तपसा च शिवो भवेत् ॥६७॥ दशधर्मेण सार्द्धं यस्तपश्चरति भावतः । कर्माद्रिभेदनं कृत्वा प्रयाति शिवमन्दिरम् ॥६८॥ जिनवरशुभमार्गदीपिकाः शांतिरूपाः परमसमितयो मान्याः सदा तीर्थनाथैः । सकलभुवनमान्यं सत्तपो द्वादशात्म अवतु अवतु शीघ्रं मां भवाद्वा सुधर्मः ॥६९॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे समितितपोवर्णननामैकादशोऽधिकारः ।

---

पार कर देने वाला है ॥६६॥ इस तपश्चरणसे स्वर्गकी संपदा प्राप्त होती है, तपसे ही चक्रवर्तीका पद प्राप्त होता है, तपसे ही समस्त ऋद्धियां प्राप्त होती हैं और तपसे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥६७॥ जो पुरुष भावपूर्वक दश धर्मोंके साथ साथ इस तपश्चरणको पालन करता है, वह कर्मरूपी पर्वतको नाशकर मोक्ष-महलमें अवश्य ही जा पहुँचता है ॥६८॥ ये पांचों समतियां भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शुभ मार्गको दिखानेके लिये दीपकके समान हैं, अत्यन्त शांत रूप हैं और तीर्थकरोंके द्वारा सदा मान्य हैं। इसी प्रकार बारह प्रकारका तपश्चरण तीनों लोकोंमें मान्य है । इस प्रकार समिति और तपश्चरणरूप श्रेष्ठ धर्म इस संसारसे शीघ्र ही मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो ॥६९॥

इस प्रकार श्रीमुनिराज सुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपाधिकारमें समिति और तपश्चरणको वर्णन करनेवाला यह ग्यारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।



# द्वादशोऽधिकारः ।



जितमोहं जितकामं कषायचक्रभेदकम् । वीतरागं च सर्वज्ञं श्रीश्रेयांसं नमाम्यहम् ॥१॥ अनादितो हि जीवोयं कषायवशतो ननु । संसाराब्धौ ब्रुडन्नास्ते नानाक्लेशं सहन्नपि ॥२॥ कषायैरजिनोप्यात्मा कर्मास्रवति दारुणम् । तेन पंचपरावर्ते संसारे भ्रमति ध्रुवम् ॥३॥ कषायेन च यो दग्धः स दग्धः कर्मभिः सदा । स दग्धो नारकैर्दुःखै दारुणैरतिदुस्सहैः ॥४॥ कषायेनैव जृम्भेते रागद्वेषौ भयानकौ । सुदृग्घातकरौ दीर्घसंसारस्य निबंधनौ ॥५॥ कषायेन करोत्यात्मा घोरं घोरमघं नवम् । ताडनं मारणं चैव संयमस्यात्र का कथा ॥६॥ कषायोद्रेकमापन्नो हंत्यात्मा चात्मना स्वयम् । तेनैव वध्यते नित्यं कर्मणा धर्मवैरिणा ॥७॥ मनागपि कषायाणामुदयः स्वात्मघातकः । हालाहलं विषं किंचिद्धन्ति

---

जिन्होंने मोहको जीत लिया है, काम को जीत लिया है और कषायोंके समूहको जीत लिया है; ऐसे वीतराग सर्वज्ञ भगवान् श्रेयांसनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यह जीव कषायोंके वश होकर अनादि कालसे संसाररूपी समुद्रमें डूबा हुआ अनेक प्रकारके क्लेश सहन कर रहा है ॥२॥ जो आत्मा कषायोंसे रंजित रहता है, वह अशुभ कर्मोंका आस्रव करता रहता है और उन अशुभ कर्मोंके उदयसे पंचपरावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण किया करता है ॥३॥ जो जीव कषायोंसे दग्ध रहता है, वह सदा कर्मोंसे भी दग्ध रहता है और अत्यन्त असह्य नरकोंके दारुण दुःखोंसे भी सदा दग्ध रहता है ॥४॥ इन कषायोंसे ही दीर्घ संसारको बढ़ानेवाले और सम्यग्दर्शनका घात करनेवाले भयानक राग-द्वेष बढ़ते हैं ॥५॥ इन कषायोंके निमित्तसे यह आत्मा नये नये घोर पापोंको करता है, तथा ताडन मारण करता है । ऐसी हालतमें भला संयम धारण कैसे हो सकता है ? ॥६॥ इन कषायोंके उद्रेकको प्राप्त हुआ आत्मा अपने द्वारा अपने ही आत्माका घात करता है और

किन्न मुखे गतम् ॥८॥ कषायाक्रान्तजीवानां दुष्टक्रोधादिकात्मनाम्। न क्वापि संयमस्तेषां न ध्यानाध्ययनं तपः ॥९॥ कषायवशगो जीवः संयमं हंति पापतः। संयमस्य विनाशेन स्यादनर्थपरंपरा ॥१०॥ अनादिकालसंभूतैः कषायैस्तव चेतना। दग्धात्मन् किं तदा स्याद्वा ध्यानं शुद्धं च संयमम् ॥११॥ कषायवशतो नूनं पातोऽधोऽधो भवे भवे। जन्म-मृत्युभयक्लेशसंतापाश्च निरन्तरम् ॥१२॥ वरं हालाहलपानमेकजन्मविघातकम्। नैवोद्रेकः कषायाणामनेकजन्म-घातकः ॥१३॥ कषायस्योदयेनैव मनस्तापः प्रजायते। इन्द्रियाणां विकारोऽत्र शरीरस्य च कंपनम् ॥१४॥ इति योगत्रयस्यापि चांचल्यं स्याच्च तीव्रकम्। तेन शीघ्रं दयाधर्मो नश्यत्येव न संशयः ॥१५॥ कषायेन पिता पुत्रं पुत्रश्च पितरं तथा। हन्ति तस्मात्कषायाणामुदये को विचारकः ॥१६॥ सर्वसंगं परित्यज्य कृत्वा च परमं तपः। स्यात्कषायोदयस्तत्र सर्वमेत-

---

फिर उसी पापसे धर्मको घात करनेवाले कर्मोंके द्वारा बंध करता रहता है ॥७॥ कषायोंका थोड़ासा भी उदय आत्मघात करनेवाला है, सो ठीक ही है; क्योंकि मुखमें प्राप्त हुआ हलाहल विष क्या आत्मघात नहीं कर सकता? अवश्य करता है ॥८॥ दुष्ट क्रोधादिक कषायोंके वशीभूत हुए जीवोंके ध्यान, अध्ययन, तप और संयम आदि कभी नहीं हो सकते ॥९॥ कषायोंके वशीभूत हुआ यह आत्मा पापके कारण अपने संयमका नाश कर देता है और संयमका नाश होनेसे अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०॥ हे आत्मन्! अनादि कालसे उत्पन्न हुए अपने कषायोंसे तूने अपनी शुद्ध चेतनाका नाश कर दिया है। फिर भला तुझे शुद्ध ध्यान और शुद्ध संयम कैसे हो सकता है? ॥११॥ इन कषायोंके निमित्तसे इस जीवका भव भवमें नीचे नीचे पतन होता जाता है तथा जन्म-मरण, भय-क्लेश और संताप आदि निरंतर होते रहते हैं ॥१२॥ एक जन्मका घात करनेवाला हलाहल विषका पी लेना अच्छा है, परंतु अनेक जन्मों तक घात करनेवाले कषायोंका उद्रेक होना अच्छा नहीं है ॥१३॥ कषायोंके उदयसे ही मनको संताप होता है, इन्द्रियोंमें विकार होता है और शरीर कंपने लगता है ॥१४॥ इस प्रकार कषायके निमित्तसे मन वचन काय तीनोंमें तीव्र चञ्चलता हो जाती है तथा योगोंके चञ्चल होनेसे दया धर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१५॥ कषायके उदयसे पिता पुत्रको मार डालता है और पुत्र पिताको मार डालता है। कषायोंके उदय होनेपर कोई भी श्रेष्ठ विचार नहीं कर सकता ॥१६॥ समस्त परिग्रहोंका त्यागकर श्रेष्ठ तपश्चरण करते हुए यदि कषायोंका उदय हो जाय तो फिर समस्त तपश्चरण

निरर्थकम् ॥१७॥ दैवयोगात्कथंचित्स्यात्सुलभं व्रतधारणम् । कषायादिनृशंसेभ्यो रक्षणं दुर्लभं मतम् ॥१८॥ कषायवैरिसंपाते सर्वकपेतिदुःखदे । यध्यानं जपस्तपो वृत्तं सर्वं च स्यान्निरर्थकम् ॥१९॥ अत एव हि योगीन्द्राः सुस्वाध्यायामृतेन वा । कषायस्योदयं हत्वा ध्यायन्ति स्वं च सुस्थिरम् ॥२०॥ अक्षोद्रेको मनस्तापः कषायस्योदयस्तथा । स्वाध्यायेनैव चैकेन शाम्यन्त्येते यतः स्वयम् ॥२१॥ कषायशमनार्थं हि स्वाध्यायः परमौषधम् । स्वाध्यायस्य प्रभावेण सर्वं शाम्यति निश्चितम् ॥२२॥ कषायविषशान्त्यर्थं स्वाध्यायो दिव्यमन्त्रकम् । तत्क्षणं येन शीघ्रं हि शान्तिः स्यात्सर्वहर्षदा ॥२३॥ कषायाग्निप्रभावेण दह्यमानं व्रतादिकम् । स्वाध्यायमेघधाराभिस्तत्क्षणेऽङ्कुरितं भवेत् ॥२४॥ यदा यदा कषायाग्निर्दहति स्वात्ममन्दिरे । तपोध्यानं तदात्मन् त्वं स्वाध्यायात् शामय परम् ॥२५॥ रत्नत्रयतपोध्यानसंयमादीनि तत्क्षणात् । निर्दयो दहति क्रोधः स्वपरं च ततस्ततः ॥२६॥ क्रोधस्य न विवेकोस्ति विचारोपि न वा क्वचित् । यस्मात्स्वस्वामिनं

निरर्थक ही समझना चाहिये ॥१७॥ दैवयोगसे व्रतोंका धारण करना सरल है, परंतु मनुष्योंकी हत्या करनेवाले कषायोंसे आत्माकी रक्षा करना अत्यन्त कठिन है॥१८॥ इन कषायरूप शत्रुओंका उदय सबको दुःख देनेवाला है और सबको पीडा पहुँचानेवाला है, इन कषायोंके होनेसे ध्यान जप तप चारित्र आदि सब निरर्थक हो जाते हैं ॥१९॥ इसलिये मुनिराज अपने स्वाध्यायरूपी अमृतसे कषायोंका नाश कर देते हैं और अपने आत्माका ध्यान करते हैं ॥२०॥ इंद्रियोंका उद्रेक, मनका संताप और कषायोंका उदय एक स्वाध्यायसे ही अपने आप शांत हो जाते हैं ॥२१॥ कषायोंको शांत करनेके लिये स्वाध्याय परम औषधि है, इस स्वाध्यायके प्रभावसे सब शांत हो जाते हैं ॥२२॥ कषायरूपी विषको शांत करनेके लिये स्वाध्याय परम दिव्य मन्त्र है। इस स्वाध्यायसे उसी क्षणमें सबको प्रसन्न करनेवाली शांति शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है ॥२३॥ कषायरूपी अग्निके प्रभावसे जले हुए व्रतादिक स्वाध्यायरूपी मेघकी धारासे उसी क्षणमें पुनः अङ्कुरित हो जाते हैं॥२४॥ हे आत्मन्! तेरे आत्मरूप महलमें जब २ कषायरूपी अग्नि जल उठे, तभी तू तप और ध्यानको स्वाध्यायसे शांत कर ॥२५॥ यह क्रोध-कषाय रत्नत्रय, तप, ध्यान और संयम आदिको निर्दय होकर जला देता है तथा अपने आत्माको भी जला देता है ॥२६॥ क्रोधमें न विवेक रहता है, न विचार रहता है। यह क्रोध पहले अपने स्वामी आत्माको जलाता है, फिर पीछे दूसरेको मारता है ॥२७॥ यह क्रोधरूपी प्रचण्ड अग्नि क्षमासे

ह्यादौ पश्चादन्यं च हंति वा ॥२७॥ प्रचण्डक्रोधवह्निर्हि क्षमया शाम्यति स्वयम् । बोधधाराप्रपातेन क्षणाच्छान्ति प्रयाति च ॥२८॥ लोकद्वयहितध्वंसी क्रोधः शीघ्रं प्रशाम्यते । योगिभिः शान्तचेतोभिः क्षमाभावनया स्वयम् ॥२९॥ प्रशान्ते न्यायमार्गेस्मिन् शुद्धे रत्नत्रयात्मनि । प्राप्तोहं पुण्ययोगेन भवारण्ये भ्रमन् भ्रमन् ॥३०॥ यावत्क्रोधो दुराचारी रत्नत्रयमनर्घ्यकम् । हत्वात्मानं भवागर्ते न पातयति भीमके ॥३१॥ तावत्क्षमामृतेनैव परां शान्तिं लभामहे । विवेकबोधवार्द्धौ किं करिष्यति क्रुधानलः ॥३२॥ अनादिकालतोऽनेन क्रोधेन धर्मवैरिणा । पातयित्वा भवागर्ते पीडितोहं पुनः पुनः ॥३३॥ अधुना पुण्ययोगेन लब्धो धर्मो जिनोदितः । तत्रापीयं सुदीक्षा वा लब्धा दैगम्बरी मया ॥३४॥ क्षमामृतं शुभं पीतं क्रोधो मे किं करिष्यति । इति भावनया धीरः क्रोधं मुञ्चेत् सुबोधतः ॥३५॥ अनन्तानन्तसंसारे भ्राम्यमाणो जनोऽनिशम् । को वा कस्य न बंधुश्च न भूतोऽनेकशः सदा ॥३६॥ साम्यबुद्धिगतानां च सुदृशां तत्त्व-

---

स्वयं शांत हो जाती है, तथा सम्यग्ज्ञानकी धाराके पड़नेसे भी क्षणभरमें शांत हो जाती है ॥२८॥ शांत हृदयको धारण करनेवाले योगी लोग अपने क्षमारूप परिणामोंसे दोनों लोकोंके हितको नाश करनेवाले इस क्रोधको शीघ्र ही शांत कर देते हैं ॥२९॥ यह रत्नत्रयरूप न्यायमार्ग अत्यन्त शुद्ध है और प्रशांत है, संसाररूपी वनमें परिभ्रमण करता हुआ मैं किसी पुण्य कर्मके उदयसे ही प्राप्त हुआ हूँ ॥३०॥ इसलिये यह दुराचारी क्रोध जबतक बहुमूल्य रत्नत्रयको नाशकर आत्माको संसाररूपी भयंकर गढेमें नहीं पटक देता है, तबतक मुझे क्षमारूपी अमृतके द्वारा श्रेष्ठ शांति प्राप्त कर लेनी चाहिये। क्योंकि यह क्रोधरूपी अग्नि विवेक और ज्ञानरूपी समुद्रमें क्या कर सकती है ? ॥३१-३२॥ धर्मको नाश करनेवाला यह क्रोध अनादिकालसे मुझे संसाररूपी बड़े गढेमें डाल रखा है और बार बार मुझे दुःख दे रहा है ॥३३॥ अब पुण्यकर्मके उदयसे मैंने भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ धर्म धारण किया है और फिर दिगम्बरी दीक्षा धारणकी है। अब मैंने क्षमारूप अमृतका पान किया है, अब क्रोध मेरा क्या कर सकता है ? इस प्रकारकी भावना धारण कर धीर वीर पुरुषको अपने सम्यग्ज्ञानके द्वारा क्रोधका त्याग कर देना चाहिये ॥३४-३५॥ इस अनन्तानन्त संसारमें सदासे परिभ्रमण करता हुआ यह जीव अनेक बार कौन किसका भाई नहीं हुआ है ? ॥३६॥ जो तत्त्वोंको जाननेवाले और समता बुद्धिको धारण करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव हैं, उनके लिये इस संसारमें समस्त

वेदिनाम् । सर्वे जीवा हि सन्तीह चात्मतुल्याश्च बान्धवाः ॥३७॥ न कोपि कस्यचिन्मित्रं न वैरी न च दुःखदः । बांधवाः चारयः सर्वे भवन्त्येते स्वकर्मणा ॥३८॥ योऽधुना हन्ति मां कोपात्स मया प्राग्भवे हतः । तस्मादस्यापराधो न चैवं कोपं वशं नयेत् ॥३९॥ तथापि कुरुते मां हि स्वस्थं कृतापराधकम् । भवान्तरप्रबद्धेन दुष्टात्मना कुकर्मणा ॥४०॥ प्राग्भवे यत्कृतं कर्म तन्मया भुज्यतेऽधुना । कोपस्य तत्र का वार्ता कोपेन किं प्रयोजनम् ॥४१॥ कदाचित्कोपि कोपेन मां हन्ति कर्मपाकतः । धर्मो मे न हतोऽनेन रक्षामि क्षमया हि तम् ॥४२॥ चण्डकोपानलाच्छीघ्रं मां क्षमा रक्षति स्वयम् । बोधाम्बुदस्य धाराभिः परां शांतिं प्रदास्यति ॥४३॥ संसारे दुर्लभो बोधः शमता दुर्लभा ततः । क्षमातिदुर्लभा तत्र यया क्रोधोपि शाम्यति ॥४४॥ हन्तुकामैर्यदा दुष्टैर्विकारं नाप्यते मनः । योगिनां सा क्षमा श्लाघ्या इन्द्रनागेन्द्रवंदिता ॥४५॥ उपसर्गशतैस्तेषां परीषहभटैः शतैः । क्षमामृतस्य पानेन विकारं याति नो मनः ॥४६॥ एका

जीव उनके आत्माके ही समान भाई हैं ॥३७॥ इस संसारमें न तो कोई किसीका मित्र है, न कोई किसीका दुःख देनेवाला शत्रु है, शत्रु और मित्र सब अपने अपने कर्मके अनुसार होते हैं ॥३८॥ इस समय जो मुझे क्रोधपूर्वक मारता है, उसे मैंने पहले किसी भवमें अवश्य मारा होगा । इसलिये इस समय इसका कोई अपराध नहीं है । इस प्रकार विचारकर अपने क्रोधको शांत करना चाहिये ॥३९॥ मैंने परभवमें दुष्ट अशुभ कर्मोंको बांधकर जो अपराध किया था, उसके उदयसे मुझे मारकर यह मेरे अपराधको दूर कर रहा है । क्योंकि पहले भवमें जो मैंने किया है, उसीको मैं भोग रहा हूँ । फिर उसमें क्रोध करनेकी क्या बात है और क्रोधसे लाभ ही क्या है ? ॥४०–४१॥ कदाचित् कर्मके उदयसे कोई क्रोधकर मुझे मारता है, तो भी मेरे धर्मका घात तो नहीं करता । अब मैं क्षमा धारणकर अपने धर्मकी अवश्य रक्षा करूँगा ॥४२॥ यह क्षमा प्रचंड क्रोधरूपी अग्निसे शीघ्र ही मेरी रक्षा करेगी और सम्यग्ज्ञानरूपी मेघधारासे उस क्रोधरूपी अग्निको परम शांत कर देगी ॥४३॥ इस संसारमें सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है, उससे भी दुर्लभ शमता वा शांत परिणाम है और उससे भी दुर्लभ क्षमा है । क्योंकि इस क्षमासे क्रोध भी शांत हो जाता है ॥४४॥ जब मारनेकी इच्छा करनेवाले दुष्टोंसे मनमें कोई विकार उत्पन्न नहीं हो सकता, वह इन्द्र नागेन्द्रके द्वारा वन्दनीय योगियोंकी क्षमा कहलाती है ॥४५॥ क्षमारूपी अमृतको पीकर उन योगियोंका मन सैकड़ों उपसर्गोंसे तथा

क्षमैव धन्या सा योगिनां ध्यानवेदिनाम् । यया प्रशाम्यते शीघ्रं क्रोधाग्निः धर्मदाहकः ॥४७॥ क्रोधिनो हि मुनेर्भक्तिं धर्मज्ञोपि करोति न । समणेर्दन्दशूकस्य प्रतीतिं कोपि याति न ॥४८॥ क्रोधश्चेत्किं सुयोगेन ध्यानेन किं प्रयोजनम् । उपवासेन किं साध्यं वा दीक्षाग्रहणेन किम् ॥४९॥ क्रोधिनो न विचारोस्ति हिताहितप्रदर्शकः । यस्मात्क्रोधी नरस्तीव्रं शीघ्रं पापं करोति हि ॥५०॥ क्रोधिनो न विजानन्ति देवं स्वगुरुमागमम् । क्रोधी किं न हि मात्सर्यं करोति तान्प्रति स्वयम् ॥५१॥ ब्रूते किन्न नरः क्रोधी निन्दितं कटुकं वचः । गुरूणामपि निर्लज्जः क्रोधः किं किं करोति न ॥५२॥ वधबन्धादयः सर्वे सहसा यान्ति दुर्गुणाः । क्रोधात्किन्न प्रजायेत ताडनं मारणादिकम् ॥५३॥ धर्मस्थितस्य कोपीह क्रोधेन यदि निन्दनम् । करोति घोरपापं सः बुद्धिहीनोऽविचारकः ॥५४॥ तस्मात्क्रोधः सदा त्याज्यो भव्येन धर्मवेदिना । क्रोधाद्भवेच्च संसारः क्षमया लभ्यते शिवम् ॥५५॥ क्षमा दानं क्षमा धर्मः क्षमा वृत्तं क्षमा तपः । क्षमा हि

---

सैकड़ों परिषहरूपी योद्धाओंसे कभी विकारको प्राप्त नहीं होता है ॥४६॥ ध्यानको जाननेवाले योगियोंकी एक क्षमा ही धन्य है, जिससे कि धर्मको जला देने वाली क्रोधरूपी अग्नि शीघ्र ही शांत हो जाती है ॥४७॥ धर्मात्मा पुरुष भी क्रोधी मुनिकी भक्ति कभी नहीं करता है, सो ठीक ही है, क्योंकि यदि सर्प मणिसहित हो तो भी भला उसका कौन विश्वास करता है ? ॥४८॥ यदि क्रोध है तो फिर योग धारण करनेसे वा ध्यान करनेसे क्या प्रयोजन है ? अथवा उपवास करने और दीक्षा ग्रहण करने से ही क्या प्रयोजन है ? ॥४९॥ क्रोध करनेवालेको हित अहित दिखलानेवाला कोई विचार नहीं रहता, क्योंकि क्रोधी मनुष्य बड़ी शीघ्रतासे तीव्र पाप किया करता है ॥५०॥ क्रोधी मनुष्य देव, शास्त्र और गुरुको भी नहीं मानता और उनके साथ सदा ईर्ष्या किया करता है ॥५१॥ क्रोधी मनुष्य गुरुओंके लिये भी निर्लज्ज होकर निन्दनीय और कड़वे वचन कहा करता है, सो ठीक ही है; क्रोधी मनुष्य क्या क्या नहीं करता है ? ॥५२॥ इस क्रोधसे वध-बंधन, ताडन-मारन आदि सब दुर्गुण बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं सो भी ठीक ही है क्रोधसे क्या क्या नहीं होता है ? ॥५३॥ जो पुरुष क्रोध करके धर्मात्मा पुरुषोंकी निंदा करता है, वह बुद्धिहीन है, विचार रहित है और सदा घोर पाप करता रहता है ॥५४॥ इसलिये धर्मको जाननेवाले भव्य जीवोंको क्रोधका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि क्रोधसे संसार होता है और क्षमासे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥५५॥ इस संसारमें क्षमा

मोक्षमार्गोत्र क्षमा शान्तिः क्षमा सुखम् ॥५६॥ संसारे नाट्यरूपेऽस्मिन्नानायोनिसमाकुले। नृपो भूत्वा च विष्ठायां कृमिः स्यात्तत्क्व मानता ॥५७॥ दर्शनं स्यान्मलैजुष्टं धर्मः स्याच्च तिरोहितः। अविनयो हि पूज्यानां मानेन भुवने ध्रुवम् ॥५८॥ मानिनो विमुखाः सर्वे भवन्ति मित्रबांधवाः। मानिनं गुणयुक्तं वा सन्मानयति कोपि न ॥५९॥ गुणागारे गुरौ पूज्ये धत्तेऽवज्ञां स्वमानतः। स हीनतामवाप्नोति भवगर्ते पुनः पुनः ॥६०॥ धर्मस्थितस्य मानेन यश्चवज्ञां करोति यः। स्वधर्मस्यैव सोऽवज्ञां हा करोति हि मूढधीः ॥६१॥ प्राणकण्ठगतेनापि मानेन त्वं कदापि वा। धार्मिकाणामवज्ञां हि मा कार्षीः धर्मघातिकाम् ॥६२॥ धार्मिकाणां च यो मानी हीनं मत्वा करोति वा। अवज्ञामपमानं स धर्मं वेत्ति न तत्त्वतः ॥६३॥ जैनधर्मानभिज्ञोऽसौ वाऽविवेकेन वंचितः। संमज्जति भवाब्धौ स चिरं पापी कुकर्मणा ॥६४॥

---

ही धर्म है, क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही चारित्र है, क्षमा ही तप है, क्षमा ही मोक्षमार्ग है, क्षमा ही शांति है और क्षमा ही सुख है ॥५६॥ अनेक योनियोंसे भरे हुए इस नाटकशालारूप संसारमें यह जीव राजा होता है और फिर विष्ठामें जाकर कीड़ा होता है। फिर भला इस जीवका अभिमान कैसे रह सकता है? ॥५७॥ इस संसारमें मान करनेसे सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है, धर्म छिप जाता है और पूज्य पुरुषोंका अविनय होता है ॥५८॥ अभिमानी पुरुषसे मित्र बांधव आदि सब लोग विमुख हो जाते हैं, यदि अभिमानी गुणी हो तो भी उसका कोई संमान नहीं करता ॥५९॥ अभिमानी पुरुष गुणोंके निधि अपने पूज्य गुरुकी भी अवज्ञा करता है। तथा इस संसाररूपी गढ़ेमें बार बार नीचताको प्राप्त होता है ॥६०॥ जो अभिमानी पुरुष अपने अभिमानके कारण किसी धर्मात्माकी अवज्ञा करता है, दुःख है कि वह मूर्ख अपने धर्मकी ही निन्दा करता है ॥६१॥ इसलिये हे आत्मन्! तू कंठगत प्राण होनेपर भी धर्मात्मा पुरुषोंकी अवज्ञा कभी मत कर। क्योंकि धर्मात्माओंकी निंदा करना धर्मको घात करनेवाला है ॥६२॥ जो अभिमानी पुरुष धर्मात्माओंको हीन समझकर उनकी अवज्ञा वा अपमान करता है, वह वास्तवमें धर्मको नहीं समझता ॥६३॥ वह पापी पुरुष या तो जैनधर्मसे अनभिज्ञ है, या अविवेक पूर्ण है। अभिमानी पुरुष अपने कुकर्मोंके द्वारा इस संसार-रूपी समुद्रमें अवश्य डूबता है ॥६४॥ इस अभिमानसे पितासे द्वेष करता है, अभिमानसे धर्मकी निंदा करता

मानात्तु पितरं द्वेष्टि मानाद्धर्मं च निन्दति । मानात्करोति पापं स दुःखदं न्यायवर्जितम् ॥६५॥ मानेन नरकं याति रावण इव मानवः । मानं हि चापदां स्थानं भण्डकलहकर्मणाम् ॥६६॥ मानं दुर्गतिदातारं धर्मविध्वंसकं तथा । मूढो जनो विधत्तेऽत्र विवेकविकलोऽथवा ॥६७॥ तुंगं मानाद्रिमारुह्य विवेकविकलो नरः । करोति धर्मनाशाय पूज्यापूज्यव्यतिक्रमम् ॥६८। मानेन नश्यते शीघ्रं विवेको हितरूपकः । विवेके च गते किं स्याद्ध्यानं शर्मविधायकम् ॥६९॥ ज्ञानेत्रमपाकृत्य पुरस्कृत्याविवेककम् । धर्मध्वंसं करोत्यात्मा मानेन नष्टचेतनः ॥७०॥ यः स्वमानं पुरस्कृत्य विधत्ते कर्म निन्दितम् । स्वयं पतति भूगर्भे पातयति परानपि ॥७१॥ तस्मान्मानं त्यजेद्धीमान् मार्दवं धारयेत्सुधीः । वात्सल्यभावनोपेतो धर्मं कुर्याच्च तत्त्ववित् ॥७२॥ मार्दवेन गुणाः सर्वे मानेन सन्ति दुर्गुणाः । मार्दवेन शिवप्राप्तिः मानेन स्याच्च दुर्गतिः ॥७३॥ मार्दवं सुखमूलं हि वात्सल्यगुणकारकम् । ध्यानं जपस्तपस्तेन शीघ्रं सिद्ध्यति मोक्षदम् ॥७४॥ मोक्षो हि लभ्यते येन

---

है और अभिमानसे ही न्यायरहित दुःख देनेवाले पापोंको करता है ॥६५॥ यह मनुष्य अभिमानके कारण रावणके समान नरकमें जाता है, तथा यह अभिमान अनेक आपत्तियोंका स्थान है और भंड वचन तथा कलह आदि कार्योंका स्थान है ॥६६॥ दुर्गतिको देनेवाले और धर्मको नाश करनेवाले इस अभिमानको विवेकरहित मूर्ख लोग ही धारण करते हैं ॥६७॥ विवेकरहित यह मनुष्य मानरूपी ऊँचे पर्वतपर चढ़कर धर्मका नाश करनेके लिये पूज्य और अपूज्य पुरुषोंका व्यतिक्रम करता है ॥६८॥ इस अभिमानसे हित करनेवाला विवेक शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तथा विवेकके नष्ट हो जानेपर कल्याण उत्पन्न करनेवाला ध्यान भला कैसे हो सकता है ? ॥६९॥ जिसकी ज्ञानरूप चेतना नष्ट हो गई है, ऐसा आत्मा अपने अभिमानके कारण ज्ञानरूपी नेत्रको हटाकर और अविवेकको सामने रखकर धर्मका नाश कर डालता है ॥७०॥ जो पुरुष अपने अभिमानको सामने रखकर निंदनीय कर्म करता है, वह नरकरूप पृथ्वीके गढ़में स्वयं गिरता है और दूसरोंको भी डालता है ॥७१॥ इसलिये तत्त्वोंको जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषोंको वात्सल्य-भाव धारणकर अभिमानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और मार्दवधर्म धारण करना चाहिये ॥७२॥ इस मार्दव धर्मसे समस्त गुण प्राप्त होते हैं, और अभिमानसे सब दुर्गुण प्राप्त होते हैं। मार्दवधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और अभिमानसे दुर्गति प्राप्त होती है ॥७३॥ यह मार्दवधर्म सुख देनेवाला है और वात्सल्य गुणको प्रगट करनेवाला है। इस मार्दव धर्मसे ही मोक्ष देनेवाला ध्यान, जप और

भवाब्धिश्च सुतीर्यते । क्षीयन्ते येन कर्माणि मार्दवं तत्समाश्रय ॥७५॥

निकृतिः सर्वभूतानां निंद्या चारित्रघातिका। दीपिका सर्वपापानां धर्मरत्नविलुंठिका ॥७६॥ मायासमः न शल्योस्ति परस्परविभेदकः। येन पिता स्वपुत्रं हि हन्ति निकृतिवञ्चितः ॥७७॥ निकृत्या जायतेऽकीर्तिर्विश्वासोऽपि पलायते। धर्मोऽपि नश्यते शीघ्रं परत्र दुर्गतिर्भवेत् ॥७८॥ मायया छाद्यमानं हि पापं ते भवति स्फुटम्। आत्मन्नास्त्यत्र संदेहो मायिभ्योऽलमलं पुनः ॥७९॥ निराकरोति या शीघ्रं ज्ञानिनि प्रत्ययं नरे। बकवेषं समादाय हा हा वंचयते परान् ॥८०॥ निर्माल्यकूटकस्येव वृत्तिर्मायाविनाह्यहो। गृह्णात्येप हि निस्सारं कचरमिव किल्विषम् ॥८१॥ लोकद्वयहिते युक्तां दीक्षां धृत्वा जिनेशिनाम्। मायया वंचितास्ते नु सन्ति चारित्रघातकाः ॥८२॥ मायाविनां न विश्वासं धर्मज्ञोऽपि करोति हि।

---

तप शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं ॥७४॥ जिस मार्दवधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, जिस मार्दवधर्मसे यह मनुष्य संसार-रूपी समुद्रसे पार हो जाता है और जिस मार्दवधर्मसे समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं; ऐसे मार्दवधर्मको धारण कर ॥७५॥

समस्त जीवोंको ठगनेवाली माया अत्यन्त निंद्य है, चारित्रको नाश करनेवाली है, समस्त पापोंको प्रकाशित करनेके लिये दीपकके समान है और धर्मरत्नको चुरानेवाली है ॥७६॥ इस संसारमें मायाके समान परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाला अन्य कोई शल्य नहीं है। इस मायासे ठगा हुआ पिता अपने पुत्रको भी मार डालता है ॥७७॥ इस ठगीके कारण अपकीर्ति होती है, विश्वास नष्ट हो जाता है, धर्म नष्ट हो जाता है और परलोकमें दुर्गति होती है ॥७८॥ हे आत्मन्! यद्यपि तू अपने पापोंको मायासे ढकना चाहता है, तथापि वे पाप बिना किसी संदेहके प्रगट हो जाते हैं। इसलिये इस मायाको तू कभी मत कर ॥७९॥ यह माया ज्ञानी मनुष्यमें भी विश्वास हटा देती है। दुःख है कि मायाचारी मनुष्य बगलाके भेषको धारणकर दूसरोंको ठगता है ॥८०॥ आश्चर्य है कि मायाचारी पुरुषोंकी वृत्ति निर्माल्य कूटके समान निःसार और पापरूप पदार्थोंको ग्रहण करनेवाली होती है ॥८१॥ जो दोनों लोकोंका हित चाहते हुए और जैनेश्वरी दीक्षा धारण करते हुए भी मायाचारी करते हैं, उनको अवश्य ही चारित्रको घात करनेवाला समझना चाहिये ॥८२॥ धर्मात्मा पुरुष भी मायाचारियोंका कभी विश्वास नहीं करते और माता पिता आदि भी कभी

मातृपित्रादयस्तेऽपि विश्वसन्ति कदापि न ॥८३॥ मायाविनां न वा क्वापि ध्यानं वृत्तं च भावतः । जनानां वंचनायैवं धृतं वेषं हि मायया ॥८४॥ तावदेव हि साम्राज्यं मायिनां हि धरातले । यावन्न प्रकटीभूता माया तेषां हि दैवतः ॥८५॥ मायाशल्यं धुनोत्येव सम्यग्दर्शनमुत्तमम् । मोक्षमार्गं निहंत्येव चार्गलेव निकेतनम् ॥८६॥ मायाविनामिदं चित्तं काठिन्यं लभते परम् । यत्र धर्मांकुरो नैव प्ररोहति कदापि वा ॥८७॥ तस्मान्मायां परित्यज्य भज चार्जवमुत्तमम् । येन दर्शनशुद्धिः स्याद्भावशुद्धिश्च जायते ॥८८॥ निःशल्यं च करोत्येवार्जवं हृदयमन्दिरम् । शुद्धिस्तेनैव वृत्तानां स्यात्कर्मास्रवरोधिका ॥८९॥ आर्जवेन हि शोभन्ते तपोजपव्रतादयः । अतिक्रूराणि पापानि नश्यन्ति चार्जवेन वा ॥९०॥ आर्जवेन शिवप्राप्तिः आर्जवेन भवक्षयः । आर्जवेन परं ध्यानमार्जवेन सुखं निजम्॥९१॥

सर्वेषामेव पापानां लोभोऽस्ति नु पितामहः । लोभेनैकेन वीरेण पापानि विजितानि च ॥९२॥ लोभानलेन

---

उसका विश्वास नहीं करते ॥८३॥ मायाचारी पुरुषोंको भावपूर्वक न तो ध्यान हो सकता है और न चारित्र धारण हो सकता है । ऐसे लोग सब लोगोंको ठगनेके लिये ही मायापूर्वक भेप धारण करते हैं ॥८४॥ इस पृथ्वीमण्डलपर मायाचारियोंका साम्राज्य तभी तक रह सकता है, जबतक कि दैवयोगसे उनकी मायाचारिता प्रगट नहीं हो जाती ॥८५॥ यह मायाशल्य उत्तम सम्यग्दर्शनको नष्ट कर देता है और घरको बेड़ेके समान मोक्षमार्गको बंद कर देता है ॥८६॥ मायाचारियोंका हृदय अत्यन्त कठिन हो जाता है और इसीलिये फिर उसमें धर्मरूपी अंकुर कभी उत्पन्न नहीं होने पाता ॥८७॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू इस मायाचारिताको छोड़कर उत्तम आर्जव धर्म धारण कर, जिससे कि तेरा सम्यग्दर्शन शुद्ध हो जाय और तेरे भाव शुद्ध हो जावें ॥८८॥ यह आर्जवधर्म हृदयरूपी मंदिरको शल्यरहित कर देता है और इसी आर्जवधर्मसे कर्मोंके आस्रवको रोकनेवाली चारित्रकी शुद्धि होती है ॥८९॥ तप, जप और व्रतादिक सब आर्जवधर्मसे ही शोभायमान होते हैं और इसी संसारका आर्जवधर्मसे क्रूरसे क्रूर पाप नष्ट हो जाते हैं ॥९०॥ इस आर्जव धर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसी आर्जव धर्मसे भवका नाश होता है, इसी आर्जवधर्मसे उत्कृष्ट ध्यान होता है और इसी आर्जवधर्मसे आत्माका सुख प्राप्त होता है ॥९१॥

यह लोभ समस्त पापोंका बाबा है । इस लोभरूप एक योद्धासे ही सब पाप हार गये हैं ॥९२॥ जो लोभरूपी अग्निसे जल गया है, उसे विषयादिकोंमें भी जला हुआ समझो । ऐसा पुरुष सैकड़ों

दग्धो यः स दग्धो विषयादिषु । नोपायशतकैः सोऽपि न क्वापि शान्तिमश्नुते ॥९३॥ कषाये दुर्धरो लोभः परेऽकिंचित्करा मताः । यदि लोभो जितः शौचादन्ये सर्वे जिताः स्वयम् ॥९४॥ लोभात्पुत्रं पिता हन्ति नारी हन्ति पतीश्वरम् । भ्राता सहोदरं हन्ति शिष्यो हंति गुरुं तथा ॥९५॥ लोभाच्च कलहो नित्यं जायते हि दिनं दिनम् । लोभान्मित्रमरित्वं हि जायते च स्वभावतः ॥९६॥ लोभाच्च प्रविशत्यग्नौ लोभान्मज्जति सागरे । लोभाच्च दुर्गतिं याति पापं कृत्वा पुनः पुनः ॥९७॥ पुत्रमित्रकलत्राणां गृहद्रव्यादिसम्पदाम् । येन मोहो जितस्तेन कर्माणि विजितानि च ॥९८॥ सुत्यक्तसर्वसंगस्य साधोर्दिगम्बरस्य च । अत्यन्तं निस्पृहस्यापि लोभश्चेद्दीक्षया हलम् ॥९९॥ देहादपि विरक्तानां जातरूपसुधारिणाम् । अपि लोभो धनादीनां पुनः पंके हि पातनम् ॥१००॥ परमं निस्पृहाः शान्ता निरीहा गतवाञ्छकाः । त्यक्ताशाः स्वात्मलीनास्ते यतीशा मुक्तिगामिनः ॥१०१॥ तस्माल्लोभं परित्यज्य विषयाणामशेषतः । आत्मन् त्वं स्वात्मलीनः स्याः

---

उपायोंसे भी कहीं शांत नहीं हो सकता ॥९३॥ समस्त कषायोंमें यह लोभ ही दुर्धर है । बाकी सब कषाय अकिंचित्कर हैं । यदि शौचसे लोभको जीत लिया तो समस्त कषायोंको जीता हुआ ही समझो ॥९४॥ इस लोभके कारण पिता पुत्रको मार डालता है, स्त्री पतिदेवको मार डालती है भाई भाईको मार डालता है और शिष्य गुरुको मार डालता है ॥९५॥ इस लोभके कारण प्रतिदिन सदा कलह बनी रहती है और इस लोभसे मित्र भी स्वभावसे ही शत्रु हो जाता है ॥९६॥ लोभसे ही यह जीव अग्निमें जल जाता है, लोभसे ही समुद्रमें डूब जाता है और लोभसे ही बार बार पापोंको करता हुआ दुर्गतिको प्राप्त होता है ॥९७॥ जिस पुरुषने पुत्र, मित्र, स्त्री, घर और धन आदि संपदाओंके मोहको जीत लिया है; उसने समस्त कर्मोंको जीत लिया ऐसा समझो ॥९८॥ जिसने समस्त परिग्रहोंका त्याग कर दिया है, दिगम्बर अवस्था धारण कर ली है और जो परम निस्पृह है; यदि ऐसे साधुको लोभ विद्यमान हो तो फिर उसको दीक्षा लेनेसे क्या लाभ है ? ॥९९॥ जो साधु शरीरसे भी विरक्त हैं और दिगम्बर अवस्था धारण करते हैं; यदि वे धनादिकका लोभ करें तो फिर उनका कीचड़में ही पड़ना समझो ॥१००॥ जो साधु परम निःस्पृह हैं, शांत हैं, इच्छारहित हैं, आशारहित हैं और आत्मामें लीन हैं; ऐसे साधु ही मोक्षमार्गमें गमन करनेवाले समझे जाते जाते हैं ॥१०१॥ इसलिये हे आत्मन् ! तू विषयोंके समस्त लोभोंका त्यागकर, शांत और परम निस्पृह होकर

शान्तः परमनिस्पृहः ॥१०२॥ सम्पाद्य शौचधर्मं हि कृत्वा भावं सुनिर्मलम् । धृत्वा हि स्वात्मनो ध्यानं लोभं तु सहसा जय ॥१०३॥ शौचान्मोक्षो भवो लोभात् शौचात्पुण्यं परादघम् । शौचात्कर्मजयो नित्यं लोभात्कर्मास्रवो महान् ॥१०४॥ इत्थं कषायवेगेन क्रोधमानादिना तथा । जीवः करोति संसारे जन्म मृत्युं पुनः पुनः ॥१०५॥ रागद्वेषं कषायं च क्रुन्मायामानलोभकम् । जित्वात्मन् त्वं परां शान्तिं संलभस्व सुबोधतः ॥१०६॥ इति विषयकषायं मोहभावं विजित्य त्यजतु कटुककोपं मानमायां च लोभम् ॥ धरतु परमशुद्धिं शुद्धभावं च कृत्वा चरतु च निजचित्ते वीतरागं सुधर्मम् ॥१०७॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे कषायविजयप्ररूपणो नाम द्वादशोधिकारः ।

---

अपने आत्मामें लीन हो ॥१०२॥ हे आत्मन् ! तू निर्मल भावोंको धारण करता हुआ शौचधर्मको धारण कर तथा अपने आत्माका ध्यानकर सरल रीतिसे लोभको जीत ॥१०३॥ शौचधर्मसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, लोभसे संसार बढ़ता है, शौचधर्मसे पुण्य बढ़ता है, लोभसे पाप बढ़ता है, शौचसे कर्मोंकी निर्जरा होती है और लोभसे कर्मोंका प्रबल आस्रव होता है ॥१०४॥ इस प्रकार क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंके वेगसे यह जीव इस संसारमें बार बार जन्म-मरण करता रहता है ॥१०५॥ हे आत्मन् ! तू क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषायोंको तथा रागद्वेषको जीतकर अपने शुद्ध सम्यग्ज्ञानके द्वारा सर्वोत्कृष्ट शांतिको प्राप्त हो ॥१०६॥ इस प्रकार विषय कषायोंको तथा मोहभावको जीतकर क्रोध, मान, माया और लोभरूप चारों कड़वे कषायोंका त्यागकर देना चाहिये । तथा अपने निर्मल भावको धारणकर परम शुद्धि धारण करनी चाहिये और अपने हृदयमें वीतरागरूप श्रेष्ठ धर्मको पालन करना चाहिये ॥१०७॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें कषायोंके जीतनेको वर्णन करनेवाला यह बारहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# त्रयोदशोऽधिकारः ।



रागद्वेपविजेतारं साम्यामृतनिधीश्वरम् । वासुपूज्यं जिनं वन्दे सुरैः पूज्यं महेश्वरम् ॥१॥ रागद्वेपौ महानिंद्यौ संसारस्य निबन्धनौ । सर्वासां च विपत्तीनां मतौ तौ मूलकारणे ॥२॥ रागद्वेपौ महाक्रूरौ ग्रहौ च दुःखदौ मतौ । याभ्यां जीवाः प्रपीड्यन्ते यंत्रे संसारचक्रके ॥३॥ मोहवशादयं जीवो रज्यति परिकुप्यति । रागद्वेपौ समासाद्य नानानर्थं करोत्यलम् । ॥४॥ रागद्वेपौ हि संसारे मोहबीजौ मतौ जिनैः । याभ्यां ममत्वमासाद्य चात्मन् त्वं ग्रहलायसे ॥५॥ मोहनिन्द्रां गतोऽसि त्वमात्मन् गाढतमामिमाम् । रागद्वेषविलुण्ठाभ्यां पीड्यमानश्चिरं भृशम् ॥६॥ जन्ममृत्युलताचक्रं रागद्वेपेन कर्मणा । स्वमूर्धनि समुद्धृत्य भवे भ्राम्यसि मत्तवत् ॥७॥ पातयित्वा महामोहज्वालायां त्वां निरन्तरम् । भस्मीभूतं प्रकुर्वन्ति

---

जो राग-द्वेपको जीतनेवाले हैं, समतारूपी अमृतके निधीश्वर हैं, जो देवोंके द्वारा पूज्य हैं और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर हैं; ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेव वासुपूज्यको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ ये राग और द्वेप महानिंद्य हैं, संसारके कारण हैं और समस्त विपत्तियोंके मूल कारण हैं ॥२॥ ये राग और द्वेप महाःदुख देनेवाले क्रूर ग्रह हैं और इन्हींके कारण ये जीव संसारचक्ररूपीमें यंत्रमें सदा पेले जाते हैं ॥३॥ मोहनीय कर्मके उदयसे यह जीव राग और द्वेप करता है तथा राग-द्वेपके कारण यह जीव अनेक अनर्थ उत्पन्न करता रहता है ॥४॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवने राग-द्वेप दोनोंको संसारका मुख्य बीज बतलाया है। इन्हीं राग-द्वेपके कारण ममत्व करता हुआ यह जीव पागलसा हो जाता है ॥५॥ हे आत्मन्! राग-द्वेपरूपी चोरोंके द्वारा चिरकालसे महादुःखी हुआ तू मोहरूपी गाढ़ निद्राको प्राप्त हो रहा है ॥६॥ हे आत्मन्! तू राग-द्वेपरूपी कार्योंके कारण जन्ममरणरूपी लताचक्रको मस्तकपर धारणकर मत्तके समान इस संसारमें परि-

रागद्वेषादिशत्रवः ॥८॥ रागः स्याद्यत्र तत्रैव द्वेषोऽपि सुतरां भवेत्। यस्मादेको हि रागोऽस्ति शत्रुर्धर्मविलुंठकः ॥९॥ हा हा चात्मन्नवस्था ते चेदृशी भविता कथम्। यया रागं समुत्पाद्य त्वं परान् हंसि मुह्यसि ॥१०॥ वध्यते कर्मरागेण रागेणैव च संसृतिः। जन्ममृत्युभयक्लेशानां रागो मूलकारणम् ॥११॥ हा हा रागेण जीवोऽयं श्वभ्रे गच्छति दुःखदे। पर्यटति च संसारे जन्ममृत्युभयात्मके ॥१२॥ हन्ति प्राणिगणं शश्वदन्यायं विदधाति च। घोरं पापं करोत्यात्मा रागेणैवातिविह्वलः ॥१३॥ संसारकारणं रागो विरागो मोक्षकारणम्। रागेण कर्मबन्धः स्याद्विरागेण विमोक्षणम् ॥१४॥ दयासत्यक्षमाब्रह्मसंयमादिकसद्गुणाः। रागेणैव पलायन्ते दुर्गुणा यान्ति सत्वरम् ॥१५॥ मोहचूर्णं करे धृत्वा रागो जीवान् प्रमूर्च्छयन्। वेगात् पातयति श्वभ्रेऽनन्तदुःखनिदानके ॥१६॥ जीवः कर्माणि बध्नाति रागद्वेषेण सन्ततम्। रागद्वेषौ प्रकुर्वाते चित्तभ्रान्तिमनात्मके ॥१७॥ यावतोंऽशाश्च रागस्य वर्तन्ते ते हृदि स्फुटम्। तावन्तः कर्मबन्धानां संबन्धास्ते

---

भ्रमण कर रहा है ॥७॥ ये राग-द्वेषरूपी शत्रु तुझे महामोहरूपी अग्निमें डालकर सदा भस्म करते रहते हैं ॥८॥ जहांपर राग होता है, वहांपर द्वेष अपने ही आप हो जाता है। इसलिये कहना चाहिये कि धर्मको नाश करनेवाला यह एक राग ही परम शत्रु है ॥९॥ हा हा, हे आत्मन्! तेरी यह अवस्था कैसे हो गई? जिससे कि तू राग-द्वेष उत्पन्नकर अन्य जीवोंकी हिंसा करता है और उसमें मोहित होता है ॥१०॥ इस रागसे ही कर्मोंका बन्ध होता है रागसे ही संसारकी वृद्धि होती है और जन्म, मरण, भय आदि क्लेशोंका मूल कारण यह राग ही है ॥११॥ हा! हा!! रागके ही कारण यह जीव महादुःख देनेवाले नरकमें जाता है और रागके ही कारण जन्म, मरण और भयसे भरे हुए इस संसारमें परिभ्रमण करता रहता है ॥१२॥ रागके ही कारण विह्वल हुआ यह जीव अनेक प्राणियोंका घात करता है, सदा अन्याय करता रहता है और सदा घोर पाप करता रहता है ॥१३॥ यह राग संसारका कारण है और वैराग्य मोक्षका कारण है। रागसे कर्मोंका बंध होता है और वैराग्यसे कर्मोंका नाश होता है ॥१४॥ दया, सत्य, क्षमा, ब्रह्मचर्य और संयम आदि जितने श्रेष्ठ गुण हैं; वे सब रागसे ही भग जाते हैं और इनके विपरीत सब दुर्गुण शीघ्र ही आ जाते हैं ॥१५॥ यह राग मोहरूपी चूर्णको हाथपर रखकर अनेक जीवोंको मूर्च्छित करता हुआ अनन्त दुःख देनेवाले नरकमें बहुत शीघ्र पटक देता है ॥१६॥ यह जीव राग-द्वेषसे ही सदा कर्मोंका बंध करता रहता है। ये राग-द्वेष दोनों ही आत्मासे भिन्न

निरन्तरम् ॥१८॥ रागद्वेषौ च यावत्ते मनाक् चित्ते सुतिष्ठतः। तावदात्मन्न शान्तिं त्वं लभसे गतकल्मषाम् ॥१९॥ क्षीणरागं गतद्वेषमात्मन् स्यात्ते मनो यदि। ततो विलोक्यते शीघ्रं परं ज्योतिर्निजात्मनः ॥२०॥ यत्र रागो न तत्रैव रत्नत्रयमकंटकम्। निर्विकल्पं महाध्यानं स्यादनन्तसुखात्मकम् ॥२१॥ रागादिपंकनिर्लेपं चित्तं स्यात्ते विशुद्धकम्। तदा तेऽभीष्टसम्पत्तिः सुतरां स्यान्न चान्यथा ॥२२॥ आनन्दं परमानन्दं दुःखातीतं च शाश्वतम्। रागहीनेन चित्तेन स्वयं त्वं समवाप्स्यसि ॥२३॥ साम्यं त्वं भज रे आत्मन्! सर्वभूतकदम्बके। आत्मनः सदृशं पश्य जीवमात्रं सुभावतः ॥२४॥ द्वेषं कश्चित्तु मा कुर्याः कश्चिद्रागञ्च मा भज। मा गा द्वेषिषु खेदं त्वं हर्षं मा भज बन्धुषु ॥२५॥ मित्रे शत्रौ सुखे

परपदार्थोंमें अपने हृदयको परिभ्रमण कराते रहते हैं ॥१७॥ हे आत्मन्! तेरे हृदयमें रागके जितने अंश हैं, उतने ही कर्मबन्धका संबन्ध तुझे निरंतर होता रहेगा ॥१८॥ जबतक तेरे हृदयमें थोड़ेसे भी रागद्वेष रहेंगे, तबतक हे आत्मन्! समस्त दोषोंसे रहित शांति तुझे कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥१९॥ हे आत्मन्! यदि तेरा मन सर्वथा राग-द्वेषसे रहित हो जाय तो तुझे अपने आत्माकी उत्कृष्ट ज्योति शीघ्र ही दिखाई देने लगे ॥२०॥ जहांपर रागका अभाव होता है, वहींपर बिना किसी विघ्न-बाधाके रत्नत्रयकी प्राप्ति हो जाती है और वहींपर अनन्त सुखको देनेवाला निर्विकल्पक महाध्यान प्राप्त हो जाता है ॥२१॥ हे आत्मन्! यदि तेरा हृदय राग-द्वेषरूपी कीचड़से रहित होकर अत्यन्त विशुद्ध हो जाय तो तुझे तेरी अनंत चतुष्टयरूपी अभीष्ट संपत्ति अपने ही आप प्राप्त हो जाय। वह अनन्त चतुष्टयरूपी संपत्ति बिना राग-द्वेषके अभावके अन्य उपायोंसे कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥२२॥ हे आत्मन्! यदि तेरा हृदय रागरहित हो जाय तो समस्त दुःखोंसे रहित, सदा रहनेवाले परमानन्दरूप आनंदको तू स्वयं प्राप्त हो जायगा ॥२३॥ हे आत्मन्! तू समस्त जीवोंमें समता भाव धारण कर और अपने निर्मल परिणामोंसे समस्त जीवोंको अपने आत्माके समान देख ॥२४॥ हे आत्मन्! तू किसीसे भी द्वेष मत कर वा किसीसे भी राग मत कर, तथा द्वेष करनेवालेसे कभी खेद मत कर और राग करनेवाले बंधुओंमें कभी राग मत कर वा प्रसन्न मत हो ॥२५॥ हे आत्मन्! तू शत्रुमें, मित्रमें, सुखमें, दुःखमें, लाभमें, हानिमें, हित तथा अहितमें अर्थात् सबमें समता भाव धारण कर और मोहसे

दुःखे लाभालाभे हिताहिते। साम्यं त्वं भज रे आत्मन् मोहान्मा कुरु विक्रियाम् ॥२६॥ पूजां कुर्वंति भक्तेऽस्मिन् द्वेषं कुर्वत्यरावपि। मुनेः यस्य समं चित्तं लभते स परं पदम् ॥२७॥ रम्यारम्यपदार्थेषु भोग्याभोग्येषु वस्तुषु। समभावो हि येषां ते योगिनो मोक्षगामिनः ॥२८॥ कश्चिद्बन्धुर्न ते आत्मन् शत्रुर्नास्तीह तेऽथवा। रागद्वेषौ परित्यज्य भज साम्यसुधारसम् ॥२९॥ पवनाच्चंचलं चित्तं स्वस्थं याति दिवानिशम्। साम्यशृङ्खलया बद्धं तस्मात्साम्यमुपास्यताम् ॥३०॥ मनो विकारतां क्वापि तेषां न याति संततम्। रम्यारम्यपदार्थेषु येषां साम्यं समस्ति वा ॥३१॥ साम्यमेव हि सत्यं स्यादात्मधर्मः सुखावहः। येन क्लेशभयद्वन्द्वादयो नश्यन्ति ते ध्रुवम् ॥३२॥ साम्यपीयूषधाराभिर्वद्धवैराः परस्परम्। शाम्यन्ति पापिनो द्वेषतापाज्जीवाः स्वतः स्वयम् ॥३३॥ द्वेषतापाच्च दग्धं ते क्लेशितं मत्सरेण यत्। व्यथितं हीर्षया चित्तं शाम्यति साम्यधारया ॥३४॥ साम्यसुधारसं चन्द्रं तं लब्ध्वातीवदुर्लभम्। आह्लादयन्ति हर्षन्ति मैत्रीं यान्ति च

---

अपने आत्मामें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न मत कर ॥२६॥ जो मुनि अपनी पूजा करनेवाले भक्त पुरुषमें और अपनेसे द्वेष करनेवाले वा अपना वध करनेवाले शत्रुमें अपने हृदयको समान रखता है, दोनोंको समान समझता है, वह मुनि परम मोक्ष पदको अवश्य प्राप्त होता है ॥२७॥ जिन मुनियोंके परिणाम इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमें वा भोग्य और अभोग्य पदार्थोंमें समताको धारण करते हैं, सबको समान समझते हैं; वे मुनि मोक्षको अवश्य प्राप्त करते हैं ॥२८॥ हे आत्मन्! इस संसारमें न तो कोई तेरा बन्धु है और न कोई तेरा शत्रु है। इसलिये तू राग-द्वेषको छोड़कर समतारूपी अमृतरसका पान कर ॥२९॥ यह मन वायुसे भी अधिक चंचल है, यदि इसको समतारूपी सांकलसे बांध दिया जायगा तो यह रात-दिन एक आत्मामें ही निश्चल हो जायगा; इसलिये हे आत्मन्! तू समता भावोंकी ही उपासना कर, उन्हींको धारण कर ॥३०॥ जो मुनि समता भाव धारण करते हैं, उनका मन इष्ट वा अनिष्ट पदार्थोंमें कभी भी विकार अवस्थाको नहीं धारण कर सकता ॥३१॥ हे आत्मन्! यह समता परिणाम ही सुख देनेवाला यथार्थ आत्म धर्म है, इसीसे क्लेश भय आदि समस्त उपद्रव अपने आप नष्ट हो जाते हैं ॥३२॥ जो पापी जीव द्वेषरूपी संतापके कारण परस्पर वैर धारण करते हैं, वे भी समतारूपी अमृतकी धारासे अपने आप शांत हो जाते हैं ॥३३॥ जो तेरा यह हृदय द्वेष और संतापसे दग्ध हो रहा है, मत्सरतासे दुःखी हो रहा है और ईर्षासे व्यथित हो रहा है; वह तेरा हृदय समतारूपी अमृतकी धारासे ही

जन्तवः ॥३५॥ साम्येनैकेन ते सर्वे प्रेमकोपादयोऽखिलाः। पलायन्तेऽतिवेगेन दोषा दुष्टा हि योगिनाम् ॥३६॥ तावदेव हि वैरं ते चित्ते क्रीडति लीलया। यावन्न साम्यभूपोऽसौ चित्ते तेऽत्र विराजते ॥३७॥ तावद्विकल्पसंकल्पश्चित्ते ते जाग्रति स्वयम्। यावत्साम्यमहानादः कर्मभेत्ता न गर्जति ॥३८॥ तावदेव भयं चित्तेऽनिष्टवस्तुसमागमात्। यावद् द्वेषहरः साम्यः सुखदाता न राजते ॥३९॥ तावदेव प्रियं वस्तु चित्ते चेष्टसमागमात्। यावद्रागहरः साम्यो मोहहन्ता न राजते ॥४०॥ तावच्च कर्मसंबंधो भवबंधनकारकः। बोधासिना द्विधा भावं साम्यधाता करोति न ॥४१॥ दुष्टकर्मास्रवस्तावत्ते नित्यं दुःखदोऽथवा। यावद्धि समता चित्ते न जागर्ति सुखप्रदा ॥४२॥ समताधिष्ठितं चित्तं शौचं धत्तेऽतिपावनम्। पापपंकं हि धौतं स्यात्स्वयमेव सुखी ततः ॥४३॥ मोहपंकं नितांतं ते ग्लपयति शिवाध्वनि। सद्यः प्रक्षालयात्मन् त्वं

---

शांत होगा ॥३४॥ यह समतारूपी अमृतका चन्द्रमा अत्यन्त दुर्लभ है, इसको पाकर ये प्राणी प्रसन्न होते हैं, हर्ष मनाते हैं और परस्पर मित्रता धारण करते हैं ॥३५॥ इस एक समता रससे ही योगियोंके प्रेम और क्रोधादिक समस्त दुष्ट दोष बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ॥३६॥ जबतक तेरे हृदयमें यह समतारूप राजा विराजमान नहीं होता, तभी तक यह वैर तेरे हृदयमें लीलापूर्वक क्रीड़ा कर रहा है ॥३७॥ ये संकल्प विकल्प तेरे हृदयमें तभी तक जाग रहे हैं, जबतक कि कर्मोंका नाश करनेवाला समतारूप महानाद गर्जना नहीं करता ॥३८॥ अनिष्ट वस्तुओंसे प्राप्त हुआ भय तेरे हृदयमें तभीतक रह सकता है, जबतक कि द्वेषको दूर करनेवाली और सुखको देनेवाली यह समता तेरे हृदयमें नहीं आती ॥३९॥ इष्ट पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ प्रेम तेरे हृदयमें तभीतक रह सकता है, जबतक कि रागको हरण करनेवाली और मोहको नाश करनेवाली समता तेरे हृदयमें शोभायमान नहीं होती ॥४०॥ संसारमें बंधन करनेवाला कर्मोंका सम्बन्ध तभीतक रहता है, जबतक कि समतारूपी विधाता अपने सम्यग्ज्ञानरूपी तलवारसे उसको टुकड़े टुकड़े नहीं कर डालता ॥४१॥ दुःख देनेवाला अनिष्ट कर्मोंका आस्रव तभी तक रहता है जब तक कि तेरे हृदयमें सुख देनेवाली समता फुरायमान नहीं होती ॥४२॥ समतासे भरा हुआ हृदय अत्यन्त पवित्र शौच धर्मको धारण करता है और उसका पापरूपी कीचड़ सब धुल जाता है तथा वह सदाके लिये सुखी हो जाता है ॥४३॥ यह मोहरूपी कीचड़ इस मोक्षमार्गमें तुझे अत्यन्त दुःख दे रही है। इसलिये हे आत्मन्! समतारूपी मेघधारासे तू इस कीचड़को शीघ्र

तत्साम्याम्बुदधारया ॥४४॥ साम्यामृतं पिबन् ज्ञानी भवरोगान्निवर्तते। सदामरपदं लब्ध्वा शिवो भवति चेतनः ॥४५॥ संसारदुःखतो मोक्तुमात्मानं त्वं यदीच्छसि। साम्यबोधं गृहाण त्वं स्वात्मनि शुद्धभावतः ॥४६॥ विरज्यात्मन् विरज्य त्वं हृषीकविषयादिषु। मुञ्च मुञ्च स्पृहां देहे भज साम्यामृतं सुधीः ॥४७॥ उन्मत्तमिव वा भाति चराचरमिदं जगत्। योगिनः पिबतः साम्यं सर्वाह्लादकरं परम् ॥४८॥ स मे प्रियः स मे वैरी तावदेवेति कल्पना। यावन्न साम्यराजासौ निर्विकल्पो विराजते ॥४९॥ असिप्रहारतो द्वेषाद्धर्षाद्वा पूजया मुनेः। यस्य विक्रियते नैव चित्तं साम्यं तदुच्यते ॥५०॥ साम्यतीर्थं समाराध्य योगी शीघ्रं भवाब्धितः। सहसा तीर्यते स्वस्थचित्तेन भयवर्जितः ॥५१॥ साम्यं देवोऽस्ति साम्यं हि तीर्थं परमपावनम्। साम्यमेव परो धर्मः संसाराब्धौ सुतारकः ॥५२॥ ध्यानं तत्किं जपः कोऽसौ योगः कोऽस्ति तपोऽत्र किम्।

---

ही धो डाल ॥४४॥ यह सम्यग्ज्ञानी आत्मा समतारूपी अमृतको पीकर संसाररूपी रोगसे निवृत्त हो जाता है और स्वर्गके सुखको भोगकर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥४५॥ हे आत्मन्! यदि तू अपने आत्माको संसारके दुःखोंसे छुड़ाना चाहता है तो अपने ही आत्मामें शुद्ध परिणामोंसे समतारूपी ज्ञानको धारण कर ॥४६॥ हे आत्मन्! तू इन इंद्रियोंके विषयोंका त्याग कर त्याग कर। हे बुद्धिमन्! तू शरीरसे भी स्पृहाका त्याग कर त्याग कर और समतारूपी अमृतको पी ॥४७॥ परम आनन्दको प्रगट करनेवाले इस उत्कृष्ट समतारूपी रसको पीनेवाले योगियोंको चर अचर यह समस्त संसार उन्मत्तके समान दिखाई पड़ता है ॥४८॥ वह मेरा प्रिय है और वह मेरा शत्रु है, यह कल्पना तभीतक रहती है जबतक कि निर्विकल्प-रूप समतारूपी राजा हृदयमें विराजमान नहीं होता ॥४९॥ द्वेषके कारण तलवारका घात करनेपर तथा हर्षसे पूजा करनेपर जिन मुनिके हृदयमें कभी विकार उत्पन्न नहीं होता, उसीको समता कहते हैं ॥५०॥ भयरहित जो योगी स्वस्थ चित्त होकर इस समतारूपी तीर्थकी आराधना करता है, वह शीघ्र ही इस संसाररूपी समुद्रसे तर जाता है ॥५१॥ यह समता ही परम देव है, समता ही परम पवित्र तीर्थ है, समता ही परम धर्म है और समता ही संसाररूपी समुद्रसे पार कर देनेवाली है ॥५२॥ वह ध्यान ही क्या है? वह जप ही क्या है? वह योग ही क्या है? और वह तप ही क्या है? कि जिससे मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको

येन शान्तिकरं साम्यं न लब्धं हि मुमुक्षुणा ॥५३॥ गृहं त्यक्त्वा व्रतं धृत्वा लात्वा दीक्षां जिनेशिनाम्। यदि साम्यं न लब्धं चेत्सर्वमेतन्निरर्थकम् ॥५४॥ पूजया निन्दया वापि यस्यास्ति समता हृदि। स योगी सोऽस्ति सद्ध्यानी ज्ञाता तत्त्वस्य सोऽत्र वा ॥५५॥ साम्यसोपानपंक्तिं तामारुह्य शुद्धभावतः। पुरा मोक्षगृहं प्राप्तास्तीर्थपाः विश्वभूतिदाः ॥५६॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन स्थिरचित्तेन चात्मनि। साम्यामृतं परानन्दं गृहाण तोषकं शुभम् ॥५७॥ साम्यामृतसुपानेन आनन्दो जायते महान्। भवक्लेशगतस्तापो नश्यते प्राप्यते शिवः ॥५८॥ विषयजनितरागद्वेषभावं विमुच्य परमसुखनिधानं साम्यपीयूषपानम्। कुरु कुरु अतिशीघ्रं दुर्लभं शुद्धभावात् भवति सहजसिद्धानन्दकन्दः सुधर्मः ॥ ५९ ॥

॥ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे साम्यप्ररूपणो नाम त्रयोदशोऽधिकारः ॥

——:※:——

शांति उत्पन्न करनेवाली समता प्राप्त न हो ॥५३॥ जिसने घरका त्यागकर, व्रतोंको धारणकर और जैनेश्वरी दीक्षा धारणकर यदि समता प्राप्त नहीं की तो फिर समझना चाहिये कि उसके त्याग, व्रत और दीक्षा सब व्यर्थ हैं ॥५४॥ जिस मुनिके हृदयमें पूजा वा निंदा—दोनोंसे समता बनी रहे, जो दोनोंमें समान परिणाम रक्खे; उसीको योगी, श्रेष्ठ ध्यानी और तत्त्वोंको जाननेवाला समझना चाहिये ॥५५॥ पहले समयमें समस्त विभूतियोंको देनेवाले तीर्थंकर लोग जो मोक्षमहलमें जाकर विराजमान हुए हैं, वे अपने शुद्ध परिणामोंसे समतारूपी सीढ़ियोंकी पंक्तिपर चढ़कर ही प्राप्त हुए हैं ॥५६॥ इसलिये अपने चित्तको स्थिर करके सब तरहके प्रयत्नकर परम आनन्दमय शुभ और परम तृप्ति करनेवाले समतारूपी अमृतको ग्रहण कर ॥५७॥ इस समतारूपी अमृतके पीनेसे महान् आनन्द उत्पन्न होता है, तथा संसारके क्लेशोंसे उत्पन्न हुआ संताप शीघ्र नष्ट हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥५८॥ हे आत्मन्! तू विषयोंसे उत्पन्न हुए राग-द्वेषको छोड़कर शुद्ध परिणामोंसे अत्यन्त दुर्लभ और परम सुखका निधान, ऐसे समतारूपी अमृतके पानको अत्यन्त शीघ्र कर। इसी समताके पानसे स्वाभाविक सिद्धस्वरूप आनन्दको देनेवाला श्रेष्ठ धर्म तुझे प्राप्त होगा ॥५९॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें समताको वर्णन करनेवाला यह तेरहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# चतुर्दशोऽधिकारः ।



ध्यानेन दुर्द्धरं कर्म हत्वाऽऽप्तं येन केवलम् । विमलं तमहमीशानं नमामि भावभक्तितः ॥१॥ तत्प्रशस्ताप्रशस्तन्तु ध्यानं हि द्विविधं मतम् । धर्मशुक्ले प्रशस्ते द्वे आर्तरौद्रेऽप्रशस्तके ॥२॥ धर्मशुक्ले हि मोक्षाय आर्तरौद्रे भवाय च । आर्तरौद्रं महानिंद्यमतिसन्तापदायकम् ॥३॥ विश्वक्लेशकरं नित्यं भयदं दुर्गतिप्रदम् । विश्वसौख्यकरं शान्तं निर्भयं शर्मकारकम् ॥४॥ संसारतारकं श्रेष्ठं धर्मं शुक्लं च ज्ञायताम् । आर्तरौद्रं परित्यक्त्वा धर्मं शुक्लं च चिन्तय ॥५॥ तत्रार्तध्यानमाख्यातं चित्तव्याकुलकारकम् । नानोद्रेककरं नित्यं चाक्षविषयवर्द्धकम् ॥६॥ इष्टानिष्टपदार्थानां संयोगज-

जिन्होंने अपने दुर्धर कर्मोंको नाशकर केवल ज्ञान प्राप्त किया है और सबके स्वामी हैं; ऐसे भगवान् विमलनाथको मैं भावभक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ॥१॥ वह ध्यान दो प्रकार है—एक प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त । उनमें भी धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दो प्रशस्त ध्यानके भेद हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो अप्रशस्त ध्यानके भेद हैं ॥२॥ धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्षके कारण हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान संसारके कारण हैं । आर्तध्यान और रौद्रध्यान अत्यन्त निंद्य हैं, अत्यन्त संताप उत्पन्न करनेवाले हैं, संसारभरको क्लेश उत्पन्न करनेवाले हैं, सदा भय उत्पन्न करनेवाले हैं और दुर्गतियोंको देनेवाले हैं । इसीप्रकार धर्मध्यान और शुक्लध्यान संसारभरको सुख देनेवाले हैं, शांत हैं, भयरहित हैं, कल्याण करनेवाले हैं, संसारसे पार कर देनेवाले हैं और सर्व श्रेष्ठ हैं । इसलिये आर्तध्यान और रौद्रध्यानका त्यागकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिंतवन करना चाहिये ॥३–५॥ उनमें भी आर्तध्यान चित्तको व्याकुल करनेवाला, अनेक प्रकारके उपद्रवोंको उत्पन्न करनेवाला है और इन्द्रियोंके विषयोंको बढ़ानेवाला है ॥६॥ यह आर्तध्यान चार

वियोगजम् । दुःखोद्भवं निदानं च वार्तध्यानं चतुर्विधम् ॥७॥ रत्यरतिकुभावेन मायाचारेण दुःखतः। मनोऽक्षविषयार्थं हि प्राणिनां क्रियते मुदा ॥८॥ विषयाऽऽभोगकांक्षाभिः परवस्तु च चिन्त्यते। आर्तध्यानं भवेदत्र संसारचक्रवर्द्धनम् ॥९॥ पुत्रमित्रकलत्रादिधनधान्येष्टसम्पदाम् । रम्याणां परवस्तूनां मनोक्षसुखदायिनाम् ॥१०॥ वियोगे हि कथं तेषां शीघ्रं स्याच्च समागमः। इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रेन च चिन्तनम् ॥११॥ इष्टवियोगजं चार्तध्यानं दुःखकरं मतम् । तस्मादार्तं परित्याज्यं मुक्तीच्छेन हितैषिणा ॥१२॥ सर्पशत्रुविषादीनां दुःखपीडाकरात्मनाम् । अवृष्टिराजचौराणां दारिद्रभूतशाकिनाम् ॥१३॥ संयोगे खलु मे तेषां कथं स्याच्च निवर्तनम् । इति चिन्तापरत्वेन अनिष्टयोगहानये ॥१४॥ तच्चिन्तनं हि चैकाग्रमनसा हि पुनः पुनः । अनिष्टयोगजं चार्तं दुर्गतेर्दायकं परम् ॥१५॥ रोगाच्छोकाद्भयात्क्लेशाद्धननाशाच्च

---

प्रकारका है—इष्ट पदार्थोंके वियोगसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान, अनिष्ट पदार्थोंके संयोगसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान, दुःखोंसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान और निदानसे उत्पन्न हुआ आर्तध्यान ॥७॥ यह आर्तध्यान रति और अरतिरूप अशुभ परिणामोंसे तथा मायाचारसे मन और इन्द्रियोंके विषयोंकी सिद्धिके लिये दुःखपूर्वक प्राणियोंके द्वारा किया जाता है ॥८॥ इस आर्तध्यानमें विषय और भोगोंकी इच्छासे पर वस्तुका चिंतवन किया जाता है, इसे ही संसाररूपी चक्रको बढ़ानेवाला आर्तध्यान कहते हैं ॥९॥ पुत्र, मित्र, स्त्री और धन-धान्य आदि जो जो इष्ट संपदाएं हैं, जो जो मन और इंद्रियोंको सुख देनेवाली मनोहर वस्तु हैं; उनका वियोग होनेपर शीघ्र ही उनका समागम कैसे हो ? इस प्रकारकी चिन्तासे जो एकाग्रचित्त होकर चिंतवन करना है, उसको इष्ट-वियोगज आर्तध्यान कहते हैं, यह आर्तध्यान महादुःख देनेवाला है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले और आत्माका हित चाहनेवाले भव्य जीवोंको इस आर्तध्यानका अवश्य त्याग कर देना चाहिये ॥१०—१२॥ दुःख और पीड़ा उत्पन्न करने वाले सर्प, शत्रु, विष, अनावृष्टि, राजा, चोर, दरिद्रता, भूत, पिशाच और शाकिनी आदि अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होनेपर उनका नाश कब होगा ? इस प्रकारकी चिन्तामें तत्पर होकर उस अनिष्टको दूर करनेके लिये एकाग्र मनसे वार वार चिंतवन करना अनिष्टसंयोगज नामका दूसरा आर्तध्यान कहलाता है; यह आर्तध्यान भी महाअनिष्ट दुर्गतियोंको देनेवाला है ॥१३—१५॥ किसी रोगसे, शोकसे, भयसे, क्लेशसे, धनके नाशसे, शत्रुसे, राज्यसे, भाई वा स्त्रीसे, अग्निमें पड़नेसे अथवा और किसी तरहसे अनेक

शत्रुतः । राज्याद्भ्रातृकलत्रादेः वह्नेः पातात्तथान्यथा ॥१६॥ जायते च महापीडा नानादुःखप्रदात्र सा । निरासार्थं हि तत्पीडां चैकाग्रेन च चिन्तनम् ॥१७॥ तत्पीडाजनकं ध्यानमार्तं दुःखकरं मतम् । तस्मादार्तं सदा त्याज्यं मुक्तीच्छेन हितैषिणा ॥१८॥ देवदेवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रचक्रवर्तिनाम् । गेहिकं ह्यक्षजं सौख्यं पदं वा लोकपूजितम् ॥१९॥ लोकेऽत्र परलोके वा सुन्दरस्याभिकांक्षणम् । तपःफलेन वृत्तस्य फलेन स्याच्च मे यदि ॥२०॥ तदा मेऽभिमतं सिद्धमित्यादि चाभिकांक्षणम् । तदैकाग्रेण योगेन चिन्तनं सुखलिप्सया ॥२१॥ ध्यानं तच्च निदानाख्यमार्तं स्याज्जिनभाषितम् । अतिदुःखकरं निंद्यमार्त्तध्यानं जिनैर्मतम् ॥२२॥ एवं चतुर्विधं चार्तं दुर्ध्यानं बंधकारकम् । जन्ममृत्युजराकीर्णसंसारस्य च कारणम् ॥२३॥ आर्तध्यानेन जीवोऽयं संसाराब्धौ प्रमज्जति । करोति चास्रवं तीव्रं भवबन्धनकारकम् ॥२४॥ अनादिकालतो जीव आर्तध्यानं तनोति सः । भवो न मुच्यते तेन कर्मबन्धो न हीयते ॥२५॥ संक्लेशेन च चित्तेन महामोहोदयेन

---

प्रकारके दुःख देनेवाली महापीडा उत्पन्न हो, उस पीडाको दूर करनेके लिये एकाग्र मनसे बार बार चिंतवन करना पीडाजनक नामका तीसरा आर्तध्यान कहलाता है, यह आर्तध्यान भी महादुःख देनेवाला है, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले आत्महितैषी पुरुषोंको इस आर्तध्यानका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१६–१८॥ इस तपश्चरणके फलसे अथवा चारित्र धारण करनेके फलसे मुझे देव, इंद्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र और चक्रवर्तीके पद प्राप्त हों; इस लोकसंबंधी इंद्रियोंके सुख प्राप्त हों अथवा लोकपूजित पद प्राप्त हों; तभी मेरी इच्छा पूरी हो सकती है। अथवा संसारमें जो जो सुंदर पदार्थ हैं, उन सबकी मुझे प्राप्ति हो; इस प्रकारकी इच्छा करना और सुखकी इच्छासे एकाग्र चित्तसे बार बार चिंतवन करना निदान नामका चौथा आर्तध्यान कहलाता है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देवने कहा है। यह आर्तध्यान अत्यन्त दुःख देनेवाला है और निंद्य है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्र देवने बतलाया है ॥१९–२२॥ इस प्रकार चारों प्रकारका आर्तध्यान अशुभ ध्यान है, कर्मबंधको करनेवाला है और जन्म, मरण तथा बुढ़ापा आदिसे भरे हुए इस संसारका कारण है ॥२३॥ इस आर्तध्यानके कारण यह जीव इस संसाररूपी समुद्रमें डूब जाता है और संसारका बंधन करनेवाले तीव्र आस्रवको करता रहता है ॥२४॥ यह जीव अनादि कालसे आर्तध्यान करता आया है और इसीलिये इसका संसार नहीं छूटता तथा कर्मबंध कम नहीं होता ॥२५॥ संक्लेश परिणामोंसे अथवा तीव्र मोहकर्मके उदयसे इस संसारमें आर्तध्यान उत्पन्न

वा । आर्तध्यानं भवेदत्र तिर्यक् कुगतिकारणम् ॥२६॥ आर्तध्यानेन जीवस्य जायते दुर्गतिः परम् । श्वगर्दभादिपर्यायस्तेनैव जायते ननु ॥२७॥ आर्तध्यानेन संतप्तश्चिन्ताकुलितमानसः । जीवो हि क्रियते तेन सहमानोपि वेदनाम् ॥२८॥ आधिव्याधिसहस्राणामार्तध्यानं हि कारणम् । चित्तक्लेशकरं विद्धि तद्धि परमदुःखदम् ॥२९॥

नकुलसर्पमेषादीनां परस्परयोधनम् । कलहो भ्रातृबन्धूनां ताडनं मारणं तथा ॥३०॥ यज्ञे हि हिंसनं जीवानां वा हिंसादिकर्मणि । एवं हिंसाप्रयोगेषु ह्यानन्दो यस्य जायते ॥३१॥ रौद्रध्यानं भवेत्तस्य रौद्रभावेन कर्मणा । हिंसादिक्रूरकर्माश्रितं ध्यानं च भवेदिदम् ॥३२॥ जीवहिंसा हि लोकेस्मिन् निंद्या गर्ह्या च पापदा । क्रूरभावकरा सात्र ह्यानन्दाय च किं भवेत् ॥३३॥ धर्महेतुकृता हिंसा वानन्दाय कथं भवेत् । रौद्रध्यानी तथाप्यत्र हिंसायां सुखमश्नुते ॥३४॥ हिंसायास्तदुपायस्य कारणस्य च चिन्तनम् । एकाग्रमनसा तद्धि रौद्रध्यानं भवेदिह ॥३५॥

---

होता है । यह आर्तध्यान तिर्यञ्च् नामकी कुगतिका कारण है ॥२६॥ इस आर्तध्यानसे जीवकी दुर्गति होती है; और कुत्ता, गधा आदि नीच पशुओंकी पर्यायें इसी आर्तध्यान से मिलती हैं ॥२७॥ इस आर्तध्यानसे संतप्त होकर जिसका मन चिंतासे व्याकुल हो रहा है, ऐसा जीव तीव्र वेदनाको सहता हुआ महादुःखी होता है ॥२८॥ यह आर्तध्यान हजारों आधि-व्याधियोंका कारण है, चित्तको क्लेश उत्पन्न करनेवाला है और महादुःख उत्पन्न करनेवाला है, ऐसा तू समझ ॥२९॥

न्योला-सर्पका वा मेंढ़ोंका परस्पर युद्ध देखना, भाई भाइयोंका युद्ध कराना वा ताडन-मारण करना हिंसादिक कार्योंमें वा यज्ञ आदिमें होनेवाली हिंसामें आनन्द मानना वा और भी हिंसाके प्रयोगोंमें आनंद मानना रौद्रध्यान कहलाता है, यह रौद्रध्यान रौद्रभावोंसे वा रौद्रकर्मोंसे होता है । तथा यह ध्यान हिंसादिक क्रूर कर्मोंके आश्रयसे ही होता है ॥३०–३२॥ इस संसारमें यह जीवोंकी हिंसा निन्द्य है, गर्ह्य है, पाप उत्पन्न करनेवाली है और क्रूर भावोंको उत्पन्न करनेवाली है । ऐसी हिंसासे भला आनन्द कैसे हो सकता है ? ॥३३॥ फिर भला जो हिंसा धर्मके लिये की गई है, उसमें आनन्द कैसे हो सकता है ? तथापि रौद्रध्यान करनेवाला हिंसामें ही सुख मानता है ॥३४॥ एकाग्रमनसे हिंसा वा हिंसाके उपायोंके कारणोंका चिन्तवन करना इस संसारमें रौद्रध्यान कहलाता है ॥३५॥

असत्यं दुःखदं साक्षाद्धाऽविश्वासविधायकम् । परत्र दुःखदं चास्ति प्राणी तदपि मोहतः ॥३६॥ असत्ये मनुते हर्षमात्मसन्तोषकारकम् । इति मत्वाप्यसत्यस्य चिन्तनं कुरुते पुनः ॥३७॥ रौद्रध्यानं भवेत्तद्धि चित्तव्याकुलताकरम् । असत्यकारणानां वाऽसत्यस्यात्र विचिंतनम् ॥३८॥ रौद्रं तदपि वा ध्यानं दुर्गतेर्दायकं मतम् । तस्माद्रौद्रं सदा त्याज्यं हितेच्छुकमुमुक्षुणा ॥३९॥

स्तेयकर्म हि लोकेऽस्मिन् प्रत्यक्षं दुःखदं मतम् । परलोके हि दुर्गत्यां दुःखं भवति दारुणम् ॥४०॥ स्तेयकृत्येन चानन्दः कथं खलु भवेदिह । तथापि तत्र चानन्दं मन्यते पापधीः कुधीः ॥४१॥ इति संधार्य चित्तेऽस्मिन् स्तेयकर्मविचिन्तनम् । करोति रुद्रभावेन चैकाग्रमनसा पुनः ॥४२॥ रौद्रध्यानं भवेत्तद्धि चातिसंतापदायकम् । तस्माद्रौद्रं सदा त्याज्यं भव्यजीवेन सर्वथा ॥४३॥

अत्यन्तमूर्च्छया दुष्टचेष्टया हीनकर्मणा । दासीदासादिभृत्यानां मोहतः खलु संग्रहः ॥४४॥ गृहादिपरवस्तूनां कांक्षणं

---

असत्य वचन भी प्रत्यक्ष दुःख देनेवाले हैं, अविश्वासके कारण हैं और परलोकमें भी दुःख देनेवाले हैं, तथापि ये प्राणी मोहके कारण असत्यमें आनन्द मानते हैं और असत्यसे बहुत संतुष्ट होते हैं, इस प्रकारके असत्यके आनंद और संतोषको बार बार चिन्तवन करना दूसरा रौद्रध्यान कहलाता है। यह रौद्रध्यान भी चित्तको व्याकुल करनेवाला है। इसीप्रकार असत्यके कारणोंका वा असत्यका बार बार चिन्तवन करना भी दुर्गति देनेवाला रौद्रध्यान कहलाता है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले आत्महितैषी पुरुषोंको इस रौद्रध्यानका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये ॥३६–३९॥

चोरी करना भी इस संसारमें प्रत्यक्ष दुःख देनेवाला है और परलोकमें भी इससे दुर्गतियोंमें दारुण दुःख प्राप्त होता है। ऐसी चोरी करना भला आनन्द कैसे उत्पन्न कर सकता है? तथापि पापरूप दुष्ट बुद्धिको धारण करनेवाला उस चोरीमें भी आनंद मानता है। इसप्रकार आनंदपूर्वक एकाग्र मनसे और रौद्र परिणामोंसे जो इस चोरीका बार बार चिंतवन करना है, उसको रौद्रध्यान कहते हैं। यह तीसरा रौद्रध्यान भी अत्यन्त संताप उत्पन्न करनेवाला है। इसलिये भव्य जीवोंको इस रौद्रध्यानका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥४०–४३॥

अत्यन्त मूर्छासे वा दुष्ट चेष्टासे अथवा अशुभ कर्मके उदयसे और मोहसे दास दासी आदि सेवकोंका संग्रह करना अथवा रागभावसे घर आदि परवस्तुओंकी इच्छा करना, अथवा रागभावसे पुत्र, मित्र, स्त्री आदि

रागभावतः। पुत्रमित्रकलत्राणां रागभावेन रक्षणम् ॥४५॥ कामादिसेवनं गृद्धया प्रीत्यान्यस्त्रीनिगूहनम्। इत्यादिरागचेष्टानि जायन्ते क्रूरकर्मणा ॥४६॥ परवस्तु निजं मत्वा मोहव्याकुलचेतसा। चिन्तनं हि तदर्थं तद्रौद्रध्यानं भवेदिह ॥४७॥ पंचाक्षविषयाणां हि सेवनं रौद्रकर्मणा। चिन्तनं च तदर्थं हि पापं भीमं कुकर्म वा ॥४८॥ विषयानन्दनामेदं रौद्रध्यानं भवेदिह। एवं रौद्रं चतुर्भेदं पंचमान्तं हि तद्भवेत् ॥४९॥ रौद्रध्यानेन जीवोयं नरकादिकदुर्गतौ। चिरं च सहते दुःखं ताडनादिवधादिकम् ॥५०॥ रौद्रध्यानं सदा त्याज्यं भव्येन सुखलिप्सया। रौद्रं निंद्यं त्रिलोकेषु दुर्गतेर्दायकं परम् ॥५१॥ त्यजतु अपि सुधीमन्नार्तरौद्रं च निंद्यं नरकसदनमार्गं दुःखदं क्रूरकर्म। परमसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं धरतु इह सुधर्मध्यानमानन्दकन्दम् ॥५२॥ [ इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे आर्तरौद्रध्यानप्ररूपणो नाम चतुर्दशोधिकारः।

---

की रक्षा करना, गृद्धतापूर्वक कामसेवन करना, रागपूर्वक अन्य स्त्रियोंकी लालसा करना, इसप्रकार रागभावके उदयसे रागकी चेष्टाएं करना वा क्रूर कर्मोंके द्वारा रागरूप चेष्टाएं करना, अथवा मोहसे व्याकुल चित्त होकर परवस्तुओंको अपनी मानना और बार बार उनका चिंतवन करना विषयसंरक्षणानंद नामका चौथा रौद्रध्यान कहलाता है। रौद्र कर्मोंका तथा पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करना, तथा उसके लिये भयानक पापों वा कुकर्मोंका चिंतवन करना विषयानन्द नामका चौथा रौद्रध्यान कहलाता है। इसप्रकार रौद्रध्यानके चार भेद हैं और यह रौद्रध्यान पांचवे गुणस्थान तक होता है ॥४४—४९॥ रौद्रध्यानके कारण यह जीव नरकादिक दुर्गतिमें जाता है और वहांपर ताडन वध आदि अनेक दुःख चिरकालतक सहन करता रहता है ॥५०॥ इसलिये भव्य जीवोंको सुख चाहनेकी इच्छासे इस रौद्रध्यानका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह रौद्रध्यान तीनों लोकोंमें निंद्य है और बुरीसे बुरी दुर्गतियोंको देनेवाला है ॥५१॥ हे बुद्धिमन् भव्य जीवो! यह रौद्रध्यान अत्यन्त निंद्य है, नरकरूपी घरका मार्ग है, दुःख देनेवाला है और क्रूर कर्म है; इसलिये इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये और परम सुखका निधान, समस्त काल्याणोंका कारण और आनन्दस्वरूप-ऐसे सुधर्मध्यानको सदा धारण करना चाहिये ॥५२॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें आर्तध्यान और रौद्रध्यानको वर्णन करनेवाला यह चौदहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# पञ्चदशोऽधिकारः ।



ध्यानेन कर्मपंकं हि हत्वा यः प्राप केवलम् । सम्यक्क्रियोपदेष्टारं वन्देऽनन्तजिनेश्वरम् ॥१॥ क्रियया जायते सम्यग्ध्यानसिद्धिः सुखावहा । अनायासेन जीवानां ततः ध्यानक्रियोच्यते ॥२॥ आदौ स्थानं विधिः पश्चाल्लक्षणं तदनंतरम् । एवंक्रमविधानेन धर्मध्यानं तनोम्यहम् ॥३॥ शुद्धभूमौ शिलापट्टे दारुपट्टे च वाद्रिके । फलके वा तृणादौ च ह्यासनानि प्रकल्पयेत् ॥४॥ निःशंकिते वसत्यादौ निर्बाधे च निराकुले । सुरक्षिते मनोरम्ये निर्भये सुखशान्तिदे ॥५॥ ग्रामेऽरण्ये च चैत्यादौ विजने जन्तुवर्जिते । स्त्रीपंडपशुपाखण्डिचौरादिरहिते शुभे ॥६॥ द्वंद्ववादित्रसंगीतकोलाहल-

---

जिन्होंने अपने ध्यानके द्वारा कर्मरूपी कीचड़को नाशकर केवल ज्ञान प्राप्त किया है और जो श्रेष्ठ क्रियाओंके उपदेशको देनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अनन्तनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जीवोंको इस ध्यानकी क्रियासे ही सुख देनेवाली ध्यानकी सिद्धि बिना किसी विशेष परिश्रमके अच्छी तरह हो जाती है, इसीलिये मैं ध्यानकी क्रियाका वर्णन करता हूँ ॥२॥ पहले ध्यानका स्थान, फिर उसकी विधि और तदनंतर ध्यानका लक्षण—इस प्रकारके अनुक्रमसे मैं धर्मध्यानका स्वरूप कहूँगा ॥३॥ किसी शुद्ध भूमिमें, शिलापट्टपर, लकड़ीके टुकड़ेपर वा पर्वतपर, तख़तेपर, वा तृणोंपर बैठकर वा खड़े होकर ध्यान करनेवालेको अपने आसनकी कल्पना करनी चाहिये ॥४॥ जो वसतिका आदि स्थान शंकारहित है, बाधारहित है, आकुलतारहित है, सुरक्षित है, मनोहर है, निर्भय है, सुख और शांतिको देनेवाला है, मनुष्योंके उपद्रवोंसे रहित है, जंतुओंके उपद्रवोंसे रहित है; स्त्री, नपुंसक, पशु, पाखण्डी और चोरोंके उपद्रवोंसे रहित है, शुभ है और उपद्रव बाजे संगीत, आदिके कोलाहलोंसे रहित है; ऐसे किसी गांवमें, वनमें, घरमें वा चैत्यालय आदिमें चतुर पुरुषोंको ध्यान

विवर्जिते । इत्थंभूते गृहादौ वा ध्यानं कुर्याद्विचक्षणः ॥७॥ म्लेच्छाधमनरैर्जुष्टं दुष्टभूपालसेवितम् । महामिथ्यात्वसंयुक्तैर्जनैः संसेवितं तथा ॥८॥ बहूपद्रवसंव्याप्तैः क्रूरैः शौंडैश्च सेवितम् । भूतप्रेतपिशाचादिस्थानं बाधाकरं परम् ॥९॥ दुर्गादिदेवतास्थानं युद्धस्थानं भयानकम् । मलमूत्रादिसंव्याप्तं दुर्गंधं मलिनं तथा ॥१०॥ मनःक्षोभकरं स्थानं चाक्षव्यामोहकारकम् । आधिव्याधिकरं तीव्रं दुष्टवायुप्रसारितम् ॥११॥ दुर्भिक्षेण महारूक्षं हिंसास्थानं विनिंदितम् । एवं हि कुत्सितस्थानं ध्यानकाले त्यजेत्सुधीः ॥१२॥ दुःस्थानं वात्र मोक्तव्यं साधुना ध्यानमिच्छुना । यतो हि कुत्सितस्थाने ध्यानं न स्यात्कदापि वा ॥१३॥

निकृष्टे पंचमे काले भरतेऽप्यार्यदेशके । जातिवंशविशुद्धेऽपि नाद्यसंहननं भवेत् ॥१४॥ आद्यसंहननाभावे शुक्लध्यानमपीह न । परीषहोपसर्गादिजयोऽपि न भवेत्कदा ॥१५॥ तीव्रं तपोऽपि नैवात्र मनःशुद्धिर्न

---

करना चाहिये ॥५-७॥ जो स्थान म्लेच्छ और अधर्मी पुरुषोंसे भरा हुआ है, दुष्ट राजा जिसपर राज्य कर रहा है, तीव्र मिथ्यात्वसे भरे हुए लोग जहां निवास कर रहे हैं, जो स्थान अनेक उपद्रवोंसे भरा हुआ है, जहांपर क्रूर और मदोन्मत्त लोग निवास करते हैं, जो स्थान भूत प्रेत वा पिशाचोंका स्थान है, जो अनेक बाधाओंको उत्पन्न करनेवाला है, जो दुर्गा आदि देवियोंका स्थान है, जो युद्धका भयानक स्थान है, जो स्थान मलमूत्रसे भरा हुआ है, दुर्गंधसहित और मलिन है, जो स्थान मनको क्षोभित करनेवाला है, इन्द्रियोंको मोहित करनेवाला है, अनेक मानसिक वा शारीरिक रोगोंको उत्पन्न करनेवाला है, जहां की वायु दुष्ट है, जो स्थान तीव्र है, जो दुर्भिक्षिताके कारण महारूखा है, जो हिंसाका स्थान है, वा जो निंदनीय स्थान है; ऐसे ऐसे जितने कुत्सित स्थान हैं, वे सब ध्यानके समय बुद्धिमानोंको छोड़ देने चाहिये ॥८-१२॥ अथवा ध्यानकी इच्छा करनेवाले साधुओंको नीच आर अशुभ स्थानोंका अवश्य त्याग कर देना चाहिये । क्योंकि कुत्सित वा निंद्यनीय स्थानमें कभी ध्यान नहीं हो सकता ॥१३॥

इस निकृष्ट पञ्चम कालमें तथा भारतक्षेत्रके आर्य देशमें जाति और कुलसे विशुद्ध मनुष्योंके भी पहलेके उत्तम संहनन नहीं होते । तथा पहलेके उत्तम संहननोंके न होनेसे शुक्लध्यान भी नहीं होता तथा परिषहोंका जीतना और उपसर्गोंका जीतना भी कभी नहीं होता ॥१४-१५॥ हीन संहननोंके कारण तीव्र तपश्चरण भी नहीं होता और मनकी शुद्धि भी अच्छीतरह नहीं होती, तथा हीन संहनन धारण करनेवालोंका मन भी

सुन्दरम्। हीनसंहननादत्र मनः स्खलति संततम् ॥१६॥ तच्चित्तं न समायाति स्थैर्यरूपं हि कष्टतः। हीनसंहननाद्धर्मध्यानमात्रं भवेदिह ॥१७॥ एष कालप्रभावोऽयं दुर्निवारो मतो जिनैः। अत एवाधुना लोके मोक्षसिद्धिर्न जायते ॥१८॥ ऐदंयुगीनसाधूनां सम्यग्दर्शनशोभिनाम्। अत्यल्पवीर्ययुक्तानां ध्यानं स्यान्निरुपद्रवे ॥१९॥ ग्रामादौ पत्तने वापि चैत्यालयमनोहरे। सुरक्षिते भवेद्ध्यानं सर्वशंकाविवर्जिते ॥२०॥ सर्वासनं तथा सर्वस्थानं ध्यानस्य सिद्धये। भवति वज्रकायानां नाल्पवीर्यात्मनां मतम् ॥२१॥ वज्रकाया महाधीराः सर्वतो भयवर्जिताः। जिनकल्पसमापन्ना चरमांगाः सुकालतः ॥२२॥ सर्वस्थानं मतं तेषामासनं विविधं तथा। सर्वत्र सर्वभावेन स्वतंत्राः सिंहवृत्तयः ॥२३॥ तेषां जिनागमे नैव स्थानस्य वा नियंत्रणम्। उपसर्गैर्महाघोरैर्देवदानवकल्पितैः ॥२४॥ स्खलति न मनाक् चित्तमुपद्रवशतैरपि। येषां तेषां न वा स्थानं नियतं हि जिनागमे ॥२५॥ इन्द्रोऽपि च न शक्तोऽस्ति विभेत्तुं निश्चलं

---

सदा स्खलित होता रहता है ॥१६॥ हीन संहनन होनेके कारण यह चित्त बड़े कष्टसे भी स्थिर नहीं होता। इसलिये इस कालमें केवल धर्मध्यान ही हो सकता है ॥१७॥ यह कालका ही प्रभाव है। और भगवान जिनेन्द्र देवने इस कालको दुर्निवार बतलाया है, इसीलिये इस कालमें मोक्षकी सिद्धि नहीं होती है ॥१८॥ सम्यग्दर्शनसे सुशोभित होनेवाले इस युगके साधु बहुत ही अल्प शक्तिको धारण करनेवाले होते हैं, इसलिये इस कालमें उपद्रवरहित स्थानमें ही ध्यान हो सकता है ॥१९॥ जो गांव, नगर वा चैत्यालय मनोहर है, सुरक्षित है, और समस्त शंकाओंसे रहित है; ऐसे ही स्थानोंमें इस कालमें ध्यान हो सकता है ॥२०॥ जिनका शरीर वज्रवृषभ नाराचमय है, उनको सब आसनोंसे और समस्त स्थानोंमें ध्यानकी सिद्धि हो सकती है; परंतु अल्प शक्ति धारण करनेवालोंको नहीं ॥२१॥ वज्रमय शरीरको धारण करवाले महाधीर और वीर होते हैं, सब तरहसे भयरहित होते हैं, जिनकल्प लिंगको धारण करते हैं और श्रेष्ठ कालके अनुसार चरम शरीरको धारण करनेवाले होते हैं। ऐसे मुनियोंके लिये सब स्थान और अनेक प्रकारके आसन माने गये हैं। ऐसे मुनि सब स्थानोंमें और सब तरहके परिणामोंसे स्वतन्त्र होते हैं और सिंहवृत्तिको धारण करनेवाले निर्भय होते हैं ॥२२–२३॥ जैनशास्त्रोंमें ऐसे मुनियोंके लिये स्थानका नियन्त्रण कुछ नहीं है। जिनका हृदय देव-दानवोंके द्वारा किये हुए महाघोर उपसर्गों तथा सैकड़ों उपद्रवोंसे भी कभी स्खलित नहीं होता, उनके ध्यानके लिये

मनः । येषां तु योगिनां तेषां स्थानस्य का विचारणा ॥२६॥ तद्धैर्यं तन्महद्वीर्यं तत्स्थानं हि तदासनम् । पुरातनमुनीनां च वोपसर्गसहिष्णुता ॥२७॥ स्वप्नेऽपि तादृशं कर्तुं नो क्षमाः कलिकालजाः । मुनयो हीनवीर्यत्वाद्धीनसंहननात्तथा ॥२८॥ संवत्सरैकपर्यन्तं कायोत्सर्गं स्थिरासनम् । महामहोपवासेन साम्प्रतं कर्तुमक्षमाः ॥२९॥ उपसर्गं महाघोरं भयानकपरीषहाम् । अत एव सहन्ते न साम्प्रतं मुनयो वराः ॥३०॥ ऐदंयुगीनसाधूनां साम्प्रतं न समर्द्धयः । मनःपर्ययविज्ञानमत एव भवन्ति न ॥३१॥ अतो नैव महाविद्यास्तेषां सिद्धयन्ति साम्प्रतम् । स्वर्गदं च जगद्वन्द्यं धर्मध्यानं भवेदिह ॥३२॥ अधुना हीनकालेऽस्मिन् पुरातनसुकालवत् । मूलान् गुणांश्च ये सम्यक् चाष्टाविंशतिकान् शुभान् ॥३३॥ धारयन्ति सुभावेन धन्यास्ते पृथिवीतले । तेषां हि साहसं धन्यं धन्यस्तेषां पराक्रमः ॥३४॥ हीनसंहननत्वेऽपि तपः कुर्वन्ति दुर्द्धरम् । दीक्षामिमां सुकठिनां दुर्द्धरां जातरूपिकाम् ॥३५॥ धारयन्तो यतीशास्ते पुरातन इवाधुना । अशक्यं हि

---

जैनशास्त्रोंमें कोई स्थान नियत नहीं है । ऐसे मुनि चाहे जहां ध्यान कर सकते हैं ॥२४–२५॥ जिनके निश्चल मनको भेदन करनेके लिये इन्द्र भी समर्थ नहीं हो सकता, ऐसे योगियोंके लिये भला स्थानका क्या विचार करना चाहिये ? ॥२६॥ पहले मुनियोंका जो धैर्य है, जो महावीर्य है, जो स्थान है, जो आसन है और जो उपसर्ग सहन करनेकी शक्ति है; इस कलिकालके मुनियोंको स्वप्नमें भी कभी नहीं हो सकती; क्योंकि कलिकालके मुनि हीन संहननवाले और अल्प शक्तिको धारण करनेवाले होते हैं ॥२७–२८॥ अबके मुनि एक वर्ष पर्यन्त महामहोपवास धारणकर स्थिर आसनसे कायोत्सर्ग धारण करनेके लिये सर्वथा असमर्थ हैं ॥२९॥ इसीलिये इस कालके श्रेष्ठ मुनि भी महाघोर उपसर्गोंको तथा भयानक परिषहोंको कभी सहन नहीं कर सकते हैं ॥३०॥ इस युगके साधुओंको इस समय न तो बड़ी बड़ी ऋद्धियां होती हैं, न मनःपर्ययज्ञान होता है और न उनको इस समय महाविद्यायें सिद्ध होती हैं । इस कालमें स्वर्ग देनेवाला और जगद्वन्द्य ऐसा धर्मध्यान ही हो सकता है ॥३१—३२॥ इस हीन कालमें भी पहले कालके समान जो शुभ अट्ठाईस मूलगुणोंको श्रेष्ठ परिणामोंसे धारण करते हैं, वे ही मुनि इस पृथ्वीतल पर धन्य हैं । ऐसे मुनियोंका साहस भी धन्य है और उनका पराक्रम भी धन्य है ॥३३—३४॥ क्योंकि वे हीन संहनन होनेपर भी दुर्धर तपश्चरण करते हैं और वे मुनि पहले चौथे कालके मुनियोंके समान इस समयमें भी अत्यन्त कठिन नग्नरूप इस जैनेश्वरी दीक्षाको धारण करते हैं । वे मुनि न

सुशक्यं वा कुर्वन्तस्ते यतीश्वराः ॥३६॥ जगत्पूज्या जगद्वन्द्या धन्यास्ते नग्नरूपकाः । हीनसंहननत्वाच्च स्थानं तेषां सुरक्षितम् ॥३७॥ आसनं स्वानुकूलं हि ग्रामादौ च भवत्यलम् । शुद्धभूमौ शिलापट्टे दारुपट्टे च चाट्टिके ॥३८॥ तृणान्वये हि काष्ठे वा आसनानि प्रकल्पयेत् । समाधौ प्रासुके शुद्धे तृणे तृणमयेऽथवा ॥३९॥ आसनं शयनं तत्र कल्पयेत्साधुसत्तमः । पल्यङ्कमर्द्धपल्यङ्कपद्मवीरसुखासनम् ॥ ४० ॥ कायोत्सर्गं तथा वज्रबद्धपद्मासनं तथा । एवंविधान्यनेकानि ह्यासनानि जिनागमे ॥४१॥ येन येनासनेनैव स्थिरचित्तं प्रजायते । तत्तदेवासनं श्रेष्ठं विधेयं योगिभिः सदा ॥४२॥ सर्वासनेषु पर्यंकं कायोत्सर्गं विशेषतः । प्रशस्तमासनं ज्ञेयं चैदंयुगीनयोगिनाम् ॥४३॥ आसनस्य सदाभ्यासं कुर्यात्साधुर्निरन्तरम् । समाधौ चोपसर्गे च येन चित्तं स्थिरीभवेत् ॥४४॥ यदासनस्य नो स्थैर्यं किं ध्यानं तस्य वै भवेत् । स्थैर्यासनेन स योगी प्रयाति स्थिरचित्तताम् ॥४५॥ पुनः पुनः सदाभ्यासमासनस्य करोति यः । सर्वक्षेत्रे प्रसंगे सः धैर्यं धरति तत्त्वतः ॥४६॥ स्थानासनविधानानि सर्वाणि संचरेत्सुधीः । ध्यानसिद्धेर्निबंधानि शुद्धिरच

---

होने योग्य अशक्य कार्य को भी सरलताके साथ धारण कर रहे हैं ॥३५—३६॥ इसीलिये वे मुनि जगत्पूज्य जगद्वन्द्य हैं, नग्न अवस्थाको धारण करनेवाले हैं और इसीलिये धन्य हैं। परंतु हीन संहनन होनेके कारण उनका स्थान सुरक्षित ही होना चाहिये ॥३७॥ ऐसे मुनियोंका आसन किसी भी गांव आदिमें उनकी अनुकूलताके अनुसार होना चाहिये । शुद्ध भूमिमें, शिलापर, लकड़ीके तख्तेपर, तृण वा काठसे बने हुए आसनपर आसनकी कल्पना करनी चाहिये। समाधिमें भी प्रासुक शुद्ध तृणोंमें वा तृणोंके बने आसनोंमें उत्तम साधुओंको आसन लगाना चाहिये, अथवा शयन करना चाहिये । पर्यंकासन, अर्धपर्यंकासन, पद्मासन, वीरासन, सुखासन, कायोत्सर्ग, वज्रासन, बद्धासन, पद्मासन आदि अनेक प्रकारके आसन जिनागममें बतलाये गये हैं ॥३८—४१॥ जिस जिस आसनसे अपने चित्तकी स्थिरता हो वही वही श्रेष्ठ आसन योगियोंको धारण करना चाहिये ॥४२॥ इस युगके मुनियोंके लिये समस्त आसनोंमें विशेषकर पर्यंकासन अथवा कायोत्सर्ग आसन श्रेष्ठ आसन माना जाता है ॥४३॥ साधुओंको सदा आसनोंका अभ्यास करते रहना चाहिये। जिससे कि समाधि और उपसर्गके समय भी चित्त स्थिर बना रहे ॥४४॥ जिस मुनिका आसन ही स्थिर नहीं है, उसे भला ध्यान कैसे हो सकता है ? क्योंकि योगीका चित्त स्थिर आसनसे ही स्थिरताको प्राप्त हो सकता है ॥४५॥ जो योगी आसनोंका बार बार अभ्यास करता है, वह समस्त क्षेत्रोंमें और समस्त प्रसंगोंमें वास्तविक धैर्य धारण कर सकता है ॥४६॥ अनेक

विविधा शुभा ॥४७॥ शुद्धिं विना क्रियाः सर्वा विफलाः श्रममात्रकाः । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन शुद्धिः कार्या निरन्तरम् ॥४८॥ द्रव्यक्षेत्रादिकानां च शुद्धिं कृत्वा प्रयत्नतः । तथा भावविशुद्धिः स्याज्जिनाज्ञापालनं भवेत् ॥४९॥ बाह्याभ्यन्तरशुद्धिं च कृत्वा मंत्रजलादिना । सर्वसंगं च भावेन त्यक्त्वा ध्यानं समाचरेत् ॥५०॥ अन्तःशुद्धिस्तु भव्यानां ध्याने किल्बिषनाशिका । भावशुद्धिकरी चास्ति वात्मवीर्यप्रवर्द्धिका ॥५१॥ बाह्यशुद्धिस्तु सर्वत्र सर्वसिद्धिप्रदायिका । मूला हि सर्वसिद्धीनां चागमाज्ञाप्रमाणतः ॥५२॥ यदा यदा ह्यविक्षिप्तं मुनेश्चित्तं भवेत्तराम् । तदा तदा हि शुद्धिं तां प्रकुर्यात् शुद्धभावतः ॥५३॥ ततो मनोविशुद्ध्यर्थं कुर्वन्तु साधवोऽमलाम् । बाह्याभ्यन्तरशुद्धिं तां भावशुद्धिविधायिकाम् ॥५४॥ विजने वा जनाकीर्णे सुस्थिते दुःस्थितेऽथवा । समाधौ स्थिरचित्तेन ध्यानं कुर्वन्तु साधवः ॥५५॥ निद्रां तन्द्रां तथालस्यं प्रमादानादरं

---

प्रकारके स्थान और आसन तथा अनेक प्रकारकी शुभ शुद्धि, ये सब ध्यानकी सिद्धिके कारण हैं। बुद्धिमानोंको इन सबका अभ्यास करना चाहिये ॥४७॥ बिना शुद्धिके समस्त क्रियायें निष्फल तथा केवल परिश्रमरूप हैं, इसलिये साधुओंको अपने समस्त प्रयत्नोंसे निरंतर शुद्धि करते रहना चाहिये ॥४८॥ मुनियोंको प्रयत्नपूर्वक द्रव्य, क्षेत्र और काल आदिकी शुद्धि रखनी चाहिये, क्योंकि इनकी शुद्धिसे ही भावोंकी शुद्धि होती है और भगवान् जिनेंद्र देवकी आज्ञाका पालन होता है ॥४९॥ जलशुद्धि वा मंत्रशुद्धिसे बाह्य-आभ्यंतरकी शुद्धि करके तथा भावपूर्वक समस्त परिग्रहोंका त्याग करके ध्यान धारण करना चाहिये ॥५०॥ भव्य जीवोंके द्वारा ध्यानके समय की हुई अंतरंग शुद्धि पापोंका नाश करनेवाली है, भावोंको शुद्ध करनेवाली है और आत्माकी शक्तिको बढ़ानेवाली है ॥५१॥ तथा बाह्यशुद्धि सब जगह समस्त सिद्धियोंको करनेवाली है और आगमकी आज्ञाके अनुसार समस्त सिद्धियोंका मूल कारण हैं ॥५२॥ मुनियोंका हृदय जब जब निश्चल हो तब तब शुद्ध भावोंसे शुद्धि कर लेनी चाहिये ॥५३॥ इसलिये साधुओंको अपना मन शुद्ध करनेके लिये भावशुद्धिको उत्पन्न करनेवाली निर्मल बाह्य-आभ्यंतर शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये ॥५४॥ साधुलोगोंको निर्जन स्थानमें वा मनुष्योंसे भरे हुए स्थानमें, सुलभ वा कठिन आसनमें, समाधिके समय स्थिर चित्त होकर ध्यान करना चाहिये ॥५५॥ ध्यानके समय निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, अनादर, विस्मरण, भय, क्रोध और मान आदि सबका

तथा। भयविस्मरणक्रोधमानादीनि च संत्यजेत् ॥५६॥ शरीरकंपनं नेत्रपरिस्पंदं च जृम्भणम्। वेपथुं डोलनं हिक्कां प्रमादं छर्दनं तथा ॥५७॥ प्रलापकं च स्वापं च हास्यं नृत्यं च मत्तताम्। परिवादो विवादोऽथ भंडनं तर्जनं तथा ॥५८॥ अङ्गोपाङ्गादिसंकोचवर्द्धनं कामचिन्तनम्। सम्मोहनं च लिङ्गादिस्थूलीकरणकं तथा ॥५९॥ आर्तरौद्रकरीं चिन्तां रोषं शीलप्रभञ्जनम्। इत्यादिकक्रियां सर्वां ध्यानकाले विसर्जयेत् ॥६०॥ मनः संरुध्य संकल्पविकल्पादीनि संत्यजेत्। कौतुकादिकुचेष्टां च सर्वाशां वा त्यजेत्सुधीः ॥६१॥ निश्चलत्वं स्थिराभ्यासं शांतिचित्तप्रसन्नता। परीषहसहिष्णुत्वं स्थिरचित्तं निराकुलम् ॥६२॥ वैराग्यभावसम्पत्तिः विषयत्याग एव च। कषायानामभावो हि धैर्यं क्षान्त्यलम्बनम् ॥६३॥ इत्यादिकशुभा चेष्टा क्रिया कार्या मुमुक्षुभिः। ध्यानकाले हि सर्वेषां कर्मणां जयसिद्धये ॥६४॥ पूर्वाशाभिमुखस्तत्र चोत्तराभिमुखस्तथा। ध्यानकाले तदा ध्याता तिष्ठेत् सुस्थिरभावतः ॥६५॥ ईर्यापथं समुच्चार्य प्रति-

---

त्याग कर देना चाहिये ॥५६॥ शरीरको कम्पायमान करना, नेत्रोंको बार बार स्पंदन करना, जंभाई लेना, काँपना, हिलना, छींकना, प्रमाद, वमन, प्रलाप, निद्रा, हँसी, नृत्य, उन्मत्तता, वाद-विवाद, मंडन, तर्जन, अंग-उपांगोंका संकोच वा विस्तार करना, कामका चिन्तवन करना, मोहित होना, लिंगादिकका स्थूल करना, आर्तरौद्रको उत्पन्न करनेवाले चिंतवन, क्रोध और दुःशीलका चिंतवन आदि समस्त क्रियाएँ ध्यानके समय छोड़ देनी चाहिये ॥५७–६०॥ बुद्धिमान् मुनियोंको अपना मन रोककर सब तरहके संकल्प-विकल्पोंका त्यागकर देना चाहिये। तथा कौतुक, कुचेष्टा और सब प्रकारकी आशाओंका त्याग कर देना चाहिये ॥६१॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले साधुओंको समस्त कर्मोंको जीतनेके लिये ध्यानके समय निश्चल रहना चाहिये स्थिरताका अभ्यास करना चाहिये, चित्तको शांत और प्रसन्न रखना चाहिये, परिषहोंको सहन करना चाहिये, चित्तको निराकुल और स्थिर रखना चाहिये, वैराग्यभावनाकी संपत्ति धारण करनी चाहिये, विषयवासनाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, कषायोंका त्याग कर देना चाहिये तथा धैर्य और क्षमाको धारण करना चाहिये। ध्यान करते समय साधुओंको इन सब शुभ क्रियाओंको करना चाहिये ॥६२–६४॥ ध्यान करनेवाले साधुको ध्यानके समय स्थिर चित्त होकर पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर मुखकर बैठना चाहिये ॥६५॥ सबसे पहले ईर्यापथ-शुद्धिका पाठ पढ़ना चाहिये, प्रतिक्रमण पाठ पढ़ना चाहिये, दंडक पाठकी

क्रमणकं पठेत् । दण्डकपाठगाथां हि पठित्वा ध्यानमाचरेत् ॥६६॥ अपराजितमंत्रस्य गाथां ध्यानस्य सिद्धये । सकायोत्सर्गपूर्वं हि पठेत्स्वात्मविशुद्धये ॥६७॥ इत्यादिकशुभं कृत्यं कृत्वा च शुभभावतः । श्रीजिनाज्ञाप्रमाणेन पश्चाद्ध्यानं समाचरेत् ॥६८॥ इति विविधविधिं यः सत्क्रियासंश्रितं वा निजनिजशुभभावात् सर्वशुद्धिं विधाय । कुरु कुरु अतिशीघ्रं ध्यानकाले चिदात्मन् भवति तव सुधर्मं ध्यानयोग्यं मनोज्ञम् ॥६९॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे ध्यानक्रियाप्ररूपणो नाम पंचदशोऽधिकारः ।

---

गाथाएं पढ़नी चाहिये और फिर ध्यानका प्रारंभ करना चाहिये ॥६६॥ ध्यान करनेवाले साधुको अपने आत्माको विशुद्ध करनेके लिये और ध्यानकी सिद्धिके लिये अपराजित मंत्रकी गाथाको ( णमोकार मंत्रको ) कायोत्सर्गपूर्वक पढ़ना चाहिये ॥६७॥ इसप्रकार भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अनुसार शुभ परिणामोंसे पहले ऊपर लिखी सब क्रियाएं करनी चाहिये और फिर ध्यानका प्रारंभ करना चाहिये ॥६८॥ हे चिदात्मन् ! इसप्रकार अपने अपने शुभ भावोंसे सब प्रकारकी शुद्धि करके श्रेष्ठ क्रियाओंसे शोभायमान—ऐसी ऊपर लिखी अनेक प्रकारकी विधिको ध्यानके समय तू शीघ्र ही कर । इसीसे अत्यन्त मनोहर और ध्यानके योग्य श्रेष्ठ धर्म तुझे प्राप्त होगा ॥६९॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें ध्यानकी क्रियाओंका वर्णन करनेवाला पंद्रहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

---

# षोडशोऽधिकारः ।



कर्मचक्राणि यो ध्यानवज्रेण प्रविभिद्य च । परमात्मपदं प्राप वंदे धर्मं जिनेश्वरम् ॥१॥ सम्यग्दृष्टिः प्रसन्नात्मा सज्जातिः शुद्धवंशजः । कुलाचारयुतः शान्तो जिताक्षो वीतमत्सरः ॥२॥ संसारदेहनिर्विण्णः आत्मनो हितचिन्तकः । भवभीरुर्महाधीरो जिनाज्ञाप्रतिपालकः ॥३॥ तत्त्वश्रद्धानसंपन्नश्चरणाशक्तमानसः । निर्ममो निरहंकारो निर्व्यसनश्च साहसी ॥४॥ दयालुः शुद्धचेतष्कः कपायविपयातिगः । दुष्टचिन्तनहीनः स आर्तरौद्रपराङ्मुखः ॥५॥ व्यवहारजनीतिज्ञोऽभिज्ञश्च देशकालयोः । जातिमान्यः क्रियाभिज्ञो लोकाचारप्रवर्तकः ॥६॥ इत्यादिगुणसम्पन्नो ध्याता स्याच्च

---

जिन्होंने अपने ध्यानरूपी वज्रसे कर्मोंके समूहको भेदनकर परमात्मपद प्राप्त कर लिया है, ऐसे जिनेन्द्रदेव भगवान धर्मनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ आगे ध्याताका लक्षण कहते हैं—जो सम्यग्दृष्टि है, जिसका आत्मा निर्मल है, जो सज्जाति और शुद्ध वंशमें उत्पन्न हुआ है, जो कुलाचारको पालन करता है, अत्यंत शांत है, इंद्रियोंको जीतनेवाला है, ईर्ष्या-द्वेषसे रहित है, संसारशरीरसे विरक्त है, अपने आत्माके हितको चिंतवन करनेवाला है, संसारसे भयभीत है, महाधीरवीर है, भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करता है, जो तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करता है, जिसका मन चारित्रके पालन करनेमें लगा हुआ है, जो ममत्वरहित है, अहंकाररहित है, व्यसनरहित है, साहसी है, दयालु है, जिसका हृदय शुद्ध है, जो कपाय और विपयोंसे रहित है, जो दुष्ट चिंतवनसे रहित है, आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानसे पराङ्मुख है, जो व्यवहारसे उत्पन्न हुई नीतिको जाननेवाला है, जो देश और कालको जानता है, जो जातिमें मान्य है, क्रियाओंका जानकार है और लोकाचारकी प्रवृत्ति करनेवाला है । इसप्रकार जो अनेक गुणोंसे सुशोभित है

मुमुक्षुकः । श्राद्धोऽथवा मुनिर्ध्याता ध्यानी भवति तत्त्वतः ॥७॥ पतितो जातिहीनो वा शंकरो गोलकस्तथा । यो राज्यदंडितः क्रोधी मलिनाचारधारकः ॥८॥ ज्वरादिपीडितः क्षुद्रः नीचः मद्यादिसेवकः । अङ्गोपाङ्गेन हीनः सः ध्याता नैव प्रशस्यते ॥९॥ किं ध्यानं केन रूपेण कथं वा क्रियते हि तत् । अज्ञातलक्षणं वस्तु कर्तुं किं युज्यतेऽथवा ॥१०॥ ध्यानस्य लक्षणं ध्यानभेदो ध्यानफलं तथा । तत्सर्वं क्रमशो वक्ष्ये तस्मादात्महितेच्छया ॥११॥ ध्यानमेकाग्रचिन्ताया रोधनं सर्वयोगतः । समासेन हि तज्ज्ञेयं कर्मचक्रनिवारणम् ॥१२॥ एकं ध्येयं समालम्ब्य कायवाग्मनसापि वा । तत्रैकाग्रेन संलीनं ध्यानं तदिह कथ्यते ॥१३॥ एकार्थं हि समालंब्य मनसा मनुते हि तत् । अन्यत्सर्वं परावृत्य ध्यानं तदपि कथ्यते ॥१४॥ परालम्बननिर्मुक्तमात्मैवात्मनि चात्मना । आत्मानं निर्विकल्पं हि चैकाग्रेण

---

और मोक्षकी इच्छा करनेवाला है, उसको ध्यान करनेवाला कहते हैं। वह ध्यान करनेवाला ध्यानी श्रावक भी हो सकता है और मुनि भी हो सकता है ॥२–७॥ जो पतित है, जो जातिहीन है, जो जातिशंकर है, वा गोलक (विधवापुत्र) है, जो राजदंडित है, जो क्रोधी है, जो मलिन आचरणोंको धारण करनेवाला है, जो ज्वरादिक रोगोंसे पीड़ित है, जो क्षुद्र है, जो नीच है, जो मद्य, मांस वा शहदको सेवन करनेवाला है और जो अंगोपांगसे हीन है, ऐसा पुरुष ध्यान करनेका पात्र कभी नहीं हो सकता ॥८–९॥ ध्यान क्या है, वह किस प्रकार किया जाता है, अथवा कैसे किया जाता है, अथवा जिसका लक्षण ही मालूम नहीं है, वह ध्यान कैसे किया जा सकता है ? इसलिये ध्यानका लक्षण, ध्यानके भेद और ध्यानका फल आदि सब अपने आत्माके हितकी इच्छासे अनुक्रमसे कहता हूँ ॥१०–११॥ अन्य समस्त चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे किसी एक पदार्थका चिंतवन करना ध्यान है। यह संक्षेपसे ध्यानका लक्षण है, यही ध्यान कर्मोंके समूहको नाश करनेवाला है ॥१२॥ किसी एक पदार्थका अवलंबन लेकर मन, वचन, काय और एकाग्र मनसे लीन हो जाना ध्यान कहलाता है ॥१३॥ अथवा अन्य समस्त पदार्थोंका चिंतवन छोड़कर और किसी एक पदार्थका अवलंबन लेकर एकाग्र मनसे उसका चिंतवन करना ध्यान कहलाता है ॥ १४ ॥ अथवा किसी दूसरे पदार्थका अवलंबन सर्वथा छोड़कर, यह आत्मा मन, वचन, काय, और श्रेष्ठ परिणामोंसे एकाग्र चित्त होकर बिना किसी संकल्प-विकल्पके अपने ही आत्माके द्वारा

त्रियोगतः ॥१५॥ दार्ढ्येन यच्चिन्तयति निष्प्रकंपं सुभावतः । ध्यानं तत्कथ्यते देवैरर्हद्भिर्ध्यानपारगैः ॥१६॥ सर्वार्थेभ्यः समाकृष्यार्थ चिन्तां च चपलां पराम् । ध्येयवस्तुनि चैकाग्रनियतिर्ध्यानलक्षणम् ॥१७॥ भावश्रुतं समालम्ब्य वहिःशून्यो निजात्मनि । स्वात्मनश्चिन्तनं मुख्यं ध्यानं तदपि कथ्यते ॥१८॥ यश्चिन्तयति मुख्येन चैकमर्थं निजेच्छया । अशुभं वा शुभं ज्ञानात्तदेवं हि पुनः पुनः ॥१९॥ तद्विचारात्मकं ध्यानं योगिभिः कथितं परम् । शुभाशुभात्मकं तद्धि ध्येयभेदाद् द्विधा मतम् ॥२०॥ अन्तस्तत्त्वं समालम्ब्य चान्तरानन्ददायकम् । अन्यत्सर्वं निराकृत्य चैकाग्र्येन तदेव हि ॥२१॥ चिन्तनं मननं सम्यक् तन्मयत्वेन भावतः । आध्यात्मिकं भवेद्ध्यानं स्वात्मानन्दप्रदायकम् ॥२२॥ जिनविम्वं स्वचित्तेऽस्मिन् संस्थाप्य च स्ववेदनात् । एकाग्रमनसा तत्र चार्हद्गुणविचिन्तनम् ॥२३॥ शनैः शनैश्च तद्रूपं स्वात्मन्येव सुचिन्तयेत् । बहिःशून्यं च कृत्वा हि स्वात्मना तन्मयं भवेत् ॥२४॥ एवं हि निश्चलत्वं च कृत्वा तत्र सुचेतसा । ध्यानं तत्त्वा-

अपने ही आत्मामें अपने ही आत्माको दृढ़ताके साथ चिंतवन किया जाता है, उसको भी ध्यानके पारगामी भगवान अरहंतदेव ध्यान कहते हैं ॥१५–१६॥ इस चंचल चिंताको समस्त पदार्थोंसे हटाकर ध्येय वस्तुमें एकाग्रतापूर्वक लीन कर देना भी ध्यान कहलाता है । ॥१७॥ अथवा भाव श्रुतका अवलम्बन लेकर और वाह्य पदार्थोंमें शून्यसा होकर अपने आत्मामें अपने आत्माका चिंतवन करना भी मुख्य ध्यान कहलाता है ॥१८॥ जो अपनी इच्छासे अपने ज्ञानपूर्वक शुभ वा अशुभरूप किसी एक पदार्थको मुख्यतासे बार बार चिंतवन करता है, उसका वह चिंतवन भी ध्यान कहलाता है। शुभ पदार्थका चिंतवन करना शुभ ध्यान है और अशुभ पदार्थका चिंतवन अशुभ ध्यान है । इसप्रकार ध्येयके भेदसे भी ध्यानके दो भेद होते हैं, ऐसा योगियोंने कहा है ॥१९–२०॥ अथवा अन्तरात्माका अवलम्बन लेकर तथा अन्य सबका त्यागकर एकाग्रतासे उसका चिंतवन करना, अच्छीतरह मनन करना, तन्मय होकर उसका ध्यान करना, आध्यात्मिक ध्यान कहलाता है, यह ध्यान भी भावपूर्वक किया जाता है, तथा अपने मन और आत्मा दोनोंको आनन्द देनेवाला है ॥२१–२२॥ अथवा अपने हृदयमें अपने ज्ञानके द्वारा जिनविम्बको विराजमानकर एकाग्र मनसे भगवान् अरहंतदेवके गुणोंका चिंतवन करना भी ध्यान है। अथवा धीरे धीरे अपने आत्मामें भगवान् अरहंतदेवके रूपका चिंतवन करना, बाहरके समस्त विकल्पोंको छोड़कर अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें तन्मय हो जाना, अपने मनके द्वारा अपने

त्मरूपं हि वस्तुतत्त्वप्रकाशकम् ॥२५॥ कायेन मनसा वाचा वर्णमालंव्य चिन्तनम् । एकाग्रेन नियंत्रा वा ध्यानं तदपि कथ्यते ॥२६॥ ध्यानं चतुर्विधं ज्ञेयमार्तरौद्रादिभेदतः । धर्म्यशुक्ले शुभे ध्याने चार्त्तरौद्रेऽशुभे मते ॥२७॥ आर्तरौद्रं परित्यक्त्वा सम्यक्त्वेन मुमुक्षुकः । धर्मध्यानं समारुह्य स्वात्मानमपि साधयेत् ॥२८॥ येन ध्यानेन जीर्यन्ते कर्माणि च निरन्तरम् । सम्यक्त्वं वर्द्धते नित्यं शुद्धं भवति मानसम् ॥२९॥ येन ध्यानवलेनैव भवकोटिपरंपरा । शीघ्रं प्रक्षीयते नित्या यथा वज्रेण सानुमान् ॥३०॥ धर्मध्यानवलेनैव भव्याः दुःखपरंपराम् । प्रयासेन विना शीघ्रं नाशयन्ति न संशयः ॥३१॥ कामादिकविकाराणि कषायव्यसनानि च । धर्मध्यानवलेनैव शाम्यन्त्यत्र स्वभावतः ॥३२॥ धर्मध्यानवलेनैव परा शुद्धिः प्रजायते । भव्या यां प्राप्य शीघ्रं हि मोक्षमार्गं भजन्ति ते ॥३३॥ धर्मध्यानवलेनैव निर्वाणस्य समीपता । अनायासेन तां शीघ्रं लभन्ते भव्यकाः स्वयम् ॥३४॥ धर्मध्यानवलेनात्रावधिज्ञानं प्रपद्यते । भावश्रुतं समा-

---

आत्मामें निश्चल हो जाना, आत्मरूप ध्यान कहलाता है; यह ध्यान भी पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है ॥२३–२५॥ अथवा ध्यान करनेवालेके द्वारा मन, वचन और कायसे किसी वर्णका अलंवन कर एकाग्रतापूर्वक उसका चिंतवन करना भी ध्यान कहलाता है ॥२६॥ वह ध्यान आर्त रौद्र आदिके भेदसे चार प्रकारका है । धर्मध्यान और शुक्लध्यान शुभ ध्यान हैं तथा आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये अशुभ ध्यान हैं ॥२७॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषको आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका त्याग कर देना चाहिये और सम्यग्दर्शनपूर्वक धर्मध्यानको धारणकर अपने आत्माको सिद्ध कर लेना चाहिये ॥२८॥ इस ध्यानसे ही निरंतर कर्मोंकी निर्जरा होती रहती है, सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और मन सदा शुद्ध बना रहता है ॥२९॥ जिसप्रकार वज्रसे पर्वत चूर चूर हो जाता है, उसी प्रकार इस ध्यानके वलसे सदासे चली आई जन्म-मरणरूप संसारकी करोड़ों परंपराएं बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती हैं ॥३०॥ इस धर्मध्यानके वलसे भव्य जीव विना किसी प्रयत्नके अनेक दुःखोंकी परंपराको बहुत शीघ्र नष्ट कर देते हैं ॥३१॥ कामादिक विकार, कषाय और व्यसन आदि सव धर्मध्यानके वलसे अपने आप शांत हो जाते हैं ॥३२॥ इस धर्मध्यानके ही वलसे आत्माकी उत्कृष्ट शुद्धि होती है, जिस शुद्धिको पाकर यह आत्मा शीघ्र ही मोक्षमार्गको प्राप्त कर लेता है ॥३३॥ इस धर्मध्यानके वलसे ही मोक्षलक्ष्मी समीप आ जाती है और भव्य जीव उसको विना किसी परिश्रमके शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं ॥३४॥ इस धर्मध्यानके ही वलसे

प्नोति भव्योऽत्र सहजं शुभम् ॥३५॥ मनःपर्ययविज्ञानं समाप्नोति प्रसन्नधीः । धर्मध्यानबलेनैव केवलज्ञानसाधकम् ॥३६॥ शुक्लध्यानस्य सम्पत्तिर्जायते परमा शुभा । धर्मध्यानबलेनैव तद्ध्यानं परिगृह्यताम् ॥३७॥ शुद्धोपयोगभावस्य विभूतिः सुखदा शुभा । धर्मध्यानबलेनैव वर्द्धते हि निरन्तरम् ॥३८॥ इन्द्रनागेन्द्रदेवानामहमिन्द्रपदेशिनाम् । धर्मध्यानबलेनैव विभूतिः प्राप्यतेऽनिशम् ॥३९॥ चक्रवर्तिपदादीनां प्राप्तिः स्याद्धि सुखावहा । धर्मध्यानबलेनैव भव्यानां पुण्यसाधिका ॥४०॥ तद्ध्यानं द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरभेदतः । तुर्यात्सप्तमपर्यन्तं प्रोक्तं श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥४१॥ आभ्यन्तरं हि भव्यानां ध्यानं किल्बिषदायकम् । भावशुद्धकरं चास्ति चात्मवीर्यसुवर्द्धकम् ॥४२॥ देवपूजा गुरोः सेवा जपो धर्मोपसेवनम् । संयमधारणं चैव सर्वे ते साधका मताः ॥४३॥ वीतरागेण भावेन यदा किंचिद्विचिन्तनम् । धर्मध्यानं तदाख्यातं

---

भव्य जीवोंको अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है और शुभरूप भावश्रुत ज्ञान भी सहज रीतिसे प्राप्त हो जाता है ॥३५॥ इस धर्मध्यानके ही बलसे प्रसन्न बुद्धिको धारण करनेवाला भव्य जीव केवलज्ञानका साधक ऐसे मनःपर्यय ज्ञानको बहुत शीघ्र प्राप्त कर लेता है ॥३६॥ तथा इसी धर्मध्यानके बलसे परम शुभ ऐसी केवलज्ञानकी संपत्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिये भव्यजीवोंको यह धर्मध्यान अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥३७॥ सुख देनेवाली और शुभरूप जो शुद्धोपयोगरूप भावोंकी विभूति है, वह इस धर्मध्यानके ही बलसे निरंतर बढ़ती रहती है ॥३८॥ इस धर्मध्यानके ही बलसे इन्द्र-नागेन्द्र आदि देवोंकी विभूति प्राप्त होती है और अहमिन्द्र पदके स्वामी अहमिन्द्रोंकी विभूति भी इसी धर्मध्यानसे प्राप्त होती है ॥३९॥ महापुण्यको सिद्ध करनेवाली और अत्यन्त सुख देनेवाली चक्रवर्ती आदि पदोंकी प्राप्ति भी भव्य जीवोंको इस धर्मध्यानके ही बलसे होती है ॥४०॥ बाह्याभ्यन्तरके भेदसे उस धर्मध्यानके दो भेद हैं—तथा चौथे गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक यह धर्मध्यान होता है ॥४१॥ उसमें भी अभ्यन्तर धर्मध्यान भव्य जीवोंके समस्त पापोंको नाश करनेवाला है तथा भावोंको शुद्ध करनेवाला है और आत्माकी शक्तिको बढ़ानेवाला है ॥४२॥ देवपूजा करना, गुरुकी सेवा करना, जप करना, धर्मसेवन करना और संयम धारण करना आदि सब उस धर्मध्यानके साधक हैं ॥४३॥ समस्त पापोंको जीतनेवाले मुनिलोग अपने वीतराग भावोंसे जो कुछ चिन्तवन करते हैं,

मुनीनां च जितैनसाम् ॥४४॥ यथा यथा कषाया हि चीयन्ते क्रियया यया । तथा तथा भवेद्ध्यानमात्मरूपप्रकाशकम् ॥४५॥ यदा चिन्तापरत्वेन मोहभावो विलीयते । येन येन विचारेण तद्ध्यानं वात्र कथ्यते ॥४६॥ यथा यथा यतीशेऽस्मिन् वर्द्धते वीतरागता । स्वात्मनि स्थिरता पूर्वं रमते चित्तमात्मनः ॥४७॥ येन येन विचारेण क्रियया वात्र कर्मणि । तदेव ध्यानमाख्यातं वीतरागजिनेशिना ॥४८॥ जिनागमे हि चैवं तद्धर्मध्यानं निरूपितम् । सुखशान्तिसुसिद्ध्यर्थं भव्या ध्यायन्तु निर्मलम् ॥४९॥ चमत्कारकरं धर्मध्यानं ध्यायन्तु सर्वदा । भव्याः सर्वे प्रयत्नेन संसारदुःखभीरुकाः ॥५०॥ जगति तिमिरहंता सर्वकल्याणकर्ता सकलसुखविधाता सर्वदुःखप्रहंता । परमविभवदाता स्वर्गमोक्षप्रणेता इह जयतु सुधर्मध्यानभानुस्त्रिलोके ॥५१॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे धर्मध्यानप्ररूपणो नाम षोडशोधिकारः ।

---

उसीको धर्मध्यान कहते हैं ॥४४॥ इस क्रियासे जैसे जैसे कषायोंका नाश होता जाता है; वैसे ही वैसे आत्माके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला ध्यान प्रगट होता जाता है ॥४५॥ यह जीव जिन जिन विचारोंसे जब चिन्तवनमें लीन हो जाता है और उस समय इसका जो ममत्व और मोह नष्ट हो जाता है, उसको धर्मध्यान कहते हैं ॥४६॥ इस ध्यानरूप कार्यमें इन मुनियोंके हृदयमें जैसे जैसे वीतरागता बढ़ती जाती है और स्थिरतापूर्वक आत्माका चित्त जैसे जैसे आत्मामें लीन होता जाता है, जिस जिस क्रियासे वा जिस जिस चिन्तवनसे आत्मलीनता और वीतरागता बढ़ती है, वीतराग भगवान जिनेन्द्रदेव उसीको धर्मध्यान कहते हैं ॥४७–४८॥ इस जिनागममें ऊपर लिखे अनुसार धर्मध्यानका स्वरूप कहा है, इसलिये भव्य जीवोंको सुख और शांतिकी सिद्धि के लिये यह निर्मल ध्यान अवश्य धारण करना चाहिये ॥४९॥ संसारके दुःखोंसे भयभीत हुए भव्य जीवोंको अपने समस्त प्रयत्न करके चमत्कार करनेवाले इस धर्मध्यानका सदा चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥५०॥ यह धर्मध्यानरूपी सूर्य संसारभरमें मोहरूपी अन्धकारको दूर करनेवाला है, समस्त कल्याणोंको करनेवाला है, समस्त सुखोंको देनेवाला है, समस्त दुःखोंको नाश करनेवाला है, परम विभूतिको देनेवाला है और स्वर्ग-मोक्षको प्राप्त करानेवाला है; ऐसा यह सुधर्मध्यानरूपी सूर्य तीनों लोकोंमें सदा जयवंत हो ॥५१॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें धर्मध्यानके लक्षणको निरूपण करनेवाला यह सोलहवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# सप्तदशोऽधिकारः ।



ध्यानेशं ध्यानदेष्टारं योगिनाथं निरंजनम् । परात्मपदमारुढं शान्तिनाथं नमाम्यहम् ॥१॥ रत्नत्रयात्मको धर्मो भाषितो हि जिनेश्वरैः । तत्तस्मादनपेतं हि धर्म्यं तदिह कथ्यते ॥२॥ सत्क्षमादिकभेदेन धर्मो हि दशधा मतः । तत्तस्मादनपेतं हि धर्मध्यानं प्रचक्षते ॥३॥ व्यवहारसुचारित्रदीप्तांगो धर्म उच्यते । तत्तस्मादनपेतं हि धर्म्मध्यानं मतं जिनैः ॥४॥ मोहक्षोभेन संत्यक्तो भावो यो हि निजात्मनः । सचारित्रेण शुद्धः स धर्मो धर्म्यं तदात्मकम् ॥५॥ धर्मध्यानस्य भेदा हि चत्वारः सन्ति चागमे । क्रमशो लक्षणं तेषां ब्रवीमि तज्जिनागमात् ॥६॥ जिनाज्ञाविचयाभिख्यमपायविचयाभिधम् । विपाकविचयाख्यं हि संस्थानविचयाख्यकम् ॥७॥ सर्वेभ्यो मुख्यकं चास्ति तत्राज्ञाविचयाभिधम् । धर्म-

---

जो ध्यानके ईश्वर हैं, ध्यानका उपदेश देनेवाले हैं, योगियोंके स्वामी हैं, निरंजन हैं और परमात्मपदपर प्राप्त हैं; ऐसे भगवान शांतिनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने धर्मका स्वरूप रत्नत्रयात्मक बतलाया है, जो रत्नत्रयरूप धर्मका ध्यान किया जाता है; उसको धर्मध्यान कहते हैं ॥२॥ अथवा उत्तम क्षमादिकके भेदसे धर्मके दश भेद हैं, जो यह दशधर्मरूप ध्यान किया जाता है, उसको धर्मध्यान कहते हैं ॥३॥ अथवा देदीप्यमान व्यवहार चारित्रको धारण करना भी धर्म है, उस व्यवहार चारित्ररूप धर्मका ध्यान करना धर्मध्यान है ॥४॥ अथवा मोह-क्षोभसे रहित और श्रेष्ठ चारित्रसे अत्यन्त शुद्ध ऐसा जो अपने आत्माका भाव है, उसको भी धर्म कहते हैं और उसका ध्यान करना धर्मध्यान कहलाता है ॥५॥ आगममें उस धर्मध्यानके चार भेद बतलाये हैं, अब आगे आगमके अनुसार अनुक्रमसे उनके लक्षण कहते हैं ॥६॥ आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ये चार धर्मध्यानके भेद कहलाते हैं ॥७॥ इन चारों ध्यानोंमें आज्ञाविचय

ध्यानस्य मूलं च सर्वस्य साधकं हि तत् ॥८॥ सूक्ष्मं तत्त्वं जिनेन्द्रस्य केवलज्ञानगोचरम् । मनोऽक्षगोचरं नैव दृष्टं तत्सर्वदर्शिभिः ॥९॥ सर्वज्ञेन प्रणीतेऽस्मिन् तत्त्वे सूक्ष्मे जिनेशिना । प्रत्यक्षेण परोक्षेण बाधा काचिन्न विद्यते ॥१०॥ कुवादिभिरनुल्लंघ्यं न्यूनाधिकविवर्जितम् । संशयविपरीतादिदोषैर्विरहितं परम् ॥११॥ सत्यं प्रमाणभूतं तत् तत्त्वं विद्धि सुनिश्चितम् । जिनाज्ञापूर्वकं तस्य तत्त्वस्य मननं शुभम् ॥१२॥ एकाग्रमनसा तच्च श्रद्धापूर्वकचिन्तनम् । तदाज्ञाविचयं ध्यानं सर्वकर्मक्षयंकरम् ॥१३॥ धर्माज्ञा विविधा प्रोक्ता लौकिका पारमार्थिका । जिनेन वीतरागेण सर्वलोकहिताय वै ॥१४॥ लौकिकाचरणे वाज्ञा यादृशी प्रतिपादिता । सा तथैवेति नान्या वा चिन्तयेच्छ्रद्धयान्वितः ॥१५॥ श्रीमत्सर्वज्ञदेवस्य सुभावतोऽर्हतो ननु । सर्वथा हि निराबाधं निर्दोषं विगतभ्रमम् ॥१६॥ शासनं त्रिजगत्पूज्यं सत्यरूपं

---

नामका ध्यान मुख्य है। यह समस्त धर्मध्यानोंका मूल है और सबका साधक है ॥८॥ भगवान जिनेन्द्रदेवके कहे हुए तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे केवल ज्ञानगोचर हैं, इन्द्रिय और मनके गोचर नहीं हैं। परंतु भगवान सर्वज्ञदेवने उन सबको देखा है। भगवान जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञने जिस सूक्ष्म तत्त्वका निरूपण किया है, उनमें प्रत्यक्ष वा परोक्ष प्रमाणसे कभी बाधा नहीं आ सकती है, वादी-प्रतिवादी कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता, उन तत्त्वोंका जो स्वरूप है, वह न तो कम है और न अधिक है, तथा संशय, विपरीत आदि सब दोषोंसे रहित हैं। वह तत्त्वोंका स्वरूप यथार्थ है, प्रमाण है और सुनिश्चित है, ऐसा तुम समझो। उन सब तत्त्वोंका भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार मनन करना, एकाग्र मनसे चिंतवन करना वा श्रद्धापूर्वक उनका चिंतवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। यह धर्मध्यान समस्त कर्मोंका नाश करनेवाला है ॥९—१३॥ भगवान वीतराग सर्वज्ञदेवने समस्तलोगोंका हित करनेके लिये वह धर्मकी आज्ञा भी लौकिक और पारमार्थिकके भेदसे अनेक प्रकारकी बतलाई है ॥१४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने लौकिक आचरण पालन करनेके लिये जैसी आज्ञा प्रतिपादन की है, वह उसी तरह से है; अन्य प्रकारसे नहीं है, इसप्रकार भव्य जीवोंको श्रद्धापूर्वक चिंतवन करते रहना चाहिये ॥१५॥ अंतरंग-बहिरंग लक्ष्मीसे सुशोभित अरहंतदेव भगवान सर्वज्ञदेवका शासन बाधाओंसे सर्वथा रहित है, निर्दोष है, भ्रमरहित है, तीनों लोकोंमें पूज्य है, यथार्थ है और पापरहित है। ऐसे जिनशासनको जो सुनता है, विश्वास करता है, रुचि करता है,

विकल्मषम् । तत्प्रत्येति शृणोत्यत्र रोचते श्रद्दधाति च ॥१७॥ ध्यायति चिन्तयत्येवं विचारयति मन्यते । तदाज्ञाविचयं ध्यानं कथितं हि जिनागमे ॥१८॥ अविरुद्धं जिनाज्ञायाश्चिन्तनं मननं तथा । रोचनं स्पर्शनं चैव ह्याज्ञाविचयमुच्यते ॥१९॥ द्रव्यपर्यायसंयुक्तं तत्त्वं श्रीजिनभाषितम् । श्रीजिनाज्ञाप्रमाणेन तद्ध्यायेच्चिन्तयेत्सुधीः ॥२०॥ या या शुद्धिश्च पिण्डादेर्वर्णिता श्रीजिनागमे । श्रीजिनाज्ञाप्रमाणेन तत्तथेति हि चिन्तयेत् ॥२१॥ प्रवर्तयेच्च तां भावाद् भूयो भूयो विचारयेत् । तदाज्ञाविचयं ध्यानं जिनाज्ञाद्योतनं परम् ॥२२॥ अनादिकालतोऽत्राहं बम्भ्रमीमि भवार्णवे । न चिन्तिता मया क्वापि जिनाज्ञा परदेवता ॥२३॥ इति चिन्तां समालम्ब्य चैकाग्र्येन त्रियोगतः । जिनाज्ञाचिन्तनं श्रद्धाभरेण शुद्धभावतः ॥२४॥ तदाज्ञाविचयं ध्यानं सर्वसिद्धिकरं मतम् । आज्ञाया विचयं ध्यानं तदाज्ञाविचयं मतम् ॥२५॥ जिनशासनमाहात्म्यं कथं

---

श्रद्धान करता है, ध्यान करता है, चिंतवन करता है, विचार करता है, और मानता है उसको जैन शास्त्रोंमें आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥१६–१८॥ भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाके अविरुद्ध चिंतवन करना, मनन करना, रुचि करना और स्पर्श करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१९॥ भगवान जिनेन्द्रदेवने द्रव्यपर्यायके सहित जो तत्त्वोंका स्वरूप बतलाया है, उसको भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार बुद्धिमान पुरुषोंको चिंतवन करना चाहिये और ध्यान करना चाहिये। जैनशास्त्रोंमें पिंडादिककी जो जो शुद्धियां बतलाई हैं । उनको भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञानुसार उसीप्रकार चिंतवन करना चाहिये, भावपूर्वक उसीप्रकार उनकी प्रवृत्ति करनी चाहिये और बार बार उनका चिंतवन करना चाहिये । इसीको आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं । यह आज्ञाविचय ध्यान भगवानकी आज्ञाका उद्योत करनेवाला है और सर्वोत्कृष्ट है ॥२०–२२॥ मैं इस संसाररूपी समुद्रमें अनादि कालसे परिभ्रमण कर रहा हूँ, मैंने आजतक भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञारूपी उत्कृष्ट देवताका कभी चिन्तवन नहीं किया । इसप्रकारके चिन्तवनका अवलंबन लेकर मन वचन कायकी एकाग्रतासे श्रद्धापूर्वक शुद्धभावोंसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है । यह धर्मध्यान समस्त अर्थोंकी सिद्धि करनेवाला है, भगवानकी आज्ञाका विचय अर्थात् ध्यान करना आज्ञाविचय कहलाता है ॥२३–२५॥ इस समस्त पृथ्वीपर जिनशासनका माहात्म्य किसप्रकार वृद्धिको प्राप्त हो, इसप्रकारके चिन्तवनपूर्वक जिनशासनके माहात्म्यका चिन्तवन

स्याद्विश्वभूतले । इति चिन्तापरत्वेन तन्माहात्म्यविचिन्तनम् ॥२६॥ जिनशासनस्य संवृद्धेश्चिन्तनं शुभभावतः । तदाज्ञाविचयं प्राहुरागमे धर्मधीश्वराः ॥२७॥ श्रीस्याद्वादसुसिद्धांतक्षुण्णोऽजेयः कथं भवेत् । स्वचित्ते चिन्तनं चैतत् पौनः पुन्यं दिवानिशम् ॥२८॥ मिथ्याकान्तमतैः सार्द्धं मिथ्यादुर्वादिभिः समम् । कृत्वा वादं च शास्त्रार्थं जिनशासनदीपनम् ॥२९॥ स्थापनं शासनस्यात्र भुवि कृत्वा प्रभावना । वर्द्धनं शासनस्यापि शक्त्या भक्त्या सुभावतः ॥३०॥ श्रीशासनप्रभावाय चिन्तनं च विचारणम् । तदर्थं मनसा वाचा कायेन तत्सुधारणम् ॥३१॥ स्याद्वादशासनस्यात्र वृद्धिर्या चिन्त्यते बुधैः । तदाज्ञाविचयं ध्यानं प्रोक्तं धर्मप्रभावकम् ॥३२॥ जिनेश्वररथस्यात्र भ्रामणं सूत्सवेन यत् । श्रीशासनस्य माहात्म्यद्योतकं हि कथं भवेत् ॥३३॥ तदर्थं च महाभक्त्या भूयो भूयो विचारणम् । तदाज्ञाविचयं नाम ध्यानं माहात्म्यवर्द्धकम् ॥३४॥

---

करना अथवा शुभ परिणामोंसे जिनशासनकी वृद्धिका चिंतवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है, ऐसा धर्मके ईश्वर भगवान अरहंतदेवने कहा है ॥२६–२७॥ यह स्याद्वादरूप सिद्धान्त अक्षुण्ण और अजेय किस प्रकार हो ? इस प्रकार रात-दिन बार बार अपने हृदयमें उस सिद्धांतका चिन्तवन करना, आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है, अथवा मिथ्या एकांत मतको माननेवालोंके साथ वा मिथ्यादृष्टिवादी प्रतिवादियोंके साथ वाद-विवादकर वा शास्त्रार्थकर जिनशासनका माहात्म्य प्रगट करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है । अथवा जिनशासनकी स्थापना करना, उसकी प्रभावना करना, अथवा शक्तिभक्तिपूर्वक श्रेष्ठ परिणामोंसे जिनशासनकी वृद्धि करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है । अथवा जिनशासनका प्रभाव प्रगट करनेके लिये विचार करना, चिन्तवन करना अथवा मन, वचन और कायसे उस जिनशासनको शुद्ध रखना भी आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान है । बुद्धिमान लोग जो स्याद्वादमय इस जिनशासनकी वृद्धिका चिन्तवन करते हैं, उसको भी भगवान जिनेन्द्रदेव धर्मकी प्रभावना करनेवाला आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥२८-३२॥ भगवान जिनेन्द्रदेवके शासनके माहात्म्यको प्रगट करनेवाला, भगवान जिनेन्द्रदेवका रथ बड़े उत्सवके साथ किसप्रकार निकले इसप्रकार भक्तिपूर्वक बार बार चिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है । यह ध्यानको बढ़ानेवाला है ॥३३–३४॥ भगवान जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका महाभिषेक अथवा पूजनके द्वारा आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला जिनशासनका माहात्म्य किस प्रकार प्रगट हो ? इस प्रकारके

श्रीमज्जिनेन्द्रबिम्बस्य महास्नपनपूजनैः । श्रीशासनस्य माहात्म्यं कथं स्याद्विस्मयावहम् ॥३५॥ तदर्थं हि महाभक्त्यैकाग्रेनात्र सुचिन्तनम् । एवमेव जिनाज्ञायाः प्रभावस्यविचिन्तनम् ॥३६॥ तदाज्ञाविचयं ध्यानं जिनाज्ञावर्द्धनं परम् । श्रुतज्ञानं महादिव्यं त्रैलोक्यज्ञापकं शुभम् ॥३७॥ वर्णैः पदैर्विभिन्नं हि जिनेन्द्रैः कथितं परम् । श्रुतज्ञानस्य माहात्म्यं चिन्तनं मननं तथा ॥३८॥ रोचनं स्पर्शनं चैव धर्म्यध्यानं तदुच्यते । श्रीमज्जिनेन्द्रदेवेन शासनं प्रतिपादितम् ॥३९॥ रत्नत्रयात्मकं शुद्धं महद्भिरवधारितम् । तद्धि प्रतिष्ठितं स्वेपु चात्मकल्याणहेतवे ॥४०॥ शिवप्राप्तिश्चतेनैव तस्माच्छ्रेयस्करं मतम् । या चाज्ञा शासनस्यात्र जिनाज्ञा सैव कथ्यते ॥४१॥ मत्वेति शासनाज्ञायाश्चिन्तनं मननं तथा । एकाग्रेन सुदृक्शुद्धया तदाज्ञाविचयं विदुः ॥४२॥ कथं वात्र सुगृह्णीयुरिमे जीवाः सुदर्शनम् । आज्ञाश्रद्धानपूर्वं हि भवाब्धेस्तारकं परम् ॥४३॥ एकाग्रेन तदर्थं हि चान्यचिन्तां विहाय च । चिन्तनं मननं भक्त्या तदाज्ञाविचयं विदुः

कार्य करनेके लिये महाभक्तिपूर्वक एकाग्र मनसे वार वार चिन्तवन करना अथवा इसीतरहसे भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका प्रभावचिन्तवन करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। यह धर्मध्यान भी भगवानकी आज्ञाको बढ़ानेवाला है और सर्वोत्कृष्ट है। इस संसारमें श्रुतज्ञान भी महादिव्य है, तीनों लोकोंका ज्ञान उत्पन्न करानेवाला है, शुभ है, वर्ण वा पदोंसे अनेक प्रकारका है और भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है। ऐसे इस श्रुतज्ञानका माहात्म्य प्रकट करना, चिन्तवन करना, मनन करना, श्रद्धा करना आदि सब धर्मध्यान कहलाता है। भगवान जिनेन्द्रदेवने अपना शासन रत्नत्रयात्मक बतलाया है। वह शासन शुद्ध है, महापुरुष उसे धारण करते हैं; ऐसे इस रत्नत्रयात्मक शासनको अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये अपने आत्मामें धारण करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है ॥३५--४०॥ इस रत्नत्रयरूप जिनशासनसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, इसलिये यह शासन कल्याण करनेवाला है। इस शासनकी जो आज्ञा है, वही आज्ञा भगवान जिनेन्द्रदेवकी समझनी चाहिये। यही समझकर जिनशासनकी आज्ञाका चिन्तवन करना, मनन करना, सम्यग्दर्शनकी शुद्धतापूर्वक एकाग्र मनसे उसका ध्यान करना आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४१--४२॥ ये संसारी जीव संसारसे पार करनेवाले और सर्वोत्कृष्ट सम्यग्दर्शनको भगवानकी आज्ञाको श्रद्धानपूर्वक कब और किस प्रकार धारण करेंगे ? इसप्रकार अन्य सब चिन्तवनोंको रोककर एकाग्रमनसे

॥४४॥ यद्व्यवहारचारित्रक्रियाकाण्डप्रभासकम् । श्रीमज्जिनागमश्चास्ति तत्सत्यं च प्रमाणकम् ॥४५॥ तत्तादृशं हि नान्यच्च नान्यथा जातुचिद्भवेत् । जिनागमस्य या चाज्ञा जिनाज्ञा सैव कथ्यते ॥४६॥ मत्वेति श्रद्धया भक्त्या जिनाज्ञाप्रतिपालनम् । अन्यचिन्तां निरुध्यैकाग्रेणाज्ञाचिन्तनं परम् ॥४७॥ मननं स्पर्शनं चैव रोचनं च विचारणम् । प्रसारणं स्वचित्तेऽस्मिन् तदाज्ञाविचयं विदुः ॥४८॥ आज्ञाविचयसद्ध्यानात्तीर्यते स भवार्णवः । लभ्यते शिवसौख्यं हि कर्मचक्रं च भिद्यते ॥४९॥ जायते दर्शनं शुद्धं भवबन्धनभेदकम् । देवेन्द्राणां परा सम्पज्जायते सुतरां हि सा ॥५०॥ आज्ञाविचयसद्ध्यानं ध्यातं तीर्थकरैरपि । गणधरैश्च तद्ध्यातं ध्यातं च योगिभिः सदा ॥५१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ध्यातव्यं कर्महानये । आज्ञाविचयसद्ध्यानं भव्येन शुद्धचेतसा ॥५२॥ जगति जिनवराज्ञां चिन्तनं यः करोति । परमविमलभावात् रोचते

---

भक्तिपूर्वक चिन्तवनकर मनन करना आज्ञाविचय धर्मध्यान कहलाता है ॥४३–४४॥ व्यवहार, चारित्र और क्रियाकांडको प्रकाशित करनेवाला जो भगवान जिनेन्द्रदेवका आगम है, वही सत्य है और प्रमाण है। इस जिनेन्द्रदेवके आगमके समान अन्य कोई आगम नहीं है और न अन्यप्रकारसे कभी आगम हो सकता है, आगमकी जो आज्ञा है, वही भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा है, ऐसा मानकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाका पालन करना, अन्य समस्त चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे चिंतवन करना, मनन करना, विचार करना, उसमें प्रेम करना, उसको फैलाना और चित्तमें धारण करना आदि सब आज्ञाविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४५--४८॥ इस आज्ञाविचय नामके श्रेष्ठ ध्यानसे संसाररूपी समुद्र पार कर लिया जाता है, मोक्ष-सुखकी प्राप्ति होती है, कर्मोंके सब समूह नष्ट हो जाते हैं, संसारके बंधबंधनको नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन शुद्ध होता है और देवोंके इंद्रोंकी सर्वोत्कृष्ट संपत्ति अपने आप आ जाती है ॥४९--५०॥ इस आज्ञाविचय धर्मध्यानको भगवान तीर्थङ्कर परमदेव भी धारण करते हैं, गणधर भी धारण करते हैं और योगीलोग भी सदा धारण करते हैं ॥५१॥ इसलिये भव्य जीवोंको अपने शुद्ध हृदयसे सब तरहके प्रयत्नकर अपने कर्मको नाश करनेके लिये इस आज्ञाविचय नामके धर्मध्यानको अवश्य धारण करना चाहिये ॥५२॥ इस संसारमें भगवान जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको जो चिंतवन करता है, परम

श्रद्धाति । स हि तरति भवाब्धौ कर्मचक्रं च हत्वा स च धरति सुधर्मं सर्वसौख्यप्रदं वा ॥५३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे आज्ञाविचयध्यानप्ररूपणो नाम सप्तदशोधिकारः ॥

---

निर्मलभावोंसे जो उसपर रुचि वा श्रद्धान करता है; वह अपने समस्त कर्मोंको नाशकर इस संसार समुद्रसे अवश्य पार हो जाता है तथा समस्त सुखोंको देनेवाले इस श्रेष्ठ धर्मको प्राप्त हो जाता है ॥५३॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें आज्ञाविचयधर्मध्यान-को निरूपण करनेवाला यह सत्रहवां अधिकार समाप्त हुआ।



विनाशकम् । मिथ्यामतावसक्तानां कथं च स्यात्समुद्धरः ॥२८॥ मिथ्यामताच्च तेषां हि समुद्धारो हि चिन्त्यते । अपायविचयं ध्यानं तन्मतं हि जिनेश्वरैः ॥२९॥ जीवा गृहीतमिथ्यात्वभावेन प्रेरिता भृशम् । संसाराब्धौ प्रकुर्वन्ति मज्जनोन्मज्जनं चिरम् ॥३०॥ हिताहितं न जानन्ति मिथ्याधर्मं चरन्ति च । तेनैव हेतुना दुःखं सहन्ते ते हि दारुणम् ॥३१॥ अद्यापि न गृहीतस्तैः सद्धर्मो जिनभाषितः । केनोपायेन तेषां हि धर्मप्राप्तिर्दृढा भवेत् ॥३२॥ तदर्थं चिन्तनं नूनमेकाग्रमनसा हि यत् । अपायविचयं ध्यानं तदिह स्यात्सुखावहम् ॥३३॥ अनादिकालसंभूतं भ्रममोहसमुद्भवम् । कथं निवार्यते तद्धि दीर्घसंसारकारकम् ॥३४॥ तद्भ्रमस्य विनाशाय शुद्धबुध्या विचिन्तनम् । अपायविचयाभिख्यं ध्यानं तदिह कथ्यते ॥३५॥ अद्यापि मे न संजातं सम्यक्त्वं कर्महारकम् । तेन भ्रमामि संसारे तन्मे स्यादिह वा कथम् ॥३६॥ तत्प्राप्त्यर्थं निजे चित्ते

---

पापोंके नाशका चिन्तवन करना, घोर पापोंसे छुड़ानेके लिये चिन्तवन करना पापोंका नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। तीव्र मिथ्यात्वमें लगे हुए जीवोंका उद्धार कैसे होगा ? इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीवोंके उद्धारका बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२३–२९॥ गृहीतमिथ्यात्वसे प्रेरित हुए ये जीव इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालसे डूबते उछलते रहते हैं, वे जीव अपने हित वा अहितको नहीं जानते और मिथ्याधर्मको पालन करते हैं, इसीलिये वे जीव सदा दारुण दुःख सहन किया करते हैं। इन जीवोंने आजतक भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ श्रेष्ठ धर्म धारण नहीं किया है। उस धर्मकी प्राप्ति इन जीवोंको किस उपायसे होगी ? इसप्रकार एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना, सुख देनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३०–३३॥ दीर्घ संसारको उत्पन्न करनेवाला तथा महामोहसे उत्पन्न हुआ अनादिकालसे चला आया यह भ्रम किस प्रकार दूर हो सकता है। उस भ्रमको दूर करनेके लिये शुद्ध बुद्धिसे बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका ध्यान कहलाता है ॥३४—३५॥ इस संसारमें मुझे कर्मोंका नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन आजतक प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये मैं इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा हूँ, वह सम्यग्दर्शन मुझे कब प्राप्त होगा ? उसकी प्राप्तिके लिये अपने हृदयमें बार बार चिन्तवन करना जिनमार्गको प्रकाशित करनेवाला उपाय-

विचयाद्योगी प्रददात्यभयं महत् ॥७॥ अपायविचयेनैव तीर्थंकरा भवन्ति ते। सर्वसत्त्वानुकम्पांगा जीवमात्राभयप्रदाः ॥८॥ मिथ्यामतवशेनात्मा करोति धर्मघातनम्। सत्यं हितकरं धर्मं द्वेष्टि निन्दति वा परम् ॥९॥ मिथ्यामतप्रभावेण करोति स्वात्महिंसनम्। बम्भ्रमीति च संसारे नानदुःखनिदानके ॥१०॥ केनोपायेन सद्बुद्धिर्ह्यस्य स्याद्विगतभ्रमा। कदास्य जैनधर्मस्य प्राप्तिः स्याद्धि सुखावहा ॥११॥ तदर्थं शुद्धभावेन भूयो भूयो विचारणम्। अन्यचिन्तां निराकृत्य तस्यैकाग्रेण चिन्तनम् ॥१२॥ अपायविचयं ध्यानं तत्स्यात्सद्धर्मदायकम्। सर्वसौख्यकरं शीघ्रं जीवानां भवमोचकम् ॥१३॥ तीव्रमिथ्यात्वभावेन विवेकविकला जनाः। सद्धर्मध्वंसकं पापं कुर्वन्ति स्वार्थचेष्टया ॥१४॥ स्त्रीणां पुनर्विवाहं ते कुर्वन्ति पापलिप्सया। तत्प्रचारोपदेशं वा मिथ्यात्वेन च कुर्वते ॥१५॥ तेन पापेन ते जीवा दीना श्वभ्रे पतन्ति च। महाक्लेशं महापीडां सहन्ते ते च दुर्धियः ॥१६॥ केनोपायेन सद्बुद्धिरेषां स्याद्विगतभ्रमा। इत्यपापस्य तेषां हि चिन्तनं यत्पुनःपुनः ॥१७॥ सर्वचिन्तां

पुरुषोंको महाअभयदान देते हैं ॥५-७॥ इसी अपायविचय धर्मध्यानसे समस्त जीवोंको अनुकंपित करनेवाले और जीवमात्रको अभयदान देनेवाले तीर्थंकर होते हैं ॥८॥ मिथ्यात्व कर्मके उदयसे यह आत्मा धर्मका घात करता है, आत्माका हित करनेवाले यथार्थ धर्मसे द्वेष करता है वा उसकी खूब निन्दा करता है। मिथ्यात्व मनके प्रभावसे यह जीव अपने आत्माका घात करता है और अनेक दुःखोंसे भरे हुए संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। ऐसा यह जीव किस उपायसे श्रेष्ठ बुद्धिको धारण करेगा? कब अपने भ्रमको दूर करेगा? तथा सुख देनेवाली जैनधर्मकी प्राप्ति इसे कब होगी? इसके लिये शुद्ध भावोंसे बार बार विचार करना, अन्य सब चिन्तवनोंको रोककर एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान है। यह ध्यान सद्धर्मको देनेवाला है और संसारसे छुड़ानेवाला है ॥९-१३॥ तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे ये जीव विवेकरहित हो जाते हैं और अपने स्वार्थके वश होकर धर्मको नाश करनेवाले महापाप उत्पन्न करते रहते हैं। वे जीव पापोंकी प्रवृत्ति करनेकी इच्छासे स्त्रियोंका पुनर्विवाह करते हैं और तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे उसका प्रचार करते हैं वा उपदेश देते हैं, उसी पापके उदय से वे दीन जीव नरकमें पड़ते हैं और दुर्बुद्धिको धारण करनेवाले वे जीव महापीडा और महाक्लेशोंको सहते हैं। ऐसे जीवोंका भ्रम कब दूर होगा? और उनको कब सद्बुद्धि होगी? इसप्रकार उनके पापोंको दूर करनेके लिये मन, वचन और कायकी

निराकृत्यैकाग्रेण च त्रियोगतः। अपायविचयं ध्यानं दुर्बुद्धेर्नाशकं परम ॥१८॥ महामिथ्यात्वसंयुक्ता जीवाः कुर्वन्त्यघं महत्। अन्तर्जातिविवाहेन विजातिग्रहणेन वा ॥१६॥ नानादुःखकरं निंद्यं मोक्षमार्गविघातकम्। तेन पापेन ते जीवाः संसारे पर्यठन्ति च ॥२०॥ जन्ममृत्युभयक्लेशं वराकाः प्राप्नुवन्ति ते। केनोपायेन चैतेषां निवृत्तिः स्यात्कुपापतः ॥२१॥ अन्यचिन्तां निराकृत्य तस्यैकाग्रेण चिन्तनम्। अपापविचयं ध्यानं तत्स्यात्पापविलोपकम् ॥२२॥ तीव्रमिथ्यात्वमासाद्य जीवाश्चाक्षसुखेप्सया। घोरपापकरं भ्रष्टं निंद्यं शास्त्रं लिखन्ति च ॥२३॥ सत्यधर्माद्विरुद्धं हि मोक्षमार्गविनाशकम्। ते लिखन्ति कुशास्त्रेषु मिथ्यामतसुपोषकम् ॥२४॥ व्यभिचारे न दोषोऽस्ति न दोषः पलभक्षणे। अभक्ष्यभक्षणे नैव मधुमद्यादिसेवने ॥२५॥ न कश्चिदस्ति सर्वज्ञो न वीरोऽस्ति जिनोऽथवा। न पुण्यं नैव पापं वा न मोक्षं च लिखन्ति ते ॥२६॥ दयादृष्टिं समादाय तेषामुद्धरणाय वै। घोरापायाद्धि चैकाग्रैस्तदपायस्य चिन्तनम् ॥२७॥ अपायविचयं ध्यानं विदुः पाप-

---

एकाग्रतासे अन्य समस्त चिन्ताओंको रोककर बार बार चिन्तवन करना दुर्बुद्धिको नाश करनेवाला सर्वोत्कृष्ट अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१४–१८॥ तीव्र मिथ्यात्वसे घिरे हुए जीव अंतर्जातीय वा विजातीय विवाहकर अनेक प्रकारके दुःख उत्पन्न करनेवाले, मोक्षमार्गको नाश करनेवाले और महानिन्द्य ऐसे महापापोंको उत्पन्न करते हैं। जिन पापोंके उदयसे वे जीव इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं और उसमें वे दुःखी जीव जन्म, मरण और भय आदिक अनेक क्लेशोंको सहन करते हैं। ऐसे ये जीव किस उपायसे इन महापापोंसे छूट सकते हैं ? इसप्रकार अन्य सब चिन्ताओंसे हटकर एकाग्र मनसे चिन्तवन करना समस्त पापोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१९–२२॥ तीव्र मिथ्यात्वके उदयसे ये जीव केवल इंद्रियोंके विषयोंकी इच्छासे घोर पाप उत्पन्न करनेवाले निन्द्य और भ्रष्ट शास्त्रोंको लिखते हैं। यथार्थ धर्मके विरुद्ध और मोक्षमार्गको नाश करनेवाले शास्त्र लिखते हैं। वे लोग उन शास्त्रोंमें मिथ्यामतकी पुष्टि लिखते हैं; व्यभिचारमें कोई दोष नहीं है, मांसभक्षणमें कोई दोष नहीं है, अभक्ष्यभक्षणमें कोई दोष नहीं है, मद्य और मधु आदिके सेवनमें कोई दोष नहीं है, इस संसारमें कोई भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। न महावीर आदि तीर्थंकर ही हुए हैं, संसारमें न कोई मोक्ष है, न पुण्य है और न कोई पाप है। इसप्रकार वे सब झूठी बातें लिखते हैं, ऐसे जीवोंपर दयादृष्टि रखकर उनका उद्धार करनेके लिये एकाग्रमनसे उनके

विनाशकम् । मिथ्यामतावसक्तानां कथं च स्यात्समुद्धरः ॥२८॥ मिथ्यामताच्च तेषां हि समुद्धारो हि चिन्त्यते । अपायविचयं ध्यानं तन्मतं हि जिनेश्वरैः ॥२६॥ जीवा गृहीतमिथ्यात्वभावेन प्रेरिता भृशम् । संसाराब्धौ प्रकुर्वन्ति मज्जनोन्मज्जनं चिरम् ॥३०॥ हिताहितं न जानन्ति मिथ्याधर्मं चरन्ति च । तेनैव हेतुना दुःखं सहन्ते ते हि दारुणम् ॥३१॥ अद्यापि न गृहीतस्तैः सद्धर्मो जिनभाषितः । केनोपायेन तेषां हि धर्मप्राप्तिर्दृढा भवेत् ॥३२॥ तदर्थं चिन्तनं नूनमेकाग्रमनसा हि यत् । अपायविचयं ध्यानं तदिह स्यात्सुखावहम् ॥३३॥ अनादिकालसंभूतं भ्रममोहसमुद्भवम् । कथं निवार्यते तद्धि दीर्घसंसारकारकम् ॥३४॥ तद्भ्रमस्य विनाशाय शुद्धबुध्या विचिन्तनम् । अपायविचयाभिख्यं ध्यानं तदिह कथ्यते ॥३५॥ अद्यापि मे न संजातं सम्यक्त्वं कर्महारकम् । तेन भ्रमामि संसारे तन्मे स्यादिह वा कथम् ॥३६॥ तत्प्राप्त्यर्थं निजे चित्ते

---

पापोंके नाशका चिन्तवन करना, घोर पापोंसे छुड़ानेके लिये चिन्तवन करना पापोंका नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। तीव्र मिथ्यात्वमें लगे हुए जीवोंका उद्धार कैसे होगा ? इसप्रकार मिथ्यादृष्टि जीवोंके उद्धारका बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है, ऐसा भगवान जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥२३—२९॥ गृहीतमिथ्यात्वसे प्रेरित हुए ये जीव इस संसाररूपी समुद्रमें चिरकालसे डूबते उछलते रहते हैं, वे जीव अपने हित वा अहितको नहीं जानते और मिथ्याधर्मको पालन करते हैं, इसीलिये वे जीव सदा दारुण दुःख सहन किया करते हैं। इन जीवोंने आजतक भगवान जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ श्रेष्ठ धर्म धारण नहीं किया है। उस धर्मकी प्राप्ति इन जीवोंको किस उपायसे होगी ? इसप्रकार एकाग्र मनसे बार बार चिन्तवन करना, सुख देनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३०—३३॥ दीर्घ संसारको उत्पन्न करनेवाला तथा महामोहसे उत्पन्न हुआ अनादिकालसे चला आया यह भ्रम किस प्रकार दूर हो सकता है। उस भ्रमको दूर करनेके लिये शुद्ध बुद्धिसे बार बार चिन्तवन करना अपायविचय नामका ध्यान कहलाता है ॥३४—३५॥ इस संसारमें मुझे कर्मोंका नाश करनेवाला सम्यग्दर्शन आजतक प्राप्त नहीं हुआ है, इसलिये मैं इस संसारमें परिभ्रमण कर रहा हूँ, वह सम्यग्दर्शन मुझे कब प्राप्त होगा ? उसकी प्राप्तिके लिये अपने हृदयमें बार बार चिन्तवन करना जिनमार्गको प्रकाशित करनेवाला उपाय-

भूयो भूयो विचार्यते। सदुपायाभिधं ध्यानं तत्स्यान्मार्गप्रकाशकम् ॥३७॥ कदाहं कर्मसंघातं मिथ्याज्ञानेन संचितम्। जिनधर्मकुठारेण छिनद्मि तृणवद्भृशम् ॥३८॥ तदर्थं चिन्तनं चैकाग्र्येण योगत्रयेण वा। तदपायाभिधं ध्यानं मिथ्यातिमिरनाशकम् ॥३९॥ कथं स्यामत्र निर्द्वन्द्वो भावलिंगी यतिर्ह्यहो। कर्मारयो विपक्षास्ते कथं नश्यन्ति मेऽधुना ॥४०॥ इति चिन्तापरत्वेन भूयो भूयो विचारणम्। एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानमपायनामभाक् ॥४१॥ कथं जाज्वल्यमानो हि कपायाग्निः प्रशाम्यति। विषयाशासमीरैर्यो भस्मयन् विश्वभूतलम् ॥४२॥ येन दंदह्यमानोऽहं तापान्मूर्च्छामुपागतः। आज्ञानात्सेवितो मिथ्याधर्माग्निः शान्तये मुदा ॥४३॥ हा हा मोहान्न हि ज्ञातं जिनधर्मसुधारसम्। तत्प्राप्तिश्च कथं स्यान्मे तदुपायस्य चिन्तनम् ॥४४॥ एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानमपायसंज्ञकम्। कपायाग्निश्च मिथ्याग्निस्तेन शाम्यति निश्चयम् ॥४५॥ कर्मेन्धनं कदा भस्मीकरोमि ध्यानवह्निना। जन्ममृत्युविनाशार्थं जिनदीक्षां कदा दधे ॥४६॥ कथं स्वात्मनि चात्मानं स्थापयामि तथा-

विचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३६—३७॥ जिसप्रकार कुल्हाड़ेसे लकड़ी काटी जाती है, उसीप्रकार मिथ्याज्ञानसे इकट्ठे हुए कर्मोंके समूहको मैं जिनधर्मरूपी कुठारसे कब नाश करूँगा? उन कर्मोंका नाश करनेके लिये मन, वचन और कायकी एकाग्रतासे बार बार चिन्तवन करना मिथ्यात्वरूपी अंधकारको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥३८—३९॥ मैं भावलिंगी मुनि कब होऊँगा? और ये मेरे विपक्षी कर्मरूप शत्रु किसप्रकार नष्ट होंगे? इसप्रकार चिन्तवनकर एकाग्र मनसे बार बार विचार करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४०—४१॥ यह देदीप्यमान कपायरूपी अग्नि विषयोंकी आशारूपी वायुके लगनेसे समस्त संसारको भस्म कर रही है, उसी अग्निसे जला हुआ मैं उसके संतापसे मूर्च्छाको प्राप्त हो रहा हूँ, वह कपायरूपी अग्नि कब शांत होगी? इसीप्रकार मैं अपने अज्ञानसे मिथ्यात्वरूपी अग्निको सेवन कर रहा हूँ, उस कपाय और मिथ्यात्वरूपी अग्निको शांत करनेके लिये मैंने मोहनीय कर्मके उदयसे जिनधर्मरूपी अमृतको नहीं जाना। उस जैनधर्मकी प्राप्ति मुझे किस प्रकार होगी? उसकी प्राप्तिके लिये उसके उपायका चिन्तवन करना उपायविचय वा अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है। इस धर्मध्यानसे कपायरूपी अग्नि और मिथ्यात्वरूपी अग्नि अवश्य ही शांत हो जाती है ॥४२—४५॥ मैं ध्यानरूपी अग्निसे कर्मरूपी ईंधनको कब भस्म करूंगा? तथा जन्म मरणको नाश करनेके लिये जिनदीक्षा

त्मना। निर्विकल्पसमाधौ वा धारयिामि कथं मुदा ॥४७॥॥ इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रमनसा हि यत्। चिंतनं तदपायाख्यं ध्यानं कर्मविनाशकम् ॥४८॥ सम्यग्रत्नत्रयं कर्मनाशायात्र कथं दधे । उपायविचयं ध्यानं तदुपायस्य चिन्तनम् ॥४९॥ कथं स्यात्सर्वजीवस्य रक्षा मे जिनधर्मतः। तदर्थं चिन्तनं ध्यानमुपायविचयाभिधम् ॥५०॥ व्यतीतोऽनन्तकालो मे भ्रमतो हा भवाटवीम् । अद्यापि न मया प्राप्तं तस्यास्तीरं विमोहिना ॥५१॥ श्रीजिनधर्मपांथस्य साहाय्येन च प्राप्यते । साहाय्यं हि कथं मे स्यात्स पांथोऽत्र च सङ्कटे ॥५२॥ तत्तीरप्राप्तये शुद्धभावेन चिन्तयाम्यहम्। येन भवाटवीतीरं सुखी प्राप्य भवाम्यहम् ॥५३॥ इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रमनसा पुनः । चिन्तनं तदपायाख्यं ध्यानं दुर्गतिदायकम् ॥५४॥ मिथ्यात्वेन च ह्यन्धोऽहं तत्त्वं पश्यामि नैव वा। तस्मादेव भवागर्ते पतितो जनुपांधवत् ॥५५॥ चिरकालं हि तत्रैव सहे दुःखं सुदा-

---

कब धारण करूंगा? और अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने ही आत्मामें कब स्थापन करूंगा अथवा इस अपने आत्माको प्रसन्न होकर निर्विकल्पक समाधिमें कब स्थापन करूंगा? इसप्रकारके चिंतवनपूर्वक एकाग्रमनसे चिंतवन करना कर्मोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४६–४८॥ कर्मोंको नाश करनेके लिये मुझे रत्नत्रयकी प्राप्ति कब होगी? इसप्रकार रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिये उपायोंका चिन्तवन करना उपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४९॥ मेरे इस जैनधर्मसे सब जीवोंकी रक्षा किसप्रकार होगी? इसप्रकार चिन्तवन करना उपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥५०॥ हाय! हाय! इस संसाररूपी वनमें परिभ्रमण करते हुए मुझे अनंत काल व्यतीत हो गया तो भी विमोहित होनेवाले मुझे आजतक उसका किनारा प्राप्त नहीं हुआ, उस संसाररूपी वनका किनारा इस जैनधर्मरूपी पांथकी सहायतासे ही प्राप्त हो सकता है, परंतु इस संकटमें उस जैनधर्मरूपी पांथका सहारा कब मिल सकता है? इसप्रकार उस संसारका किनारा प्राप्त करनेके लिये मैं शुद्ध भावोंसे चिंतवन करूंगा, जिससे कि संसाररूपी वनका किनारा पाकर मैं अत्यन्त सुखी हूँगा। इसप्रकार चिंतवन करते हुए एकाग्रमनसे चिंतवन करना दुर्गतिको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥५१–५४॥ मिथ्यात्व कर्मके उदयसे मैं जन्मान्ध पुरुषके समान अंधा हो रहा हूं, इसीलिये मैं तत्त्वोंको देख नहीं सकता और इसीलिये मैं इस संसाररूपी गढ़ेमें पड़ा हुआ हूं। उसी संसाररूपी गढ़ेमें पड़ा हुआ मैं दारुण दुःखको सहन कर रहा हूं, उस संसाररूपी गढ़ेसे शीघ्र ही सुख देनेवाला मेरा उद्धार कब होगा? अथवा उस गढ़ेसे उठाकर

रुणम् । तस्मात्स्यान्मे कथं शीघ्रमुद्धारः खलु सौख्यदः ॥५६॥ मामुद्धृत्य हि तस्माद्वा कोऽसौ निष्कासयत्यपि । लोके हि श्रूयते चात्र तस्मान्निष्कासने पटुः ॥५७॥ एको हि जिनधर्मोऽस्ति स ग्राह्यो हि मयाऽधुना । इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रेण च चिन्तनम् ॥५८॥ भवदुःखोद्भवापायस्य चिन्तनविचारणे । तदपायाभिधं ध्यानं भवदुःखविनाशकम् ॥५९॥ व्यसनानि कदा रुन्धे नानादुःखकराणि च । कथं केन प्रकारेण तदपायस्य चिन्तनम् ॥६०॥ त्रिलोकजयिनां कामं कथं जेष्यामि साम्प्रतम् । कथं वा मोहराजं तं जेष्यामि भवदायकम् ॥६१॥ तदर्थमत्र चैकाग्रचिन्तासंरोधपूर्वकम् । चिन्तनं मननं ध्यानं तदपायाभिधं मतम् ॥६२॥ कर्मास्रवनिरोधो मे कथं स्यात्सौख्यदायकः । स्वचित्तेऽत्र तदर्थं हि स्थापयामि कथं पुनः ॥६३॥ गुप्तिसमितिचारित्रधर्मादीन् वा शिवात्मकान् । इति चिन्तापरत्वेन चैकाग्रमनसा स्वयम् ॥६४॥ चिन्तनं मननं चित्ते भूयो भूयो विचारणम् । अपायविचयं ध्यानं कर्मास्रवनिरोधकम् ॥६५॥ देहात्मको हि दृश्येऽहं यद्यपि कर्मबन्धतः । तथाप्यहं जडो नैव नैवचास्मि विचेतनः ॥६६॥ मयि वा मत्स्वरूपोऽहं मद्गुणेन दृगादिना । नान्योऽहं

---

मुझे कौन बाहर निकालेगा ? लोकमें सुना जाता है कि उस संसाररूपी गढ़ेसे निकालनेमें एक जैनधर्म ही चतुर है । इसलिये अब मुझे उसी जैनधर्मको धारण करना चाहिये । इस प्रकारके चिन्तवनपूर्वक एकाग्र मनसे संसारके दुःखोंसे उत्पन्न होनेवाले अपाय वा नाशका चिंतवन करना, उसका मनन करना संसारके समस्त दुःखोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥५५–५९॥ अनेक प्रकारके दुःख देनेवाले इन व्यसनोंको मैं कब और किसप्रकार रोकूंगा ? इसप्रकार व्यसनोंके नाशका चिन्तवन करना अथवा तीनों लोकोंको जीतनेवाले इस कामको अब मैं कैसे जीतूंगा ? अथवा संसारको बढ़ानेवाले इस मोहराजको मैं कैसे जीतूंगा ? इसप्रकार अन्य सब चिंताओंको रोककर एकाग्रमनसे चिंतवन वा मनन करना अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥६०–६२॥ समस्त सुखोंको देनेवाला, कर्मोंके आस्रव-निरोधकरूप संवर किस प्रकार होगा ? और उस संवरके लिये मैं अपने हृदयमें गुप्ति, समिति, चारित्र और धर्म आदि कल्याण करने वालोंको किसप्रकार धारण करूंगा ? इसप्रकारके चिंतवनपूर्वक एकाग्र मनसे अपने मनमें विचार करना, मनन करना और बार बार चिन्तवन करना कर्मोंके आस्रवको रोकनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥६३-६५॥ यद्यपि मैं कर्मबन्धके कारण शरीररूप दिखाई देता हूं, तथापि न तो मैं जड़ हूं और न अचेतन हूं । मैं सम्यग्द-

नान्यथाभूतो नान्यरूपो भवाम्यहम् ॥६७॥ यदा मे कर्मबन्धः स्याद्भिन्नः स्वात्मप्रदेशतः । भविष्यामि तदाहं वै शुद्धः स्वर्ण इवाद्भुतः ॥६८॥ कदा मे कर्मबन्धोऽसौ नाशं यायात्तपोऽग्निभिः । इति कर्मविनाशाय चिन्तनं यत्पुनः पुनः ॥६९॥ चित्तैकाग्रनिरोधेन चानन्यमनसा स्वयम् । अपायविचयं ध्यानं तत्स्यात्कर्मप्रजालकम् ॥७०॥ ज्ञानादिकमदाष्टाभ्यो न स्याद्दोषो दृगादिषु । तदपायनिरासार्थं चिन्तनं यत्पुनः पुनः ॥७१॥ अपायविचयं ध्यानं मदाष्टकनिवारणम् । शल्यत्रयेण मेऽद्यापि घातितं शुद्धदर्शनम् ॥७२॥ शल्यत्रयनिरासार्थं चिन्तनं यत्पुनः पुनः । अपायविचयं ध्यानं शल्यत्रयनिवारणम् ॥७३॥ अयं मूढजनश्चात्र तत्त्वं वेत्ति न तत्त्वतः । अन्यथा मनुते देवमन्यथा मनुते गुरुम् ॥७४॥ अन्यथा हि विजानाति धर्मं हि पापकर्मसु । हा मोहकर्मणा सोऽयं वञ्चितो भ्रमितश्च वा ॥७५॥ केनोपायेन मोहोऽसौ जेतव्यो दुर्जयो हि सः । इति मोहनिरासार्थं चिन्तनं यत्पुनः पुनः ॥७६॥ चित्तैकाग्रनिरोधेन चानन्यमनसा हि वा । अपायविचयध्यानं तत्स्या-

र्शनादिक गुणोंके द्वारा अपने आत्मामें आत्मस्वरूप हूं; मैं आत्मासे न तो अन्य हूं, न अन्यथा हूं और न अन्यरूप हूं। मेरे आत्माके प्रदेशोंसे जब यह कर्मोंका बंध भिन्न हो जायगा तब मैं शुद्ध सुवर्णके समान अद्भुत चमत्कारको धारण करनेवाला हो जाऊंगा। वह मेरा कर्मबन्ध तपरूप अग्निसे कब नाशको प्राप्त होगा ? इसप्रकार कर्मोंका नाश करनेके लिये अन्य सब चिंतवनोंको रोककर एकाग्रमनसे बार बार चिंतवन करना कर्मोंको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥६६–७०॥ ज्ञानादिकसे होनेवाले आठ मदोंके द्वारा मेरे सम्यग्दर्शनादिकमें दोष न आवे, इस प्रकार उन दोषोंका नाश करनेके लिये बार बार चिंतवन करना आठों मदोंको निवारण करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है। अबतक माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीनों शल्योंने मेरे सम्यग्दर्शनका घात कर रक्खा है, यही समझकर तीनों शल्योंको दूर करनेके लिये बार बार चिन्तवन करना तीनों शल्योंको निवारण करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥७१–७३॥ ये अज्ञानी जीव वास्तवमें यथार्थ तत्त्वोंका स्वरूप नहीं जानते हैं, देव गुरु और धर्मके स्वरूपको भी अन्यथा समझते हैं ऐसे अज्ञानी लोग पाप कार्योंमें ही धर्म मान लेते हैं। दुःख है कि ऐसे अज्ञानी मोह कर्मके उदयसे ठगे गये हैं और इसीलिये वे परिभ्रमण कर रहे हैं। ऐसा वह दुर्जय मोह किस प्रकार जीता जा सकता है ? किस उपायसे जीता जा सकता है ? इसप्रकार मोहका नाश करनेके लिये अन्य समस्त

न्मोहनिवारकम् ॥७७॥ कालव्याघ्रमुखान्मां हि रक्षको जिन एव सः । अन्यः कोऽपि समर्थो न दीनं बालं हि संसृतौ ॥७८॥ कालव्याघ्रात्कथं रक्षा केनोपायेन मे भवेत् । इतीह स्वात्मरक्षार्थं तदपायस्य चिन्तनम् ॥७९॥ अन्यचिन्तानिरोधने चैकाग्रेण विचारणम् । अपायविचयं ध्यानं कालविध्वंसकं मतम् ॥८०॥ सर्वे जीवाः कथं शीघ्रं भवेयुः सुखिनो भृशम् । आसंसारोद्भवं दुःखं तेषां शाम्यति वा कथम् ॥८१॥ निध्याय चैवं मनसि तदपायस्य चिन्तनम् । सर्वजीवसुखार्थं हि चिन्तैकाग्रनिरोधतः ॥८२॥ तदपायाभिधं ध्यानं भव दुःख विनाशकम् । स्वर्गमोक्षप्रदं चैतच्छुद्धस्वात्मविचिन्तनम् ॥८३॥ भव्यानां हि परा शुद्धिः क्षोभक्षोदविवर्जिता । भविष्यति कदा केनोपायेन शिवसाधिका ॥८४॥ चिन्तयेत्तदुपायं हि योगी ध्याने निरन्तरम् । तदुपायाभिधं ध्यानं सदुपाये नियोजकम् ॥८५॥

---

चिन्तवनोंका निरोधकर एकाग्र मनसे वार वार चितवन करना मोहको निवारण करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥७४–७७॥ इस कालरूपी वाघके मुखसे रक्षा करनेवाले भगवान जिनेन्द्रदेव ही हैं। इस संसारमें परिभ्रमण करते हुए इस दीन बालकको कालसे रक्षा करनेवाला अन्य कोई नहीं है। इस कालरूपी बाघसे मेरी रक्षा किन किन उपायोंसे हो सकती है? इसप्रकार अपनी आत्मरक्षाके लिये काल ( जन्म-मरण ) के नाशका एकाग्र मनसे अन्य सब चिन्तवनोंको रोककर वार वार चिन्तवन करना जन्म-मरणरूप कालको नाश करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥७८–८०॥ ये समस्त संसारी जीव कब सुखी होंगे? संसारसे उत्पन्न हुए इनके दुःख किसप्रकार शांत होंगे? इसप्रकार मनमें धारणकर समस्त जीवोंका सुख चाहनेके लिये एकाग्रमनसे संसारके दुःखोंके नाशका वार वार चिन्तवन करना संसारके दुखोंको नाश करनेवाला, स्वर्गमोक्ष देनेवाला और आत्माके शुद्ध स्वरूपको चिन्तवन करानेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥८१–८३॥ समस्त दुःख और क्षोभसे रहित तथा मोक्षको देनेवाली इन भव्य जीवोंके आत्माकी शुद्धि किस उपायसे होगी? इसप्रकार जो योगी अपने ध्यानमें आत्माकी शुद्धिके उपायको निरंतर चिन्तवन करता रहता है, उसको श्रेष्ठ उपायमें नियुक्त करनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥८४—८५॥ मोक्षमार्गका उपाय एक यह जैनधर्म ही है, पहले जो तीर्थंकर आदि मोक्षमें गये हैं, वे इसी जैनधर्मसे गये हैं तथा आगे

उपायो मोक्षमार्गस्य जिनधर्मः स एव हि । पुरा तेनैव मोक्षं च गतास्तीर्थंकरादयः ॥८६॥ गमिष्यन्तीह तेनैव जिनधर्मेण धार्मिकाः । जिनधर्मस्य जीवानां प्राप्तिः स्याच्च कथं ननु ॥८७॥ केनोपायेन वा तेषां तदुपायस्य चिन्तनम् । तदुपायाभिधं ध्यानं मोक्षमार्गस्य दीपकम् ॥८८॥ कीदृशैः सदुपायैर्वा सद्धर्मे मे मतिर्भवेत् । तेषां हि सदुपायानां चिन्तनं वा विचारणम् ॥८९॥ येन येन विचारेण याभिर्याभिः क्रियादिभिः । सुदृग्बोधव्रतादीनां हानिः स्यादात्मनो यदि ॥९०॥ तेषां तत्र निरासार्थं चित्तैकाग्रनिरोधतः । चिन्तनं शुद्धभावेन तदपायस्य यत्पुनः ॥९१॥ अपायविचयं ध्यानं सर्वपापनिवारकम् । कथितं श्रीजिनेन्द्रेण शिवाय दुःखहानये ॥९२॥ अतिविषयकुमार्गे भ्राम्यमाणो वराकः सहजकुमतिशिक्षाप्रेर्यमाणोऽन्धजीवः । जननमरणदुःखं दारुणं संचिनोति इह तदपि सुधर्मं नैव प्राप्नोति भक्त्या ॥९३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे अपायविचयध्यानप्ररूपणो नाम अष्टादशोऽधिकारः ।

---

भी धार्मिक पुरुष इसी जैनधर्मसे मोक्ष जायेंगे, उस जैनधर्मकी प्राप्ति इन जीवोंको किस उपायसे और किस प्रकार होगी ? इसप्रकार जैनधर्मकी प्राप्तिके उपायोंका चिन्तवन करना मोक्षमार्गको दिखलानेके लिये दीपकके समान उपायविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥८६-८८॥ अथवा ऐसे कौनसे उपाय हैं ? जिनसे मेरी बुद्धि श्रेष्ठ धर्ममें लीन हो जाय, इसप्रकार उन उपायोंका चिन्तवन वा विचार करना भी उपायविचय नामका धर्मध्यान है ॥८९॥ जिन जिन विचारोंसे वा जिन जिन क्रियाओंसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान वा सम्यक्चारित्र वा आत्माके गुणोंकी हानि होती हो, उन विचारों वा क्रियाओंको दूर करनेके लिये अन्य सब चिन्ताओंको रोककर शुद्ध भावोंसे बार बार चिंतवन करना समस्त पापोंको रोकनेवाला अपायविचय नामका धर्मध्यान है, इसीसे समस्त दुःख दूर होते हैं और इसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥९०—९२॥ अज्ञानजनित स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली कुबुद्धि और कुशिक्षासे प्रेरित हुआ यह दीन और अन्धा जीव विषय-कुमार्गमें अत्यन्त परिभ्रमण करता हुआ जन्म-मरणके दारुण दुःखोंको इकट्ठा करता रहता है तो भी भक्तिपूर्वक इस श्रेष्ठ धर्मको कभी धारण नहीं करता ॥९३॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें अपायविचयनामक धर्मध्यानको निरूपण करनेवाला यह अट्ठारहवां अधिकार समाप्त हुआ।

# एकोनविंशोऽधिकारः।



कर्मणामुदयो यस्य चित्ते नैव विकारकः। तं वीतरागं योगीशमरनाथं नमाम्यहम् ॥१॥ अनादिकालतो जीवः पूर्वसंचितकर्मणाम्। भुज्यते चोदयेनैव भवावलिं सुदुर्द्धराम् ॥२॥ कर्मणां हि विपाको यः सुखदुःखादिकारकः। श्वभ्रतिर्यग्नृदेवादेर्विचित्रगतिदायकः ॥३॥ कर्मणामुदयस्तत्र चिन्त्यते हि मुमुक्षुणा। अन्यचिन्तानिरोधेन चैकाग्रमनसा हि सः ॥४॥ विपाकविचयं ध्यानं कर्मफलप्रदर्शकम्। श्रीमज्जिनेन्द्रदेवेन कथितं तज्जिनागमे ॥५॥ कर्मणामुदयो योऽत्र संसारोऽस्ति स एव वा। कर्मणामुदयो यावत्संसारस्तावदेव हि ॥६॥ इति मत्वा सुभव्येन कर्मोदयविचारणा। क्रियतेऽत्र सदैकाग्रचिन्ता संरोधपूर्वकम् ॥७॥ विपाकविचयं तद्धि ध्यानं निर्वेदवर्द्धकम्। निरंतरं सुभव्येन ध्यातव्यं कर्महानये

---

जिनके हृदयमें कर्मोंका उदय कुछ विकार उत्पन्न नहीं करता, ऐसे योगिराज वीतराग भगवान् अरनाथको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ यह जीव पहले संचित हुए कर्मोंके उदयसे प्राप्त होनेवाली अत्यंत दुर्धर ऐसी जन्म-मरणरूपी संसारकी परंपराको अनादि कालसे भोगता चला आया है ॥२॥ इन कर्मोंका विपाक सुख दुःखादिकको देनेवाला है और नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवादिककी विचित्र गतियोंको देनेवाला है ॥३॥ इसप्रकार मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीव अन्य सब चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे कर्मोंके उदयका जो चिंतवन करते हैं, उसको कर्मोंके फलको दिखलानेवाला विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने जिनागममें बतलाया है ॥४—५॥ जो कर्मोंका उदय है, वही संसार है। क्योंकि जबतक कर्मोंका उदय रहता है तभीतक संसार रहता है ॥६॥ यही समझकर भव्य जीवोंको कर्मोंके उदयका विचार करना चाहिये तथा अन्य समस्त चिंताओंको रोककर एकाग्र मनसे चिंतवन करना चाहिये।

॥८॥ सर्वे संसारिणो जीवा भुञ्जते हि चतुर्गतौ । कर्मोदयेन पीडां तां जन्ममृत्युभयात्मिकाम् ॥९॥ क्षणं क्षणमुदेत्यत्र नाना-दुःखप्रवर्तकः । सर्वसंसारिणां सोऽयं जन्ममृत्योश्च कारकः ॥१०॥ नहि वारियितुं शक्यः केनापीह कथंचन । कर्मणामुदयस्तीव्रो महान् हालाहलोपमः ॥११॥ कर्मोदयाच्च रङ्कोऽपि क्षणाद्राजा प्रजायते । राजा रङ्कायते सद्यो विचित्रा कर्मणां गतिः ॥१२॥ न मंत्रं न तपो देवपूजा वा नैव बांधवः । त्रातुं कोऽपि समर्थो न जन्तुं कर्मोदयात्किल ॥१३॥ सुखासुखं न शक्नोति दातुं हर्तुमिहात्र कः । एकं पुराकृतं कर्म लीलया कुरुतेऽखिलम् ॥१४॥ शक्रोऽपि न समर्थो वा वलात् कर्तुं तमन्यथा । कर्मणामुदयो लोके भोक्तव्यो नियमेन सः ॥१५॥ शुभाशुभक्रियां जीवस्त्रियोगेन करोति याम् । सैवात्र कर्म व्याख्यातं विपाकोऽस्ति च तत्फलम् ॥१६॥ कर्म वध्नाति जीवोऽयं सततं हि त्रियोगतः । उदयोपि भवत्येव सततं तस्य कर्मणः ॥१७॥

---

इसीको वैराग्यको बढ़ानेवाला विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं। अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये भव्य जीवोंको निरंतर ही इसको धारण करना चाहिये ॥७—८॥ इसी कर्मके उदयसे ये संसारी जीव चारों गतियोंमें जन्म-मरण-भयरूप अनेक दुःखोंको सहन करते हैं ॥९॥ जन्म-मरणको उत्पन्न करनेवाला और अनेक प्रकारके दुःख देनेवाला यह कर्मोंका उदय समस्त संसारी जीवोंके क्षण क्षणमें उदय होता रहता है ॥१०॥ यह कर्मोंका उदय अत्यंत तीव्र है और हलाहल विषके समान है, इसको कोई किसीप्रकार रोक नहीं सकता ॥११॥ इस कर्मके उदयसे क्षणभरमें ही रंकसे राजा हो जाता है और राजासे रंक हो जाता है। इन कर्मोंकी गति बड़ी ही विचित्र है ॥१२॥ इन कर्मोंके उदयसे इन जीवोंकी रक्षा करनेमें न तो कोई मंत्र समर्थ है, न कोई तप समर्थ है, न कोई देवपूजा समर्थ है और न कोई भाई-बंधु समर्थ है ॥१३॥ इस संसारमें सुख वा दुःख देनेके लिये कोई भी समर्थ नहीं है। केवल पहले किया हुआ एक कर्म ही लीलापूर्वक सब कुछ किया करता है ॥१४॥ उस कर्मके उदयको इंद्र भी अपने बलसे नहीं बदल सकते। इस संसारमें ऐसा यह कर्मोंका उदय नियमसे भोगना पड़ता है ॥१५॥ यह जीव मन, वचन और कायके योगसे जो शुभ अथवा अशुभ क्रियाओंको करता है, उसीको कर्म कहते हैं और उसके फलको कर्मोंका विपाक कहते हैं ॥१६॥ यह जीव मन, वचन और कायके द्वारा निरंतर कर्मोंका बंध करता रहता है और निरंतर ही कर्मोंका उदय होता रहता है ॥१७॥ यह जीव अनंतकालसे अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता आ रहा है,

अनन्तकालतो जीवो नानायोनौ हि पर्यटन्। नात्र किंचित्सुखं लेभे कर्मणां दुर्विपाकतः ॥१८॥ खिद्यते ताम्यति व्येति जायते परिनृत्यति। रौति मूर्च्छति जीवोऽयं कर्मणामुदये सति ॥१९॥ काम्यति युध्यते शेते हिनस्ति क्रुध्यति स्वयम्। रज्यति मुह्यति द्वेष्टि कर्मोदयादयं जनः ॥२०॥ धावति वल्गति स्तौति निन्दति पापतः परान्। हर्षति रोचते पुण्याज्जीवः कर्मोदयादिह ॥२१॥ चतुर्गतौ च संसारे नानावेषं च धारयन्। कर्मणामुदयाज्जीवो नाट्य इव नटायते ॥२२॥ पिता भवति पुत्रोऽसौ पुत्रः पित्रायतेतराम्। राजा भवति मार्जारः श्वा देवोऽपि च जायते ॥२३॥ अतिभीमेऽत्र संसारे कर्मणामुदयादिह। सर्वत्र सर्वभावेन जीवो नृत्यति लीलया ॥२४॥ सुखं न जायते जीवस्याल्पकर्मोदयादिह। दुःखरूपे च संसारे दुःखमेव हि जायते ॥२५॥ जलबुद्बुदसादृश्यं सुखं किंचिच्च दृश्यते। कृतकर्मविपाकाच्च दुःखस्य कारणं हि तत् ॥२६॥ दुःखमयेऽत्र संसारे कर्मोदयात्सुतंत्रिते। जन्ममृत्युभवं दुःखं जीवः प्राप्नोति दारुणम् ॥२७॥ कर्मोदयः स

परंतु कर्मोंके अशुभोदयसे इसको रंचमात्र भी सुख प्राप्त नहीं हुआ है ॥१८॥ कर्मोंके उदय होनेपर यह जीव खेदखिन्न होता है, दुःखी होता है, नष्ट होता है, उत्पन्न होता है, नृत्य करता है, रोता है और मूर्च्छाको प्राप्त होता है ॥१९॥ इसी कर्मसे उदयसे यह जीव इच्छा करता है, लड़ता है, सोता है, हिंसा करता है, क्रोध करता है, राग करता है, मोह करता है और द्वेष करता है ॥२०॥ यह जीव पाप कर्मोंके उदयसे दौड़ता है, बकता है, दूसरेकी निन्दा करता है वा स्तुति करता है, अथवा पुण्यकर्मके उदयसे प्रसन्न होता है वा रुचि करने लगता है ॥२१॥ कर्मोंके उदयसे यह जीव चतुर्गतिरूप संसारमें अनेक भेषोंको धारण करता हुआ नाट्यशालामें नटके समान नाचता रहता है ॥२२॥ कर्मोंके उदयसे अत्यन्त भयानक इस संसारमें यह जीव पितासे पुत्र हो जाता है, पुत्रसे पिता हो जाता है, राजासे बिल्ली हो जाता है और कुत्तासे देव हो जाता है। इसप्रकार यह जीव सब जगह और सब भावोंसे लीलापूर्वक नृत्य किया करता है ॥२३—२४॥ इन कर्मोंके उदयसे इस जीवको थोड़ासा भी सुख प्राप्त नहीं होता। यह संसार दुःखरूप है, इसलिये इसमें सदा दुःख ही दुःख प्राप्त होता रहता है ॥२५॥ किये हुए कर्मोंके उदयसे यदि पानीके बुद्बुदाके समान थोड़ी देर तक टिकनेवाला थोड़ासा सुख दिखाई देता है, तथापि वह आगामी दुःखोंका ही कारण होता है ॥२६॥ कर्मोंके उदयके वशीभूत होनेवाले और दुःखमय इस संसारमें यह जीव जन्म-मरणसे उत्पन्न

संसारो न चान्योऽस्तीह वा क्वचित् । कृत्स्नकर्मोदयाभावो मोक्षोऽस्ति नियमेन सः ॥२८॥ कर्मोदयादनन्तास्ते जीवा नित्यनिगोतके । अनन्तकालतोऽद्यापि सहन्ते वेदनां पराम् ॥२९॥ तत्रैकोच्छ्वासमात्रे हि चाष्टादशप्रमाणकम् । कुजन्ममरणं नित्यं कुर्वन्ति कर्मयोगतः ॥३०॥ श्वभ्रे कर्मोदयाज्जीवो वधबन्धादिकं भृशम् । ताडनं मारणं चैव दुःखं वा सहते परम् ॥३१॥ छेदनं भेदनं तीव्रं भर्त्सनं दहनं तथा । कर्मोदयात्स जीवोऽयं लभते वेदनां पराम् ॥३२॥ बहुसागरपर्यंतं दुःखं प्राप्नोति भीमकम् । न कोऽपि रक्षकस्तत्र प्रतीकारोऽपि नास्ति वै ॥३३॥ हिंसास्तेयानृताब्रह्मसंगादिपापतो ननु । कर्मोदयादयं तत्र सहते वेदनां पराम् ॥३४॥ जीवानां वधबंधेन मायाचारेण कर्मणा । दुर्नीतिनाऽसदाचारेणान्येन पापकर्मणा ॥३५॥ दुर्गतौ जायते जीवो तिर्यग्योनौ च संततम् । कर्मोदयाच्च तत्रापि परतन्त्रः सदा दुःखी ॥३६॥ अतिभीमेऽत्र संसारे कर्मणा-

---

होनेवाले अनेक दारुण दुःखोंको प्राप्त हुआ करता है ॥२७॥ इस संसारमें जो कर्मोंका उदय है, वही संसार है, कर्मोंके उदयके सिवाय अन्य कोई संसार नहीं है; तथा समस्त कर्मोंके उदयका अभाव होना ही नियमसे मोक्ष है ॥२८॥ इन्हीं कर्मोंके उदयसे अनंतानंत जीव अनंतानंत कालसे नित्य निगोदमें पड़े हुए हैं और आजतक सबसे अधिक वेदनाको सह रहे हैं ॥२९॥ वे जीव कर्मोंके उदयसे जितनी देरमें एक श्वास लिया जाता है, उतनी देरमें अठारह बार कुजन्म-मरण धारण करते रहते हैं, इसीप्रकार सदासे जन्म-मरण करते आ रहे हैं ॥३०॥ कर्मोंके उदयसे ही यह जीव नरकमें उत्पन्न होता है, वहां पर वध-बंधनके अनेक दुःख सहन करता है तथा ताडनमारण आदिके महादुःखोंको सहन करता है। उसी नरकमें कर्मोंके उदयसे यह जीव छेदन, भेदन, तीव्र भर्त्सन तथा दहन आदिकी तीव्र वेदनाओंको सहन करता रहता है। उन नरकोंमें यह जीव अनेक सागर पर्यंत भयानक दुःख सहन करता रहता है। उन दुःखोंसे बचानेवाला वहांपर कोई नहीं है और न उन दुःखोंका कोई प्रतीकार वा उपाय है ॥३१–३३॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहरूप पापकर्मोंके उदयसे यह जीव उन नरकोंमें तीव्र वेदनाओंको सहन करता रहता है ॥३४॥ जीवोंका वध, बंधन करनेसे, मायाचार करनेसे, कुटिल नीतिसे, असदाचारसे वा अन्य पाप कर्मोंसे यह जीव तिर्यंच योनिकी अनेक दुर्गतियोंमें निरंतर उत्पन्न होता रहता है और उन कर्मोंके उदयसे वहां भी परतंत्र होता हुआ सदा दुःखी रहता है ॥३५–३६॥ कर्मोंके उदयसे यह जीव अत्यंत भयानक इस संसारमें किन किन

मुदयादिह । कानि कानि च दुःखानि जीवो न सहते चिरम् ॥३७॥ कर्मतंत्रात्पराधीनः वंदीव किं करोति न । सर्वत्र च त्रिलोकेषु कर्मोदयोऽतिदुर्द्धरः ॥३८॥ तं निरोद्धुं न कोऽपीह समर्थो बलवान् क्षमः । ध्यानतपोऽग्निना कर्मोदयः स हि विनश्यते ॥३९॥ कर्माधीनतया जीवो दुःखं सहेत यादृशम् । तादृशं कर्मनाशार्थं स्वतंत्रेण सहेत वा ॥४०॥ तपोध्यानादिभिश्चात्र स्वल्पं कालं सुभावतः । स निर्जरामरो भूत्वा स्वतंत्रो जायते स्वयम् ॥४१॥ यदि कर्म निरोद्धुं तच्चेच्छा ते वरिवर्ति वा । आत्मन् त्वं कुरु सद्ध्यानं कर्मविपाकजं शुभम् ॥४२॥ कर्मणामुदयस्तत्र योगीगत्यादिभेदतः । चिन्तयेत्कर्म नोकर्म भावकर्म पुनः पुनः ॥४३॥ विपाकचिन्तनेनात्र योगी जानाति कर्मणाम् । संसृतौ द्रव्यपर्यायभेदं गतागतं तथा ॥ ४४॥ तेनात्र चिन्तनेनैव निर्वेदो जायते परम् । भवभोगाङ्गदेहेभ्यो विरतिर्जायते परा ॥४५॥ ततो हि कर्मनाशार्थं यत्नं करोति भावतः । ध्यानं विपाकजं कृत्वा शिवं याति सुनिश्चितम् ॥४६॥ यद्यपि शुद्धरूपोऽहं तथापि कर्मपाकतः । अनादितो

---

दुःखोंको चिरकाल तक सहन नहीं करता अर्थात् समस्त दुःखोंको सहन करता रहता है ॥३७॥ कर्मोंके उदयसे पराधीन हुआ यह जीव तीनों लोकोमें सब जगह कैदीके समान क्या क्या कार्य नहीं करता है अर्थात् सब कुछ करता है। यह कर्मोंका उदय अत्यन्त दुर्धर है ॥३८॥ उस कर्मके उदयको रोकनेके लिये कोई भी बलवान् समर्थ नहीं है। यह कर्मोंका उदय ध्यान और तपश्चरणरूपी अग्निसे ही नष्ट किया जा सकता है ॥३९॥ यह जीव कर्मोंके आधीन होकर जैसे दुःखोंको सहन करता है, वैसे दुःख कर्मोंके नाश करनेके लिये स्वतन्त्र होकर तप वा ध्यान आदिके द्वारा निर्मल परिणामोंसे थोड़े काल तक भी सहन कर ले तो अजर अमर होकर यह जीव सदाके लिये स्वतन्त्र हो जाय। हे आत्मन्! यदि उन कर्मोंके उदयको रोकनेकी तेरी इच्छा है तो तू कर्मोंके विपाकको चिंतवन करनेवाला विपाकविचय नामके धर्मध्यानको धारण कर ॥४०-४१॥ योगियोंको गति आदिके भेदसे कर्मोंके उदयका चिंतवन करना चाहिये। और कर्म नोकर्म और भावकर्मोंका चिंतवन करना चाहिये, कर्मोंके उदयका चिंतवन करनेसे योगियोंको संसारमें होनेवाले द्रव्यपर्यायके भेद तथा कर्मोंका आस्रव, संवर, निर्जरा आदि सबका ज्ञान हो जाता है। इन सबका चिंतवन करनेसे उत्कृष्ट वैराग्य उत्पन्न होता है और संसार, शरीर, भोग तथा इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्कृष्ट वैराग्य उत्पन्न होता है। इसलिये जो जीव कर्मोंका नाश करनेके लिये निर्मल परिणामोंसे प्रयत्न करता है। इस विपाकविचय नामके धर्मध्यानको धारणकर कर्मोंके नाश करनेका प्रयत्न करता

जडो मूर्तो जातोऽहं पररूपकः ॥४७॥ त्रिलोकदर्शिका शक्तिर्नष्टा मे कर्मयोगतः । नष्टं मेऽनन्तविज्ञानं चराचरप्रकाशकम् ॥४८॥ नष्टो मेऽनन्तवीर्योऽसौ जगदाश्चर्यकारकः । पूर्णस्वाधीनमात्मोत्थमनन्तमविनश्वरम् ॥४९॥ नष्टं मे तत्सुखं हा हा ,कर्मविपाकतोऽधुना । अव्यावाधत्वशक्तिर्मे नष्टा हा चित्स्वरूपिका ॥५०॥ कर्मणामुदयं तस्माद्रुन्धे ध्यानाग्निनाऽधुना । कर्मोदयं हि रुध्वा वा स्वतन्त्रो हि भवाम्यहम् ॥५१॥ तदर्थं चिन्तनं चैकाग्रचिन्तारोधपूर्वकम् । कर्मविपाकजं तद्धि ध्यानं कर्मविनाशनम् ॥५२॥ यथा यथा हि योगी स ध्यायति कर्मणां फलम् । तथा तथा स संसाराद्बिभेति लभते शिवम् ॥५३॥ कर्मणां हि विपाकं वा चिन्तयन् स पुनः पुनः । यतते चात्मशुद्ध्यर्थं ध्यानाध्ययनकर्मसु ॥५४॥ कर्मविपाकजं ध्यानं ध्यातं तीर्थकरैरपि । गणधरैरपि ध्यातं कर्मनिर्नाशहेतवे ॥५५॥ कर्मविपाकजाद्ध्यानान्नश्यन्ते कर्मशत्रवः । लभ्यते

है, वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है ॥४३-४६॥ यद्यपि मैं शुद्धस्वरूप हूं तथापि कर्मके उदयद्वारा अनादि कालसे जड़, मूर्त और पररूप हो रहा हूं। इसी कर्मके निमित्तसे तीनों लोकोंको दिखलानेवाली मेरी शक्ति नष्ट हो गई है और चर-अचरको प्रकाशित करनेवाला मेरा अनन्त ज्ञान नष्ट हो गया है। इस कर्मके उदयसे जगत्को आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला मेरा अनंत वीर्य नष्ट हो गया है तथा आत्मासे उत्पन्न हुआ पूर्ण स्वाधीन और कभी न नाश होनेवाला अनंत सुख भी इसी कर्मके उदयसे नष्ट हो गया है। इसी कर्मके उदयसे मेरी चैतन्यस्वरूप अव्यावाध शक्ति नष्ट हो गई है। इसलिये अब मैं ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंके उदयको रोकूंगा और कर्मोंके उदयको रोककर स्वतंत्र हो जाऊंगा। इसप्रकार अन्य समस्त चिन्तवनोंको रोककर एकाग्र मनसे कर्मोंके उदयके रोकनेका चिन्तवन करना कर्मोंको नाश करनेवाला विपाकविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४७-५२॥ यह योगी जैसे जैसे कर्मोंके उदयका चिन्तवन करता रहता है, वैसे ही वैसे संसारसे भयभीत होता है और मोक्षको प्राप्त करता है ॥५३॥ कर्मोंके उदयको बार बार चिंतवन करता हुआ वह योगी अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये ध्यान-अध्ययन आदि कार्योंमें सदा प्रयत्न करता रहता है ॥५४॥ कर्मोंके विपाकसे उत्पन्न हुआ यह विपाकविचय ध्यान पहले तीर्थकरोंने भी धारण किया है और कर्मोंका नाश करनेके लिये गणधर देवोंने इसे भी धारण किया है ॥५५॥ कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए इस विपाकविचय धर्मध्यानसे कर्मरूप सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं, मोक्षका सुख प्राप्त हो जाता है और महान् आनन्द प्रगट होता है

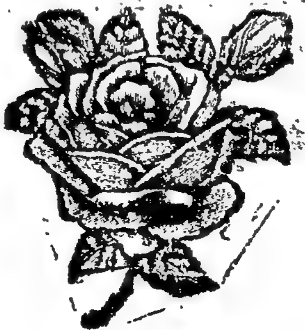
शिवसौख्यं हि महानन्दश्च जायते ॥५६॥ इह जगति च जीवः कर्मणां पाकतोऽत्र भ्रमति विविधयोनौ जन्म मृत्युं करोति। अतिशयपरतन्त्रो दुःखमन्वेति नित्यं धरतु सुखनिवासं कर्महान्यै सुधर्मम् ॥५७॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारे विपाकविचयनिरूपणो नाम एकोनविंशोऽधिकारः।

---

॥५६॥ इस संसारमें यह जीव कर्मोंके उदयसे अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता रहता है और सदा जन्म-मरण धारण करता रहता है। उन्हीं कर्मोंके उदयसे अत्यन्त परतंत्र हुआ यह जीव सदा दुःखोंको भोगा करता है। इसलिये भव्य जीवोंको उन कर्मोंका नाश करनेके लिये समस्त सुखोंका स्थान ऐसा श्रेष्ठधर्म सदा धारण करते रहना चाहिये ॥५७॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें विपाकविचय नामके धर्मध्यानको निरूपण करनेवाला यह उन्नीसवां अधिकार समाप्त हुआ।



# विंशतितमोऽधिकारः ।



लोकालोकं विजानाति पश्यति युगपत्सदा । वन्द्यते ज्ञानभानुः स श्रीमल्लितीर्थनायकः ॥१॥ अनादिनिधनं नित्यमनन्तं व्यापकं विभु । आकाशं सर्वतो ज्येष्ठमनन्तानन्तशक्तिमत् ॥२॥ अकृत्रिमं स्वयम्भूतमवगाहनशक्तिभृत् । लोकालोकप्रभेदेन द्विधा प्रोक्तं जिनेशिना ॥३॥ यत्र जीवादयश्चार्थाः सन्ति स लोक उच्यते । केवलं व्यवहारत्वादाकाशं केवलं च तत् ॥४॥ षड्द्रव्यसञ्चितो लोकस्त्रिभिर्वातैश्च वेष्ठितः । स्वयं प्रतिष्ठितस्तेन भाति वाश्चर्यकारकः ॥५॥

---

जो लोक अलोकको जानते हैं और एक साथ देखते हैं और जो ज्ञानके सूर्य हैं, ऐसे तीर्थंकर भगवान् श्रीमल्लिनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ यह आकाश अनादि है, अनिधन है, नित्य है, अनंत है, व्यापक है, विभु है, सबसे बड़ा है और अनंत शक्तिको धारण करनेवाला है ॥२॥ वह आकाश अकृत्रिम है, स्वयंभू है और अवगाहन शक्तिको धारण करनेवाला है । भगवान जिनेन्द्रदेवने उसी आकाशके लोक अलोकके भेदसे दो भेद बतलाये हैं ॥३॥ जिस आकाशमें जीवादिक पदार्थ विद्यमान हैं, उसे व्यवहार नयसे लोकाकाश कहते हैं; वास्तवमें वह आकाश ही है ॥४॥ उस लोकाकाशमें छहों द्रव्य भरे हुए हैं; घन वात, अम्बु वात और वात; इन तीन प्रकारकी वायुओंसे घिरा हुआ है । वह स्वयं प्रतिष्ठित है किसीका बनाया हुआ नहीं है । और इसीलिये आश्चर्य करनेवाला वह बहुत ही शोभायमान होता है ॥५॥ उस लोकाकाशके तीन विभाग हैं—एक अधोलोक, दूसरा मध्यलोक और तीसरा ऊर्ध्वलोक । अधोलोक मूढ़ा ( वेंतके आसन ) के आकारका है, मध्यलोक थालीके आकारका है और ऊर्ध्वलोक पखावजके आकारका है; इसप्रकार तीन भागोंसे

अधोवेत्रासनाकारो मध्ये झल्लरिको मतः। अन्ते हि मुरजाकारस्त्रिविभागैर्विभाति यः ॥६॥ अनादिनिधनो लोकः स्वयंभूर्हि सनातनः। स केनापि कृतो नैव विलीनो न धृतो न वा ॥७॥ पंचद्रव्यविहीनं चाकाशमस्ति हि केवलम्। अनादिनिधनं नित्यमवगाहनशक्तिभृत् ॥८॥ लोके सर्वत्र जीवोऽयं भ्राम्यति कर्मयोगतः। स जन्ममृत्युभिर्नित्यं दुःखं प्राप्नोति दारुणम् ॥९॥ लोकः क्षेत्रं च संस्थानं सर्वे पर्यायवाचकाः। जन्ममृत्युजरादीनां क्षेत्रं लोकः प्रकीर्त्यते ॥१०॥ यत्र सर्वत्र जीवोऽयं करोति जननादिकम्। सोऽपि पंचपरावर्तैर्भ्रमतीह निरन्तरम् ॥११॥ लोकस्य चिन्तनं चैकाग्रचिन्तारोधपूर्वकम्। संस्थानविचयं ध्यानं तदस्ति क्षेत्रवाचकम् ॥१२॥ तत्र लोके ह्यधोभागे नारकाः सन्ति शाश्वतम्। क्षेत्रजं दारुणं तत्र दुःखमस्ति निरन्तरम् ॥१३॥ तेषां हि नारकाणां तु देहो लेश्या च विक्रिया। भावो निरन्तरं क्रूरतमोऽशुभश्च जायते ॥१४॥ ताडनं मारणं बन्धं भर्त्सनं छेदनं तथा। अङ्गानां भेदनं चैव प्राणानां परिपीडनम् ॥१५॥ भर्जनं वालुकायंत्रे दहनं तप्ततैलके। पातनं चाग्निकुण्डे वा वैतरण्यां प्रपातनम् ॥१६॥ एवं हि नारकास्तत्र कुर्वन्ति च परस्परम्। अति-

---

वह सुशोभित होता है ॥६॥ यह लोकाकाश अनादिनिधन है, स्वयंभू है, सनातन है, न किसीने किया है, न किसीने धारण किया है और न कोई इसे नष्ट करता है ॥७॥ जिसमें जीवादिक द्रव्य नहीं है, उसे अलोकाकाश कहते हैं। वह अलोकाकाश भी अनादिअनिधन है और अवगाहन शक्तिको धारण करता है ॥८॥ कर्मोंके निमित्तसे यह जीव समस्त लोकाकाशमें परिभ्रमण करता है, तथा जन्म-मृत्युके द्वारा सदा दारुण दुःख भोगता रहता है ॥९॥ लोक, क्षेत्र वा संस्थान सब पर्यायवाचक शब्द हैं, जन्म-मरण आदिका जो क्षेत्र है उसीको लोक कहते हैं ॥१०॥ इसी लोकमें यह जीव पाँच परिवर्तनोंके द्वारा जन्म-मरण करता हुआ निरंतर परिभ्रमण किया करता है ॥११॥ अन्य सब चिन्ताओंको रोककर एकाग्र मनसे इसी लोकका चिन्तवन करना क्षेत्रको सूचित करनेवाला संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥१२॥ उस लोकाकाशके अधोभागमें सदा नारकी रहा करते हैं और उस क्षेत्रसे उत्पन्न हुए दारुण दुःखोंको निरंतर सहन किया करते हैं ॥१३॥ उन नारकियोंका शरीर, लेश्या, विक्रिया और भाव निरंतर अत्यंत क्रूर और अत्यन्त अशुभ होते हैं ॥१४॥ वहांपर नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको ताडन, मारण, बंधन, भर्त्सन, अंग तथा उपांगोंका छेदन-भेदन और प्राणोंका पीडन आदि करके अनेक प्रकारके दुःख दिया करते हैं, बालुके यंत्रमें भूनते हैं, गर्म

शीतं च वात्युष्णं चेत्रजं दुःखमस्ति वा ॥१७॥ यो मांसभक्षणासक्तो लोलुपो विषयादिषु। स जीवो नरके दुःखं लभते नात्र संशयः ॥१८॥ मधुसेवनतो जीवः श्वभ्रे गच्छति भीमके। मद्यपायी मतिभ्रष्टो चिरं गच्छति दुर्गतौ ॥१९॥ सप्तव्यसनकैर्युक्त इन्द्रियासक्तमानसः। मिथ्याधर्मे हि संलीनः श्वभ्रे दुःखं बिभर्ति सः ॥२०॥ हिंसास्तेयानृताब्रह्मसंगादिपापतो ननु। अन्यायाभक्ष्यतो जीवः श्वभ्रे गच्छति भीमके ॥२१॥ सत्यदेवं परित्यज्य मिथ्यादेवं भजन्ति ये। भ्रमात्तेऽत्र जडा दीर्घसंसारे पर्यटन्ति वा ॥२२॥ गुरुद्रोहं प्रकुर्वन्ति सन्मार्गं लोपयन्ति ये। मोहात्सर्वं हि वैयात्यं कुर्वन्ति सुखलिप्सया ॥२३॥ जिनागमविरुद्धं यल्लेखनं प्रतिभाषणम्। नूनं ते नरके घोरे प्रयान्ति मलिनात्मकाः ॥२४॥ सज्जातिलोपनाल्लोके महापापं प्रजायते। तेन पापेन जीवोऽयं चिरं भ्रमति दुर्गतौ ॥२५॥ सज्जातिलोपनं येन कृतं तेन च पापिना।

---

तेलमें जलाते हैं, अग्निकुण्डमें पटक देते हैं, वैतरणी नदीमें पटक देते हैं। इस प्रकार वे नारकी परस्पर एक दूसरेको दुःख दिया करते हैं। इसके सिवाय वहांकी भूमि या तो अत्यन्त उष्ण है या अत्यन्त शीत है, उसके दुःख भी उनको सहने पड़ते हैं ॥१५–१७॥ जो जीव मांसभक्षणमें आसक्त हैं, अथवा जो विषयसेवनके लोलुप हैं ऐसे जीव नरकमें पड़कर दुःख भोगते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है ॥१८॥ जो जीव शहद खाते हैं, वे भी भयानक नरकमें पड़ते हैं तथा मद्य पीकर अपनी बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले भी चिरकालतक नरकरूप दुर्गतिमें पड़े रहते हैं ॥१९॥ जो जीव सातों व्यसनों का वा किसी एक दो भी व्यसनोंका सेवन करते हैं, जिनका मन इन्द्रियोंके विषयोंमें तल्लीन है और जो मिथ्या धर्मोंमें लीन रहते हैं, ऐसे जीव नरकमें पड़कर महादुःखोंको भोगा करते हैं ॥२०॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह आदि पापोंसे तथा अन्याय और अभक्ष्य-भक्षणसे यह जीव अवश्य ही भयानक नरकमें जा पड़ता है ॥२१॥ जो जीव भ्रमसे यथार्थ देवको छोड़कर मिथ्या देवोंका सेवन करते हैं, वे मूर्ख सदा दीर्घ संसारमें परिभ्रमण किया करते हैं ॥२२॥ जो जीव गुरुद्रोह करते हैं, श्रेष्ठ मार्गका लोप करते हैं, मोहनीय कर्मके उदयसे सुखकी इच्छा करते हुए समस्त कार्य विपरीत ही करते हैं, जिनागमके विरुद्ध लिखते हैं वा भाषण देते हैं ऐसे मलिन आत्माको धारण करनेवाले वे लोग घोर नरकमें अवश्य पड़ते हैं ॥२३–२४॥ इस संसारमें सज्जातिका लोप करनेसे महापाप उत्पन्न होता है और उस पापसे यह जीव चिरकालतक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण किया करता है। जिस मोही जीवने सज्जातिका

मुनिवंशस्य विध्वंसं मोहात् किं किं करोति न ॥२६॥ विषयकामचेष्टार्थं सद्धर्मं लोपयन्ति ये । स्वोक्त्यान्यथा प्रकुर्वन्ति मोहाद्येऽत्र जिनागमम् ॥२७॥ दूषयन्ति सदाचारं मोहाद्विषयलम्पटाः । वर्द्धयन्ति ह्यनाचारं श्वभ्रं यान्ति हि तेऽधमाः॥२८॥ अस्पृश्यैः शूद्रकैः सार्द्धमभक्ष्यं भक्षयन्ति ये । कुर्वन्ति मलिनाचारं विषयैः प्रेरिता ननु ॥२९॥ विधवानां विवाहं ये जल्पन्ति प्रेरयन्ति वा । हीनाचारं महामोहात्प्रकाशयन्ति भूतले ॥३०॥ विवेकविकला हीनाः कुज्ञानेन मदोद्धताः । अन्तर्दुष्टा बहिःशिष्टास्तेऽत्राधोगामिनो मताः ॥३१॥ देवधर्मगुरुशास्त्रसंघादीनां कुबुद्धितः । चैत्यचैत्यालयादीनां निन्दां कुर्वन्ति पापतः ॥३२॥ हिताहितं न जानन्ति बालाः पापं चरन्ति च । श्वभ्रादिदुर्गतौ नूनं दीर्घकालं भजन्ति ते ॥३३॥ अधोलोकस्य संस्थानं चिन्त्यते च विचार्यते । एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानं संस्थानसंज्ञकम् ॥३४॥ तच्चिन्तनेन जीवोऽयं क्षेत्राद् दुःखद्बिभेति सः ।

---

लोप किया है, उसने मुनियोंके वंशको ही विध्वंस कर डाला है—ऐसा समझना चाहिये सो ठीक ही है । क्योंकि मोहसे यह जीव क्या क्या नहीं करता है अर्थात् सब कुछ करता है ॥२५–२६॥ जो जीव विषय और काम-सेवन करनेके लिये श्रेष्ठ धर्मका लोप करते हैं, जो मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे अपनी युक्तिसे जिनागमको अन्यथा करते हैं, जो विषय-लम्पटी जीव मोहकर्मके उदयसे सदाचारमें दोष लगाते हैं और अनाचारको बढ़ाते हैं, वे नीच नरकमें अवश्य पड़ते हैं ॥२७–२८॥ जो जीव अस्पृश्य शूद्रोंका साथ या अभक्ष्यभक्षण करते हैं, विषयोंसे प्रेरित होकर जो मलिनाचारको फैलाते हैं, जो विधवाविवाहका निरूपण करते हैं वा विधवा-विवाह करनेकी प्रेरणा करते हैं, जो तीव्र मोहनीय कर्मके उदयसे इस संसारमें हीनाचारको फैलाते हैं, जो अपनी अज्ञानताके कारण विवेकरहित हैं, सर्वथा हीन हैं, मदोन्मत्त हैं, अंतरंगमें महादुष्ट हैं, परंतु बाहरसे शिष्ट दिखाई पड़ते हैं, ऐसे जीव भी नरकमें ही पड़ते हैं ॥२९–३१॥ जो लोग अपनी कुबुद्धिसे वा पाप कर्मके उदयसे देव, धर्म, गुरु, शास्त्र और संघ आदिकी निंदा करते हैं, चैत्य (प्रतिमा) और चैत्यालय आदिकी निंदा करते हैं, जो हित-अहितको नहीं जानते हैं अथवा जो मूर्ख पाप करते हैं; वे लोग चिरकालतक नर-कादिक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण करते हैं ॥३२–३३॥ जो लोग एकाग्र मनसे अधोलोकके संस्थानका चिन्तवन करते हैं वा विचार करते हैं, उसको संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहते हैं ॥३४॥ इस संस्थानविचयका चिंतवन करनेसे यह जीव क्षेत्रोंके दुःखसे भयभीत होता है और श्रेष्ठधर्म धारण करता हुआ पापोंको छोड़कर

करोति स्वात्मकल्याणं पापं त्यक्त्वा सुधर्मतः ॥३५॥ मध्यलोके हि तिर्यञ्चो मानवाः कर्मप्रेरिताः । जन्म मृत्युं प्रकुर्वन्ति नूनं ते पापकर्मणा ॥३६॥ तिर्यग्योनौ च दुर्गत्यां जीवा दुःखं भजन्ति च । अनादिकालतस्तत्र महामोहेन मोहिताः ॥३७॥ नित्यनिगोतके जीवा जन्म मृत्युं वदन्ति च । तेषां दुःखस्य पारं न त्रसत्वं तेऽपिनागताः ॥३८॥ येऽत्र त्रसाश्च तिर्यञ्चस्तेऽपि चात्यन्तदुःखिनः । व्याकुलाश्च पराधीना अशक्ता दुःखपूरिताः ॥३९॥ वधबंधनजं तीव्रं शीतोष्णक्षुत्तृपादिकम् । दुःखं वहन्ति ते जीवाः तिर्यग्योनौ निरन्तरम् ॥४०॥ जीवानां वधबंधेन मायाचारेण कर्मणा । अतिविश्वासघातेनान्यस्य द्रव्याप्रदानतः ॥४१॥ अन्यायेन दुराचारदुर्नीत्यादिकुकर्मणा । तिर्यग्योनौ च दुर्गत्यां जीवा दुःखं भजन्ति वा ॥४२॥ मध्यक्षेत्रे च लोकेऽस्मिन् तिर्यग्दुःखस्य चिन्तनम् । अन्यचिन्तानिरोधेन चैकाग्रमनसा हि तत् ॥४३॥ संस्थानविचयं ध्यानं भवदुःखनिवर्तकम् । निर्वेदकारणं शुद्धया ध्यातव्यं तद्धि धीमता ॥४४॥ नृगतौ हि महादुःखमाधिव्याधि-

---

अपने आत्माका कल्याण करता है ॥३५॥ मध्यलोकमें कर्मोंके प्रेरित हुए मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं, जो पापकर्मके उदयसे सदा जन्म-मरण प्राप्त किया करते हैं ॥३६॥ तीव्र मोहनीयकर्मसे मोहित हुए ये जीव अनादिकालसे तिर्यंच योनिकी अनेक दुर्गतियोंमें अनेक प्रकारके दुःख सहन करते रहते हैं ॥३७॥ नित्य निगोदमें पड़े हुए जीव जन्म-मरणको धारण करते रहते हैं, उनके दुःखका कभी पार ही नहीं आता; क्योंकि उन्होंने आजतक त्रसपर्याय नहीं पाई है ॥३८॥ जो त्रस तिर्यंच हैं, वे भी बहुत दुःखी हैं; क्योंकि वे सदा व्याकुल रहते हैं, पराधीन रहते हैं, अशक्त होते हैं और महादुःखी होते हैं ॥३९॥ वे तिर्यंच जीव तिर्यंच योनिमें वध-बन्धनके तीव्र दुःख सहन करते रहते हैं; शीत, उष्ण, भूख और प्यास आदिकी महावेदनाको सहन करते रहते हैं। इस प्रकार वे महादुःख सहन किया करते हैं ॥४०॥ ये जीव जीवोंका वध-बंधन करनेसे, मायाचारिताके काम करनेसे, अत्यन्त विश्वासघात करनेसे, परद्रव्यका हरण करनेसे, अन्याय, दुराचार और दुर्नीति आदि नीच कार्योंके करनेसे तिर्यंच योनिकी दुर्गतिमें अनेक प्रकारके दुःख भोगा करते हैं ॥४१–४२॥ अन्य सब चिंतवनोंको रोककर एकाग्र मनसे इस मध्यलोकके क्षेत्रमें वा समस्त लोकमें रहनेवाले तिर्यंचोंके दुखोंका चिंतवन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान है । यह ध्यान संसारके दुःखोंको नाश करनेवाला है और परम वैराग्यका कारण है । बुद्धिमान् पुरुषोंको इसका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥४३–४४॥ मनुष्य-

समुद्भवम् । चिन्ताशोकपरीतापापमानचित्तजं परम् ॥४५॥ कलहरोगदारिद्र्यपीडाभीत्यादिकं महत् । इष्टवियोगजं चैवानिष्टसंयोगजं परम् ॥४६॥ एवं हि नृगतौ दुःखं लभन्तेऽत्र निरंतरम् । दुर्लभस्तु नृपर्यायः स्वर्गमोक्षसुसाधकः ॥४७॥ तं प्राप्य ये न कुर्वन्ति हितं स्वस्य सुखेप्सया । ते वंचिता हि मोहेन संसाराब्धौ ब्रुडन्ति च ॥४८॥ तस्मात्सुखेप्सया जीवाः कुर्वन्तु विविधं तपः । जिनलिंगं समाधृत्य पापं मुक्त्वा सुभावतः ॥४९॥ एवं हि मध्यलोकस्य चिन्तनं मननं तथा । चैकाग्रमनसा तद्धि ध्यानं संस्थानसंज्ञकम् ॥५०॥ ऊर्ध्वलोकस्य संस्थाने उत्पादश्चामृताशिनाम् । तत्र हि स्वर्गजा देवा निवसन्ति महाधियः ॥५१॥ यद्यपि स्वल्पपुण्येन स्वर्गे देवगतावहो । जीवास्तत्र लभन्ते च सुखं पंचाक्षजं परम् ॥५२॥ दिव्यांगरूपसंपन्नाः स्वतंत्रा हि मनोहराः । निर्भयाः सुखसाम्राज्यं भुञ्जते ते दिवानिशम् ॥५३॥ मुकुटाहारकेयूरशोभिता

---

गतिमें भी महादुःख होते हैं । आधि-व्याधिसे उत्पन्न होनेवाले महादुःख होते हैं; चिंता, शोक, संताप, अपमान आदिसे उत्पन्न होनेवाले दुःख; मनसे उत्पन्न होनेवाले दुःख; कलह, रोग, दरिद्रता, पीड़ा, भय आदिसे उत्पन्न होनेवाले महादुःख और इष्टवियोग वा अनिष्टसंयोगसे उत्पन्न होनेवाले महादुःख इस मनुष्य गतिमें भोगने पड़ते हैं । इसप्रकार मनुष्यगतिमें निरंतर दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं । यह मनुष्यपर्याय स्वर्ग—मोक्षका साधक है और इसीलिये अत्यन्त दुर्लभ है । इस मनुष्यपर्यायको पाकर सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे जो अपने आत्माका कल्याण नहीं करते हैं, वे मोहनीय कर्मके उदयसे ठगे जाते हैं और संसाररूपी समुद्रमें डूबते हैं । इसलिये आत्माके सुखकी इच्छासे भव्य जीवोंको निर्मल परिणामोंसे समस्त पापोंको छोड़कर जिनलिंग धारण करना चाहिये और अनेक प्रकारके तपश्चरण करने चाहिये । इस प्रकार एकाग्र मनसे मध्यलोकका चिन्तवन करना, मनन करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥४५–५०॥ ऊर्ध्वलोकके क्षेत्रमें देव उत्पन्न होते हैं और स्वर्गमें उत्पन्न हुए महाबुद्धिमान् देव वहां निवास करते हैं ॥५१॥ यद्यपि देवगतिमें स्वर्गमें थोड़से पुण्यकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं और वहांपर पंचेन्द्रियोंके श्रेष्ठ सुख प्राप्त करते हैं ॥५२॥ वे देव दिव्य शरीर और दिव्य रूपको धारण करते हैं, स्वतन्त्र होते हैं, मनोहर और निर्भय होते हैं और रात-दिन सुखसामग्रीका उपभोग करते रहते हैं ॥५३॥ वे देव मुकुट, हार, बाजूबन्द आदि आभरणोंसे सुशोभित रहते हैं, ऋद्धियोंको धारण करते हैं और संगीत, नृत्य तथा वादित्र आदिके द्वारा सदा दिव्य

ऋद्धिधारकाः । संगीतवाद्यनृत्याद्यैर्दिव्यं शर्म भजन्ति ते ॥५४॥ वैक्रियिकशरीरं वाऽवधिज्ञानं हि चोत्तमम् । जीवास्तत्र लभन्ते हि सर्वसौख्यकरं परम् ॥५५॥ न जराव्याधिदारिद्र्यमलमूत्रादिजं तथा । गर्भवासोद्भवं दुःखं न तत्र जातुचित् क्वचित् ॥५६॥ अष्ट मूलगुणान् येऽत्र धारयन्ति सुभावतः । जिनाज्ञां श्रद्धया स्वर्गे दिविजा हि भवन्ति ते ॥५७॥ ये पंचाणुव्रतं सम्यक् धारयन्तीह भावुकाः । जिनागमप्रमाणेन दिवि देवा भवन्ति ते ॥५८॥ ये सप्तव्यसनं त्यक्त्वा कुर्वन्ति संयमं परम् । आगमश्रद्धया भक्त्या जायन्ते तेऽमरेश्वराः ॥५९॥ ये सम्यग्दर्शनं शुद्धं धारयन्तीह निर्मलम् । ते चाष्टमहिमोपेता देवेन्द्रा हि भवन्ति वा ॥६०॥ दर्शनपूर्वकं सम्यक् कुर्वन्ति विविधं तपः । महामहर्द्धिसम्पन्ना देवदेवा भवन्ति ते ॥६१॥ जिनालयं सुनिर्माप्य पूजयन्ति जिनेश्वरम् । ते हि स्वर्गपदं लब्ध्वा जायन्ते पदवीधराः ॥६२॥ प्रतिष्ठां जिनबिम्बस्य कुर्वन्ति शुद्धभावतः । देवेश्वरपदं धृत्वा शिवं वा यान्त्यनुक्रमात् ॥६३॥ पंचामृतं जिनेन्द्रस्य बिम्बस्य

---

सुख भोगते रहते हैं ॥५४॥ उनका शरीर वैक्रियिक होता है और उनको उत्तम अवधिज्ञान होता है । वहांपर वे देव समस्त सुख देनेवाली उत्तम सामग्री प्राप्त करते हैं ॥५५॥ वहांपर न तो कभी बुढ़ापा, व्याधि, दरिद्रता, मल-मूत्र आदिका दुःख होता है और न कभी गर्भसे उत्पन्न होनेका महादुःख भोगना पड़ता है ॥५६॥ वे देव स्वभावसे ही आठ मूल गुणोंको धारण करते हैं और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको श्रद्धापूर्वक धारण करते हैं । ऐसे वे देव स्वर्गमें होते हैं ॥५७॥ जो भव्य जीव इस मध्यलोकमें जिनागमकी आज्ञाके अनुसार पांचों अणुव्रतोंको अच्छीतरह पालन करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देव होते हैं ॥५८॥ जो आगमकी अटल श्रद्धाकर और भक्तिपूर्वक सातों व्यसनोंका त्यागकर श्रेष्ठ संयमको धारण करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देवोंके स्वामी होते हैं ॥५९॥ जो जीव इस सम्यग्दर्शनको शुद्ध और निर्मल रीतिसे पालन करते हैं, वे अणिमा-महिमा आदि आठों ऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंके भी इन्द्र होते हैं ॥६०॥ जो भव्य जीव सम्यग्दर्शनपूर्वक अनेक प्रकारके तपश्चरण करते हैं, वे महाऋद्धियोंसे सुशोभित देवोंके भी इन्द्र होते हैं ॥६१॥ जो जीव जिनालय बनवाकर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते हैं, वे स्वर्गके पदोंको पाकर चक्रवर्ती तीर्थंकर आदि पदवीधर पुरुष होते हैं ॥६२॥ जो भव्य जीव शुद्ध भावोंसे जिनबिम्बकी प्रतिष्ठा कराते हैं, वे इन्द्रोंके पदोंको पाकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥६३॥ जो पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका अत्यन्त शुभ पंचामृता-

कुर्वते शुभम् । सम्यक्त्वं तद्भवे धृत्वा ते भवन्त्यमरेश्वराः ॥६४॥ क्षिपन्ति जिनबिम्बस्य पद्मोपरि सुपद्मकम् । स्वर्गे देवांगनाभिस्ते पूज्यन्ते हि निरन्तरम् ॥६५॥ लेपयन्ति सुबिम्बस्य पद्मांघ्रि गंधजै रसैः । ते हि स्वर्गे सुधागंधैः पूज्यंते दिविजैः सदा ॥६६॥ सरागसंयमैर्भावैः श्रीशासनप्रकाशनैः । प्रभावनाविशेषैश्च स्वर्गलोके प्रजायते ॥६७॥ स्वर्गेऽपि तत्त्वतो नास्ति सौख्यं स्वात्मभवं परम् । शाश्वतं निर्विकारं हि सर्वकर्ममलातिगम् ॥६८॥ परं तत्रापि चात्यन्तं महादुःखं हि मानसम् । संसारवर्द्धकं नूनं चिन्तासन्तापकारकम् ॥६९॥ त्रिलोकेऽपि नहि क्वापि कदाचिद्विद्यते सुखम् । तत्र सर्वत्र दुःखं हि जन्ममृत्युभयादिभिः ॥७०॥ सहन्ते हि परं दुःखं जीवाः कर्मोदयादिह । यावच्च कर्मसम्बन्धस्तावद्दुःखं भवेन्ननु ॥७१॥ केवलं सुखिनः सिद्धाः कर्मकलङ्कदूरगाः । जन्ममृत्युव्यतीतास्ते त्रिलोकशिखरे स्थिताः ॥७२॥ एवं

---

भिषेक करते हैं, वे उसी भवमें सम्यग्दर्शन धारण कर इन्द्रका पद प्राप्त करते हैं ॥६४॥ जो भव्यजीव भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बके चरण कमलोंपर सुन्दर कमल चढ़ाते हैं,वे स्वर्ग में जाकर अनेक देवांगनाओंसे सदा पूजे जाते हैं ॥६५॥ जो भव्यजीव जिनबिम्बके चरण कमलोंपर चन्दनके रसका लेप करते हैं, वे स्वर्गमें जाकर देवोंके द्वारा अमृतरूपी गंधसे सदा पूजे जाते हैं ॥६६॥ जो जीव शुभ भावोंसे सरागसंयम धारण करते हैं, भगवान् जिनेन्द्रदेवके शासनको प्रकाशित करते हैं और विशेष रीतिसे प्रभावना करते हैं; वे जीव स्वर्गलोकमें जाकर देव होते हैं ॥६७॥ वास्तवमें देखा जाय तो स्वर्गमें भी सदा रहनेवाला निर्विकार और समस्त कर्मरूपी मलसे रहित ऐसा अपने आत्मासे उत्पन्न हुआ उत्कृष्ट स्वर्ग नहीं है । किंतु वहांपर मनसे उत्पन्न हुआ महा-दुःख बहुत ही अधिक होता है, जो कि संसारको बढ़ानेवाला होता है और चिंता-संतापको उत्पन्न करनेवाला होता है ॥६८--६९॥ इन तीनों लोकोंमें वास्तवमें कहीं भी सुख नहीं हैं, किंतु इन तीनों लोकोमें सब जगह जन्म-मरण और भय आदिसे होनेवाला दुःख ही दुःख भरा हुआ है ॥७०॥ ये जीव कर्मोंके उदयसे ही परम दुःख सहन करते हैं । इसलिये जब तक कर्मोंका संबंध है, तब तक इस जीवको अवश्य ही दुःखोंको सहन करना पड़ता है ॥७१॥ यदि संसारमें कोई सुखी है तो कर्ममलकलंकसे रहित, जन्म-मरणसे सर्वथा रहित और तीनों लोकोंके शिखरपर विराजमान ऐसे सिद्ध परमेष्ठी ही सुखी हैं ॥७२॥ इस प्रकार बुद्धिमानोंको

लोकस्वरूपं हि ज्ञात्वा जैनागमात्सुधीः । ध्यायेच्च लोकसंस्थानं जन्ममृत्युकदर्थितम् ॥७३॥ पुनः पुनर्निजे चित्ते चिन्तयेच्च विचारयेत् । एकाग्रमनसा तद्धि ध्यानं संस्थानसंज्ञकम् ॥७४॥ संस्थानविचयं ध्यानं मुख्यध्यानं प्रकीर्तितम् । सर्वध्यानेषु तच्छ्रेष्ठं परं वैराग्यकारणम् ॥७५॥ एकेनैव हि संस्थानध्यानेन कर्मशत्रवः । पलायन्ते यतः शीघ्रं तस्माच्छ्रेष्ठतमं मतम् ॥७६॥ संस्थानविचयं ध्यानं पुरा ध्यातं मुनीश्वरैः । गणधरैश्च योगीशैः कर्मविच्छेदहेतवे ॥७७॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भव्येन च मुमुक्षुणा । संस्थानविचयं ध्यानं ध्यातव्यमधुनापि च ॥७८॥ सघनपवनवारैः सर्वतो वेष्टितोऽसौ स हि गुरुतरलोकोऽकृत्रिमोऽनादिसिद्धः । जननमरणदुःखं तत्र जीवः समेति यदि धरति सुधर्मं कर्मनाशं करोति ॥७९॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे संस्थानविचयधर्मध्याननिरूपणो नाम विंशतितमोऽधिकारः ।

---

जिनागमके अनुसार लोकका स्वरूप जानकर जन्म-मरणको दूर करनेवाला लोकसंस्थान नामका धर्मध्यान वा संस्थानविचय नामका धर्मध्यान धारण करना चाहिये ॥७३॥ इसप्रकार एकाग्र मनसे तीनों लोकोंके स्वरूपका अपने हृदयमें बार बार चिंतवन करना और बार बार विचार करना संस्थानविचय नामका धर्मध्यान कहलाता है ॥७४॥ यह संस्थानविचय नामका धर्मध्यान सब ध्यानोंमें मुख्य है और सबमें श्रेष्ठ है, तथा परम वैराग्यका कारण है ॥७५॥ इस एक ही संस्थानविचय ध्यानसे समस्त कर्मरूपी शत्रु शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, इसीलिये यह ध्यान सबमें श्रेष्ठ माना जाता है ॥७६॥ यह संस्थानविचय नामका धर्मध्यान अपने अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये पहले अनेक मुनीश्वरोंने धारण किया है, गणधरोंने धारण किया है और योगिराजोंने धारण किया है ॥७७॥ इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपने समस्त प्रयत्न करके आज भी इसी संस्थानविचय नामके धर्मध्यानको धारण करना चाहिये ॥७८॥ यह बहुत बड़ा लोकाकाश घनवात, अम्बुवात और वात; इन तीन प्रकारकी वायुओंसे चारों ओरसे वेष्ठित है, तथा अकृत्रिम और अनादि सिद्ध है, इसमें यह जीव जन्म-मरणके अनेक दुःखोंको सहन करता रहता है, यदि यह जीव श्रेष्ठ धर्मको धारण कर ले तो कर्मोंका नाशकर सिद्ध पद प्राप्त कर सकता है ॥७९॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें संस्थानविचय नामके धर्मध्यानको निरूपण करनेवाला यह बीसवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# एकविंशातितमोधिकारः ।



दग्धं ध्यानाग्निना कर्मेन्धनराशिं किलात्मनः । येनात्र योगिनाथेन वन्दे तं मुनिसुव्रतम् ॥१॥ संस्थानान्तर्गतं ध्यानं चतुर्धा वर्णितं जिनैः । पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम् ॥२॥ पञ्चभेदात्मकं द्रव्यं नानाकारेण संस्थितम् । वा शरीरगतं द्रव्यं पिण्ड इत्यभिधीयते ॥३॥ पिण्डे तिष्ठति यश्चात्मा विकारपरिवर्जितः । तत्तस्यालम्बनत्वेन पिण्डस्थ-ध्यानमुच्यते ॥४॥ पिण्डस्थे धारणाः पञ्च जिनेन्द्रैः प्रतिपादिताः । समालम्बेन तासां हि स्यात्स्वात्मानुभवो महान् ॥५॥ धारणाभिर्मनः शीघ्रं स्थिरतां याति चात्मनि । शुद्धात्मचिन्तने ताभिर्दृढता स्याच्छुभप्रदा ॥६॥ सा ध्यानाभ्यास-

---

जिन्होंने ध्यानरूपी अग्निसे अपने आत्माके समस्त कर्मोंके समूहको नष्ट कर दिया है, ऐसे योगियोंके स्वामी भगवान मुनिसुव्रतनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ संस्थानके अंतर्गत जो ध्यान है, उसे वह भगवान जिनेन्द्रदेवने चारप्रकारका बतलाया है । पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत; ये चार उसके भेद हैं ॥२॥ अनेक प्रकारसे ठहरा हुआ और शरीरमें प्राप्त हुआ ऐसा जो पांच प्रकारका द्रव्य है, उसको पिंड कहते हैं ॥३॥ इस पिंडमें जो आत्मा विकाररहित ठहरा हुआ है, उसका अवलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसको पिंडस्थ ध्यान कहते हैं ॥४॥ पिंडस्थ ध्यानमें भगवान जिनेन्द्रदेवने पांच प्रकारकी धारणा वतलाई है । इन पांचों धारणाओंके समालम्बनसे अपने आत्माका महान् अनुभव होता है ॥५॥ इन धारणाओंसे यह मन अपने आत्मामें शीघ्र ही स्थिर हो जाता है और इन्हीं धारणाओंसे शुद्ध आत्माके चिन्तवन करनेमें शुभ भावोंको उत्पन्न करनेवाली अत्यन्त दृढ़ता होती है ॥६॥ वह धारणा ध्यानका अभ्यास करनेवालोंके लिये

कल्प्रणामाद्या सोपानिका मता । तया सुलभरूपेण ध्यानं स्याद्विगतश्रमम् ॥७॥ पार्थिवी च तथाग्नेयी श्वसना वारुणी परा । तत्त्वरूपवती ज्ञेया धारणा हि यथाक्रमम् ॥८॥ मध्यलोकसमं योगी धारयेत्क्षीरसागरम् । शांतं रम्यं च निःशब्दं कल्लोलादिविवर्जितम् ॥९॥ गम्भीरं दुग्धवद्गौरं मचित्ताह्लादनकारकम् । यच्चिन्तनेन चित्तेऽस्मिन् स्याच्छ्रमं न मनागपि ॥१०॥ तन्मध्ये चिन्तयेद्धीरोऽब्जं सहस्रदलान्वितम् । पीतवर्णं सुहेमाभं जम्बूद्वीपप्रमाणकम् ॥११॥ तन्मध्ये च स्मरेद्योगी कर्णिकां पीतवर्णिकाम् । मुख्यमेरुप्रमाणाभां रम्यामानन्दकारिकाम् ॥१२॥ सिंहासनं च चंद्राभं कर्णिकायां विचिंतयेत् । आत्मानं स्थापयेत्तत्र प्रशांतं दिव्यकायकम् ॥१३॥ कुकर्मनाशनोद्युक्तं रागादिनाशने पटुम् । निर्विकारं स्थिरं चित्तं पञ्चाद्विषयातिगम् ॥१४॥ सद्ध्याता तादृशं रूपं भूयो भूयः समभ्यसेत् । ध्यायेच्च चिन्तयेन्नित्यमेकाग्रमनसा सदा ॥१५॥

---

पहली सीढ़ी है। इस धारणासे श्रमको दूर करनेवाला उत्तम ध्यान सहज रीतिसे प्राप्त हो जाता है ॥७॥ पार्थिवी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती; ये धारणाके यथाक्रमसे पांच भेद हैं ॥८॥ किसी भी योगीको मध्यलोकके समान क्षीरसागरकी कल्पना करनी चाहिये। वह क्षीरसागर शांत हो, मनोहर हो, शब्दरहित हो और कल्लोल वा लहरोंसे रहित हो ॥९॥ वह क्षीरसागर गंभीर हो, दूधके समान गौर वर्ण हो, और मनको आह्लादन करनेवाला हो; ऐसे क्षीरसागरके चिन्तवन करनेसे हृदयमें थोड़ासा भी श्रम नहीं रहता ॥१०॥ धीर वीर योगीको उस क्षीरसागरके मध्यभागमें जम्बूद्वीपके समान, सुवर्णके समान देदीप्यमान पीले रंगका, एक हजार दलवाले कमलका चिंतवन करना चाहिये ॥११॥ उस कमलके मध्यभागमें मेरुके समान पीले रंगकी एक कर्णिकाका चिंतवन करना चाहिये, वह कर्णिका मनोहर, आनंद उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिये ॥१२॥ उस कर्णिकामें चन्द्रमाके समान एक सिंहासनका चिंतवन करना चाहिये। उस सिंहासनपर दिव्य शरीरको धारण करनेवाले अत्यन्त शांत आत्माको स्थापन करना चाहिये ॥१३॥ वह आत्मा अशुभ कर्मोंके नाश करनेमें तल्लीन है, रागद्वेषको नष्ट करनेमें चतुर है, निर्विकार है, उसका चित्त स्थिर है और वह पांचों इंद्रियोंके विषयोंसे रहित है। ध्यान करनेवालेको इसप्रकारके आत्माके स्वरूपके चिंतवनका बार बार अभ्यास करना चाहिये। तथा एकाग्र मनसे नित्य ही ऐसे आत्माका ध्यान और चिंतवन करना चाहिये ॥१४–१५॥ इसको पार्थिवी धारणा कहते हैं। तदनंतर उस योगीको नाभिमंडलके मध्यमें चित्तको

शनैर्विचिन्तयेद्योगी चित्ताह्लादस्य कारकम् । नाभिमण्डलमध्यस्थं पद्मं षोडशपत्रकम् ॥१६॥ प्रफुल्लं सर्वतो रम्यमत्तसन्तोषकारकम् । मञ्जुलं चिन्तयेद्योगी स्वरमालाविराजितम् ॥१७॥ तत्र पद्मे महाप्राणं रेफरुद्धं कलान्वितम् । सानुस्वारं महामन्त्रं कर्णिकायां विचिंतयेत् ॥१८॥ तत्पद्मस्थितमालां तां मन्त्ररूपां स्वरोद्भवाम् पुनः पुनः स्वचित्तेऽस्मिन् ध्यानाभ्यासाय चिन्तयेत् ॥१९॥ निर्गच्छन्तीं ततो रेफादग्निज्वालां शुभां स्मरेत् । तेन ज्वालाकलापेन दहेदब्जं हृदि स्थितम् ॥२०॥ अष्टपत्रं हि यत्तस्य तत्कर्माष्टकमुच्यते । अधोमुखं हि संस्थाप्य महामन्त्रोद्गताननात् ॥२१॥ तदब्जमग्निज्वालाभिर्दहेन्निर्भयचेतसा । दग्धेऽब्जे हि ततः पश्चाच्चिन्तयेदग्निमण्डलम् ॥२२॥ देहस्य च बहिर्भागे त्रिकोणं ज्वालयाञ्चितम् । वह्निबीजात्समुद्भूतं ज्वलन्तं दिव्यभासुरम् ॥२३॥ स्वस्तिकाङ्कं च निर्धूम-

---

आछादित करनेवाले सोलह दलके कमलको धीरे धीरे चिंतवन करना चाहिये ॥१६॥ वह कमल खिला हुआ हो, सब ओरसे मनोहर हो, इंद्रियोंको संतोष उत्पन्न करनेवाला हो, अत्यन्त सुन्दर हो और मालारूप लिखे गये सोलह स्वरोंसे शोभायमान हो ॥१७॥ उस कमलकी कर्णिकामें अनुस्वारसहित, कलासहित और रेफसे रुका हुआ महाप्राण रूप "र्हं" महामंत्रका चिंतवन करना चाहिये ॥१८॥ उस कमलमें जो स्वरोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप माला है, उसको अपने हृदयमें ध्यानका अभ्यास करनेके लिये बार बार चिंतवन करना चाहिये ॥१९॥ इसको श्वसना धारणा कहते हैं। तदनंतर उस योगीको उस रेफसे निकलती हुई शुभरूप अग्निकी ज्वालाका चिंतवन करना चाहिये तथा उस अग्निकी ज्वालाके समूहसे हृदयमें विराजमान उस कमलको जलाना चाहिये ॥२०॥ उस कमलके आठ पत्रोंको आठ कर्म समझना चाहिये। उनको अधोमुख करके स्थापन करना चाहिये और महामंत्रका मुख ऊपरकी ओर रखना चाहिये ॥२१॥ तदनंतर निर्भय चित्त होकर उस अग्निकी ज्वालासे उस कमलको जलाना चाहिये। जब वह कमल जल जाय, उसके बाद अग्निमंडलका चिंतवन करना चाहिये ॥२२॥ शरीरके बाहर उस अग्निकी ज्वालासे भरे हुए एक त्रिकोणका चिंतवन करना चाहिये, वह त्रिकोण वह्निरूप बीजसे उत्पन्न हुई ज्वालासे जाज्वल्यमान होना चाहिये, दिव्य तेजसे प्रकाशमान होना चाहिये, उसपर स्वस्तिकका चिह्न होना चाहिये, वह अग्निकी ज्वाला धूमरहित होनी चाहिये और ऊर्ध्ववायुसे प्रेरित होनी चाहिये अर्थात् ऊपर जानेवाली वायुके झकोरेसे उसकी ज्वाला

मूर्द्ध वायुप्रप्रेरितम् । अन्तर्दहति मन्त्राग्निर्वहिरग्निसुमण्डलम् ॥२४॥ ततश्च स्वशरीरं वाग्नेकलापेन निर्दहेत् । भस्मभावं सामासाध्य शरीरमब्जमादहेत् ॥२५॥ दाह्याभावात्स्वयं वह्निः शाम्यत्येव शनैः शनैः । यावन्न याति शान्ति स तावन्निर्भयचेतसा ॥२६॥ संततं चिन्तयेद्धीमान् वह्निमण्डलकं परम् । एवं हि चिन्त्यमानेऽस्मिन् स्थिरचित्तं प्रजायते ॥२७॥ आकाशमार्गमाव्याप्य संचरंतं सुवेगतः । दारयन्तं धराधीशं शोभयन्तं घनाघनम् ॥२८॥ चक्रवालं विसर्पन्तं भुवनाभोगपूरितम् । कम्पयन्तं दिशः सर्वा दर्शयन्तं महाबलम् ॥२९॥ एतादृशं महावायुं चिन्तयेच्छुद्धचेतसा । तेन वायुबलेनैव तद्रजः क्षिप्यतेऽप्यरम् ॥३०॥ शुद्धरूपं स संप्राप्य वायुं च शान्तिमानयेत् । एवं हि चिंत्यमानेन शुद्धरूपे लयो भवेत् ॥ ३१ ॥ ततो हि मेघमालां च धारासंपातसंयुताम् । तडिद्विद्योतिताकाशामिन्द्रचापसमन्विताम्

---

ऊपरको जानी चाहिये । इसप्रकार मंत्ररूप अग्नि अंतःकरणको जला रही है और बाहरका अग्निमंडल बाहरी भागको जला रहा है, इसतरह चिंतवन करना चाहिये ॥२३—२४॥ तदनंतर उस अग्निकी ज्वालासे अपने शरीरको जलाना चाहिये और जब तक भस्म न हो जाय तब तक शरीर और कमलको जलाते रहना चाहिये । इसप्रकारका चिंतवन करना चाहिये ॥२५॥ जब जलनेके लिये कोई पदार्थ न रहेगा तब धीरे धीरे वह अग्नि अपने आप ही शांत हो जायगी । जबतक वह अग्नि शांत न हो तबतक निर्भय चित्त होकर उस बुद्धिमान्को सदा उस उत्कृष्ट अग्निमंडलका चिंतवन करते रहना चाहिये । इसप्रकार चिंतवन वा ध्यान करनेसे यह चित्त अत्यन्त स्थिर हो जाता है ॥२६—२७॥ इसको आग्नेयी धारणा कहते हैं । तदनंतर वारुणी धारणाका चिंतवन करना चाहिये । अपने शुद्ध हृदयसे एक महावायुका ध्यान करना चाहिये । वह वायु समस्त आकाशमार्गमें व्याप्त हो, बड़े वेगसे संचार कर रहा हो, बड़े बड़े पर्वतोंको भी विदीर्ण कर रहा हो, हलके वा भारी रूपसे शोभायमान हो, अपने मंडलको फैला रहा हो, समस्त भूमंडलमें भर गया हो, समस्त दिशाओंको कंपायमान कर रहा हो और अपना महाबल दिखला रहा हो; ऐसे महावायुका शुद्ध हृदयसे चिंतवन करना चाहिये । उस महावायुसे उस शरीर और कमलकी धूलि शीघ्रताके साथ उड़ रही है, ऐसा चिंतवन करना चाहिये । इसप्रकार आत्माका स्वरूप शुद्ध बनाकर उस वायुको शांत कर देना चाहिये । इसप्रकार चिंतवन करनेसे यह आत्मा अपने शुद्धरूपमें लीन हो जाता है ॥२८—३१॥ इसको वारुणी धारणा

॥३२॥ प्रशांतामपि धाराभिः कुर्वंती वृष्टिमुल्वणाम् । सुधारूपां मनोज्ञां वा चित्ताह्लादप्रदायिकाम् ॥३३॥ भस्म प्रक्षालयेत्ताभिः मन्दं मन्दं शरीरजम् । चिंतयन् तां हि योगी स स्वस्थतां लभते पराम् ॥३४॥ अर्द्धचंद्रसमाकारं शुभं वरुणमण्डलम् । कथितं वीरनाथेन मनोक्षजयकारकम् ॥३५॥ वरुणमण्डलेनैव शुद्धरूपं च चिंतयेत् । सिंहासनसमारूढं दिव्यातिशयसंयुतम् ॥३६॥ प्रणष्टदुष्टकर्माणं दिव्यज्ञानेन भासुरम् । अर्हद्रूपसमाकारं निर्मलं शुद्धरूपकम् ॥३७॥ सप्तधातुविनिर्मुक्तं जिनेन्द्रसदृशं परम् । आत्मानं शुद्धरूपं तत् स्वात्मनि स्वं च चिंतयेत् ॥३८॥ महाविभवसम्पन्नं लोकालोकप्रकाशकम् । अनंतमहिमोपेतं स्वात्मानं चिंतयेत्सुधीः ॥३९॥ इत्थं हि पंचतत्त्वं यः स्मरेन्निर्भयचेतसा । मन्त्रवित्स

---

कहते हैं। आगे तत्त्वरूपवती धारणाको कहते हैं—सबसे पहले एक मेघमाला (बादलोंके समूह) का चिंतवन करना चाहिये, जो धीरे धीरे बरस रही हो, बिजलीकी चमकसे समस्त आकाशको प्रकाशमान करती हो, जिसमें इन्द्रधनुप पड़ रहा हो, जो अपनी धाराओंसे अत्यंत शांत और भारी वृष्टि कर रही हो, वह वृष्टि भी अमृतरूप हो, मनोज्ञ हो और मनको आह्लादन करनेवाली हो। उस मेघकी वर्षासे धीरे धीरे शरीरसे उत्पन्न हुई भस्मका प्रक्षालन करना चाहिये (अर्थात् शरीर और कमलके जलनेसे जो भस्म हुई थी, वह उस मेघकी वर्षासे धुल रही है; ऐसा चिंतवन करना चाहिये)। इसप्रकारकी मेघमालाका चिंतवन करनेसे उस योगीकी आत्मा अत्यन्त स्वस्थ वा निराकुल हो जाती है ॥३२—३४॥ भगवान् महावीर स्वामीने मन और इंद्रियोंको जीतनेवाले इस शुभरूप वायुमंडलका आकार अर्धचन्द्रके समान बतलाया है ॥३५॥ योगीको इस वरुणमंडलके द्वारा अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिंतवन करना चाहिये। उसे इसप्रकार चिंतवन करना चाहिये कि मेरा यह आत्मा सिंहासन पर विराजमान है, दिव्य अतिशयोंसे सुशोभित है, इसने अपने सब पापकर्म नष्ट कर दिये हैं, यह दिव्य ज्ञानसे देदीप्यमान है, भगवान् अरहंतदेवके आकारके समान आकारको धारण करता है, निर्मल है, शुद्ध स्वरूप है, सप्त धातुओंसे रहित है, सर्वोत्कृष्ट है और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समान है; ऐसे अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपको अपने ही आत्मामें अपने आप चिंतवन करना चाहिये ॥३६—३८॥ यह मेरी आत्मा महाविभूतियोंसे शोभायमान है, लोक अलोकको प्रकाशित करनेवाला है और अनन्त महिमासे सुशोभित है; बुद्धिमान योगीको ऐसे अपने शुद्ध आत्माका चिन्तवन करना चाहिये। इसको तत्त्व-

महायोगी जयेत्कर्माष्टकं परम् ॥४०॥ मनोवशं समायाति बलं वीर्यं च वर्द्धते। ध्यानशक्तिर्दृढा याति ऋद्धयो यांति तं सदा ॥४१॥ भूतप्रेतोद्भवां बाधामुपसर्गं सुदुस्तरम्। सहते स्वात्मवीर्येण स योगी तत्त्वचिन्तकः ॥४२॥ मनोवशं प्रकर्तुं स समर्थोऽचलधीरसौ। जिनशासनदेवास्ते तद्वशं यान्ति निश्चयात् ॥४३॥ अतो हि पंचतत्त्वं तदभ्यस्येच्छुद्धभावतः। निजात्मरूपमुद्दिश्य ध्यायेत्तत्त्वं जिनागमात् ॥४४॥ इति परमसुतत्त्वं पंचपृथ्व्यादिरूपं स्मरति जयति भक्त्या चिन्तयेत्स्वात्मचित्ते। इह स हि लभतेऽसौ शुद्धरूपं निजस्य परमविभवयुक्तं शुद्धबुद्धं सुधर्मम् ॥४५॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे पिण्डस्थध्यानस्थितपंचतत्त्ववर्णनो नाम एकविंशतितमोऽधिकारः।

---

रूपवती धारणा कहते हैं ॥३९॥ मंत्रोंको जाननेवाला जो महायोगी निर्भय चित्त होकर इसप्रकार पांचों तत्त्वोंका स्मरण करता है, वह आठो कर्मोंको अवश्य जीतता है ॥४०॥ इन पांचों तत्त्वोंका चिन्तवन करनेसे मन वशमें हो जाता है, बल और वीर्य (शक्ति) बढ़ जाता है, ध्यानशक्ति दृढ़ हो जाती है और सब ऋद्धियां उसके समीप आ जाती हैं ॥४१॥ इन तत्त्वोंको चिन्तवन करनेवाला महायोगी अपने आत्माकी महाशक्तिसे भूत प्रेतोंसे उत्पन्न हुई समस्त बाधाओंको और कठिनसे कठिन उपसर्गोंको सहन कर लेता है ॥४२॥ अचल बुद्धिको धारण करनेवाला वह महायोगी इन पांचों तत्त्वोंका चिन्तवन करनेसे अपने मनको वश करनेमें समर्थ हो जाता है और जिनशासन देवता सब उसके वश हो जाते हैं यह निश्चित सिद्धांत है ॥४३॥ इसलिये निर्मल परिणामोंसे पांचों तत्त्वोंके चिन्तवन करनेका अभ्यास करना चाहिये और जिनागमके अनुसार अपने आत्माके स्वरूपको उद्देश्यकर पांचों तत्त्वोंका ध्यान करना चाहिये ॥४४॥ पृथ्वी, श्वसना, वारुणी, आग्नेयी, तत्त्वरूपवती ये पांच तत्त्व वा पांच धारणाएँ बतलाई गई हैं, वे परमोत्कृष्ट हैं। जो योगी अपने चित्तमें इन पांचों तत्त्वोंका स्मरण करता है वा भक्तिपूर्वक जप करता है, और चिन्तवन करता है वह इस संसारमें अपने शुद्ध स्वरूपको अवश्य ही प्राप्त हो जाता है तथा परम विभूतिसे सुशोभित शुद्ध और बुद्धस्वरूप अपने आत्मरूप श्रेष्ठधर्मको अवश्य प्राप्त कर लेता है ॥४५॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें पिण्डस्थध्यानमें पांचों तत्त्वोंको निरूपण करनेवाला यह इक्कीसवां अधिकार समाप्त हुआ।

# द्वाविंशतितमोऽधिकारः ।



योगतत्त्वस्य वेत्तारं पदस्थध्यानसिद्धये । नमिनाथं सुयोगीशं वंदे योगीश्वरार्चितम् ॥१॥ शब्दब्रह्ममयं वंदे परमाश्चर्यकारकम् । स्वात्मतत्त्वस्वरूपं वा वीतरागं विकल्मषम् ॥२॥ योगतत्त्वस्य सोपानं सर्वसिद्धिकरं परम् । प्रत्यक्षफलदं नौमि शब्दब्रह्म महेश्वरम् ॥३॥ देवताभूतवेताला राक्षसाः किन्नराः सुराः । सर्वे देवा वशं यांति संततं शब्दब्रह्मणा ॥४॥ सुद्धयानस्यादिमं बीजमृद्धिसिद्धिप्रदायकम् । मन्त्ररूपमयं शब्दब्रह्माणं च नमाम्यहम् ॥५॥ अनादिनिधनो वर्णः स्वयं सिद्धो विचित्रकः । अनंतशक्तिसंव्याप्तः कथितो हि जिनागमे ॥६॥ यथा यथा सुभावेन ध्याता निर्मलचेतसा ।

---

जो नमिनाथ भगवान् योगतत्त्वके जानकार है, योगियोंके स्वामी हैं और योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य हैं; ऐसे भगवान् नमिनाथको मैं पदस्थ ध्यानकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो देव बीतराग हैं, दोषरहित हैं, परम आश्चर्य करनेवाले हैं और समयसारमय हैं; ऐसे शब्दब्रह्ममय परमदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥२॥ जो योगरूप तत्त्वकी सीढ़ी हैं, समस्त सिद्धियोंको करनेवाले हैं और प्रत्यक्ष फल देनेवाले हैं, ऐसे शब्दब्रह्ममय महेश्वरको मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥ इस शब्दब्रह्मके द्वारा देवता, भूत, वेताल, राक्षस, किन्नर, देव आदि सब देव सदाके लिये वश हो जाते हैं ॥४॥ यह शब्दब्रह्म मंत्ररूप है, ऋद्धि-सिद्धियोंको देनेवाला है और श्रेष्ठध्यानका मूल कारण है; ऐसे शब्दब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूं ॥५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके आगममें अकारादिक वर्ण अनादि-निधन माने हैं, स्वयं सिद्ध माने हैं, विचित्र माने हैं और अनन्त शक्तिको धारण करनेवाले माने हैं ॥६॥ ध्यान करनेवाले अपने निर्मल हृदयसे श्रेष्ठ परिणामोंसे जैसे जैसे तन्मय होकर शब्द-

तन्मयत्वेन तं शब्दब्रह्माणं ध्यायति स्फुटम् ॥७॥ तथा तथा स योगीशः परब्रह्म प्रपद्यते। शब्दब्रह्म ततो देवैः परमात्मा प्रगीयते ॥८॥ अनादिवर्णमालां तामर्हद्बीजोद्भवां शुभाम्। ध्यायेच्च स्थिरचित्तेन सदा चेतोजयाय वै ॥९॥ कल्पयेद् हृदि चादौ वा पद्मं षोडशपत्रकम्। वर्णमूलां स्वतः सिद्धां स्थापयेच्च स्वरावलिम् ॥१०॥ चतुर्दशदलाकारं पद्मं संस्थाप्य चेतसि। प्रतिपत्रञ्च संन्यस्य ब्रह्मस्वरं प्रभान्वितम् ॥११॥ विद्यानां मूलबीजं तत् प्रधानं सर्ववर्णके। ध्यायेच्च स्थिरचित्तेन प्रशांतमनसाऽथवा ॥१२॥ कर्णिकां प्रति प्रत्येकं संस्थाप्यानुक्रमात्स्वरम्। ध्यायेच्च क्रमशः सर्वान् स्थिरबुद्ध्या सुभावतः ॥१३॥ यदा हि कर्णिका मध्ये 'अ' इति स्वरमंत्रकम्। न्यस्य ध्यायति योगीशस्तदा स स्वस्थतां भजेत् ॥१४॥ एवं रीत्या स्वरान् सर्वान् शीर्षके हृदि मस्तके। संस्थाप्य शुद्धचित्तेन ध्यायेच्च सर्वसिद्धये ॥१५॥ दिक् पल्लवासना मुद्रा-

---

ब्रह्मका ध्यान करता है, वैसे ही वैसे वह योगिराज परब्रह्मको प्राप्त होता जाता है। इसीलिये भगवान् सर्वज्ञ देव शब्दब्रह्मको ही परमात्मा कहते हैं ॥७-८॥ यह अनादिकालसे चली आई वर्णमाला भगवान् अरहंतदेवके स्वरूपको कहनेवाली बीजाक्षररूप है, शुभ है। अपने मनको जीतनेके लिये स्थिरचित्त होकर इसीका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥९॥ सबसे पहले अपने हृदयमें सोलह दलके कमलका चिंतवन करना चाहिये और उसमें वर्णोंकी मूलभूत स्वतःसिद्ध स्वरोंकी पंक्तिका स्थापना करनी चाहिये ॥१०॥ अथवा अपने हृदयमें चौदह दलके कमलकी कल्पना करनी चाहिये और प्रत्येक दलमें प्रभावशाली एक एक ब्रह्मस्वरकी स्थापना करनी चाहिये ॥११॥ यह स्वरकमल समस्त विद्याओंका मूल बीज है, सब वर्णोंमें प्रधान है, इसलिये स्थिरचित्त होकर शांत मनसे इसका ध्यान करना चाहिये ॥१२॥ अथवा उस कमलकी कर्णिकापर अनुक्रमसे सब स्वरोंका स्थापन करना चाहिये और फिर स्थिरचित्त होकर श्रेष्ठ परिणामोंसे अनुक्रमसे उन सबका ध्यान करना चाहिये ॥१३॥ जब यह योगी कर्णिकाके मध्यभागमें 'अ' इस मंत्ररूप स्वरको स्थापनकर ध्यान करता है, तब वह योगी अपने आप स्वस्थ हो जाता है ॥१४॥ इसीप्रकार सब स्वरोंको मस्तकपर, शिरपर अथवा हृदयपर स्थापनकर समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये शुद्ध चित्तसे ध्यान करना चाहिये ॥१५॥ दिक्, पल्लव, आसन और मुद्रा आदिके भेदसे इन मंत्रोंके कितने ही भेद हो जाते हैं। इसलिये इनके भेदसे विशेष रीतिसे

दिभेदतो हि मंत्रकम्। ध्यायेन्निरन्तरं ब्रह्म स्वरमालां विशेषतः ॥१६॥ हृदि संस्थाप्य सत्पद्मं पञ्चविंशतिपत्रकम्। प्रतिपत्रं न्यसेद्वर्णंसावर्गान्तं सकर्णिकम् ॥१७॥ ध्यायेच्च क्रमशो नित्यं प्रतिवर्णं शनैः शनैः। एकाग्रमनसा योगी वानन्यमनसा स्थिरम् ॥१८॥ अन्यत्पद्मं च पत्राष्टं स्थापयेन्मुखपद्मके। अन्तःस्थसान्तवर्णान्तं ध्यायेच्च शुद्धभावतः ॥१९॥ ध्यानसिद्धिर्भवेत्तस्य महाकल्याणकारिका। मनो हि शान्तितां याति धैर्यता च प्रजायते ॥२०॥ 'ओं'मेतच्च महामंत्रं परमेष्ठिप्रवाचकम्। विद्यानामादिमस्थानं ध्यानबीजं मतं जिनैः ॥२१॥ भाले नेत्रे ललाटे च शीर्षके नाभिमण्डले। 'ओं' संस्थाप्य महामंत्रं ध्यायेत्कर्मविनाशकम् ॥२२॥ सर्वदेवमयं मंत्रं सर्वयोगीश्वरार्चितम्। सर्वशक्तिप्रपूर्णं हि सर्वसिद्धिकरं परम् ॥२३॥ एकाग्रमनसा नित्यं स्थिरभावेन यो जनः। ध्यायेदेतन्महामंत्रं संसारात् संतरीति सः ॥२४॥ पदस्थध्यानमाध्यातुमिच्छद्भिश्च मुमुक्षुभिः। 'ओ'मिति ध्यायतां तस्मात्कर्मनाशाय धीधनैः ॥२५॥

---

ब्रह्मस्वरमालाका निरंतर ध्यान करना चाहिये ॥१६॥ अपने हृदयमें पचीस दलका कमल स्थापित करना चाहिये और उन दलोंपर 'क' से लेकर 'म' पर्यंत अक्षर लिखने चाहिये, कर्णिकापर स्वर लिखना चाहिये। फिर उस योगीको एकाग्र मनसे अन्य सब चिंतवनोंको छोड़कर धीरे धीरे अनुक्रमसे प्रत्येक वर्णका ध्यान करना चाहिये ॥१७–१८॥ अथवा अपने मुखकमलमें आठ दलके कमलकी कल्पना करनी चाहिये और उन पर 'य र ल व श ष स ह' इन आठ अक्षरोंको स्थापनकर शुद्ध भावोंसे उनका ध्यान करना चाहिये ॥१९॥ इसप्रकार चिंतवन करनेसे महाकल्याण करनेवाली ध्यानकी सिद्धि होती है, मन शांत हो जाता है और धीरता उत्पन्न हो जाती है ॥२०॥ यह भी एक महामंत्र है, परमेष्ठीका वाचक है, समस्त विद्याओंका प्रथम स्थान है और ध्यान का बीज है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव कहते हैं ॥२१॥ अपने ललाटपर मस्तकपर, नेत्रोंमें, नाभिमण्डलमें 'ओम्' इस महामंत्रको स्थापनकर कर्मोंका नाश करनेके लिये उसका ध्यान करना चाहिये ॥२२॥ 'ओम्' यह महामंत्र सर्वदेवमय है, समस्त योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य है, समस्त शक्तियोंसे पूर्ण है और समस्त सिद्धियोंको करनेवाला है। जो मनुष्य एकाग्र मनसे, स्थिर भावोंसे नित्य ही इस महामंत्रका ध्यान करता है, वह संसारसे अवश्य पार हो जाता है ॥२३–२४॥ इसीलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले और बुद्धिरूपी धनको धारण करनेवाले तथा पदस्थ ध्यानको धारण करनेकी इच्छा करनेवाले योगियोंको 'ओम्' इस महामंत्रका ध्यान अवश्य करना चाहिये ॥२५॥

सर्वमंत्रेषु मूलं हि मंत्रराजं सुरार्चितम् । योगिभिश्च सदा वन्द्यं लोकोत्तरं जगन्नुतम् ॥२६॥ सर्वसिद्धिकरं श्रेष्ठं सर्वविघ्नविनाशकम् । महामङ्गलदातारं सर्वपापप्रणाशकम् ॥२७॥ अनादिनिधनं सिद्धमपराजितसंज्ञकम् । स्वर्गापवर्गदं कामं सर्वाभीष्टप्रदायकम् ॥२८॥ ध्यातव्यं योगिभिर्नित्यं भवदुःखस्य हानये । शाकिनीभूतवेताला नश्यन्ति राक्षसाः स्वयम् ॥२९॥ आकाशगामिनी विद्या अञ्जनवत्प्रसिद्ध्यति । पञ्चत्रिंशतपदोपेतं परमेष्ठिस्वरूपकम् ॥३०॥ णमोकारं महामंत्रं प्रत्यक्षफलदायकम् । अजः सर्पयुगः श्वा वा नकुलो वानरस्तथा ॥३१॥ णमोकारस्य माहात्म्यात् जाता वृन्दारकाः खलु । सम्यग्दृष्टिस्तु तद्ध्यानान्मोक्षं च लभते परम् ॥३२॥ णमोकारस्य माहात्म्यं गणेशो वक्तुमक्षमः । तीर्थंकरै जिनेन्द्रैश्च ध्यातं तन्मंत्रराजकम् ॥३३॥ ये ये पुरा गता मोक्षे गमिष्यंति च योगिनः । मंत्रराजणमोकारमहात्म्यं तद्धि बुद्ध्यताम् ॥३४॥ श्वासोच्छ्वासप्र-

---

समस्त मंत्रोंका मूल मंत्र णमोकार मंत्र है, यह मंत्र देवोंके द्वारा पूज्य है, योगियोंके द्वारा वन्दनीय है, लोकोत्तर है और जगत्‌के द्वारा नमस्कार करने योग्य है। यह मंत्र समस्त सिद्धियोंको करनेवाला है, श्रेष्ठ है, समस्त विघ्नोंको नाश करनेवाला है, महामंगल देनेवाला है, सब पापोंको नाश करनेवाला है, अनादिनिधन है, सिद्ध है और अपराजित इसका नाम है। यह मंत्र स्वर्ग-मोक्षको देनेवाला है, इच्छाओं पूर्ण करनेवाला है और समस्त अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाला है ॥२६-२८॥ संसारके दुःखोंको नाश करनेके लिये योगियोंको सदा इसका ध्यान करना चाहिये। इसके ध्यान करनेसे शाकिनी, भूत, वेताल और राक्षस आदि सब नष्ट हो जाते हैं, अंजनचोरके समान आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हो जाती है। यह पैंतीस अक्षरका णमोकार महामंत्र पंच परमेष्ठीस्वरूप है और प्रत्यक्ष फल देनेवाला है। बकरा, सर्प-सर्पिणी, कुत्ता, न्यौला, वानर आदि बहुतसे जीव इस णमोकार मंत्रके ही माहात्म्यसे स्वर्गमें जाकर देव हुए हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष इस महामंत्रके ध्यानसे अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥२९-३२॥ इस णमोकार मंत्रके माहात्म्यको गणधरदेव भी कहनेमें समर्थ नहीं हैं, तीर्थंकर जिनेन्द्रदेवने भी इस मंत्रराजका अवश्य ध्यान किया है ॥३३॥ जो जो योगी पहले मोक्ष गये हैं, वा आगे जायंगे, वह उनका मोक्ष जाना णमोकार महामंत्रका ही माहात्म्य समझना चाहिये ॥३४॥ भव्य जीवोंको भक्तिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, शुद्धतापूर्वक, शुद्धभावोंसे विधिपूर्वक श्वासो-

माणेन ध्यायेच्च विधिपूर्वकम्। सुभक्त्या श्रद्धया शुद्धया शुद्धभावेन भावुकः ॥३५॥ नाभिमण्डलके स्थाप्य षोडशदलपद्मकम्। षोडशाक्षरसम्भूतां विद्यां ध्यायेच्च तत्र वै ॥३६॥ परमेष्ठिस्वरूपां तां महासिद्धिकरां शुभाम्। योगीश्वरैः सदा ध्येयामगम्यां ब्रह्मजां पराम् ॥३७॥ निर्मलां शिवदां शुद्धां कर्मपर्वतभेदिकाम्। सर्वसौख्यप्रदां सर्वदुःखसंतापहारिकाम् ॥३८॥ एकाग्रमनसा योगी ध्यायेत्तां शुद्धभावतः। संसारचक्रनाशाय शिवसाधनहेतवे ॥३९॥ षड्वर्णात्मकमहाविद्या परमात्मप्रवाचिका। शुद्धा शिवस्वरूपा वा ध्यातव्या च मुमुक्षुभिः ॥४०॥ तस्या ध्यानेन शीघ्रं हि चार्हद्रूपं हि स्वात्मनः। अनायासेन शुद्धं तद्योगिनां ननु जायते ॥४१॥ अणिमागरिमाद्याश्च दुर्लभास्ताः समर्द्धयः। जायन्ते योगिनां शीघ्रं सुखदा हि विभूतयः ॥४२॥ पञ्चवर्णमयीं विद्यां पञ्चानां परमेष्ठिनाम्। ध्यायेच्च स्थिरभावेन

---

च्छ्वासके प्रमाणसे इस मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥३५॥ इसीप्रकार नाभिमण्डल पर सोलह दलके कमलकी कल्पना करनी चाहिये और उसपर सोलह अक्षरके महामंत्रका ध्यान करना चाहिये। (सोलह अक्षरका मंत्र यह है—"अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः" अथवा "अरहंत सिद्ध आइरिय उवज्झाया साहू") ॥३६॥ यह सोलह अक्षरोंसे उत्पन्न हुई महामंत्ररूप विद्या परमेष्ठिस्वरूप है, महासिद्धियोंको करनेवाली है, शुभ है, योगीश्वरोंके द्वारा सदा ध्यान करने योग्य है, अगम्य है, परब्रह्मसे प्रगट हुई है, सर्वोत्कृष्ट है, निर्मल है, मोक्ष देनेवाली है, शुद्ध है, कर्मरूप पर्वतको नाश करनेवाली है, समस्त सुखोंको देनेवाली है और समस्त दुःख तथा संतापको दूर करनेवाली है। इसलिये योगियोंको जन्म-मरणरूप संसारचक्रको नाश करनेके लिये तथा मोक्षके साधन प्राप्त करनेके लिये एकाग्र मनसे तथा शुद्ध भावोंसे इस सोलह अक्षररूप महाविद्यात्मक महामंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥३७–३९॥ "अरहंत सिद्ध" इन छह वर्णोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप महाविद्या परमात्माकी वाचक है, शुद्ध है और मोक्षस्वरूप है, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवालेको इसका भी ध्यान करना चाहिये ॥४०॥ इसके ध्यान करनेसे योगियोंके आत्माका स्वरूप बिना किसी परिश्रमके शीघ्र ही शुद्ध अरहंतस्वरूप हो जाता है ॥४१॥ इस ध्यानके प्रभावसे योगियोंको अणिमा-गरिमा आदि दुर्लभ ऋद्धियां और शीघ्र ही सुख देनेवाली विभूतियां प्राप्त हो जाती हैं ॥४२॥ "अ सि आ उ सा" इन पांच अक्षरोंसे बनी हुई मंत्ररूप महाविद्या पंच परमेष्ठीकी वाचक है। इसलिये योगियोंको संसारका जाल नाश करनेके लिये स्थिर

लोकजालस्य हानये ॥४३॥ महाप्रभावदीप्ताङ्गा परमज्ञानसाधिका । महासौख्यकरा शान्ता ध्यातव्या शान्तिदा सदा ॥४४॥ अर्हद्रूपमयीं विद्यां चतुर्वर्णात्मिकां शुभाम् । अरिहंतत्त्वसिद्ध्यर्थं ध्यायेच्च शुद्धभावतः ॥४५॥ अल्पाक्षरापि साश्चर्यकारिका चाथ सिद्धिदा । योगिनाथैः सदा ध्येया ध्यातव्या शिवहेतवे ॥४६॥ प्रत्यक्षफलदा सर्वकल्याणकारिका शुभा । शीघ्रं ददाति भव्यानां सर्वाभीष्टफलं सदा ॥४७॥ सिद्धरूपां महाविद्यां युग्मवर्णात्मिकां शुभाम् । स्वस्वरूपोपलब्ध्यर्थं ध्यायेच्च स्थिरचेतसा ॥४८॥ अनाहतं महामंत्रं ध्यानसिद्धिकरं शुभम् । चिन्तयेत् स्थिरभावेन संस्थाप्य नाभिमण्डले ॥४९॥ मंत्रेषु मुख्यमंत्रं तदृद्धिवृद्धिसमृद्धिदम् । नानाश्चर्यकरं तद्धि प्रत्यक्षफलदायकम् ॥५०॥ ध्यानेन स्मरणेनात्र जपेन तद्ददात्यलम् । मनोरथं च जीवानामभीष्टं दुर्लभं ननु ॥५१॥ प्रत्यक्षफलदं शुद्धं जगत्कल्याणकारकम् ।

---

भावोंसे इस मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥४३॥ यह मंत्ररूप विद्या भी महाप्रभावशाली है, दीप्यमान है, परमज्ञानको सिद्ध करनेवाली है, महासुख उत्पन्न करनेवाली है, शांत है और शांति देनेवाली है। इसलिये योगियोंको इसका भी सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥४४॥ "अरहंत" इन चार अक्षरोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप महाविद्या अरहंतस्वरूप है और शुभ है, इसलिये अरहंत पदको सिद्ध करनेके लिये शुद्ध भावोंसे इस मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥४५॥ यह मंत्ररूप महाविद्या अल्पाक्षररूप होकर भी महाआश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है, सिद्धियोंको देनेवाली है और महायोगीलोग सदा इसका ध्यान करते रहते हैं, इसलिये मोक्षकी प्राप्तिके लिये इसका ध्यान करना चाहिये ॥४६॥ यह विद्या प्रत्यक्ष फल देनेवाली है, समस्त कल्याणोंको करनेवाली है, शुभ है और भव्य जीवोंको शीघ्र ही समस्त अभीष्ट फलोंको देनेवाली है ॥४७॥ इसी प्रकार "सिद्ध" इन दो अक्षरोंसे उत्पन्न हुई मंत्ररूप महाविद्या सिद्धरूप है और शुभ है, इसलिये अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके लिये स्थिर चित्तसे इसका ध्यान करना चाहिये ॥४८॥ इसी प्रकार अनाहत महामन्त्र भी ध्यानकी सिद्धि करनेवाला है और शुभ है, इसलिये इसको नाभिमण्डलमें स्थापनकर स्थिर परिणामोंसे चिंतवन करना चाहिये ॥४९॥ यह अनाहत महामंत्र सब मंत्रोंमें मुख्य है; ऋद्धि, वृद्धि और समृद्धियोंको देनेवाला है, अनेक आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला है और प्रत्यक्ष फल देनेवाला है ॥५०॥ इस अनाहत मंत्रके ध्यान करनेसे स्मरण करनेसे वा जप करनेसे जीवोंके दुर्लभ अभीष्ट मनोरथ बहुत शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं ॥५१॥ 'ह्रीं' यह

'ह्रीं' च बीजाक्षरं ध्यायेच्चतुर्विंशतिरूपकम् ॥५२॥ चतुर्विंशतितीर्थानां महाविभवदायकम्। देवनागेन्द्रभूपानां जिनैर्वश्यकरं मतम् ॥५३॥ भ्रूमध्ये शीर्षके भाले संस्थाप्य भावपूर्वकम्। हृत्पद्मकर्णिकामध्ये वान्यत्र शुद्धभावतः ॥५४॥ एकाग्रमनसा तत्र शुद्धध्यानबलेन च। पुनः पुनश्च संध्यायेत्प्रसन्नमनसाऽथवा ॥५५॥ अर्हं बीजाक्षरं सिद्धं ब्रह्मरूपस्य वाचकम्। भाले संस्थाप्य तद्भक्त्या ध्यायेच्च शान्तिहेतवे ॥५६॥ स्वात्मसिद्धिः सतां शीघ्रं जपनेनास्य जायते। आत्मा स्वात्मनि वा याति स्थिरतां धैर्यपूर्वकम् ॥५७॥ पञ्चबीजाक्षरं तत्र पञ्चानां परमेष्ठिनाम्। प्रणवेन युतं शुद्धं पञ्चवर्णसमन्वितम् ॥५८॥ विविधपल्लवोपेतं वश्यादिकरणक्षमम्। श्रद्धया परया भक्त्या शुद्धया ध्यायेच्च संततम् ॥५९॥ क्रूरकर्मोद्भवं पापं तत्क्षणाच्छाम्यति स्वयम्। सर्वकार्याणि सिद्ध्यन्ति शुद्धमंत्रप्रभावतः ॥६०॥ श्रद्धान्वितो हि यो

---

बीजाक्षर भी चतुर्विंशति तीर्थंकरस्वरूप है, प्रत्यक्ष फल देनेवाला है, शुद्ध है और जगत्का कल्याण करनेवाला है; इसलिये इसका भी ध्यान करना चाहिये ॥५२॥ यह महामंत्र चौबीसों तीर्थंकरोंकी महाविभूतिको देनेवाला है और देव, नागेन्द्र तथा नरेन्द्र आदिको वश करनेवाला है। ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥५३॥ इस मन्त्रको भौओंके मध्यमें, मस्तकपर और ललाटपर भावपूर्वक स्थापन करना चाहिये, अथवा हृदयरूपी कमलकी कर्णिकामें वा अन्यत्र शुद्ध भावोंसे स्थापन करना चाहिये ॥५४॥ अथवा एकाग्रमनसे देदीप्यमान ध्यानके बलसे अथवा प्रसन्न मनसे बार बार इस मन्त्रका ध्यान करना चाहिये ॥५५॥ 'अर्हम्' यह बीजाक्षर भी सिद्धस्वरूप है और ब्रह्मस्वरूपका वाचक है, इसलिये परिणामोंको शान्त करनेके लिये इस मन्त्रको ललाटपर स्थापनकर भक्तिपूर्वक इसका ध्यान करना चाहिये ॥५६॥ इस मन्त्रका जप करनेसे सज्जन पुरुषोंको अपने आत्माकी सिद्धि शीघ्र ही हो जाती है, तथा यह आत्मा अपने आत्मामें धैर्यपूर्वक स्थिर हो जाता है। ॥५७॥ 'अर्हम्' इस बीजाक्षरमें पञ्चपरमेष्ठियोंके वाचक पांच अक्षर हैं। यह शुद्ध मन्त्र प्रणवके साथ पञ्चवर्ण सहित अनेक प्रकारके पल्लवोंसे सुशोभित वश करनेमें वा अन्य कार्योंके करनेमें समर्थ होता है; इसलिये श्रेष्ठ श्रद्धा, भक्ति और शुद्धतापूर्वक इस मन्त्रका सदा ध्यान करना चाहिये ॥५८–५९॥ इस शुद्ध मन्त्रके प्रभावसे क्रूर कर्मोंसे उत्पन्न हुए पाप उसी क्षणमें स्वयं शांत हो जाते हैं, तथा समस्त कार्य अपने आप शांत हो जाते हैं ॥६०॥ जो बुद्धिमान् श्रद्धा धारणकर इस मन्त्रका ध्यान करता है, चिंतवन करता है, वा जप करता है

ध्यायेच्चिन्तयेच्च जपेत्सुधीः। शान्तिपुष्ट्यादिकार्याणि तस्य सिद्ध्यन्ति शीघ्रतः ॥६१॥ 'ओं णमो अरिहंताणं'मिति सप्ताक्षरात्मकम्। अर्हतो वाचकं मंत्रं ध्यायेच्च सर्वसिद्धये ॥६२॥ 'णमो सिद्धाणं' माध्यायेत्पञ्चाक्षरात्मकं परम्। प्रणवेन युतं सिद्धस्वरूपवाचकं शुभम् ॥६३॥ मंत्रस्यास्य प्रभावेण सिद्ध्यन्ति सर्वसिद्धयः। कर्मकलंकपंकं हि नश्यति तत्क्षणात्स्वयम् ॥६४॥ 'ओं णमो आयरीयाणं'मिति सप्ताक्षरात्मकम्। आचार्यवाचकं श्रेष्ठं सर्वकल्याणकारकम् ॥६५॥ ध्यायेच्छुद्धसुभावेन स्वात्मचारित्रवृद्धये। दुष्कर्मपापनाशार्थं भक्त्या च विधिपूर्वकम् ॥६६॥ ध्यायेत् 'णमो उवज्झायाणं'मिति सप्तवर्णकम्। प्रणवेन युतं शुद्धं परब्रह्मात्मकं शुभम् ॥६७॥ सर्वाविद्याविनाशार्थं परमज्ञानसिद्धये। भावभक्त्या निजे चित्ते श्रद्धया च दिवानिशम् ॥६८॥ सुध्यायेच्च 'णमो लोए सव्वसाहूणं'मक्षरम्। नवाक्षरात्मकं शुद्धं मनोवाञ्छितसिद्धिदम् ॥६९॥ प्रतिदिनं जपेन्नित्यं जिनलिङ्गसुधारकम्। वीतरागं महात्मानं योगिनाथं दिगम्बरम् ॥७०॥ तस्य च

---

उसके शांति, पुष्टि आदि समस्त कार्य शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं ॥६१॥ "ओं णमो अरिहंताणं" यह अरहंतका वाचक सात अक्षरोंका मन्त्र है, इसलिये समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये इसका ध्यान करना चाहिये ॥६२॥ "णमो सिद्धाणं" यह पांच अक्षरोंका उत्कृष्ट मन्त्र हैं, यह भगवान् सिद्ध परमेष्ठीका वाचक है और शुभ है, इसलिये प्रणवके साथ इसका ध्यान करना चाहिये ॥६३॥ इस मंत्रके प्रभावसे समस्त सिद्धियां सिद्ध हो जाती हैं और कर्म-कलंककी कीचड़ अपने आप उसी क्षणमें नष्ट हो जाती है ॥६४॥ "ओं णमो आइरीयाणं" यह सात अक्षरोंका मन्त्र आचार्यका वाचक है और श्रेष्ठ तथा समस्त कल्याणोंको करनेवाला है ॥६५॥ इस मंत्रको भी अपने आत्माके चारित्रकी वृद्धिके लिये और पाप कर्मोंका नाश करनेके लिये शुद्धभावोंसे विधिपूर्वक बड़ी भक्तिसे चिन्तवन करना चाहिये ॥६६॥ "णमो उवज्झायाणं" यह सात अक्षरका मन्त्र है। यह मन्त्र भी शुद्ध है, परमब्रह्मस्वरूप है, और शुभ है; इसलिये समस्त अविद्याओंको नाश करनेके लिये और परम ज्ञान की प्राप्तिके लिये, भाव-भक्ति तथा श्रद्धापूर्वक अपने हृदयमें रात-दिन प्रणवके साथ इसका ध्यान करना चाहिये ॥६७–६८॥ इसी प्रकार "णमोलोए सव्वसाहूणं" यह नौ अक्षरोंका मन्त्र है, यह भी शुद्ध है, मनोवांच्छित पदार्थोंको सिद्ध करनेवाला है, जिनलिंगको सुधारनेवाला है, वीतराग है, महात्म्यको धारण करनेवाला है, योगियोंका स्वामी है और दिगम्बर अवस्थाका सूचक है। इसका भी प्रतिदिन ध्यान करना चाहिये और

जपनेनात्र स्वात्मबोधः प्रजायते । प्रकाश्यते शिवो मार्गः शाश्वतः सौख्यदायकः ॥७१॥ णमोकारयुतं चत्तारि इति दण्डकं सदा । ध्यायेच्च चिन्तयेद्योगी जपेद्वा शुद्धभावतः ॥७२॥ तस्य नित्यं जपेनात्र महाशान्तिः प्रजायते । नश्यन्ति सर्वविघ्नानि जायन्तेऽत्र सुखानि वा ॥७३॥ चतुर्विंशतितीर्थानां नामानि शुभभावतः । चिन्तयेच्च जपेद्भक्त्या ध्यायेच्च सर्वसिद्धये ॥७४॥ जपेच्च ओं नमः सिद्धेभ्यश्च षडक्षरात्मकम् । सर्वत्र सर्वकार्येषु भक्त्या नित्यं दिवानिशम् ॥७५॥ नियमेन प्रसिद्ध्यन्ति जपनेनास्य सत्वरम् । सर्वकार्याणि जीवानां विघ्नं नश्यति तत्क्षणात् ॥७६॥ एवं मन्त्रं हि प्रत्येककार्येषु सर्वसिद्धये यतिर्वात्र गृहस्थो हि अभ्यसेत्तु निरन्तरम् ॥७७॥ स शुद्धो वाप्यशुद्धो वा रोगी रङ्कः शुभाशुभः । दीनो हीनोऽत्र पंगुर्वा छ्येनं

---

सदा जप करना चाहिये ॥६९–७०॥ इस मन्त्रका जप करनेसे आत्मज्ञान प्रगट होता है और सुख देनेवाला सदा रहनेवाला मोक्ष-मार्ग प्रगट होता है ॥७१॥ इसीप्रकार "णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं। चत्तारिमङ्गलं अरहंत मङ्गलं सिद्धमङ्गलं साहूमङ्गलं केवलि पण्णत्तो धम्मोमङ्गलं चत्तारि लोगुत्तमा अरहंत लोगुत्तमा सिद्ध लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा चत्तारि सरणं पव्वज्जामि अरहंत सरणं पव्वज्जामि सिद्धसरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि केवलि पण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि" इसको दण्डक कहते हैं। योगियोंको अपने शुद्धभावोंसे इसका भी ध्यान करना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये और जप करना चाहिये ॥७२॥ इस मन्त्रके जप करनेसे महाशांति प्रगट होती है, सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं और सब सुख प्रगट हो जाते हैं ॥७३॥ समस्त कार्योंको सिद्ध करनेके लिये शुभ भावोंसे चौबीसों तीर्थङ्करोंके नामोंका चिंतवन करना चाहिये, भक्तिपूर्वक जप करना चाहिये और ध्यान करना चाहिये ॥७४॥ "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" यह छह अक्षरोंका मन्त्र भी शुभ है, इसको सब जगह समस्त कार्योंमें भक्तिपूर्वक रात-दिन सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥७५॥ इसके जप करनेसे जीवोंके समस्त कार्य नियमपूर्वक शीघ्र ही सिद्ध हो जाते हैं और सब विघ्न उसी समयमें नष्ट हो जाते हैं ॥७६॥ चाहे कोई मुनि हो और चाहे कोई गृहस्थ हो, समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक जीवको सदा इसके जपनेका अभ्यास करते रहना चाहिये ॥७७॥ वह जीव चाहे शुद्ध हो चाहे अशुद्ध हो,

मन्त्रं जपेत्सदा ॥७८॥ अंधः कुष्ठी गलद्रक्तो ह्यशुचिर्मलमूत्रतः। तथापि च जपेदेनं मंत्रराजं सुखाकरम् ॥७९॥ महाप्रभावको मंत्रो महाशक्तिप्रदायकः। महामङ्गलभूतोऽसौ महासौख्यकरो मतः ॥८०॥ सर्वावस्थासु यो भक्त्या जपेन्नित्यं क्षणे क्षणे। निर्विघ्नं तस्य कार्याणि नित्यं सिद्ध्यन्त्यसंशयम् ॥८१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कार्यप्रारंभके शुभे। जपेच्च ओं नमः सिद्धेभ्य इति मंत्रराजकम् ॥८२॥ जिनमित्यक्षरं युग्मं जपेन्नित्यं दिवानिशम्। सर्वत्र सर्वकार्येषु भावभक्त्या सुखाकरम् ॥८३॥ चिन्तयति जिनं भक्त्या स्मरति नौति वार्चति। जपति ध्यायति भव्यो यः सवै पुरुषोत्तमः ॥८४॥ त्रिलोकेऽस्मिन् स चैको हि ध्येयोऽत्र श्रीजिनः सताम्। अन्यमंत्रं सदा त्यक्त्वा ध्यायतां स जिनोऽनिशम् ॥८५॥ तावदेव कुमंत्रेषु जीवो भ्रमति मोहतः। यावन्न जिनदेवोऽसौ दृष्टो भक्तिभरेण वा ॥८६॥ तावदेव कुयोगेषु मानवः कुरुते स्थितिम्। यावन्न जिनदेवोऽसौ दृष्टः प्रशान्तयोग-

---

चाहे रोगी हो चाहे रंक हो, चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ हो, चाहे दीन हो, चाहे हीन हो और चाहे लँगड़ा हो, सबको इस मन्त्रका जप सदा करते रहना चाहिये ॥७८॥ चाहे अंधा हो, चाहे कोढ़ी हो, चाहे उसके शरीरसे रुधिर बह रहा हो, चाहे मल-मूत्रसे अपवित्र हो, तो भी उसको सुख देनेवाले इस मन्त्रराजका जप अवश्य करना चाहिये ॥७९॥ यह मंत्र महाप्रभाव उत्पन्न करनेवाला है, महाशक्तिको देनेवाला है, महामङ्गलभूत है और महासुख उत्पन्न करनेवाला है। जो मनुष्य भक्तिपूर्वक समस्त अवस्थाओंमें प्रतिक्षण सदा इसका जप करता है, उसके समस्त कार्य निर्विघ्नपूर्वक अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं ॥८०-८१॥ इसलिये "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" इस मंत्रराजको सब तरहके प्रयत्न करके प्रत्येक कार्यके प्रारंभमें वा शुभ कार्योंमें जपना चाहिये ॥८२॥ "जिन" यह दो अक्षरोंका मंत्र भी सुख देनेवाला है, इसलिये सब जगह सब कार्योंमें भक्तिपूर्वक रात-दिन इसका जप करना चाहिये ॥८३॥ जो भव्य पुरुष भगवान् जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता है, भक्तिपूर्वक उनका स्मरण करता है, उनको नमस्कार करता है, उनका चिंतवन करता है, जप करता है और ध्यान करता है, उसको इस संसारमें पुरुषोत्तम समझना चाहिये ॥८४॥ एक भगवान् जिनेन्द्रदेव ही तीनों लोकोंमें सज्जनोंके द्वारा ध्यान करने योग्य हैं, इसलिये अन्य सब मंत्रोंको छोड़कर 'जिन जिन' इसी मंत्रका जप करना चाहिये ॥८५॥ यह जीव मोहनीय कर्मके उदयसे तभीतक कुमंत्रोंमें परिभ्रमण करता है, जब तक कि भक्तिपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं होते ॥८६॥ यह मनुष्य कुयोगोंमें तभीतक ठहर सकता

भाक् ॥८७॥ जिन एव भवाम्भोधौ तारको भवहारकः । तस्माज्जिनं जिनं भक्त्या जपेच्च शुद्धभावतः ॥८८॥ जिनो देवो जिनो देवो देवदेवः जिनो जिनः । जिनो एव सदा ध्येयो वन्द्यो पूज्यश्च तारकः ॥८९॥ जिनं जिनं जिनं चात्मन् स्मर चिन्तय भावय । प्राणै कण्ठगतैश्चापि जातु विस्मर मा जिनम् ॥९०॥ श्रद्धया परया भक्त्या शुद्धया च शुद्धभावतः । यः स्मरति जिनं देवं जपति स सुदृष्टिकः ॥९१॥ तावदेव कुधर्मेषु विमुह्यति जनो भुवि । यावन्न हि जिनो दृष्टोऽनन्तशक्तिप्रधारकः ॥९२॥ जिन एव महादेवो जिन ईश्वर उच्यते । जिनो हि परमात्मासौ जिनो ब्रह्मा शिवो मतः ॥९३॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वकार्येषु सर्वदा । ध्यातव्यः श्रीजिनो नित्यं शुद्धभावेन धीमता ॥९४॥ कायव्यापारकं रुद्ध्वा चान्तर्जल्पेन योगिभिः । शनैः शनैः परो मन्त्रो ध्यातव्यश्च सुखेप्सया ॥९५॥ त्यक्त्वान्यां सर्वचिन्तां हि चैकाग्रमनसात्र वा । एकं मंत्रपदं ध्येयं शुद्धोच्चारण-

---

है, जबतक कि शांतयोगको धारण करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं होते ॥८७॥ इस संसाररूपी समुद्रमें भगवान् जिनेन्द्रदेव ही संसारको नाश करनेवाले हैं और संसारसे पार कर देनेवाले हैं, इसलिये भक्तिपूर्वक शुद्धभावोंसे जिन वा जिनेन्द्रदेवका जप करना चाहिये ॥८८॥ भगवान् जिनेन्द्रदेव ही देव हैं जिनेन्द्रदेव ही देव हैं, देवोंके देव जिन ही हैं, जिन ही हैं। भगवान् जिनेन्द्रदेव ही ध्यान करने योग्य हैं, वंदना करने योग्य हैं, पूज्य हैं और संसारसे पार कर देनेवाले हैं ॥८९॥ हे आत्मन्! तू भगवान् जिनेन्द्रदेवका चिंतवन कर, भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण कर और भगवान् जिनेन्द्रदेवकी भावना कर। कंठगत प्राण होने पर भी तू भगवान् जिनेन्द्रदेवको मत भूल ॥९०॥ जो पुरुष परम श्रद्धा, परम भक्ति, शुद्धता और शुद्ध भावपूर्वक भगवान् जिनेन्द्रदेवका स्मरण करता है और उनका जप करता है, उसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये ॥९१॥ यह जीव इस संसारमें तभीतक कुधर्ममें मोहित होता है, जबतक कि अनंत शक्तिको धारण करनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवके दर्शन नहीं होते ॥९२॥ भगवान् जिनेन्द्रदेव ही महादेव हैं, जिनेन्द्रदेव ही ईश्वर हैं, जिनेन्द्रदेव ही परमात्मा हैं, जिनेन्द्रदेव ही ब्रह्मा हैं और भगवान् जिनेन्द्रदेव ही शिव हैं ॥९३॥ इसलिये बुद्धिमान् भव्य जीवोंको सब तरहके प्रयत्न करके समस्त कार्योंमें शुद्धभावोंसे सदा भगवान् जिनेन्द्रदेव—का ही ध्यान करना चाहिये ॥९४॥ योगियोंको सुखकी इच्छासे शरीरके व्यापारको रोककर अंतःकरणमें जप करते हुए धीरे धीरे इस सर्वोत्कृष्ट मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥९५॥ अन्य समस्त चिंताओंको छोड़कर

पूर्वकम् ॥९६॥ अन्यैः स्वेनाऽश्रुतं वर्णं श्रद्धया शुद्धभावतः। क्षणं क्षणं हि तद्वर्णं ध्यायेद्वा ध्यानसिद्धये ॥९७॥ कुम्भके निश्चलं कृत्वा स्थिरचित्तेन तत्र वै। पूरके च स्थिरं कृत्वा ध्यातव्यं मंत्रवर्णकम् ॥९८॥ मायाबीजेन संयुक्तं प्रणवं मन्त्रशेखरम्। अष्टपत्रात्मके पद्मे सकर्णिके जपेद्ध्रुवम् ॥९९॥ सर्वोपद्रवनाशार्थं शान्त्यर्थं विघ्नहानये। जपेन्मन्त्रमिमं भक्त्या शिवार्थी भावुकः सदा ॥१००॥ स्मरति जपति भक्त्या श्रीपदस्थं सुमन्त्रमिह परमविशुद्ध्या श्रद्धयासौ शिवार्थी। परमसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं नयति स हि सुधर्मं स्वात्मरूपं शिवं वा ॥१०१॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे पदस्थध्यानवर्णनो नाम द्वाविंशतितमोऽधिकारः।

---

एकाग्र मनसे शुद्ध उच्चारणपूर्वक एक इसी मंत्रका ध्यान करना चाहिये ॥९६॥ अथवा जो जिन शब्द अन्य लोगोंने स्वयं कभी नहीं सुना है उसका भी भावोंसे श्रद्धापूर्वक ध्यानकी सिद्धिके लिये क्षण क्षण में ध्यान करते रहना चाहिये ॥९७॥ स्थिर चित्त होकर कुंभक, पूरक और रेचक वायुओंके द्वारा मनको निश्चलकर मंत्रके वर्णोंका ध्यान करना चाहिये ॥९८॥ कर्णिकासहित आठ दलका कमल बनाकर उसपर माया-बीजसहित प्रणवपूर्वक मंत्रोंके मुकुटभूत इस जिन-मंत्रका अवश्य ध्यान करना चाहिये ॥९९॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको समस्त उपद्रवोंको नाश करनेके लिये, शांतिके लिये और विघ्नोंको दूर करनेके लिये भक्तिपूर्वक इस मंत्रका सदा जप करते रहना चाहिये ॥१००॥ ये पदस्थ ध्यानके मंत्र परम सुखके निधान हैं और समस्त कल्याणोंके कारण हैं, इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले जो भव्य जीव परम श्रद्धा, परम भक्ति और परम शुद्धिपूर्वक इन मंत्रोंका जप करते हैं वा इनको स्मरण करते हैं; वे शुद्ध आत्मस्वरूप अथवा मोक्षस्वरूप श्रेष्ठ धर्मको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥१०१॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें पदस्थध्यानको वर्णन करनेवाला यह बाईसवां अधिकार समाप्त हुआ।

# त्रयोविंशतितमोऽधिकारः ।



भवसन्तानहन्तारं वरधर्मप्रकाशकम् । योगीश्वरैः सदा वन्द्यं नेमिनाथं नमामि तम् ॥१॥ यो मोहादीनरीन् हत्वा रजोविघ्नप्रणाशकः । श्रीमन्तमरिहन्तं तं नमामि ध्यानसिद्धये ॥२॥ निर्भयं परमानन्दं स्वतन्त्रं स्वात्मसंस्थितम् । चतुष्कघातिकर्मारीन् जेतारं नौमि तं जिनम् ॥३॥ रत्नत्रयमयश्चात्मा रत्नत्रयमयो जिनः । वन्द्यते हि मया भक्त्या कर्मारिविजयाज्जिनः ॥४॥ तं परमेष्ठिनं देवं त्रिजगत्परमेश्वरम् । सर्वज्ञं परमात्मानमर्हन्तं नौमि तीर्थकम् ॥५॥ ध्यानेन येन कर्मारि-

जो नेमिनाथ भगवान् जन्म-मरणरूप संसारकी संतानको नाश करनेवाले हैं, श्रेष्ठ धर्मको प्रकाशित करनेवाले हैं और योगीश्वरोंके द्वारा सदा वन्दनीय हैं; ऐसे भगवान् नेमिनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो अरहंत भगवान् मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि शत्रुओंको नाश करनेवाले हैं तथा विघ्नरूप अन्तराय कर्मको नाश करनेवाले हैं; ऐसे भगवान् अरहंत देवको अपने ध्यानकी सिद्धिके लिये नमस्कार करता हूं ॥२॥ जो अरहंत देव भयरहित हैं, परमानन्दस्वरूप हैं, स्वतन्त्र हैं, अपने आत्मामें स्थिर हैं और चारों घातक कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं, ऐसे जिनेन्द्रदेव भगवान् अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥३॥ यह मेरा आत्मा भी रत्न-त्रयमय है और भगवान् जिनेन्द्रदेव भी रत्न-त्रयमय हैं तथा वे जिनेन्द्र कर्मरूप शत्रुओंको नाश करनेसे हुए हैं; ऐसे भगवान् जिनेन्द्रदेवको मैं भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूं ॥४॥ जो अरहंत भगवान् परमेष्ठी हैं, तीनों जगत्के ईश्वर हैं, सर्वज्ञ हैं, परमात्मा हैं और तीर्थंकर हैं; ऐसे भगवान् अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥५॥ जिन योगिनाथ भगवान् अरहंतदेवने अपने निर्मल परिणामोंसे ध्यानके द्वारा समस्त कर्मोंका समूह

चक्रो नष्टो हि मूलतः । अर्हता योगिनाथेन वन्देऽहं तं सुभावतः ॥६॥ जीवन्मुक्तोऽपि योगीशो निर्दोषः सर्वविच्छुचिः । देवदेवैर्नृपैः पूज्यः सोऽर्हन् च पूज्यते मया ॥७॥ अर्हन्तं भगवन्तं तं पूज्येशं परमेश्वरम् । ध्यायेच्च ध्यानरूपस्थे ध्याता चैकाग्रचेतसा ॥८॥ घातिकर्मविनिर्मुक्तं सकलं परमेष्ठिनम् । योगीश्वरं महासाधुं सिद्धयोगं निरञ्जनम् ॥९॥ योगातीतं महर्षिं तं कृतकृत्यं महाप्रभुम् । सर्वयोगीश्वरैः पूज्यं ब्रह्मर्षिं च यतीश्वरम् ॥१०॥ ध्यानीशं परमर्षिं तं स्नातकं च विकल्मषम् । ऋद्धिवृद्धिसमृद्ध्याढ्यं नानर्द्धिभूषितं जिनम् ॥११॥ अनन्तमहिमोपेतं सर्वविद्येश्वरं विभुम् । सर्वनरेन्द्रदेवेन्द्रनागेन्द्राद्यैश्च पूजितम् ॥१२॥ संसारचक्रनिर्मुक्तं जन्मातीतमजं शिवम् । धर्मचक्रप्रणेतारं कर्मचक्रविनाशकम् ॥१३॥ क्षुधादिदोषनिर्मुक्तं सर्वमलनिराकृतम् । सप्तधातुविनिर्मुक्तं जरामरणदूरगम् ॥१४॥ शुद्धस्फटिकसंकाशं दिव्यकांचनसन्निभम् । अन्तर्वहिर्मलातीतं पूतं परमपावनम् ॥१५॥ दोषातीतं भवातीतं चेष्टातीतं विकायकम् । निर्मोहं निर्मदं शान्तं निर्विकारं निरञ्ज-

मूलसे नष्ट कर दिया है, ऐसे अरहंतदेवको मैं नमस्कार करता हूं ॥६॥ जो अरहंतदेव जीवन्मुक्त हैं, योगियोंके स्वामी हैं, निर्दोष हैं, सर्वज्ञ हैं, पवित्र हैं और देव इन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य हैं, ऐसे भगवान् अरहंतदेवकी मैं पूजा करता हूं ॥७॥ ध्यान करनेवालेको एकाग्र मनसे रूपस्थ ध्यानमें सब पूज्योंके स्वामी परमेश्वर भगवान् अरहंतदेवका ध्यान करना चाहिये ॥८॥ भगवान् अरहंतदेव घातक कर्मोंसे रहित हैं, शरीरसहित हैं, परमेष्ठी हैं, योगीश्वर हैं, महासाधु हैं, सिद्धयोग हैं, निरंजन हैं, योगरहित हैं, महर्षि हैं, कृतकृत्य हैं, महाप्रभु हैं, समस्त योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य हैं, ब्रह्मर्षि हैं, यतीश्वर हैं, ध्यानियोंके ईश्वर हैं, परम ऋषि हैं, स्नातक हैं, कर्ममलसे रहित हैं, ऋद्धि, वृद्धि और समृद्धियोंसे सुशोभित हैं, अनेक ऋद्धियोंसे विभूषित हैं, जिन हैं, अनंत महिमाको धारण करते हैं, समस्त विद्याओंके ईश्वर हैं, विभु हैं, समस्त नरेन्द्र, देवेन्द्र और नागेन्द्र आदिके द्वारा पूज्य हैं, संसारचक्रसे रहित हैं, जन्म-मरण रहित हैं, अज हैं, शिव हैं, धर्म हैं, धर्मचक्रको निरूपण करनेवाले हैं, कर्मचक्रको नाश करनेवाले हैं, क्षुधा-तृषा आदि दोषोंसे रहित हैं, रागद्वेषादिक समस्त कल्मषोंको दूर करनेवाले हैं, सप्त धातुओंसे रहित हैं, बुढ़ापा-मरण आदिसे दूर हैं, शुद्ध स्फटिकके समान हैं, अथवा दिव्य सुवर्णके समान हैं, अंतरङ्ग बहिरङ्ग मलोंसे रहित हैं, पवित्र हैं, परम पवित्र हैं, दोष-रहित हैं, संसारसे रहित हैं, चेष्टासे रहित हैं, शरीररहित हैं, मोहरहित हैं, मदरहित हैं, शांत हैं, विकाररहित हैं,

नम् ॥१६॥ निष्कामं निष्क्रियं दुःखसंतापशोकवर्जितम् । अतीन्द्रियं मनोतीतं रागादिदोषवर्जितम् ॥१७॥ क्रोधमानविनिष्क्रान्तं मायालोभविवर्जितम् । निर्लेपं निर्भयं धीरं वीरं कर्मविनाशने ॥१८॥ निर्द्वन्द्वं सङ्गसंहीनं गतदोषं विरागकम् । निर्मत्सरं निरान्तकं निस्पृहं च निराकुलम ॥१९॥ नैराश्यं च निरीच्छं च लोकश्रेष्ठं दिगम्बरम् । निर्भूषणं च निर्वस्त्रं निःशस्त्रं जालरूपकम् ॥२०॥ निष्कलमषं महाशान्तं निधिनाथं महेश्वरम् । दिव्यविभूतिसम्पन्नं दिव्यसाम्राज्यभूषितम् ॥२१॥ छत्रत्रयसमायुक्तं चामरैर्व्यञ्जितं सदा । सिंहासनसमासीनं प्रातिहार्यविभूषितम् ॥२२॥ अन्तरिक्षस्थितं दिव्यपद्मोपरि विराजितम् । महाश्चर्यकरं तत्र ह्यचिन्त्यं विश्वमोहकम् ॥२३॥ अनन्तज्ञानसम्पन्नमनन्तदर्शनान्वितम् । अनन्तसौख्यसंयुक्तं चामरैर्व्यंजितं सदा ॥२४॥ सर्वज्ञं सर्वद्रष्टारं सार्वं सर्वहितङ्करम् । सर्वकल्याणकर्तारं शङ्करं च शिवेश्वरम् ॥२५॥ सर्वार्थबोधकाद्बुद्धं शंकरत्वाद्धि शङ्करम् । ब्रह्माणं ब्रह्मनिरताद्विष्णुं सर्वमयं विभुम् ॥२६॥ देवतानामधीशत्वान्महा-

---

दोषरहित हैं, इच्छारहित हैं, क्रियारहित हैं, दुःख, संताप और शोकसे रहित हैं, अतीन्द्रिय हैं, मनसे रहित हैं, राग-द्वेपरहित हैं, क्रोध-मानसे रहित हैं, माया लोभसे रहित हैं, निर्लेप हैं, निर्भय हैं, कर्मोंके नाश करनेमें धीर-वीर हैं, द्वंद्वरहित हैं, परिग्रहरहित हैं, द्वेपरहित हैं, रागरहित हैं, मत्सरतारहित हैं, आतङ्करहित हैं, स्पृहारहित हैं, आकुलतारहित हैं, आशारहित हैं, इच्छारहित हैं, लोकोत्तर हैं, दिगम्बर हैं, आभूपणरहित हैं, वस्त्ररहित हैं, शस्त्ररहित हैं, उत्पन्न हुए (बालक)के समान दिगम्बर हैं, कलमपतारहित हैं, महाशान्त हैं, निधियोंके स्वामी हैं, महाईश्वर हैं, दिव्य विभूतियोंसे सुशोभित हैं, दिव्य साम्राज्यसे विभूपित हैं, उनके मस्तकपर तीन छत्र शोभायमान होते हैं, चमर ढुलते रहते हैं, वे सिंहासनपर विराजमान रहते हैं, प्रातिहार्योंसे सुशोभित रहते हैं, सिंहासनपर भी अंतरीक्ष दिव्य महा कमलपर विराजमान रहते हैं, आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले हैं, अचिंत्य हैं, तीनों लोकोंको आकर्पित करनेवाले हैं, अनन्त ज्ञान, अनंत दर्शन, और अनंत सुखसे सुशोभित हैं, उनपर चमर सदा ढुलते रहते हैं, वे सर्वज्ञ हैं, सबको देखनेवाले हैं, सबका भला करनेवाले हैं, सबका हित करनेवाले हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं, शङ्कर हैं, शिवके ईश्वर हैं, समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं—इसलिये बुद्ध हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं,—इसलिये शंकर हैं, ब्रह्ममें लीन हैं—इसलिये ब्रह्मा हैं; ज्ञानके द्वारा सबको जानते हैं—इसलिये विष्णु वा विभु हैं वा सर्वमय हैं, देवोंके स्वामी होनेके कारण महादेव हैं, तीनों लोक उनको नमस्कार करते हैं, वे

देवं जगन्नुतम् । ज्योतीरूपं परं ज्येष्ठं सुगतं पुरुषोत्तमम् ॥२७॥ पूजार्हत्वाद्धि चार्हन्तं कर्मारिविजयाज्जिनम् । तत्त्वविचारकत्वाच्च मीमांसं सर्ववेदिनम् ॥२८॥ सर्वतो हि विशुद्धत्वाच्छुद्धं नारायणं ननु । सर्वकर्मारिहननाद्धरं हरीशनायकम् ॥२९॥ मोहान्धकारभेदत्वाज्जगत्सूर्यं महाप्रभुम् । जगदाह्लादकत्वाच्च जगच्चन्द्रं सुधाकरम् ॥३०॥ सर्वभूतैः प्रपूज्यत्वाद्भूतनाथं प्रमाणकम् । श्रेष्ठत्वात्परमात्मानं योगिगम्याद्यतीश्वरम् ॥३१॥ ज्ञानामृतमहापूरैः सुलाविलजगत्त्रयम् । स्याद्वादनायकं दिव्यं देवदेवं स्वयम्भुवम् ॥३२॥ हरीशपूज्यपादाब्जमिन्द्रनागेन्द्रवंदितम् । शरण्यं मङ्गलं लोकोत्तमं सत्त्वहितङ्करम् ॥३३॥ एतादृशं हि चार्हन्तं नृसुरासुरपूजितम् । ध्यायेत्कर्मविनाशार्थं स्थिरचित्तेन भक्तितः ॥३४॥ त्रातारं सर्वलोकानां रक्षितारं पितामहम् । छेत्तारं भववल्लीनां तारकं सुखकारकम् ॥३५॥ तीर्थनाथं महातीर्थं सर्वतीर्थनमस्कृतम् । लोकालोकविभायुक्तं पूर्णसामर्थ्यधारकम् ॥३६॥ आदिमध्यान्तहीनं तं वर्द्धमानं सनातनम् । सत्यप्रमाणभूतं च दयालंकृतविग्रहम् ॥३७॥

---

ज्योतिरूप हैं सर्वज्येष्ठ हैं, सुगत हैं, पुरुषोत्तम हैं, सबके द्वारा पूजा करने योग्य हैं—इसलिये अर्हंत हैं, कर्मोंको नाश करनेके कारण जिन हैं, तत्त्वोंका पूर्ण विचार करनेके कारण मीमांसक हैं, समस्त तत्त्वोंके ज्ञाता हैं, सर्व ओरसे विशुद्ध होनेके कारण शुद्ध हैं, नारायण हैं, कर्मोंका नाश करनेके कारण हर हैं, इन्द्रोंके भी स्वामी हैं, मोहरूपी अन्धकारको नाश करनेके कारण जगत्के सूर्य हैं, महादेदीप्यमान हैं, जगत्को आह्लाद करनेके कारण जगत्के चन्द्रमा हैं, उनसे वचनरूपी अमृत सदा झरता है, समस्त जीवोंके द्वारा पूज्य होनेके कारण भूतनाथ कहलाते हैं, वे भगवान् प्रमाणभूत हैं, श्रेष्ठ होनेके कारण परमात्मा हैं, योगियोंके गम्य होनेके कारण यतीश्वर हैं, उन्होंने ज्ञानामृतके महापूरसे तीनों जगत्को भर दिया है, वे भगवान् स्याद्वादके स्वामी हैं, देवोंके देव हैं, स्वयंभू हैं, उनके चरणकमल इन्द्रोंके द्वारा भी पूज्य हैं, इन्द्र नागेन्द्र सब उनकी वन्दना करते हैं, वे भगवान् शरणभूत हैं, मङ्गल हैं, लोकोत्तम हैं और समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अरहंत देवको अपने कर्मोंको नाश करनेके लिये स्थिर चित्तसे भक्तिपूर्वक ध्यान करना चाहिये ॥ ९–३४ ॥ वे भगवान् अरहंत देव तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले हैं, स्वयं सुरक्षित हैं, पितामह हैं, संसाररूपी बेलको नाश करनेवाले हैं, संसारको पार कर देनेवाले हैं, सुख देनेवाले हैं, तीर्थनाथ हैं, महातीर्थ हैं, समस्त तीर्थोंके द्वारा नमस्कार करने योग्य हैं, लोक-आलोकके स्वरूपको निरूपण करनेवाले हैं, पूर्ण सामर्थ्यको धारण करनेवाले

सत्यसत्यप्रणेतारं मिथ्यामतविनाशकम् । भ्रमादिदोषनिर्मुक्तं प्रत्यचीकृज्जगत्त्रयम् ॥३८॥ एतादृशं हि चार्हन्तं ध्याये- संचिन्तयेत्सुधीः । पूजयेत्सुजपेद्भक्त्या स्मरेद्वा तद्गुणाप्तये ॥३९॥ धर्मध्यानबलेनात्र जिनामूर्तिं विचिंतयेत् । ध्याता स्वात्मनि संकल्प्य ह्यर्हन्तं दिव्यतेजसम् ॥४०॥ ध्यायेत्तद्गुणसंकीर्त्या स्वात्मानं जिनभावतः । जिनश्चात्मा जिनश्चात्मा स्वात्मैष स जिनो जिनः ॥४१॥ जिन एव भवेदात्मा तस्मादात्मा जिनो मतः । सर्वदोषविनिर्मुक्तमात्मानं मन्यते जिनम् ॥४२॥ भावयेद्भाव- भक्त्या तं तादात्मा स्याज्जिनो ध्रुवम् । तस्मात्तद्गुणसंकीर्त्या श्रद्धया वा जपेज्जिनम् ॥४३॥ प्रतिबिम्बं जिनेन्द्रस्य चान्तः स्थाप्य हृदिस्थले । ध्याताथवा हितं ध्यायेदेकाग्रमनसाऽनिशम् ॥४४॥ अर्हतश्च गुणान्धृत्वा तत्रैव चिन्तयेत्पुनः । अर्हतां

हैं, आदि, मध्य और अंतसे रहित हैं, वर्द्धमान हैं, सनातन हैं, यथार्थ प्रमाणभूत हैं, उनका शरीर दयासे सुशोभित हैं, सत्य सत्य भाषाको निरूपण करनेवाले हैं, मिथ्या मतको नाश करनेवाले हैं, भ्रम आदि दोषोंसे रहित हैं और तीनों लोकोंको प्रत्यक्ष देखनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अरहंतदेवका बुद्धिमान भव्य जीवोंको उनके गुण प्राप्त करनेके लिये ध्यान करना चाहिये, उनका चिंतवन करना चाहिये, उनकी पूजा करनी चाहिये, उनका जप करना चाहिये और उनका स्मरण करना चाहिये ॥३५–३९॥

आगे इस ध्यानके चिंतवन करनेका उपाय बतलाते हैं । सबसे पहले धर्मध्यानके बलसे भगवान् जिनेन्द्रदेवके आकारका चिंतवन करना चाहिये । ध्यान करनेवाले ध्याताको अपने आत्मामें दिव्य तेजको धारण करनेवाले भगवान् अरहंतदेवका संकल्प करना चाहिये और फिर अपने आत्माको जिनेन्द्ररूप समझ कर उनके गुणोंका कीर्तन करते हुए उनका ध्यान करना चाहिये । ये जिनेन्द्रदेव ही मेरा आत्मा है, जिनराज ही मेरा आत्मा है, अथवा मेरा आत्मा ही जिन है, जिन है, यह आत्मा ही जिनेन्द्र हो जाता है; इसलिये आत्मा ही जिनेन्द्र माना जाता है । इसप्रकार जब अपने आत्माको समस्त दोषोंसे रहित जिनेन्द्र ही मानता है, तथा भाव-भक्तिसे उसका चिंतवन करता है, तब आत्मा अवश्य ही जिन हो जाता है । इसलिये ध्यान करनेवालेको श्रद्धापूर्वक अरहंत देवके गुणोंका संकीर्तन करते हुए जिनेन्द्रदेवका जप करना चाहिये ॥४०–४३॥ अथवा ध्यान करनेवालेको अपने हृदयके भीतर भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबका स्थापन करना चाहिये और फिर एकाग्र मनसे हित

पञ्चकल्याणं तत्रैव चिन्तयेत्सुधीः ॥४५॥ अर्हतां सुगुणव्रातं ध्यायन्ध्यायन् विचिन्तयेत्। कृत्वा च मानसाध्यक्षं जिनबिम्बेऽर्हतां गुणम् ॥४६॥ जिनबिम्बं समालम्ब्य मनोध्यक्षेण चिन्तयेत्। भावरूपान्वितं देवमर्हन्तं हि जिनेश्वरम् ॥४७॥ कृत्वा च मानसाध्यक्षं जिनबिम्बं मनोहरम्। सत्प्रातिहार्यसंयुक्तं यक्षीयक्षादिवंदितम् ॥४८॥ त्यक्त्वा विकल्पसंकल्पं भक्त्या तन्मयतां व्रजेत्। ध्यानं कृत्वा जिनेन्द्रस्य स्वात्मानं भावयेत्सुधीः ॥४९॥ जिनाकृतिं समालंब्य मनुतेऽर्हद्गुणार्णवम्। जिनरूपं निजं ध्यायेत्तत्रैव च पुनः पुनः ॥५०॥ नासाग्रे दृष्टिमारोप्य प्रशान्तवदनः सुधी। जातरूपधरो ध्याता प्रतिपद्य जिनाकृतिम् ॥५१॥ शनैश्शनैर्निजे चित्ते स्वात्मानं भावयेज्जिनम्। अहं जिनो जिनश्चाहं स्वात्मैव मे जिनो मतः ॥५२॥ तस्मा-

करनेवाले उन भगवान्‌का ध्यान करना चाहिये ॥४४॥ बुद्धिमान ध्याताको उसी प्रतिबिंबमें अरहंत भगवान्‌के गुणोंको धारणकर चिंतवन करना चाहिये, अथवा उसी प्रतिबिंबमें भगवान् अरहंतदेवके पांचों कल्याणकोंका चिंतवन करना चाहिये ॥४५॥ अथवा भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबमें अरहंतके गुणोंको मनसे प्रत्यक्षकर उनके गुणसमूहोंका चिंतवन करते हुए उनका ध्यान करना चाहिये ॥४६॥ भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका आलम्बन लेकर अपने परिणामोंमें आये हुए भगवान् अरहंतदेवको मनसे प्रत्यक्षकर उनका चिंतवन करना चाहिये ॥४७॥ बुद्धिमान ध्याताको अपने समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर श्रेष्ठ प्रातिहार्योंसे सुशोभित यक्ष-यक्षियोंके द्वारा सदा बन्दनीय—ऐसे भगवान् अरहंतदेवके मनोहर प्रतिबिंबको मनसे प्रत्यक्ष देखना चाहिये और फिर भक्तिपूर्वक तन्मय होकर भगवान् जिनेन्द्रदेवका ध्यानकर अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिये ॥४८—४९॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबका आलम्बन लेकर भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणसमुद्रका ध्यान करना चाहिये और अपने आत्माको भगवान् जिनेन्द्रदेवका रूप समझकर बारबार उनका ध्यान करना चाहिये ॥५०॥ बुद्धिमान ध्याताको अपना मुख शांत रखना चाहिये, अपनी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखनी चाहिये और भगवान् जिनेन्द्रदेवके समान दिगम्बर अवस्था धारणकर धीरे धीरे अपने चित्तमें जिनेन्द्रमय अपने आत्माका चिंतवन करना चाहिये। मैं जिन हूँ, जिन ही मैं हूँ, मेरा आत्मा ही जिन है, इसलिये भक्तिपूर्वक 'जिन, जिन, जिन' इस प्रकार भावरूप 'जिन'का स्मरण करना चाहिये। तथा अपने

ज्जिनं जिनं भक्त्या भावरूपं स्मरेज्जिनम् । तन्मयतां समासाद्य चार्हन्तं तत्र चिन्तयेत् ॥५३॥ अनन्यशरणो भूत्वा भवसन्तानहानये । एकाग्रेण च तद्बिम्बं ध्यायेत्सुस्थिरचेतसा ॥५४॥ तस्य ध्यानेन शीघ्रं हि जायते भावशुद्धता । नियमेन सुभव्यानामर्हद्रूपप्रकाशिका ॥५५॥ अभव्यानामपि श्रेष्ठं महापुण्यं यशस्करम् । जायते सर्वजन्तूनां महाश्चर्यकरं परम् ॥५६॥ विपत्तिश्च महासाध्या दैवी नश्यति निश्चयात् । स्वर्गापवर्गसिद्धस्तु स्वयमायाति भावतः ॥५७॥ भावयेत्सततं योगी जिनरूपं निजात्मनि । त्यक्त्वा सर्वविकल्पं वा जिनबिम्बं भजेत्सुधीः ॥५८॥ चतुर्विंशतितीर्थानां जिनकेवलिनां तथा । सिद्धानां प्रतिबिम्बानि ध्यातव्यानि मुमुक्षुणा ॥५९॥ बिम्बानि भावरूपाणि सूर्युपाध्यायलिंगिनाम् । तद्गुणान् तत्र संध्यायेत् पञ्चानां परमेष्ठिनाम् ॥६०॥ अकृत्रिमाणि बिम्बानि जिनेन्द्राणां जितात्मनाम् । लोके सन्तीह वा तानि ध्यायेच्च स्वात्म-

---

आत्माको जिनेन्द्रमय बनाकर अपने ही आत्मामें भगवान् अरहंतदेवका ध्यान करना चाहिये ॥५१—५३॥ ध्यान करनेवालेको अपनी संसार परंपराका नाश करनेके लिये भगवान् अरहंतदेवको ही शरण मानना चाहिये और निश्चल चित्तसे वा एकाग्र मनसे भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका ध्यान करना चाहिये ॥५४॥ इस ध्यानके प्रभावसे भव्य जीवोंको भगवान् अरहंतदेवके रूपको प्रकाशित करनेवाले अत्यन्त निर्मल भाव अवश्य हो जाते हैं तथा अभव्य जीवोंको भी सब जीवोंको आश्चर्य प्रगट करनेवाला और यशको बढ़ानेवाला महाश्रेष्ठ पुण्य प्रगट होता है। इस ध्यानसे महाअसाध्य दैवी विपत्तियां भी अवश्य नष्ट हो जाती हैं और भावपूर्वक ध्यान करनेसे स्वर्ग-मोक्षकी सिद्धि अपने आप समीप आ जाती है ॥५५—५७॥ बुद्धिमान योगियोंको अपने आत्मामें भगवान् जिनेन्द्रदेवके रूपका सदा चिन्तवन करते रहना चाहिये और समस्त विकल्पोंको छोड़कर जिनबिंबका ध्यान करना चाहिये ॥५८॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले योगीको चौबीसों तीर्थंकरोंकी प्रतिमाओंका, जिन केवलीकी प्रतिमाओंका तथा सिद्धोंकी प्रतिमाओंका सदा ध्यान करते रहना चाहिये ॥५९॥ इसीप्रकार आचार्य, उपाध्याय, साधुओंके भावरूप प्रतिबिंबोंकी कल्पनाकर उनमें उनके गुणोंका चिंतवन करना चाहिये तथा इसीप्रकार पांचों परमेष्ठियोंके गुणोंका चिन्तवन करना चाहिये ॥६०॥ अपने आत्माको जीतनेवाले भगवान् जिनेन्द्रदेवकी अकृत्रिम प्रतिमाएं इस लोकमें जहां जहां विराजमान हैं, उन सबका अपने शुद्ध

सिद्धये ॥६१॥ परं समयसारस्य मूर्तिं कृत्वा सुभावतः । संस्थाप्य हृदये तां वै ब्रह्मरूपां विचिन्तयेत् ॥६२॥ कायोत्सर्गेण संस्थाय कायोत्सर्गमयीं कृतिम् । मत्वा निःसंगमत्मानमर्हन्तं चिन्तयेज्जिनम् ॥६३॥ ध्यानकाले सदैवात्र कायोत्सर्गजिनाकृतिम् । श्रेष्ठा सुध्यानगम्या वा चार्हद्रूपप्रकाशिका ॥६४॥ पूजयेद्भावयेद्भक्त्या स्मरेच्च चिन्तयेज्जपेत् । ध्यायेन्नमेच्च वा स्तूयात् कायोत्सर्गजिनाकृतिम् ॥६५॥ अनारतं ततो ध्यायेत् संस्थाप्य हृदि मन्दिरे । जिनबिम्बं महाभक्त्या दृढश्रद्धाभरेण वा ॥६६॥ इत्यभ्यासबलेनात्र जिनबिम्बस्य चिन्तनम् । स्थिरं कृत्वा मनस्तेन शनैस्तन्मयतां व्रजेत् ॥६७॥ अन्तर्दृष्ट्या निजं चित्तं संलीय च निजात्मनि । गूढं संस्थाप्य चात्मानं ध्यायेत्तत्र जिनाकृतिम् ॥६८॥ येन येन सुभावेन चान्तर्दृष्ट्या निमील्य च । स्वात्मानं स्वात्मनि तेन तद्रूपस्थं जिनं भजेत् ॥६९॥ परमात्मा स एवाहं सोऽहं सोऽहं प्रपद्य च । स्वके

आत्माकी सिद्धिके लिये ध्यान करना चाहिये ॥६१॥ अपने निर्मल परिणामोंसे समयसाररूप शुद्ध आत्माकी मूर्ति बनाकर और उसको अपने हृदयमें स्थापनकर उस ब्रह्म-स्वरूप मूर्तिका ध्यान करना चाहिये ॥६२॥ कायोत्सर्गसे खड़े होकर अपने आत्माकी मूर्तिको कायोत्सर्गरूप कल्पना करनी चाहिये और अपने आत्मामें समस्त परिग्रहसे रहित अरहंतकी कल्पनाकर अपने आत्माको अरहंतरूप चिंतवन करना चाहिये ॥६३॥ ध्यानके समयमें भगवान् अरहंतदेवके रूपको प्रकाशित करनेवाली कायोत्सर्ग प्रतिमा श्रेष्ठ और ध्यानके योग्य मानी गई है । इसलिये कायोत्सर्ग जिन-प्रतिमाकी भक्तिपूर्वक सदा पूजा करनी चाहिये, भावना करनी चाहिये, उसका स्मरण करना चाहिये, जप करना चाहिये, चिंतवन करना चाहिये, उसको नमस्कार करना चाहिये और उसकी स्तुति करनी चाहिये ॥६४—६५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाको अपने हृदय-मन्दिरमें स्थापनकर अत्यन्त भक्तिसे तथा दृढ़ श्रद्धापूर्वक उसका निरंतर ध्यान करना चाहिये ॥६६॥ इसप्रकार ध्यानका अभ्यासकर और मनको अत्यन्त स्थिरकर जिनप्रतिमाका चिन्तवन करना चाहिये और फिर चिंतवन करते हुए तन्मय हो जाना चाहिये ॥६७॥ अपने चित्तको अंतर्दृष्टिसे अपने आत्मामें लीन कर लेना चाहिये और जिनेन्द्रदेवकी आकृतिके समान अपने आत्माको गूढ स्थापनकर उसका चिन्तवन करना चाहिये ॥६८॥ यह आत्मा जिन २ परिणामोंसे अपने आत्माको अपने आत्मामें अंतर्दृष्टिसे लीन कर लेता है, उन्हीं परिणामोंसे वह आत्मरूप भगवान् जिनेन्द्रदेवका ध्यान करता है ॥६९॥ "जो परमात्मा है वही मैं हूँ,

तन्मयतां कृत्वा स्वात्मानं चिन्तयेज्जिनम् ॥७०॥ सोऽहमर्हन्नसौ सोऽहं न भेदः स्वपरात्मनोः । अर्हन्नेव स चात्मायमिति ध्यायेत्स्वके सदा ॥७१॥ देवोऽर्हन्नेव नान्योऽस्ति परमात्मा स एव च । यः परात्मा स एवाहमिति ध्यायेत्स्वकं सदा ॥७२॥ इत्यभ्यास बलेनात्मा परमात्मा भवेदथ । तद्भावनापुटे धृत्वा ततो ध्यायेज्जिनाकृतिम् ॥७३॥ भगवतोऽर्हद्बिम्बस्य ध्यानेन हि सुयोगिनाम् । चूर्णयन्ते पुराकर्मचक्राणि च क्षणादिह ॥७४॥ कोटिभवान्तारोपात्तपापानि विगलन्ति च । जीवानामर्हतो बिम्बस्य ध्यानाच्च जपादिह ॥७५॥ अनादिसंसृतेः सङ्घः जिनबिम्बस्य दर्शनात् । शीघ्रं पलायये तस्माज्जिनबिम्बं स्मरेज्जपेत् ॥७६॥ दुःखोत्करं महाविघ्नं प्रलयं याति शीघ्रतः । सर्वसौख्यं समायाति जिनाकृतिजपेन वा ॥७७॥ अरयोऽपि भजन्तेऽत्र मित्रतां हि स्वतः स्वयम् । सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि मङ्गलानि भवन्ति च ॥७८॥ अगम्यं गम्यतां याति ह्यशक्यं याति शक्यताम् ।

वही मैं हूँ, वही मैं हूँ, इसप्रकार अपने आत्मामें तन्मय होकर परमात्मरूप होकर अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥७०॥ जो मैं हूँ वही अरहंत हैं और जो अरहंत हैं वही मैं हूँ, मेरे आत्मामें और परमात्मामें कोई भेद नहीं है, अरहंतदेव ही यह मेरा आत्मा हैं इसप्रकार अपने अपने आत्मामें सदा ध्यान करना चाहिये ॥७१॥ 'देव भगवान् अरहंतदेव ही हैं अन्य नहीं हैं तथा वे ही परमात्मा हैं और जो परमात्मा है वही मैं हूँ' इसप्रकार अपने आत्माका सदा ध्यान करना चाहिये ॥७२॥ इस ध्यानके अभ्याससे यह आत्मा परमात्मा हो जाता है, उस परमात्माको अपनी भावनाके पुटमें रखकर उसमें भगवान् जिनेन्द्रदेवकी आकृतिका ध्यान करना चाहिये ॥७३॥ भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका ध्यान करनेसे योगियोंके पहिलेके संचित हुए समस्त कर्मोंके समूह क्षणभरमें चूर्ण हो जाते हैं ॥७४॥ भगवान् अरहंतदेवके प्रतिबिंबका ध्यान वा जप करनेसे जीवोंके करोड़ों भवोंसे चले आये समस्त पाप क्षणभरमें नष्ट हो जाते हैं ॥७५॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका दर्शन करनेसे अनादिकालसे चली आई जन्म-मरणरूप संसारकी परिपाटी बहुत शीघ्र नष्ट हो जाती है, इसलिये भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिम्बका सदा स्मरण करना चाहिये और सदा जप करना चाहिये ॥७६॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाका जप करनेसे समस्त दुःखोंके समूह और महाविघ्न शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं और समस्त सुख प्राप्त हो जाते हैं ॥७७॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवके प्रतिबिंबका ध्यान करनेसे अनायास ही योगियोंके शत्रु भी अपने आप मित्र बन जाते हैं, समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं,

[illegible] ॥८३॥ [illegible]

[illegible] सिद्धिः ॥८४॥

इति [illegible]

---

भगवान् मंगल होते रहते हैं, [illegible] हो जाते हैं, [illegible] हो जाते हैं. सब असाध्य कार्य साध्य हो जाते हैं, सब मनोरथ सफल हो जाते हैं और [illegible] आप स्वयं हो जाते हैं इसलिये [illegible] अर्हंतदेवकी प्रतिबिम्ब ध्यान करना चाहिये ॥८७—८८॥ [illegible] अर्हंतदेवका ध्यान करना चाहिये. विधान करना चाहिये और जप करना चाहिये [illegible] अर्हंतदेवकी प्रतिबिम्ब ध्यान करना चाहिये, पूजन करना चाहिये और स्मरण करना चाहिये ॥८९॥ जो [illegible] मान, निरिक्षा, [illegible] भगवान् जिनेन्द्रदेवको इस प्रकार [illegible] करता है, उनका जप करता है, उनका ध्यान करता है, [illegible] भगवान् जिनेन्द्रदेवको [illegible] करता है वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके [illegible] पदको प्राप्त करता है ॥९०॥

इसप्रकार मुनिराज [illegible]

[illegible] समाप्त हुआ।

---

# चतुर्विंशातितमोऽधिकारः



महाध्यानी महाज्ञानी सौम्यमूर्तिर्महाप्रभुः। वंद्यतेऽसौ महादेवः पार्श्वनाथो जिनेश्वरः ॥१॥ श्रीसिद्धं परमात्मानं निष्कलङ्कममूर्तकम्। ईश्वरं च चिदानन्दं वन्देऽहं तद्गुणाप्तये ॥२॥ सर्वथा मूर्तिमत्कृत्स्नकर्माभावे ह्यमूर्तता। येषामस्ति सुसिद्धानां रूपातीतास्ततो हि ते ॥३॥ येषां हि कर्मणां सत्ता रूपयुक्ता च विद्यते। ते हि मूर्ताः सरूपाश्च सशरीरा भवन्ति वा ॥४॥ येषां तु नास्ति सा सत्ता रूपातीतास्ततो हि ते। अतो ध्यानं हि सिद्धानां रूपातीतं मतं जिनैः ॥५॥ विशुद्धानां सुसिद्धानां बुद्धानां हतकर्मणाम्। ध्यानं हि तेषां पूज्यानां रूपातीतं मतं जिनैः ॥६॥ सर्वरूपविहीनानां सर्वकर्मक्षयात्मनाम्। अदेहानां विशुद्धानामनक्षानां सुखात्मनाम् ॥७॥ निर्द्वन्द्वानां च सर्वव्यापारविरहितात्मनाम्। ध्यानं यदत्र सिद्धानां

---

जो महाध्यानी हैं, महाज्ञानी हैं, सौम्य मूर्ति हैं, महाप्रभु हैं और महादेव हैं (सर्वोत्कृष्ट देव हैं); ऐसे जिनेन्द्रदेव भगवान् पार्श्वनाथको मैं नमस्कार करता हूं ॥१॥ जो निष्कलंक हैं, अमूर्त हैं, ईश्वर हैं, चिदानन्दमय हैं और परमात्मा हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीको मैं उनके गुण प्राप्त करनेके लिये नमस्कार करता हूं ॥२॥ कर्म सब मूर्त हैं, उन सब कर्मोंका अभाव होनेसे सिद्धोंमें अमूर्तता स्वयं सिद्ध हैं; इसीलिये सिद्ध भगवान् रूपातीत वा रूपरहित कहलाते हैं ॥३॥ जिन जीवोंके रूपरहित कर्मोंकी सत्ता है, उनको सरूपी और मूर्त कहते हैं; ऐसे जीव शरीर सहित ही होते हैं ॥४॥ जिन जीवोंके वह रूपमती कर्मोंकी सत्ता नहीं है, ऐसे सिद्धोंको रूपातीत कहते हैं; इसीलिये सिद्धोंके ध्यानको रूपातीत कहते हैं ॥५॥ जो सिद्ध परमेष्ठी अत्यन्त विशुद्ध हैं, समस्त कर्मोंसे रहित हैं और पूज्य हैं; ऐसे सिद्धोंका ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है ॥६॥ भगवान् सिद्ध परमेष्ठी सब तरहके रूप रस गन्ध स्पर्शोंसे रहित हैं, समस्त कर्मोंसे रहित हैं, शरीरसे रहित हैं, विशुद्ध हैं, इन्द्रियसे रहित

रूपातीतं मतं हि तत् ॥८॥ सर्वध्यानेषु मुख्यं तत् ध्यानमस्ति च सिद्धिदम्। परमात्मा भवेदात्मा साक्षात्तेन यतः क्षणात् ॥९॥ सिद्धा हि सर्वतो ज्येष्ठाः सर्वश्रेष्ठास्त्रिलोकतः। देवैर्योगीश्वरैः पूज्या भवातीता निरञ्जनाः ॥१०॥ निष्कलाः परमात्मानस्ते सन्ति कृतकृत्यकाः। शाश्वताः सुखसम्पन्नाः शुद्धज्ञानधनाः शुभाः ॥११॥ सिद्धानां ध्यानतश्चात्मा साक्षात्सिद्धः प्रजायते। कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा लब्ध्वा च निजसम्पदाम् ॥१२॥ संसारः क्षीयतेऽनादिः रोगो नश्यति जन्मजः। तेन ध्यानेन जीवानां प्राप्यते निश्चलं सुखम् ॥१३॥ आगमाङ्गस्य योज्ञाता भावश्रुतेन चात्र वा। रूपातीतस्य स ध्याता ध्यानस्येति मतो जिनैः ॥१४॥ अमूर्तं निष्कलं देवमव्यक्तं हि निरञ्जनम्। द्रव्यनोभावकर्मातीतं च सर्वमलापहम् ॥१५॥ व्योमाकारं निराकारं साकारं च प्रदेशतः। लोकाग्रवासिनं चान्त्यशरीरात्किञ्चिदूनकम् ॥१६॥ चिदानन्दमयं शुद्धदर्शनात्मकमच्युतम्। शुद्धसम्यक्त्व देदीप्तमव्यावाधमनाकुलम् ॥१७॥ अनन्तवीर्यसम्पन्नमनन्तसुखसागरम्। अजरममरं जन्मा-

---

हैं, सुखस्वरूप हैं, निर्द्वंद्व हैं और समस्त व्यापारोंसे रहित हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीका ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है ॥७–८॥ यह रूपातीत ध्यान समस्त ध्यानोंमें मुख्य है, समस्त सिद्धियोंको देनेवाला है और इसीसे यह आत्मा क्षणभरमें साक्षात् परमात्मा हो जाता है ॥९॥ ये सिद्ध भगवान् तीनो लोकोंमें सबसे बड़े हैं, सबसे श्रेष्ठ हैं, देव और योगीश्वरोंके द्वारा पूज्य हैं, संसाररहित हैं, निरंजन हैं, शरीर रहित हैं, परमात्मा हैं, कृतकृत्य हैं, नित्य हैं, अनन्त सुखी हैं, शुद्ध ज्ञानरूपी धनको धारण करनेवाले हैं और परम शुभ हैं; ऐसे भगवान् सिद्धोंका ध्यान करनेसे यह आत्मा समस्त कर्मोंको नाश करके और अपनी आत्मरूप संपत्तिको प्राप्त करके साक्षात् सिद्ध हो जाता है ॥१०–११–१२॥ इन्हीं सिद्ध परमेष्ठियोंके ध्यानसे यह अनादि संसार नष्ट हो जाता है, जन्म-मरणका रोग नष्ट हो जाता है और इसी रूपातीत ध्यानसे जीवोंको मोक्षका निश्चल सुख प्राप्त हो जाता है ॥१३॥ जो भावश्रुतज्ञानके द्वारा आगमके बारह अंगोंका जानकार है, वही रूपातीत ध्यानको धारण कर सकता है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥१४॥ भगवान् सिद्ध परमेष्ठी अमूर्त हैं, शरीररहित हैं, परमदेव हैं, अव्यक्त हैं, निरंजन हैं, द्रव्य कर्म नोकर्म और भाव कर्मसे रहित हैं, समस्त मलोंसे रहित हैं, अकाशके आकाररूप हैं, निराकार हैं, प्रदेशोंके द्वारा साकार हैं, लोक-

तीतं विभुं सनातनम् ॥१८॥ शुद्धज्ञानमयं सिद्धं परमात्मानमव्ययम् । अनादिनिधनं नित्यं शाश्वतं निरुपद्रवम् ॥१६॥ अव्याहतं परं सूक्ष्मं स्वप्रतिष्ठितमक्षयम् । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वतापविवर्जितम् ॥२०॥ निष्कलंकं निरातंकं शान्तं दान्तमतीन्द्रियम् । संसारसागरोत्तीर्णं चिदानन्दमयं शिवम् ॥२१॥ परमात्यंतिकावस्थां प्राप्तं द्रव्यमयं शुभम् । अचलस्थितिकं नित्यं पुनर्जन्मविवर्जितम् ॥२२॥ ब्रह्माणमीशमीशानमीश्वरं परमेष्ठिनम् । एतादृशं भवातीतं सिद्धं ध्यायेच्छिवाप्तये ॥२३॥ व्यक्तीभूता गुणाः सर्वे स्वात्मजा दुर्लभा ननु । येषांस्तान् खलु सिद्धानां स्मरामि भावभक्तितः ॥२४॥ परद्रव्याच्च ये भिन्ना अभिन्ना स्वात्मवस्तुतः । शुद्धज्ञानमयाः शुद्धाः सिद्धा नः पान्तु चाक्षयाः ॥२५॥ कर्माष्टकविनिर्मुक्ता गुणाष्टकविभूषिताः । अष्टमीपृथिवीनाथाः सिद्धा नः पान्तु सौख्यदाः ॥२६॥ सिद्धा यद्यप्यमूर्ता हि निराकारा निरञ्जनाः । तथापि

---

शिखरपर विराजमान हैं, अन्तिम शरीरसे कुछ कम आकारमय हैं, चिदानन्दमय हैं, शुद्ध दर्शनस्वरूप हैं, नाशरहित हैं, शुद्ध सम्यग्दर्शनसे सुशोभित हैं, समस्त बाधाओंसे रहित हैं, समस्त आकुलताओंसे रहित हैं, अनन्त वीर्यसे सुशोभित हैं, अनन्त सुखके समुद्र हैं, अजर हैं, अमर हैं, जन्मसे रहित हैं, विभु हैं, सनातन हैं, शुद्ध ज्ञानमय हैं, परमात्मा हैं, व्ययरहित हैं, अनादि हैं, अनिधन हैं, नित्य हैं, शास्वत हैं, उपद्रवरहित हैं, अव्याहत हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं, सूक्ष्म हैं, अपने ही आत्मामें स्थिर हैं, अक्षय हैं, समस्त उपद्रवोंसे रहित हैं, समस्त नामोंसे रहित हैं, कलंकरहित हैं, आतंकरहित हैं, शांत हैं, इन्द्रियोंको दमन करनेवाले हैं, इंद्रियोंसे रहित हैं, संसाररूप महासागरके पारगामी हैं, चिदानन्दमय हैं, कल्याणस्वरूप हैं, परम अंतिम अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं, आत्म द्रव्यमय हैं, शुभ हैं, अचल स्थितिको धारण करनेवाले हैं, नित्य हैं, पुनर्जन्मसे रहित हैं, ब्रह्मा हैं, ईश हैं, ईशान हैं, ईश्वर हैं, परमेष्ठी हैं और संसारसे रहित हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठीको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये ध्यान करना चाहिये ॥१५–२३॥ जिन सिद्धोंके आत्मासे उत्पन्न हुए और अत्यन्त दुर्लभ ऐसे समस्त गुण प्रगट हो रहे हैं, ऐसे उन सिद्ध भगवान्को मैं भाव और भक्तिपूर्वक स्मरण करता हूं ॥२४॥ जो सिद्ध परमेष्ठी परद्रव्यसे सर्वथा भिन्न हैं, तथा अपने आत्मद्रव्यसे सर्वथा अभिन्न हैं, शुद्ध ज्ञानमय हैं, शुद्ध हैं और अक्षय हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठी हम लोगोंकी रक्षा करें ॥२५॥ जो सिद्ध परमेष्ठी आठों कर्मोंसे सर्वथा रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठों कर्मोंसे सुशोभित हैं, जो आठवीं पृथ्वीके स्वामी हैं, अनन्त सुख देनेवाले हैं; ऐसे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी हम लोगोंकी रक्षा करें ॥२६॥ सिद्ध परमेष्ठी यद्यपि अमूर्त हैं, निराकार

पुरुषाकाराः कथं ननु भवन्ति ते ॥२७॥ शुद्धादर्शे यथाकारो जिनबिम्बस्य यद्भवेत् । तथाकारो हि सिद्धानामाकाररहितात्मनाम् ॥२८॥ याहङ्निर्गतबिम्बस्य मूषिकोदरतोऽथवा । तादृक् च गगनाकारं सिद्धानां हि भवेत्खलु ॥२९॥ आकारो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तामूर्तप्रभेदतः । रूपवन्मूर्तवस्तूनामाकारः स्यादनेकधा ॥३०॥ द्रव्याणामिह मूर्तानामाकारस्य च कल्पना । द्रव्याणां गतरूपाणाममूर्तानां भवेदिह ॥३१॥ धर्मादीनां च सिद्धानामाकारः स्वप्रदेशतः । स्याद्रव्यात्मप्रदेशानामाकारस्तु स्वभावतः ॥३२॥ प्रदेशसहितं द्रव्यं निराकारं कथं भवेत् । आकारः स्यात्ततो मूर्तामूर्तद्रव्यस्य निश्चयात् ॥३३॥ नाशिताशेषसंसारं जन्ममृत्युविवर्जितम् । निर्विकारं पुनर्जन्म व्यतीतं शाश्वतं शिवम् ॥३४॥ ध्यायेदविचलं श्रेष्ठं परिवर्तनवर्जितम् । नित्यं सनातनं शान्तं निष्क्रियं विमलं शुभम् ॥३५॥ चिन्मयं च परं ज्योतिः स्वमयं परमाक्षरम् । आत्मद्रव्यमयं शुद्धं परसङ्गविवर्जितम् ॥३६॥ स्वगुणात्सर्वथाऽभिन्नं लोकालोकप्रकाशकम् । स्वात्मगुणमयं द्रव्यं शुद्धकनक-

---

हैं, निरञ्जन हैं, तथापि वे पुरुषाकार कैसे कहे जा सकते हैं ? इसका उत्तर इस प्रकार है कि जिस प्रकार शुद्ध दर्पणमें भगवान्के प्रतिबिम्बका आकार होता है, उसीप्रकार आकाररहित सिद्धोंका भी पुरुषाकार समझना चाहिये । अथवा जिसप्रकार जिस सांचेमेंसे भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिबिम्ब निकाल ली गई है, उस सांचेका जैसा आकार है, वैसा ही आकाशके आकार सिद्ध परमेष्ठीका आकार समझना चाहिये ॥२७–२९॥ मूर्त-अमूर्तके भेदसे आकारके दो भेद होते हैं । रूपसहित जो मूर्त पदार्थ हैं, उनका आकार अनेक प्रकारका होता है । जो मूर्त द्रव्योंमें आकारकी कल्पना होती है, उसी प्रकार आकारकी कल्पना रूपरहित अमूर्त द्रव्यकी भी होती है ॥३०–३१॥ धर्मादिक द्रव्य अथवा सिद्धोंका आकार अपने आत्मप्रदेशोंसे होता है । क्योंकि द्रव्योंके अपने प्रदेशोंका आकार स्वभावसे ही होता है ॥३२॥ फिर भला जो द्रव्य प्रदेशसहित हैं वे निराकार कैसे हो सकते हैं ? इसलिये यह निश्चय समझना चाहिये कि मूर्त-अमूर्त दोनों द्रव्योंका आकार अवश्य होता है ॥३३॥ इसलिये जिन्होंने समस्त संसारका नाश कर दिया है, जो जन्म-मरणसे रहित हैं, विकाररहित हैं, पुनर्जन्मसे रहित हैं, शास्वत हैं, कल्याणरूप हैं, स्थिर हैं, नित्य हैं, परिवर्तनरहित हैं, सनातन हैं, शांत हैं, क्रियारहित हैं, मलरहित हैं, शुभ हैं, चिन्मय हैं, परम ज्योतिःस्वरूप हैं, आत्ममय हैं, परमाक्षर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट तथा अक्षय हैं, आत्म द्रव्यस्वरूप हैं, शुद्ध हैं, परपदार्थोंके समागमसे सर्वथा रहित हैं, अपने

सन्निभम् ॥३७॥ अमूर्तानां हि सिद्धानाममूर्ता एव तद्गुणाः । तथापि च गुणास्तेषां चिन्त्यते मनसात्र वा ॥३८॥ गुणाव-
लम्बनं कृत्वा शनैः शनैर्विचिन्तयेत् । कारयेच्च मनस्तत्र तन्मयत्वेन चात्मनि ॥३९॥ अनन्यमनसा ध्यायेत्सिद्धशुद्ध-
गुणान् स्वयम् । जायते हि ततो ध्यानात्स्वात्मनि स्वात्मसंस्थितिः ॥४०॥ रूपातीतसुध्यानेन महामोहः प्रणश्यते । आत्मा
विशुद्धतां याति शुद्धस्फटिकवत्सदा ॥४१॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सुध्यायेन्नित्यरूपकम् । अनन्यशरणो भूत्वा सिद्धं शुद्धं
विचिन्तयेत् ॥४२॥ विगतसकलरूपं सर्वकर्मारिनाशात्परमसमयसारं शुद्धबुद्धं विशुद्धम् । परपरणतिहीनं चिन्मयं ज्योति-
रूपं स्मरति जपति भक्त्या तं सुधर्मो मुनीन्द्रः ॥४३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे रूपातीतध्यानवर्णनो नाम चतुर्विंशतितमोऽधिकारः ।

---

आत्मगुणोंसे सर्वथा अभिन्न हैं, लोक आलोकको प्रकाशित करनेवाले हैं, आत्मगुणमय हैं, दिव्य हैं और
शुद्ध सुवर्णके समान हैं; ऐसे सिद्ध भगवान्‌को सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥३४--३७॥ यद्यपि अमूर्त
सिद्धोंके गुण भी अमूर्त ही होते हैं, तथापि मनके द्वारा उनका चिंतवन किया जाता है ॥३८॥ सिद्धोंके उन
गुणोंका अवलम्बन लेकर धीरे धीरे उन सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये और तन्मय होकर आत्मामें अपने
मनको निश्चल करना चाहिये ॥३९॥ सिद्धोंके शुद्ध गुणोंको एकाग्र मनसे चिंतवन करना चाहिये । इन गुणों
के चिंतवन करनेसे अपने आत्माकी स्थिति अपने ही आत्मामें स्थिर हो जाती है ॥४०॥ इस रूपातीत
ध्यानसे महामोह नष्ट हो जाता है और शुद्ध स्फटिकके समान यह आत्मा सदाके लिये अत्यंत विशुद्ध हो
जाता है । इसलिये सब तरहके प्रयत्न करके और अनन्य शरण होकर अर्थात् अन्य सबका शरण छोड़कर
केवल सिद्धोंके ही शरणमें आकर रूपरहित शुद्ध और सदा रहनेवाले सिद्धोंका ध्यान करना चाहिये ॥४१-
४२॥ समस्त कर्मोंके नाश होनेसे जो सब तरहके रूप रस गंध स्पर्शसे रहित हैं, परम समयसारस्वरूप हैं, शुद्ध
हैं, बुद्ध हैं, विशुद्ध हैं, पररूप परिणतिसे सर्वथा रहित हैं, चैतन्यमय हैं और ज्योतिःस्वरूप हैं; ऐसे भगवान्
सिद्ध परमेष्ठीको यह मुनिराज सुधर्मसागर भक्तिपूर्वक सदा स्मरण करता है और सदा जप करता है ॥४३॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारमें रूपातीत
ध्यानको वर्णन करनेवाला यह चौबीसवां अधिकार समाप्त हुआ

# पञ्चविंशतितमोऽधिकारः ।



दयाधर्मप्रणेतारं सर्वसत्त्वहितङ्करम । दयालुं भगवन्तं तं वर्द्धमानं नमाम्यहम् ॥१॥ शुक्लध्यानबलेनात्र कृतं कर्मविदारणम् । परात्मपदमारूढं वन्देऽहं परमेश्वरम् ॥२॥ धर्मध्यानबलेनात्र स्वात्मशुद्धिं विधाय च । भावश्रुतधरो धीरः पूर्वज्ञः पूर्णपुण्यवान् ॥३॥ शान्तः परमवैराग्यभावितात्मा जिनेन्द्रियः । शुक्लध्यानं स वै ध्यातुं पात्रं हि शुद्धबोधभाक् ॥४॥ ध्यानं शुचिगुणाच्छुक्लं कषायपङ्कसंक्षयात् । शुद्धं तेजोमयं शुभ्रं निष्प्रकम्पं च निष्क्रियम् ॥५॥ अक्षातीतं मनोतीतं संकल्पादिविवर्जितम् । स्वात्मयोगसमुद्गूढं स्वात्मनिष्ठं स्वभावजम् ॥६॥ मोहादिदोषनिर्मुक्तं

---

जो दयाधर्मका निरूपण करनेवाले हैं, समस्त जीवोंका हित करनेवाले हैं और दयालु हैं, ऐसे भगवान् वर्द्धमान स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जिन्होंने शुक्लध्यानके बलसे समस्त कर्मोंका नाश कर दिया है और जो परमात्म पदपर विराजमान हैं; ऐसे परमेश्वर सिद्ध परमेष्ठीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥ जो पुरुष भावश्रुतको धारण करनेवाला है, धीर-वीर है, अंग और पूर्वोंका जानकार है, पूर्ण पुण्यवान् है, शांत हैं, जिसके आत्मामें परम वैराग्यकी भावना जागृत है, जो जितेन्द्रिय है और शुद्ध ज्ञानको धारण करनेवाला है; ऐसा भव्य जीव धर्मध्यानके बलसे अपने आत्माको शुद्धकर शुक्लध्यानके ध्यान करनेका पात्र होता है ॥३–४॥ जो ध्यान अत्यन्त निर्मल गुणोंके कारण शुक्लध्यान कहलाता है, जो कषायरूप कीचड़के नाश होनेसे अत्यन्त शुद्ध है, जो तेजोमय है, निर्मल है, निष्प्रकंप है, निष्क्रिय है, इंद्रियोंसे रहित है, मनसे रहित है, संकल्प-विकल्पोंसे रहित है, जो केवल आत्माके निमित्तसे अत्यन्त गूढ़ है, स्वात्मनिष्ठ है, स्वाभाविक है, मोहादिक दोषोंसे रहित है, कषायरूपी मलसे रहित है और शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल है; ऐसे ध्यानको शुक्लध्यान

सुकषायमलातिगम्। शुद्धस्फटिकसंकाशं शुक्लध्यानं तदुच्यते ॥७॥ पृथग्वितर्कवीचारं शुक्लध्यानं तदादिमम्। तदेकत्वं वितर्कं हि वीचारपरिवर्जितम् ॥८॥ शुक्लध्यानं द्वितीयं तु योगिनां शुद्धचेतसाम्। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिध्यानं तृतीयभेदगम् ॥९॥ क्रियाविरहितं ध्यानं शुक्लं तुर्यं भवेदिह। शुक्लध्यानस्य भेदा हि चत्वारः सन्ति चागमे ॥१०॥ द्वादशाङ्गधराणां स्तः भावश्रुतात्मनां खलु। आद्ये शुक्ले च ते ध्याने कषायरहितात्मनाम् ॥११॥ अन्त्ये शुक्ले परं श्रेष्ठे केवलज्ञानचक्षुषाम्। सर्वथा वीतरागाणां स्तो द्वे चात्र विकल्मषाम् ॥१२॥ श्रुतज्ञानस्य सम्बन्धाद् द्वे स्तः छद्मस्थयोगिनाम्। निःशेषालम्बनाभावाद् द्वे स्तः केवलिनोऽत्र वा ॥१३॥ त्रियोगेन च तत्रापि ह्याद्यं शुक्लं मतं जिनैः। द्वितीयमेकयोगेन तृतीयं ननु योगिनाम् ॥१४॥ अयोगिनां तु तुर्यं स्यादुपचारेण वात्र च। इति क्रमेण शुक्लं हि ध्यानं स्याच्च चतुर्विधम् ॥१५॥ वितर्कस्य पृथक्त्वञ्च वीचारसहितेन वा। तद्ध्यानमस्ति वीचारः सपृथक्त्वं वितर्ककम् ॥१६॥ वितर्कस्य च

---

कहते हैं ॥५-७॥ उस शुक्लध्यानके चार भेद हैं—पहला पृथक्त्व वितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान है। शुद्धचित्तको धारण करनेवाले योगियोंके होनेवाला, वीचाररहित एकत्व वितर्क नामका दूसरा शुक्लध्यान है। सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान है और क्रियारहित व्युपरतक्रिया निवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान है। इस प्रकार शुक्लध्यानके चार भेद हैं ॥८-१०॥ जो मुनि भाव श्रुतको धारण करनेवाले द्वादशांगके पाठी हैं और कषायरहित हैं, उनके पहले और दूसरे दोनों शुक्लध्यान होते हैं ॥११॥ तथा अंतके दोनों ध्यान सर्वोत्कृष्ट हैं और पापरहित परम वीतराग केवल ज्ञानियोंके होते हैं ॥१२॥ पहले दूसरे दोनों शुक्लध्यान श्रुतज्ञानके आलंबनसे होते हैं, इसलिये ये दोनों ही ध्यान छद्मस्थ योगियोंके ही होते हैं तथा अन्तके दोनों शुक्लध्यान समस्त आलंबनोंके अभावसे होते हैं, इसलिये वे केवल ज्ञानियोंके ही होते हैं ॥१३॥ पहला पृथक्त्व वितर्क नामका शुक्लध्यान तीनों योगोंसे होता है, दूसरा एकत्व-वितर्क नामका शुक्लध्यान किसी एक योगसे होता है, सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामका तीसरा शुक्लध्यान काययोगसे होता है, और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामका चौथा शुक्लध्यान अयोगियोंके होता है। इस प्रकार शुक्लध्यानके चार भेद अनुक्रमसे होते हैं ॥१४-१५॥ जिस ध्यानमें पृथक्त्व, वितर्क और वीचार तीनों हो उस ध्यानको सवीचार पृथक्त्व वितर्क कहते हैं। यह पहला शुक्लध्यान है ॥१६॥ जिस ध्यानमें वितर्क हो, परंतु वीचार न हो उसको अवीचार एकत्व-वितर्क

वीचारो नास्ति यत्र सुयोगिनाम् । एकत्वेन च तद्ध्यानमवीचारं वितर्ककम् ॥१७॥ यतोऽर्थानामनेकत्वं तत्पृथक्त्वमिहोच्यते । श्रुतज्ञानं वितर्कः स्याद्भावश्रुतेन चात्र वै ॥१८॥ अर्थव्यञ्जनयोगानां ध्याने यत्परिवर्तनम् । संक्रमो वास्ति वीचारो ज्ञेयो विविधरूपकः ॥१९॥ अर्थादर्थान्तरप्राप्तिः ध्येये स्यात्पुनः पुनः । संक्रमः स हि विज्ञेयो ध्येयार्थपरिवर्तनम् ॥२०॥ व्यंजनाद् व्यंजने क्रांतिर्व्यंजनसंक्रमोऽस्ति सः । योगाद्योगान्तरप्राप्तिर्योगसंक्रातिरुच्यते ॥२१॥ अर्थव्यञ्जनयोगेषु संक्रमः स्यात्पुनः पुनः । संक्रमः स हि विज्ञेयः शुक्लध्यानेऽत्र योगिनाम् ॥२२॥ प्रारम्भे हि वचोयोगः संक्रम्य हि तनुर्भवेत् । परिवर्तनमेवं स्याद् योगाद् योगान्तरोऽत्र वै ॥२३॥ प्रारम्भे च गृहीतोऽर्थः स ततोऽर्थान्तरो भवेत् । एवं स्यादर्थसंक्रातिरर्थस्य परिवर्तनम् ॥२४॥ एकमर्थं समादाय गृह्णात्यर्थान्तरं पुनः । एवं हि विविधार्थेषु श्रुतेषु क्रमते

---

ध्यान कहते हैं, यह दूसरा शुक्लध्यान है ॥१७॥ जहांपर ध्येयरूप पदार्थ अनेक होते हैं, उसको पृथक्त्व कहते हैं; तथा भावश्रुतज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान है, उसको वितर्क कहते हैं ॥१८॥ ध्यानमें जो अर्थव्यंजन योगोंका परिवर्तन होता है, संक्रमण होता है, उसको वीचार कहते हैं, वह वीचार अनेक रूपसे होता है ॥१९॥ ध्येय पदार्थमें जो बार-बार अर्थसे अर्थान्तरकी प्राप्ति होती है, उसको ध्येय अर्थको परिवर्तन करनेवाला अर्थसंक्रमण कहते हैं ॥२०॥ व्यञ्जन शब्दको कहते हैं, व्यञ्जनसे व्यञ्जनका जो संक्रमण हो जाता है, शब्दसे शब्दान्तर रूप हो जाता है, एक शब्दसे ध्यान करता हुआ उसी पदार्थके वाचक दूसरे शब्दसे ध्यान करने लगता है, उसको व्यञ्जनसंक्रान्ति कहते हैं। इसी प्रकार जो योगसे योगांतर की प्राप्ति होती है, उसको योगसंक्राति कहते हैं ॥२१॥ पहले पृथक्त्व वितर्क ध्यानमें योगियोंके अर्थव्यञ्जन और योगोंमें बार-बार संक्रमण होता रहता है। उसीको वीचार वा संक्रमण कहते हैं ॥२२॥ ध्यानमें जो पहले वचनयोग लगा हुआ था, वह बदल कर काययोग हो जाता है। इस प्रकार योगसे योगान्तर होना योगविचार कहलाता है ॥२३॥ इसी प्रकार ध्यान करते समय जो पदार्थ ध्येयरूप बनाया था, वह बदलकर दूसरा पदार्थ ध्येयरूप हो जाता है। इस प्रकार ध्यानमें जो ध्येयरूप पदार्थका बदल जाना है; उसको अर्थसंक्राति कहते हैं ॥२४॥ श्रुतज्ञान के विषयभूत जो अनेक पदार्थ हैं, उनमेंसे एकको ग्रहण करता है और फिर उसको छोड़कर दूसरा ग्रहण कर लेता है, इस प्रकारका जो बदलना है; उसको अर्थवीचार कहते हैं ॥२५॥ शब्दसे शब्दान्तर, अर्थसे अर्थान्तर

त्रसः ॥२५॥ शब्दाच्छब्दान्तरं याति ह्यर्थादर्थान्तरं पुनः। योगाद् योगान्तरं स हि संक्रामति पुनः पुनः ॥२६॥ शुक्लध्यानेन यस्य स्यान्निर्मलात्मा विशुद्धिभाक्। निष्कपायो महाशान्तः सुचारित्रमयात्मकः ॥२७॥ एकत्वध्यानमाधत्ते स धीरः क्षीणमोहकः। पूर्वज्ञो योगसम्पन्नस्तत्त्वज्ञाता प्रसन्नधीः ॥२८॥ एकेनैव सुयोगेन पृथक्त्वरहितेन वा। वितर्कसहितं ध्यानं वीचारपरिवर्जितम् ॥२९॥ तदेकत्ववितर्कं स्याद्ध्यानं चात्यन्तनिर्मलम्। योगिनां क्षीणमोहानां धीराणां निर्मलात्मनाम् ॥३०॥ द्रव्यं वा द्रव्यपर्यायमेकयोगेन ध्यायति। स सूक्ष्ममेकमर्थं वा ध्यायति शुद्धभावतः ॥ ३१ ॥ तदेकत्ववितर्कं स्याद् ध्यानकर्मविनाशकम्। स्वात्मनि स्वात्मनस्तत्र स्थितिः स्यादचलाथवा ॥३२॥ स हि निष्कम्पभावेन स्वात्मानं ध्यायति स्फुटम्। तन्मयत्वं समासाद्य रमते स्वात्मनि ध्रुवम् ॥३३॥ क्षणाद्विलीयते तेन घाति

---

और योगसे योगांतर संक्रमण करनेको वीचार कहते हैं ॥२६॥ इस प्रकारके पृथक्त्व-वितर्कवीचार नामके पहले शुक्लध्यानसे जिसका आत्मा अत्यन्त निर्मल और विशुद्ध हो जाता है। कषायरहित, महाशांत और सम्यक् चारित्रमय हो जाता है। तथा जिसका मोहनीय कर्म सब नष्ट हो गया है, जो ग्यारह अंग चौदह पूर्वोंका ज्ञाता है, योगको धारण करनेवाला है, तत्त्वोंका ज्ञाता है, और जिसका हृदय प्रसन्न है; ऐसा श्रेष्ठ मुनि एकत्व-वितर्क ध्यानको धारण करता है ॥२७-२८॥ जो ध्यान किसी एक ही योगसे होता है, जिसमें पृथक्त्वपना नहीं होता अर्थात् जिसमें अर्थव्यञ्जन योगका परिवर्तन नहीं होता और इसीलिये जो वीचाररहित कहलाता है और जो वितर्क या श्रुतज्ञान सहित हैं, ऐसे अत्यन्त निर्मल ध्यानको एकत्व-वितर्क ध्यान कहते हैं। यह ध्यान मोहनीय कर्मको सदा नष्ट करनेवाले धीर, वीर और निर्मल आत्माको धारण करनेवाले योगियोंको होता है ॥२९-३०॥ इस ध्यानको करनेवाला योगी अपने निर्मल परिणामोंसे किसी भी एक योगसे द्रव्य वा पर्यायरूप एक ही सूक्ष्म पदार्थको चिंतवन करता है, उसीको एकत्व-वितर्क ध्यान कहते हैं। यह ध्यान कर्मोंको नाश करनेवाला है और अपने ही आत्मामें अपने ही आत्मा की निश्चल स्थिरतारूप है ॥३१-३२॥ वह ध्यान करनेवाला निष्कंपरूप परिणामोंसे अपने आत्माका चिंतवन करता है, तथा आत्ममय होकर अपने ही आत्मामें निश्चलताके साथ लीन हो जाता है ॥३३॥ उसी समय

कर्मकदम्बकम् । प्राप्नोत्यात्मातिनैर्मल्यं शुद्धं काञ्चनसन्निभम् ॥३४॥ घातिकर्ममलातीतो भवत्यात्मा सुनिर्मलः । तदाचिन्त्यप्रभावो हि व्यक्ती भवति वा स्फुटम् ॥३५॥ एवं ध्यानप्रभावेण हत्वा घातिचतुष्टयम् । स योगी लभते शीघ्रं तदनन्तचतुष्टयम् ॥३६॥ स हि चार्हत्पदं लब्ध्वा योगी केवलबोधभृत् । जायते त्रिजगत्पूज्यो लोकालोकप्रकाशकः ॥३७॥ जीवन्मुक्तः परात्मासौ परमात्मा महेश्वरः । सर्वदोषविनिर्मुक्तः शुद्धः स्फटिकसन्निभः ॥३८॥ निर्द्वन्द्वः परमज्योतिर्ज्योतीरूपो निरञ्जनः । चिदात्मा च चिदानन्दो वीतरागः शिवेश्वरः ॥३९॥ अनन्तसुखसम्पन्नः शान्तो दान्तो ह्यतीन्द्रियः । देवदेवः स देवाधिदेवस्त्रैलोक्यवन्दितः ॥४०॥ सोऽर्हन् स भगवान् देवः सर्वज्ञ ईश्वरो विभुः । ब्रह्मा विष्णुर्महादेवः शङ्करः सुगतः प्रभुः ॥४१॥ नारायणो महाबुद्धो दिव्यतेजाः प्रभास्वरः । महाविभूतिसम्पन्नश्छत्रत्रयविराजितः ॥४२॥

---

वह योगी अपने समस्त घातिया कर्मोंको नष्ट कर देता है और शुद्ध सुवर्णके समान अपने आत्माको अत्यंत निर्मल बना लेता है ॥३४॥ घातिया कर्मरूपी मलसे रहित हुआ वह आत्मा अन्यन्त निर्मल हो जाता है और उस समय उस आत्माका अचिंत्य प्रभाव प्रकट हो जाता है ॥३५॥ इस प्रकार एकत्व-वितर्क ध्यानके प्रभावसे वह योगी चारों घातिया कर्मोंको नाश कर डालता है और अनंत चतुष्टयरूप महाविभूतिको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥३६॥ उस समय अर्हन्त पदको पाकर वह योगी केवलज्ञानी हो जाता है तथा लोक-अलोक प्रकाशित करनेवाला और तीनों लोकोंके द्वारा पूज्य हो जाता है ॥३७॥ उस समय वह योगी परमात्मा कहलाता है, उसकी आत्मा सर्वोत्कृष्ट होती है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है, उसीको महेश्वर कहते हैं, वह भूख-प्यास आदि समस्त दोषोंसे रहित होता है और स्फटिकके समान अत्यंत शुद्ध होता है ॥३८॥ उस समय उन परमात्माको निर्द्वन्द, परम ज्योतिःस्वरूप, ज्योतिर्मय, निरञ्जन, चिदात्मा, चिदानन्द, वीतराग और शिवेश्वर कहते हैं ॥३९॥ वे अनन्त सुखी होते हैं, शांत, दांत, अतीन्द्रिय, देवदेव, देवाधिदेव और तीनों लोकोंके द्वारा वंदनीय कहे जाते हैं ॥४०॥ वे अर्हन्त भगवान, देव, सर्वज्ञ ईश्वर, विभु, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, शङ्कर, सुगत, प्रभु, नारायण और महाबुद्ध कहलाते हैं। उनका तेज दिव्य होता है, उनके शरीरकी कांति देदीप्यमान होती है, वे महाविभूतिसे सुशोभित होते हैं, तीन छत्रसहित विराजमान होते हैं,

सुरासुरैः सदा पूज्यो योगीन्द्रैश्च सुवन्दितः। तेन ध्यानेन योगी स जायते त्रिजगत्प्रभुः ॥४३॥ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति ध्यानं ध्यायति केवली। उपचारेण वा सूक्ष्ममचलं स्वात्मसंस्थितम् ॥४४॥ सर्वकर्मविनाशार्थं स्वात्मरूपोपलब्धये। आयुषोऽन्ते च स्थानान्ते भवान्ते तनुनाशकम् ॥४५॥ निष्प्रकम्पं क्रियाहीनमयोगी ध्यायति ध्रुवम्। व्युपरतिक्रियाध्यानं तुर्यं मोक्षप्रदं महत् ॥४६॥ स्वल्पसमयमात्रेण हत्वा कर्मकदम्बकम्। तेन ध्यानेन योगी स शिवं प्राप्नोति निर्भयम् ॥४७॥ कृत्स्नकर्मविहीनः स सिद्धः शुद्धो निरञ्जनः। जन्मातीतोऽप्यजो नित्यः पुनर्जन्मविवर्जितः ॥४८॥ अनादिनिधनः स्वात्मरूपो विकारवर्जितः। स्वतन्त्रोऽचलरूपो वा पराह्लादमयो भवेत् ॥४९॥ एवं ध्यानप्रभावेण जीवः संसारचक्रकम्। निःशेषकर्मचक्रं वा हत्वा याति शिवं पदम् ॥५०॥ ध्यानस्य महिमा चात्राचिन्त्या लोकोत्तरा मता। तां वक्तुं मादृशो बालः

---

सुर असुर सब उनकी पूजा करते हैं और योगीश्वर सदा उनकी वंदना किया करते हैं। इस प्रकार उस एकत्व वितर्क ध्यानसे वे योगी तीनों लोकोंके स्वामी हो जाते हैं ॥४१—४३॥ तदनंतर वे केवली भगवान अपने समस्त कर्मोंको नाश करनेके लिये और अपने शुद्ध आत्माकी प्राप्तिके लिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती नामके तीसरे शुक्ल ध्यानको धारण करते हैं। वह ध्यान अत्यन्त सूक्ष्म है, निश्चल है और केवल अपने आत्मामें निश्चलरूप है। इसके बाद जब आयुका अन्त होता है, चौदहवें गुण स्थानका अन्त होता है और संसारका अन्त होता है; उस समय वे अयोगी भगवान् निष्प्रकंप और क्रियारहित व्युपरत क्रियानिवृत्तिरूप मोक्ष देनेवाले सर्वोत्कृष्ट चौथे शुक्ल ध्यानको धारण करते हैं। वे महायोगी केवली भगवान् उस चौथे शुक्लध्यानके द्वारा थोड़े ही समयमें समस्त कर्मोंको नष्ट कर देते हैं और समस्त भयोंसे रहित मोक्षको प्राप्त हो जाते हैं ॥४४–४७॥ तदनन्तर वे परमात्मा समस्त कर्मोंसे रहित, सिद्ध, शुद्ध, निरञ्जन, जन्मरहित, अज, नित्य, पुनर्जन्मसे रहित, अनादि, अनिधन, स्वात्मरूप, विकारसे रहित, स्वतंत्र, अचल और समस्त जीवोंको आह्लाद करनेवाले हो जाते हैं ॥४८–४९॥ इस प्रकार ध्यानके प्रभावसे यह जीव संसारचक्रको और समस्त कर्मोंके समूहको नाशकर मोक्ष-पदको प्राप्त हो जाता है ॥५०॥ इस संसारमें ध्यानकी महिमा

समर्थः स्यात्कथं ननु ॥५१॥ बृहस्पतिगणेशा न सम्यग्वक्तुं कदापि ते। समर्था ध्यानमाहात्म्यं को वक्ति स्वल्पचेष्टया ॥५२॥ येन ध्यानेन चात्मा हि परमात्मा प्रजायते। का कथा वान्यसिद्धीनां सुतरां ता भवन्ति वा ॥५३॥ ध्यानेन सर्वसम्पत्तिर्लक्ष्मीर्ध्यानेन जायते। ऋद्धिः सिद्धिः समृद्धिर्वा महर्द्धिः सुतरां भवेत् ॥५४॥ इन्द्रनागेन्द्रदेवानां चक्रितीर्थकरात्मनाम्। संजायते पदं शीघ्रं परमैश्वर्यकारणम् ॥५५॥ नश्यन्ते विपदः सर्वाः पलायन्ते हि सङ्कटाः। दुःखं दारिद्र्यदुर्भाग्ये नश्यन्ते तत्क्षणात्स्वयम् ॥५६॥ असाध्यः साध्यतां याति दूरादपि च योगिनाम्। ध्यानस्याचिन्त्यमहिमा सदा वाचामगोचरा ॥५७॥ स्वात्महितप्रपित्सूनां मुमुक्षूणां सुनिश्चितम्। ध्यानमेकं परं साध्यं कर्मकलङ्कमुक्तये ॥५८॥ चिन्तां त्यज भयं मुञ्च खेदं मा गा मनागपि। ध्यानेनात्मन् च संसारं कर्मचक्रं हरिष्यसि ॥५९॥ आत्मंस्त्वमेव साक्षात्स परमात्मा निरञ्जनः।

---

अचिंत्य है, लोकोत्तर है, फिर भला उसको कहनेके लिये मेरे समान बालक कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥५१॥ इस ध्यानकी महिमाको बृहस्पति भी नहीं कह सकते और गणधरदेव भी अच्छी तरह नहीं कह सकते हैं, फिर भला बहुत थोड़ी चेष्टासे कौन कह सकता है ? ॥५२॥ जिस ध्यानके प्रभावसे यह आत्मा परमात्मा हो जाता है वहांपर अन्य सिद्धियोंकी तो बात ही क्या है ? अन्य समस्त सिद्धियां अपने आप सिद्ध हो जाती हैं ॥५३॥ इस ध्यानसे ही समस्त संपत्तियां प्राप्त होती हैं, ध्यानसे ही लक्ष्मी प्राप्त होती है, तथा ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि और महाऋद्धियां इसी ध्यानसे अपने आप आ जाती हैं ॥५४॥ इसी ध्यानके प्रभावसे इन्द्र, नागेन्द्र, देव, चक्रवर्ती और तीर्थंकरोंके परम ऐश्वर्य उत्पन्न करनेवाले उत्तम पद शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं ॥५५॥ इस ध्यानके प्रभावसे सब विपत्तियां नष्ट हो जाती हैं, सब संकट भाग जाते हैं और दुःख, दारिद्र्य, दुर्भगता आदि उसी समय अपने आप नष्ट हो जाते हैं ॥५६॥ इस ध्यानके प्रभावसे योगियोंके असाध्य कार्य भी दूरसे ही सिद्ध हो जाते हैं। इस ध्यानकी महिमा अचिंत्य है और वाणीके अगोचर है ॥५७॥ जो योगी अपने आत्माका हित चाहते हैं और मोक्षकी इच्छा करते हैं, उनके कर्मरूपी कलंकोंको नाश करनेके लिये यह सुनिश्चितरूप एक ध्यान ही परम साध्य है ॥५८॥ हे आत्मन् ! तू चिंता छोड़, भय छोड़ और थोड़ासा भी खेद मत कर। तू इस ध्यानसे इस जन्म-मरणरूप संसारको और कर्मोंके समूहको अवश्य नष्ट करेगा ॥५९॥ हे आत्मन् ! इस ध्यानसे तू ही साक्षात् निरञ्जन परमात्मा हो जायगा। क्योंकि ध्यानके द्वारा यह आत्मा ही

आत्मैव परमात्मास्ति सन्देहं चात्र मा भज ॥६०॥ यावत्स्वात्मस्वरूपं हि चिन्तितं न त्वयाथवा । तावत्त्वमसि संसारी दुःखी कर्ममयोऽशुचिः ॥६१॥ यदा त्वं चिन्तयस्यात्मन् शुद्धं स्वात्मनि संस्थितम् । स्वात्मानं परमात्मानं पश्यसि त्वं निरञ्जनम् ॥६२॥ परमात्मात्मनोर्भेदो कश्चिन्नास्ति कदापि वा । आत्मैव परमात्मास्ति चैको नान्योऽद्वितीयकः ॥६३॥ तस्माद्ध्यात्वय चेत्थं त्वमात्मन् सुशिवसिद्धये । आत्मैव मे परात्मा हि कर्महंतातिनिर्मलः ॥६४॥ आत्मैव मे च सिद्धात्मा परमात्मा महेश्वरः । तस्मात्सोऽहं भजाम्यत्र स्वात्मानं स्वपदाप्तये ॥६५॥ आत्मैव मे परं ज्योतिर्लोकालोकप्रकाशकः । परं सुखस्य बीजं मे आत्मैवास्ति न संशयः ॥६६॥ आत्मैव मे जगद्द्रष्टा स्रष्टा ब्रह्मा गुणाकरः । शङ्करश्च स्वयं बुद्धः परमेष्ठी सनातनः ॥६७॥ आत्मैव मे परं मोक्षः कर्म संहारकारकः । आत्मैव मे सुदृग्बोधचारित्रत्रितयात्मकः ॥६८॥ आत्मैव मे

---

परमात्मा हो जाता है, इसमें तू किसी प्रकारका संदेह मत कर ॥६०॥ अथवा यों समझना चाहिये कि जबतक तूने अपने आत्माका चिंतवन नहीं किया है तबतक तू संसारी है, दुःखी है, कर्ममय है और अपवित्र है ॥६१॥ हे आत्मन् ! जब तू अपने आत्मामें स्थित अपने शुद्ध आत्माका चिंतवन करेगा, तब तू अपने आत्माको कर्ममलसे रहित परमात्मरूप देखेगा ॥६२॥ आत्मा और परमात्मामें कोई किसी-प्रकारका भेद नहीं है। यह एक आत्मा ही परमात्मा है। परमात्मा इस आत्मासे भिन्न वा अन्य नहीं है ॥६३॥ इस लिये हे आत्मन् ! तू मोक्ष प्राप्त करनेके लिये इसप्रकार चिंतवन कर कि यह मेरा आत्मा ही कर्मोंको नाश करनेवाला अत्यन्त निर्मल परमात्मा है ॥६४॥ मेरा आत्मा ही सिद्धात्मा है, वही परमात्मा है, वही महेश्वर है, इसलिये परमात्मस्वरूप मैं अपने आत्मपदकी प्राप्तिके लिये अपने ही आत्माका चिंतवन करूँगा ॥६५॥ मेरा आत्मा ही परम ज्योतिःस्वरूप है, लोक–अलोकको प्रकाशित करनेवाला है, तथा मेरा यह आत्मा ही परम सुखका बीज है। इसमें किसीप्रकारका संदेह नहीं है ॥६६॥ यह मेरा आत्मा ही जगत्को देखनेवाला है, यही जगत्को उत्पन्न करनेवाला है, यही ब्रह्मा है, यही गुणाकर है, यही आत्मा शंकर है, स्वयं बुद्ध है, यही परमेष्ठी है और यही सनातन है ॥६७॥ यह मेरा आत्मा ही कर्मोंका नाश करनेवाला परम मोक्ष है और यही मेरा आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप अर्थात् रत्नत्रयरूप है ॥६८॥ यही मेरा आत्मा क्रोधादिक भावोंसे रहित क्षमाका

क्षमागारः क्रोधादिभाववर्जितः। आत्मैव शाश्वतं द्रव्यमन्यत्सर्वं विनश्वरम् ॥६९॥ आत्मैव मेऽचलो नित्यो ह्यादिमध्यान्तवर्जितः। स नित्यस्थितिको स्वामी स्वयम्भूरविनश्वरः॥७०॥ आत्मैव मे परं बन्धुस्त्राता पाता पितामहः। त्रिजगज्जयिनः कामात्संसारात्पापकर्मतः॥७१॥ आत्मैव मे परं पूज्योऽगतो विगतकल्मषः। आत्मैव मे परं देवो जगद्वन्द्यः सुतारकः ॥७२॥ आत्मैव मे परं ब्रह्म चतुर्वेदी चतुर्मुखः। आत्मैव मे महादेवः शिवाभूः शिवनंदनः ॥७३॥ आत्मनो ज्ञानमाध्यानमात्मनः स्मरणं परम। आत्मनो मे परेज्या स्याद् हे जिनेश भवे भवे ॥७४॥ अर्हद्देवोऽपि आत्मैव सुगतो हतदुर्गतिः। आत्मा देवाधिदेवो हि सर्वदेवनमस्कृतः ॥७५॥ जिनश्चात्मा जिनश्चात्मा ह्यात्मैव स जिनो जिनः। आत्मैव मे शरण्यं हि जिनरूपो भवाम्बुधौ ॥७६॥ तीर्थश्चात्मास्ति ह्यात्मैव तीर्थनाथो जगद्विभुः। आत्मैव मे परं देवो स एव देव-

---

घर है और यही मेरा आत्मा नित्य द्रव्य है। इसके सिवाय अन्य सब पदार्थ नाशवान् हैं ॥६९॥ यह मेरा आत्मा ही अचल है, नित्य है, आदि-मध्य-अन्तरहित है, यही मेरा आत्मा नित्य स्थितिको धारण करता है, यही आत्मा स्वामी है, स्वयंभू है, अविनश्वर है ॥७०॥ यह मेरा आत्मा ही परम बन्धु है, यही आत्मा पितामह है; तथा यही आत्मा तीनों जगत्को जीतनेवाले कामसे, संसारसे और पापकर्मोंसे रक्षा करनेवाला वा बचानेवाला है ॥७१॥ यह मेरा आत्मा ही परम पूज्य है, गतिरहित है, पापरहित है, तथा यही मेरा आत्मा परम देव है, जगद्वन्द्य है और संसारसे पार कर देनेवाला है ॥७२॥ यह मेरा आत्मा ही परमब्रह्म है, आत्मा ही चारों अनुयोगोंको जाननेवाला चतुर्वेदी है और यही आत्मा चतुर्मुख है, यही मेरा आत्मा महादेव है, शिवाभू (कल्याणमय) है और यही मेरी आत्मा शिवनन्दन है ॥७३॥ हे जिनेन्द्रदेव! भव भवमें मुझे आत्माका ही ज्ञान प्राप्त हो, आत्माका ही ध्यान हो, आत्माका ही उत्कृष्ट स्मरण हो और मेरे आत्माकी ही पूजा हो ॥७४॥ यही मेरा आत्मा अरहंतदेव है, यही मेरा आत्मा सुगत वा बुद्ध है, यही आत्मा समस्त दुर्गतियोंको नाश करनेवाला है, यही मेरा आत्मा देवाधिदेव है और यही मेरा आत्मा सब देवोंके द्वारा नमस्कार किया जाता है ॥७५॥ ये जिनेन्द्र ही मेरा आत्मा है, जिनेन्द्र ही मेरा आत्मा है, मेरा आत्मा ही जिनेन्द्र हैं, जिनेन्द्र हैं। तथा यही मेरा आत्मा संसाररूपी समुद्रमें शरणरूप है और भगवान् जिनस्वरूप है ॥७६॥ यह मेरा आत्मा ही तीर्थ है, यही मेरा आत्मा तीर्थनाथ है, जगद्विभु है, यही मेरा आत्मा

मन्दिरम् ॥७७॥ रत्नत्रयमयश्चात्मा रत्नत्रयमयो जिनः । मोक्षमार्गो हि स्वात्मैव मोक्ष आत्मैव निश्चतम् ॥७८॥ आत्मैव मे सदा ध्येयो ह्यात्मा ध्याता महाप्रभुः । आत्मैव हीश्वरः शुद्धो बुद्धो मीमांसको विभुः ॥७९॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ध्यातव्यः स मुमुक्षुणा । सर्वविकल्पसंकल्पं त्यक्त्वाऽऽत्मैव सदा च मे ॥८०॥ यो ध्यायति निजात्मानं शुद्धबुद्ध्या हि चात्मना । स शीघ्रं परमात्मानं प्राप्नोत्येव सुनिश्चितम् ॥८१॥ येन ध्यानसुधासिन्धुः पीतो भक्तिभरेण वा । स आत्मा परमात्मा स्यादत्र नाश्चर्यसंशयो ॥८२॥ इति सहजविशुद्धो जायते ध्यानतोऽसौ विरहितपरभावो निष्कलङ्कः परात्मा । विगतभवविभावो यो हि आत्मैव सिद्धः स्वपरिणतिनिमग्नः स्वात्मरूपः सुधर्मः ॥८३॥

इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारे शुद्धध्यानवर्णनो नाम पञ्चविंशतितमोऽधिकारः ।

---

परम देव है और यही मेरा आत्मा देवालय है ॥७७॥ यही मेरा आत्मा रत्नत्रयस्वरूप है, तथा भगवान् जिनेन्द्रदेव भी रत्नत्रयमय हैं । यही मेरा आत्मा मोक्षका मार्ग है और यही मेरा आत्मा निश्चयरूपसे मोक्षस्वरूप है ॥७८॥ यही मेरा आत्मा सदा ध्यान करने योग्य है, यही आत्मा ध्यान करनेवाला है, यही आत्मा महाप्रभु है और यही आत्मा ईश्वर है, शुद्ध है, बुद्ध है, मीमांसक है और विभु है ॥७९॥ इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्य जीवोंको अपने समस्त संकल्प-विकल्पोंको त्यागकर तथा समस्त प्रयत्न करके इसी अपने आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥८०॥ जो आत्मा अपने आत्माके द्वारा शुद्ध बुद्धिसे अपने आत्माका चिंतवन करता है, वह शीघ्र ही परमात्मपदको प्राप्त हो जाता है; यह निश्चित सिद्धांत है ॥८१॥ जिस भव्य जीवने भक्तिपूर्वक इस ध्यानरूपी अमृतके समुद्रका पान किया है, वह आत्मा अवश्य परमात्मा बन जाता है, इसमें न कोई आश्चर्य है और न कोई संदेह है ॥८२॥ इस ध्यानके प्रभावसे यह आत्मा ही स्वभावसे विशुद्ध हो जाता है, परभावोंसे रहित हो जाता है, निष्कलंक हो जाता है, सर्वोत्कृष्ट हो जाता है, संसारके विभावोंसे रहित हो जाता है, अपने ही आत्माकी परिणतिमें लीन हो जाता है, शुद्ध स्वात्मस्वरूप हो जाता है और श्रेष्ठ धर्मस्वरूप हो जाता है ।८३॥

इस प्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यानप्रदीपालंकारमें शुक्लध्यानको निरूपण करनेवाला यह पचीसवां अधिकार समाप्त हुआ ।

# अन्तिममंगलं प्रशस्तिश्च

श्रीशासनं वीरजिनस्य जीयात् लोकत्रये मङ्गलकारि नित्यम् । सत्यं पवित्रं नरदेवपूज्यं प्रमाणभूतं भुवि सर्वमान्यम् ॥१॥ जिनेन्द्रधर्मो वरसौख्यदाता दयामयः सत्यपरः प्रकृष्टः । प्रमाणभूतश्च विरोधहीनो जीयाच्चिरं मङ्गलदायकोऽसौ ॥२॥ जयन्तु ते श्रीपरमेष्ठिनोऽत्र शुद्धात्मरूपा प्रवरा अनूपाः । लोकोत्तमा मङ्गलदाः शरण्यास्त्रैलोक्यवन्द्याः शिवदाः सुधर्माः ॥३॥ श्रीप्रातिहार्यातिशयैः प्रपन्नो नरेन्द्रनागेन्द्रसुरेन्द्रवन्द्यः । योगीश्वरैः पूजितपादपद्मः सोऽर्हंश्च देवः शिवदः सुजीयात् ॥४॥ शुद्धस्वरूपो निजभावलीनो विनष्टकर्माष्टकलङ्कपङ्कः । भवाब्ध्यतीतो जननादिहीनः सिद्धः प्रबुद्धः सुखदः

भगवान् महावीर स्वामीका शासन तीनों लोकोंमें सदा मङ्गल करनेवाला है, सत्य है, पवित्र है, मनुष्य और देवोंके द्वारा पूज्य है, प्रमाणभूत है और संसार भरमें सर्वमान्य है ॥१॥ भगवान् जिनेन्द्रदेवका धर्म दयामय है, उत्तम सुखको देनेवाला है, सत्यार्थ है, उत्कृष्ट है, प्रमाणभूत है, विरोधरहित है और सदा मङ्गल करनेवाला है, ऐसा यह जैनधर्म सदा जयशील रहे ॥२॥ इस लोकमें अरहंतादिक पांचों परमेष्ठी शुद्ध आत्माको धारण करनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, अनुपम हैं, लोकोत्तम हैं, मङ्गलदायक हैं, शरणभूत हैं, तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं, मोक्ष देनेवाले हैं और श्रेष्ठ धर्मस्वरूप हैं; ऐसे पांचों परमेष्ठी सदा जयशील हों ॥३॥ भगवान् अरहंत देव आठों प्रातिहार्योंसे सुशोभित हैं, नरेन्द्र, नागेन्द्र और देवेन्द्रोंके द्वारा वंदनीय हैं, योगीश्वरलोग जिनके चरण-कमलोंकी सदा पूजा करते रहते हैं और जो मोक्ष देनेवाले हैं, ऐसे भगवान् अरहंत देव सदा जयशील हों ॥४॥ जो सिद्ध भगवान् शुद्ध स्वरूप हैं, अपने भावोंमें सदा लीन हैं, जिन्होंने आठों कर्मरूपी कलङ्ककी कीचड़ सर्वथा नष्ट कर दी है, जो संसारसे रहित हैं, जन्म-मरणसे रहित हैं, सुख

स जीयात् ॥४॥ हितोपदेशी वरशान्तिदाता भवाब्धितस्तारणतीर्थरूपः। आचारचारित्रधरेण पूज्यः आचार्यवर्यः सततं स जीयात् ॥५॥ मिथ्यात्वमोहाद्वरबुद्धिहीनान् कुमार्गगान्नुद्धतवादिवीरान्। सम्यक्त्वबोधेन युनक्ति सत्ये मार्गे स तान् पाठक आशु जीयात् ॥६॥ मूलोत्तरान् दिव्यगुणान् प्रधत्ते संसारभोगादिकतो विरक्तः। स्वात्मस्वरूपे दृढतां दधानः साधुर्दयालुर्गुणवान् स जीयात् ॥७॥ सूरीश्वरः शान्तिकरः प्रकृष्टो गुणे गरिष्ठो मुनिसद्वरिष्ठः। श्रीशान्तिसिन्धुर्वरराज्यमान्यो जीयाच्चिरं सोऽपि 'सुधर्म'पाता ॥८॥ सिद्धात्मनो विशुद्धांस्तान् जिनात्तान् जितमत्सरान्। कर्मकलङ्कनिर्मुक्तान् केवलज्ञानभास्करान् ॥१०॥ परमेष्ठिपदं प्राप्तान् देवदेवैः सुपूजितान्। श्रीतारङ्गाभिधाद् दुर्गात् शिवं प्राप्तान् जगन्नुतान् ॥११॥ वरदत्तादिसिद्धेशान् सार्द्धकोटित्रयान् मुनीन्। भक्त्या पुनः पुनर्नौति मुनिः 'सुधर्मसागरः' ॥१२॥ मङ्गलं कामदं ते नो दध्युः परम-

देनेवाले हैं और ज्ञानमय हैं; ऐसे सिद्ध परमेष्ठी सदा जयशील हों ॥५॥ जो आचार्य हितोपदेशी हैं, श्रेष्ठ शांतिको देनेवाले हैं, संसारको पार करनेके लिये जो तीर्थरूप हैं, जो आचार और चारित्र धारण करनेवालोंके द्वारा पूज्य हैं; ऐसे आचार्य सदा जयशील हों ॥६॥ जो जीव मिथ्यात्व और मोहनीय कर्मके उदयसे श्रेष्ठ बुद्धिसे रहित हो रहे हैं, जो कुमार्गगामी हो रहे हैं और उद्धत हो रहे हैं; ऐसे बड़े-बड़े वादियोंको भी जो अपने सम्यग्ज्ञानसे सत्यमय यथार्थ मार्गमें लगाते हैं; ऐसे उपाध्याय परमेष्ठी शीघ्र ही जयशील हों ॥७॥ जो साधु दिव्य मूल गुणोंको तथा उत्तर गुणोंको धारण करते हैं, जो संसार और भोगादिकसे विरक्त हैं, जो अपने आत्मस्वरूपमें अत्यंत दृढ़ता धारण करते हैं; ऐसे दयालु और गुणवान् साधु परमेष्ठी सदा जयशील हों ॥८॥ जो आचार्य 'शान्तिसागर' शान्ति करनेवाले हैं, श्रेष्ठ हैं, गुणोमें श्रेष्ठ हैं, मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, जो राज्यमान्य हैं और मुझ 'सुधर्मसागर'की अथवा श्रेष्ठधर्मकी रक्षा करनेवाले हैं, ऐसे आचार्य 'शांतिसागर' चिरकाल तक सदा जयशील रहें ॥९॥ जो वरदत्तादि मुनि सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो गये हैं, अत्यंत विशुद्ध हैं, जितेन्द्रिय हैं, मत्सर आदि दोषोंसे रहित हैं, कर्म-कलंकोंसे रहित हैं, केवल ज्ञानरूपी सूर्यसे सुशोभित हैं, परमेष्ठी पदको प्राप्त हो चुके हैं, देवोंके भी देव जिनकी पूजा करते हैं, जो तारंगा नामके सिद्धक्षेत्रसे मोक्षको प्राप्त हुए हैं और समस्त संसार जिनको नमस्कार करता है, ऐसे वरदत्त आदि साढ़े तीन करोड़ मुनिराजोंको ये 'सुधर्मसागर' मुनि भक्तिपूर्वक बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१०-१२॥ परम पवित्र

पावनाः। वरदत्तादिसिद्धेशाः श्रीकल्याणाय सन्तु ते ॥१३॥ सिद्धक्षेत्रे परं पूज्ये श्रीतारङ्गाभिधे शुभे। 'श्रीशान्तिसिंधु'ना तेन सङ्घेन सह सूरिणा ॥१४॥ यात्राकारि महाभक्त्या श्रीमहोत्सवपूर्वकम्। प्रभावनाऽभवत्तत्र जिनधर्मस्य शर्मदा ॥१५॥ श्रीतारङ्गाख्यदुर्गेऽस्मिन् श्रीतारङ्गाभिधे परे। श्रीमद्वृषभदेवस्य चैत्यागारे मनोहरे ॥१६॥ युगद्रव्याब्धियुग्मेऽस्मिन् वीर-निर्वाणवत्सरे। युग्माङ्काङ्कमहीमाने विक्रमाब्दे शुभोदये ॥१७॥ मार्गशीर्षेऽसिते पक्षे त्रयोदश्यां तिथौ शनौ। 'सुधर्मध्यान-दीपा'ख्यो ग्रन्थः पूर्णमगादिह ॥१८॥ 'सुधर्मध्यानदीपो'ऽयं धर्मध्यानस्य साधकः। गुरुप्रसादतोऽकारि 'सुधर्मसागरे'ण सः ॥१९॥ ज्ञक्षयोपशमाभावात् शक्तिहीनोऽपि भावतः। दिगम्बरपथालम्बी मुनिः 'सुधर्मसागरः' ॥२०॥ व्यरचच्छुद्धबुद्ध्या हि मानगौरववर्जितः। केवलं स्वात्मकल्याणाय ग्रन्थं 'ध्यानदीपकम्' ॥२१॥ ध्यानवार्तां न जानामि शब्दशास्त्रं न शासनम्। केवलं स्वहितार्थाय शब्दाः संयोजिता मया ॥२२॥ प्रमादादल्पज्ञानत्वाद् विरुद्धं यज्जिनागमात्। ग्रन्थेऽस्मिन् यच्च संजातं

---

वरदत्तादिक सिद्ध परमेष्ठी हमलोगोंको मङ्गल देवें, हमारी इच्छाएं पूर्ण करें और हमारा सदा कल्याण करते रहें ॥१३॥ इसी परम पूज्य और शुभ ऐसे तारंगा सिद्ध क्षेत्रपर आचार्य 'श्रीशांतिसागर'ने अपने संघके सहित बड़ी भक्तिपूर्वक और बड़े उत्सवके साथ यात्रा की थी। उस समय समस्त जीवोंको कल्याण करने-वाली जिनधर्मकी बड़ी भारी प्रभावना हुई थी ॥१४-१५॥ श्रीतारंगा नामके दुर्गमें श्रीतारंगा सिद्धक्षेत्रपर भगवान् वृषभदेवके मनोहर चैत्यालयोंमें वीर निर्माण संवत् २४६२ तथा विक्रम संवत् १९९२ शुभ मार्गशीर्ष महीनेके कृष्णपक्षकी त्रयोदशी तिथिको शनिवारके दिन यह 'सुधर्मध्यानप्रदीप' नामका ग्रन्थ पूर्ण हुआ ॥१६-१८॥ यह 'सुधर्मध्यानप्रदीप' नामका ग्रंथ धर्म-ध्यानका साधक है और गुरुके प्रसादसे मुनि 'सुधर्म-सागर'ने बनाया है ॥१९॥ यद्यपि मैं दिगम्बर मतका अनुयायी 'सुधर्मसागर' मुनि हूँ, तो भी ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अभाव होनेसे मैं शक्तिहीन हूँ, तथापि मैंने अपने भावोंसे, शुद्ध बुद्धिसे, मान और गौरव-को छोड़कर केवल आत्म-कल्याण करनेके लिये यह 'सुधर्मध्यानप्रदीप' नामका ग्रन्थ बनाया है ॥२०-२१॥ मैं यद्यपि ध्यानकी बात भी नहीं जानता, न शब्दशास्त्रको जानता हूँ; तो भी केवल अपने आत्माका कल्याण करनेके लिये मैंने इधर-उधरसे लेकर शब्द जोड़ दिये हैं ॥२२॥ मेरे प्रमाद अथवा अल्पज्ञानसे इसमें

शोधयन्तु मुनीश्वरा: ॥२३॥ [illegible]

॥२४॥ तस्यैव पट्टशिष्योऽभूत् 'शान्तिसिन्धु'र्यतीश्वरः । राजमान्यः सदा पूज्यः सूरिर्गुणसुशोभितः ॥२५॥ तत्पट्टशिष्यो भुवने प्रसिद्धः सिद्धान्तवेत्ता वरपाठकोऽत्र । 'सुधर्मसिन्धु'र्वरधर्मसिन्धुः यतीश्वरोऽसौ जिनलिङ्गधारी ॥२६॥

* इति सुधर्मध्यानप्रदीपालङ्कारस्य अन्तिमं मङ्गलं प्रशस्तिश्च समाप्तिमगाताम् *

---

जो कुछ जिनागमके विरुद्ध लिखा गया हो, उसको मुनिलोग शुद्ध कर लेवें ॥२३॥ इस प्रसिद्ध मूल संघमें आचार्य जिनसेनकी परंपरामें महान् मुनिराज श्रीदेवेन्द्रकीर्ति हुए हैं ॥२४॥ उन्हींके पट्ट शिष्य मुनिराज आचार्य 'श्रीशांतिसागर' हैं, जो कि राज्यमान्य हैं, सदा पूज्य हैं, और अनेक गुणोंसे सुशोभित हैं ॥२५॥ उन्हींका पट्ट शिष्य मैं 'सुधर्मसागर' हूँ, जो कि संसारमें प्रसिद्ध हूँ, सिद्धांतका जानकार हूं, उपाध्यायका काम करता हूँ, श्रेष्ठ धर्मका समुद्र हूँ और जिनलिङ्गको धारण करनेवाला मुनिराज हूँ ॥२६॥

इसप्रकार मुनिराज श्रीसुधर्मसागरविरचित सुधर्मध्यान-
प्रदीपालङ्कारका अन्तिम मङ्गल और
प्रशस्ति समाप्त हुई ॥




---

मुद्रक—बाबू कपूरचन्द जैन, महावीर प्रेस, किनारी बाजार, आगरा।